आनन्दघन चौबीसी

स्तुतिकार

योगीश्वर संत श्री आनन्दघन जी

भाष्य–निर्देशक

श्रमणसंघीय महामहिम राष्ट्रसंत आचार्यप्रवर

श्रीआनन्दऋषिजी महाराज

भाष्यकार

विद्वद्रत्न पं. मुनिश्री नेमिचन्द्र जी म.

भाष्यप्रेरक

तपस्वीरत्न श्री मगनमुनिजी म.

संयोजक

प्रवचनप्रभाकर श्रीसुमेरमुनिजी म. एवं सेवानिष्ठ श्रीविनोदमुनि जी

प्रकाशक :

किशनलाल भूरा

सुपुत्र दीपचन्द भूरा

(पूर्व राष्ट्रीय अध्यक्ष, श्री अ भा साधुमार्गी जैन संघ, बीकानेर)

देशनोक (बीकानेर)

पुस्तक :
आनन्दघन चौबीसी

प्रतियाँ :
1000, सितम्बर 2010

प्रकाशक :
किशनलाल भूरा, देशनोक

मूल्य :
25/-

मुद्रक :
अमित कम्प्यूटर्स एण्ड प्रिन्टर्स
बीकानेर फोन 0151-2547073, 9214555303

मातु श्री

मगनी देवी भूरा

धर्मपत्नी दीपचन्द भूरा

की

ग्यारहवीं

पुण्यतिथि के

अवसर पर

प्रकाशित

'आनन्दघन चौबीसी'

अर्थ सहयोगी परिचय

आनन्दघन चौबीसी की प्रस्तुति कृति का प्रकाशन श्रेष्ठिवर्य अखिल भारतवर्षीय साधुमार्गी जैन सघ के पूर्व राष्ट्रीय अध्यक्ष स्व दीपचन्द जी भूरा के परिवार द्वारा प्रदत्त अर्थ सौजन्य से हो रही है। आपकी उत्कृष्ट भावना सदैव धार्मिक कार्यो धर्म प्रचार एवं सामाजिक उन्नयन की रही है।

प्रशान्तमना परमागम रहस्यज्ञाता आचार्य श्री रामलाल जी म सा तथा इनके आज्ञानुवर्ती श्री सेवंतमुनिजी म सा. एवं संत सतियाजी के प्रति अनन्य आस्था श्रद्धा व निष्ठा परिवार को विरासत मे प्राप्त हुई है। फलतः परिवार के सभी सदस्य तदनुरूप सामाजिक धार्मिक कार्यो मे संलग्न है। श्री किशनलाल, जयचन्दलाल, केशरीचन्द, निर्मल कुमार, जयन्त कुमार, गोपालचन्द, उत्तमकुमार भूरा व विमला देवी धर्मपत्नी किशनलाल भूरा ने सद्‌साहित्य के प्रकाशन में योगदान दिया है।

***

ध्यान दें !

कृपया इस पुस्तक को बड़े ही हिफाजत से रखे, पढने के समय सावधानी रखे। इस पर दाग न लगे, पन्ने फटे नहीं। नीचे जमीन पर न रखें, इसमे लगी हुई डोरी का इस्तेमाल करे ताकि पढते वक्त पन्ना मोडना नहीं पडे।

—प्रकाशक

मेरी कलम से.......... मेरी माँ : विलक्षण नारी

मेरी माॅ श्रीमती मगनी देवी भूरा जिनका जन्म दियातरा (कोलायत) मे श्री केवलचद जी छल्लाणी के यहाॅ बचपन बीता और तुरन्त ही देशनोक निवासी सेठ श्री भीखमचन्द जी भूरा के पुत्र श्री दीपचन्द जी भूरा के साथ आपका विवाह वैशाख सुदी 2, स 1990 मे हुआ।

स्वभाव–माॅ कोमल हृदय की नारी थी उन्होने अपने जीवन मे क्रोध नही किया, यह मानव स्वभाव मे बहुत विचित्र बात है क्योकि क्रोध मानव के स्वभाव मे रहा हुआ है, जब विवाह कर देशनोक आए उनको कोई विशेष खाना बनाना नहीं आता था, इस पर इनकी सासुजी श्रीमती सोना देवी इनको टोकते रहते थे परन्तु उन्होने कभी भी उनकी बात का गुस्सा तो दूर बुरा नही माना उनके सामने अपनी जुबान भी नही खोली। मानो माॅ ने क्रोध को जीत लिया था। माॅ ने 7 पुत्र किशनलाल, जयचन्दलाल, केशरीचन्द, निर्मल कुमार, जयन्त कुमार, गोपालचन्द, उत्तम कुमार, 2 पुत्रियाॅ मैना बाई, ललित बाई को जन्म दिया। सभी को सुन्दर संस्कार देकर यह सिद्ध कर दिया कि वह सही मायने मे 'माॅ' है। अपने जीवन मे कभी भी किसी भी बच्चे को चाॅटा मारना तो दूर पर कभी नाराज नहीं हुई। पूज्य पिताश्री दीपचन्द जी (जीसा) कभी बच्चो पर गर्म होते तो भी ये उन्हे प्रेम से बच्चो पर गर्म नही होने से रोकती। सातो लडके योग्य हुए। सात बहुए पोते पोतियाॅ भरा पूरा परिवार इतने बडे परिवार को साथ लेकर चलते हुए कभी भी किसी भी बात पर अपने जीवन मे किसी पर क्रोध नही किया। यह इनके जीवन की बहुत बडी बात थी, जो हम सबके लिए आचरण करने योग्य है।

सरलता सहजता–जीवन मे किसी भी तरह का छलकपट माया, लोभ नही था। वे अपनी भाषा मे 100 के नोट को पूरा व 50 के नोट को आधा कहती। घर आए अतिथि को कभी खाली नहीं लौटाती। आधा या पूरा देती, विवाह पर सासुजी ने जब मुॅह दिखाई की रसम मे उन्हे 11 ताम्बे के पैसे सोने की गिन्नीयाॅ कह कर दे दिये तो सहजता के साथ गिन्नीयाॅ समझकर स्वीकार कर

लिया था। इनको रुपयो, पैसों, गहनो तक का कोई लोभ नहीं था और ना ही कामना की। औरतो को गहने बहुत प्रिय होते है। मॉ उनसे अलग ही थे। सातों बहुओं को अपने गहने की अलमारी की चाबियॉ दे देते थे।

आतिथ्य सत्कार—मॉ अपने घर पर आये किसी भी मेहमान को भूखा नहीं जाने देती थी। कोई भी व्यक्ति किसी भी कार्य से आया हो तो वे उन्हे पहले चाय, नाश्ता, भोजन के लिए आग्रह करती थी। जब वे बहुत बीमार हुई। बीकानेर से डॉक्टर सा उन्हे देखने आये, उस समय भी पहले डॉक्टर सा. को खाना खाने का कहा कि मुझे बाद मे देख लेना, पहले भोजन करलो। मॉ की प्रेरणा से ही जितने भी मुकाम (कार्य क्षेत्र) थे, वहॉ हर जगह खाना का चौका चलता है। यानी कहने का अर्थ यह है कि उनके यहॉ से कोई भी भूखे पेट नही जाये।

त्याग एवं तपस्या—मॉ को किसी भी तरह का व्यसन नहीं था। उन्होने तो हमारे पूज्य पिता श्री दीपचन्द जी भूरा को प्रेम से प्रेरित कर उनके व्यसनो को छुडाने का अथक प्रयास किया। आचार्य श्री नानालाल जी म सा के देशनोक चातुर्मास 1975 में पूज्य गुरुदेव के समक्ष कुव्यसनो के प्रत्याख्यान दिलवाए ये उनकी प्रेरणा से ही सभव हुआ। मॉ की धर्म एव धर्मनायक एवं सत महासतिवर्याओ के प्रति दृढ श्रद्धा आस्था थी। दर्शन, सेवा का श्रद्धा एवं भक्ति के साथ लाभ लेते। तपस्या को बहुत महत्त्व देते। उन्होने 7,8,11,15,21 तपस्या के साथ महत्त्वपूर्ण मासखामण 31 दिन की तपस्या गुरुकृपा से सम्पन्न की।

सर्वजनहिताय एवं सर्वजनसुखाय—अन्तिम समय मे भयंकर से भयंकर बीमारी होने पर भी उन्होने अपने परिवार वालो व अन्यो को कभी नही कहा कि मेरे वेदना है। उस समय कोई भी पूछता तो सहज भाव से यही कहते कि ठीक है, पाठकगण सोच रहे होगे कि इतने बडे परिवार मे कभी न कभी तो कोई बात जरूर हुई होगी जिससे उन्हें किसी को कोई बात कहनी पडी हो, परन्तु उन्होने अपने जीवन की किसी भी वेला मे किसी को भी किसी भी बात पर कुछ भी नहीं कहा, यह उनकी सहनशक्ति की एक मिशाल है, किसी को दु खी देखना उन्हे अच्छा नही लगता था, सब सुखी रहे, यही भावना सदैव उनकी रहती थी।

संथारा सहित स्वर्गवास—दिनाक 1 7 99 को प्रातः 8:05 बजे सथारापूर्वक देहावसान हो गया। सब देखते ही रह गए। हॅसा अकेला ही उड गया। आचार्य श्री नानेश एव आचार्य श्री रामलाल जी म सा के प्रति अनन्य श्रद्धा, निष्ठा और भक्ति भावना थी। यह हमारा परम सौभाग्य रहा कि स्वाध्याय प्रेरक, आचार्य श्री हीराचन्द जी म सा आदि सत महापुरुष एव शा प्र , प.वि. महाश्रमणी रत्ना श्री इन्द्रकंवर जी म सा की आज्ञानुवर्ती साध्वी श्री मंजुला श्री जी म सा आदि ठाणा ने पधारकर विधिवत् माॅ को सथारे का पचक्खाण, 18 पापो की आलोयणा भी करवाई।

निष्कर्ष रूप मे जिनके जीवन की गणित सुलझी हुई रहती है, उन्हे ही अन्तिम समय मे सथारा आता है। सथारावाला देवगति मे जाता है।

देवदर्शन सा सौभाग्य—माॅ एक दिन करीमगज प्रकाश भवन मे जैसे मेरे परिवार को सभालने आशीर्वाद देने आये थे। अचानक मेरी पोती रीषा सन्ध्या के समय दौडकर अपनी दादी के पास आकर रोने लगी और कहने लगी बडे दादीसा वहाॅ खडे हैं। मुझे आशीर्वाद दे रहे है। बोलते–बोलते गला भर गया तो उसकी दादीसा ने ढांढस बधाते हुवे कहा कि डरने की जरूरत नही, अपने को आशीर्वाद देने आए है ।

आज माॅ के आशीर्वाद से मै बहुत सुखी हूॅ। मेरे 6 भाई और दोनो बहिने बहुत इज्जत देते है। मेरे सुख व दुःख मे साथ है। मुझे वे कभी दुःखी देखना नही चाहते। सब भाई मेरे साथ है। देशनोक मे हम सब भाई एक ही थाल मे एक साथ खाना खाते है। यह सब कुछ मेरी माॅ के आशीर्वाद से ही मिला है।

देशनोक 01 07 2010
सोनाकुंज

किशनलाल भूरा
देशनोक (बीकानेर)

प्रस्तावना

अध्यात्म एक ऐसी भूमिका है, जिसका आनन्द शब्दगम्य नहीं अनुभवगम्य है। वह किसी से पाई नही जाती, अपनाई जाती है। वह एक ऐसा सरस रस है, जिसका आंशिक स्वाद भी जीवन मे आमूलचूल परिवर्तन ला देता है। मत-सम्प्रदाय की जड धारणाएँ, सकुचित बाडाबन्दी और अहं की भेदरेखाएँ वहाँ स्वतः तिरोहित होने लग जाती है। एकात्मभाव की अनुपम अनुभूति सर्वत्र मैत्री की गाथा को मुखरित कर देती है और **एक एव भगवानयमात्मा** की ध्वनि स्वतः गूजने लग जाती है। अहा ! यह एक निराली ही मस्ती है, अनूठा ही फक्कडपन है, विचित्र आत्मदशा है। अध्यात्मयोगी की कल्याणी वाणी कुछ भव्य भावभगिमा को धारण कर लेती है। उसकी दृष्टि कुछ अन्यादृशी सृष्टि के लिये ही अमृतवृष्टि करती रहती है। उसके रोम-रोम मे से अजस्र कल्याण का स्रोत बहता रहता है।

स्वनाम-धन्य अध्यात्मयोगी श्रीआनन्दघनजी को जैनजगत् का कौन विज्ञ नही जानता ? उनकी अद्भुत अध्यात्मरस से ओतप्रोत कुछ कृतियाँ ही उनका यथार्थ परिचय है। मत-सम्प्रदाय की सीमाओ को तोडकर उन्होने उन्मुक्त मुनिव्रत को स्वीकारा था। दिगम्बर-श्वेताम्बर की सारी उपाधियो को उन्होने दूर रख दी थी। उसी का ही परिणाम है कि आज सारा जैनसमाज उनकी तात्त्विक कृतियों को ससम्मान आत्मसात् कर रहा है, अपना रहा है और उन्हे गौरव प्रदान कर रहा है। आश्चर्य ही क्या ? गगा का पानी तो सभी के लिये गगा का पानी ही है, उसके नैर्मल्य-माधुर्य आदि गुण सभी को एकरूपता प्रदान करते है। जैन हो, चाहे अजैन, हिन्दू हो चाहे मुस्लिम, स्वदेशी हो या विदेशी, गगा का पानी सभी की प्यास बुझाता है, शान्ति प्रदान करता है।

सही कहा है—

जयन्तु ते सुकृतिनः, रससिद्धा कवीश्वराः।
नास्ति येषां यशः काये जरामरणजं भयम्।।

कृतिकार अतीत के गाढ अन्धकार में विलीन हो जाते है, पर

अमर कृतियो पर काल का क्रूर कटाक्ष प्रभावी नही बन पाता। युग-युगान्तर तक वे कृतियाँ अखण्ड ज्योति बिखेरती रहती है, पथ प्रशस्त बनाती रहती है और गुमराहो को सही राह दिखलाती रहती है।

अध्यात्मयोगी श्रीआनन्दघनजी की चौबीसी एक ऐसी ही अनुपम कृति है, अद्भुत देन है या सहज आत्मिक उद्‌गार है, जिन्हे पढने वाला साधक मस्त हुए बिना नहीं रह सकता, झूमे बिना नही रह सकता और कुछ अपने हृदय को छू रहा है—ऐसा अनुभव किये बिना नही रह सकता। उनके एक-एक पद कुछ अनूठी तात्त्विकता लिये हुए प्रस्फुटित हुए है। भाषा की सज्जा का वहाँ कोई ध्यान नही है। वहाँ तो भावना ही साकार बन कर निखरी है। अपनी अकृत्रिम निराली मस्ती में ही सरस्वती ने पवित्र पदन्यास किया है। सहज सरल शब्द भी अनेक अर्थो के अभिव्यजक बने दिखाई देते है। अभिधा लक्षणा के पीछे मानो ध्वनियाँ कुछ अभिनव प्रकाश बिखेर रही है। रूपको की तो वहाँ भरमार है। प्रथम पद ही अखण्ड अनन्त प्रेम का प्रतिनिधित्व करता है। ऋषभ जिनेश्वर को प्रियतम पद पर प्रतिष्ठित करती हुई शुद्ध-चेतनारूप सन्नारी अपने प्राणेश्वर के प्रेम का वर्णन करती है। देखिए—

ऋषभ जिनेश्वर प्रीतम माहरो, और न चाहूं रे कन्त।
रीझ्यो साहेब संग न परिहरे, भॉगे सादि अनन्त।।

उन्होने सादि अनन्त के भग से अपने देव की प्रीति को पुकारा है, अर्थात् जिस प्रेम की आदि है—प्रारम्भ है, पर अन्त नही है—अनन्त है। अहा ! कैसी अद्भुत एव निराली प्रीति है। जगत् का प्रेम सोपाधिक है, किन्तु यह प्रेम तो निरुपाधिक है। उपाधिजन्य प्रेम तो, यह हो तो प्रेम हो—इस प्रकार कुछ मांग रहा है, चाह कर रहा है, वह असली प्रेम कहॉ ? माग की पूर्ति होने न होने पर प्रेम का सद्भाव एव तिरोभाव जहॉ हो, वहॉ वास्तविकता कहॉ ? प्रेम की सच्चाई कहॉ ?

श्रीआनन्दघनजी इसी स्तवन मे एक बडी क्रान्ति की बात कह डालते हैं—

कोई पतिरंजन अतिघणो तप करे रे, पतिरंजन तनताप।
ए पतिरंजन मैं नवि चित्त धर्यु रे, रंजन धातु–मेलाप।।ऋषभ.।।4

रूढिगत तपश्चर्या की सभी साधको में बडी लम्बी परम्परा रही है। उस पर यह व्यंग्योक्ति है कि पति को खुश करने के लिये कुछ अतिघोर तप करते है और शरीर को तपाना ही पतिमिलन का हेतु मानते है, किन्तु मेरे चित्त मे वह नहीं रुचा है, मुझे वह उचित नहीं लगा है। पतिरंजन तो धातु-मिलाप ही है, पति-पत्नी की एकरसता ही है, तन्मयता ही है। धातु-मिलाप के क्षण ही पतिरंजन के क्षण है। इस प्रकार परमात्म-प्रेम का अद्‌भुत विश्लेषण यहॉ पठनीय है।

श्रीआनन्दघनजी अजित-जिन के दर्शनोत्सुक बनकर उनके पथ को निहार रहे हैं, उनकी बाट जोह रहे है।

परन्तु किस पथ से प्रभु का मिलना होगा ? वह पथ कौनसा है ? उसे कैसे पहचाना जाए ? इसी समस्या मे जगत् की उलझन का चित्रण करते हुए आप लिखते है–

चरम नयणे करी मारग जोवतॉ रे, भूल्यो सयल संसार।
जेणे नयणे करी मारग जोइए रे, नयण ते दिव्य विचार।।पंथड़ो।।2।।

पुरुष-परम्पर-अनुभव जोवतां रे, अन्धो अन्ध पलाय।
वस्तु विचारे रे जो आगमे करी रे, चरणधरण नहीं ठाय।।पंथड़ो।।3।।

अहा ! उस पथ को निहारने के लिये इन चर्मचक्षुओ का काम नहीं है, वहॉ तो दिव्यनयनो की आवश्यकता है।

कुछ लोग कहते हैं–"परम्परागत मार्ग सही है" ऐसी मान्यता वालों पर तीखा कटाक्ष करते हुए वे लिखते हैं कि "अन्धे के पीछे अन्धे हो रहे हैं।" जो मार्ग दिखाने के लिए अगुआ बना है, वह स्वयं अन्धा है–वह स्वयं कभी उस मार्ग को देख नही पाया है, तो उसके पीछे चलने वाले–अन्धानुकरण करने वाले तो मार्ग पा ही कैसे सकते हैं ? इसी पद के उत्तरार्ध में एक गहरी बात कह देते है। यदि वस्तुतया आगमकथनो पर विचार किया जाए तो पैर रखने का भी स्थान नही है। कहॉ आगमो की असिधारा–जैसी अत्यन्त तीक्ष्ण एवं अहिदृष्टि जैसी सतत् जागरूकता की साधना और कहॉ आज के साधकों की सुविधापरक वृत्ति ! हॉ ! कैसे मार्ग पाया जा सकता हे ?

कही-कही श्रीआनन्दघनजी की अन्तश्चेतना प्रभु के प्रति आ[illegible]

उत्कण्ठित होती हुई अपनी सुमति नामक सखी से कैसे भावभरे शब्दो मे कहती है–

देखन दे रे, सखी मुने देखन दे, चन्द्रप्रभु-मुखचन्द्र, सखी।
उपशमरसनो कन्द, सखी, गतकलिमल-दुःख द्रन्द्व, सखी।।1।।

अहा ! कितनी गहरी भावाभिव्यक्ति है ! सखी मुझे देखने दे ! आतुरता के पीछे कारण है कि भवभ्रमण करते हुए अनन्तकाल मे मुझे वह सुअवसर प्राप्त नही हुआ है। विविध योनियो के मार्मिक चित्रण का नमूना देखिये–

सुहुम निगोदे न देखियो सखी, बादर अतिहि विशेष।।सखी ।।
पुढवी आऊ न लेखियो सखी, तेऊ आऊ न लेश।। सखी.।।
वनस्पति, अतिघणदीहा सखी, दीठो नहिं दीदार।।सखी ।।
बि–ति–चउरिंदिय जललीहा, सखी, गतसन्नीपण धार।। सखी.।।

तात्पर्य यह है कि वहाॅ कही भी मुझे दर्शन का मौका नही मिला। केवल इसी मनुष्यभव मे यह सुअवसर उपलब्ध हुआ है, अतः मुझे अब देखने दे। प्रस्तावना मे कितना विवेचन दिया जाए, प्रत्येक कृति अद्भुत भावो को लिये हुए चली है।

सच्चा साधक कभी अपनी कमजोरी नही छिपाता। वह तो डके की चोट सभी के आगे उसे व्यक्त कर देता है। मन की चचलता के आगे हैरान श्री आनन्दघनजी सत्रहवे कुन्थुनाथस्वामी के स्तवन मे गजब की व्याख्या करते है–

कुन्थुजिन ! मनडुं किम ही न बाजे,
जिम-जिम जतन करी ने राखूॅ, तिम–तिम अलगूॅ भाजे।।

प्रभो ! मेरा मन किसी प्रकार बाज नही आता। इसे काबू करने के लिये ज्यो-ज्यो प्रयत्न करता हूॅ, त्यो-त्यो वह दूर भागता है। मन का यह निश्चित स्वभाव है कि जहाॅ जाने के लिये हम रोकना चाहेगे, वहाॅ वह जरूर जायेगा। इसी अनुभवगम्य स्थिति का यह प्रकट दिग्दर्शन है। मन के दौडने की निःस्सारता का चित्रण पढिये–

रयणी-वासर, बसती-उज्जड, गयण-पायाले जाय।
सांप खाय ने मुखडुं थोथुं, एह ओखाणो न्याय, हो, कुन्थु।।

रात-दिन, बसति-उजाड, आकाश-पाताल मे यह दौडता रहता है। इतना दौडता हुए भी इसे कुछ प्राप्त नही होता। फिर भी मालिक को तो यह भारी बना ही देता है। जैसे—सॉप काटता है, तो उसका पेट तो नहीं भरता, पर जिसे डंक मारता है, उसे तो विष से व्याकुल बना ही देता है।

अहा ! कैसी विचित्र लोकोक्ति का प्रयोग किया है। इसी स्तवन के अन्तिम पद मे तो वे एक असाधारण घोषणा कर देते है—'प्रभो ! अमुक ने मन को जीता, मन को मारा, मन को वश मे किया—ये सब सुनी—सुनाई बाते है। मै उन पर कैसे विश्वास करूँ ? यदि आप मेरे मन को वश मे ला दे, तो मै उपर्युक्त कथनो को सत्य मान लूँगा।'

आनन्दघन प्रभु ! म्हारो आणो तो साचूं करी मानूं।

वस्तुतः मन को मारना कठिन समस्या है। आनन्दघनजी मन को मारने से अधिक सुधारने में विश्वास करते है। इस भाति सारा ही ग्रन्थ बहुमूल्य शिक्षामणियो से एव आध्यात्मिक अनुभूतियो से भरा पडा है। बस, कण की परीक्षा से ही मनभर की परीक्षा हो जाती है।

मूलकृति एवं भाष्यकार

यद्यपि **आनन्दघन चौबीसी** पर आज तक अनेक टीकाएँ लिखी गई है, अनेक व्याख्याएँ की गई है, फिर भी वे बहुत संक्षिप्त एवं शब्दार्थ मात्र जैसी ही है। उनसे पाठकों की तत्त्वजिज्ञासा यथार्थतया समाहित नही हो पाती। श्रीमद्राजचन्द्र जैसे महान् तत्त्व-मनीषियो ने भी कुछ गीतिकाओ पर ही प्रकाश डाला है, सभी गीतिकाओ पर नही। अतः मुमुक्षुओ की मांग थी कि कोई अनुभवी साधक इसकी विस्तृत व्याख्या करे। समुद्र की अतल गहराइयों तक गोता लगाने वाला तैराक ही उसकी गहराई को माप सकता है। केवल तट पर घूमने वाले यात्री को उसका कैसे पता लग सकता है ? इस अभाव की पूर्ति भाष्य लिखकर **मुनि श्री नेमिचन्द्रजी** ने सचमुच मे की है। भाष्यकार ने किस गहराई से तत्त्व को छूआ है और कैसी वास्तविक व्याख्या से समाधान किया है,

यह विशिष्ट वाचको से कदापि छुपा नही रहेगा। इधर-उधर की व्याख्या से व्यर्थ का कलेवर बढाना और बात है और मूल का स्पर्श करना भिन्न बात है। यह मूलस्पर्शी व्याख्या बनी है। ग्रन्थकार के प्रत्येक शब्द के तात्पर्य को पकडने की इसमें विशेष चेष्टा की है।

यह निःसन्देह है कि मूल-मूल है, व्याख्या-व्याख्या है। सैकडो वर्षो का अन्तर चिन्तन के स्वर को बदल डालता है। शब्द भी अपने तात्पर्यो को बदल लेते है। वहॉ ऐदयुगीन मानव अपनी बुद्धि से अवश्य कुछ जोडना एव कुछ तोडना चाहता है—यह स्वीकरणीय तथ्य है, फिर भी टीका, वृत्ति, भाष्य के बिना दूसरा कोई चारा नही है। मूल को कितनी यथार्थता से कौन पकडता है ? यही देखना वहॉ अभीष्ट है।

वैसे ही चौबीसी के पदो मे जहॉ-जहॉ कुछ शास्त्रोपजीवी भावनाऍ है, वहॉ-वहॉ उन-उन शास्त्रीय प्राचीन ग्रन्थो के श्लोक आदि टिप्पण मे सप्रमाण दे दिये गये है। इससे प्रस्तुत भाष्य की मौलिकता पर और भी चार चॉद लग गये है।

श्री बुद्धिसागरसरिजी महाराज आदि के द्वारा लिखित श्रीमद् आनन्दघनजी महाराज के जीवनचरित्र मे ऐसी कई घटनाऍ है। वास्तव मे अनायास घटित चमत्कारो के बनिस्पत इच्छापूर्वक घटित चमत्कार आत्मलब्धि का अपव्यय और ससारवर्द्धक स्टेशन बढाने वाले होते है। यहॉ श्रीमद् के सबधित चमत्कारो की समीक्षा अभीष्ट है।

1 श्रीमद् के ध्यान की उच्च दशा मे गुफावास करने पर सिह व्याघ्र, सर्पादि पडे रहते थे, जिनकी गर्जना से साधारण व्यक्ति का हृदय फट जाय, ऐसी गुफाओ मे साधना करते थे। इस तपोबल और आत्मलब्धि का हम शतशः समर्थन करते है।

2 मित्र योगी द्वारा प्रेषित स्वर्णरस सिद्धि को फैक देना और उसके द्वारा तिरस्कार पूर्ण चैलेज देने पर श्रीमद् द्वारा सकल्प सिद्धि से चट्टान पर प्रश्रवण कर उसे स्वर्णमय बना देना—लोककथा प्रसिद्ध है, समीक्षा आवश्यक नही।

3 जोधपुर के महाराजा की दुहागिन रानी द्वारा महाराजा की कृपा दृष्टि हेतु यत्र मांगने पर राजाराणी दो मिले उसमें आनंदघन कुं क्या ?

लिखकर दिये कागज के यंत्र को धारण करने पर वह प्रीति पात्र हो गई। इसी प्रकार की कथा श्रीमद् ज्ञानसारजी को उदयपुर महाराजा द्वारा दुहागिन द्वारा दुहागिन रानी का यंत्र खोलकर देखने पर राजा राणी सु राजी हुवै तो नाराणे ने काइं राजा राणी सुं रूसै तो नाराणे ने काइं ? लिखा मिला। लोककथा का हार्द एक है और नायक भिन्न। (देखिये हमारी–ज्ञानसार ग्रन्थावली)

4 जोधपुर नरेश के पधारने पर ज्वरग्रस्त आनंदघनजी ने वार्त्ता–उपदेशहेतु अपना ज्वर कपडे मे उतार रखा। थर–थर धूंजोते कपडे का रहस्य राजा ने ज्ञात किया। यही बात महाराजा सूरतसिह और ज्ञानसारजी के लिए प्रसिद्ध है। (ज्ञानसार ग्रन्थावली पृ 39) इसी से मिलती जुलती बात सुलतान महमद के जाने पर ज्वरग्रस्त श्री जिनप्रभसूरिजी द्वारा ज्वर को पानी मे उतारने और उबलने लगने की उपलब्ध है (देखिए–शासन प्रभावक जिनप्रभसूरि और उनका साहित्य पृ 70)

5 मेडता मे श्रेष्ठि पुत्री को मृत पति के साथ चित्ता प्रवेश करते रोकने के लिए उपदेश मे ऋषभ जिनेश्वर प्रीतम माहरो रे स्तवन निर्मित होना। चौबीसी के 22 स्तवन निर्माण को यशोविजयजी और ज्ञानविमलसूरि द्वारा छिपकर सुनना और 2 स्तवन न बन सकना तथा चित्र निर्माणकर गुफा मे उपाध्यायश्री द्वारा ज्ञानविमलसूरिजी के टब्बे के ऊपर लिखी ज्ञानसारजी की समीक्षा ही पर्याप्त है।

6 जोधपुर महाराजा के धन की आवश्यकता पडने पर मेडता की कोट्याधिपति सेठानी के यहाँ सिपाहियो द्वारा घेरा डालने और आनंदघनजी को प्रार्थना करने पर उन्होने अक्षय लब्धि से एक-एक तरह का सिक्का रखवाया और उसमें से अखूट धन से कितने ही घडे भर दिये। इन सब दन्तकथाओ का विस्तृत लेखन हुआ है। महाजन वंश मुक्तावली पृ 28 में बॉठियो के इतिहास मे हरखचद की सतान हरखावत कहलाए। मेडता नगर में बादशाह खाजे की दरगाह जाने आया। द्रव्य की आवश्यकता होने से हरखावत को बुलाकर 52 सिक्के के 6 लाख रुपये मांगे। चिन्ताग्रस्त सेठ आनदघनजी मुनि पास गया। मुनि ने योगसिद्धि से 52 सिक्के पूर्ण करे। बादशाह ने हरखावत को शाहपद दिया। मुनि दर्शनविजय त्रिपुटी महाराज ने जैन परम्परानी इतिहास में इस बात

का उल्लेख करते हुए आनंदघनजी को ते तपागच्छनाहता लिखा है।

7. एक बार किसी गॉव के निर्धन वणिक के यहॉ श्रीमद् ठहरे थे। उसे अर्थचिन्ता मे रुदन करते देखकर उन्होंने लोहा मंगाया। वणिक ने इकसेरिया वाट लाकर दिया। श्रीमद् प्रातःकाल विहार कर गये और उनके स्थान पर लोहे के सेर को सोने का पाया।

8. श्रीमद् यशोविजयजी द्वारा स्वर्ण–सिद्धि की वाछा के लिए जाने पर लघु शंका निवृत्यर्थ बैठने की, सती होने वाली सेठानी अध्यात्मिक उपदेश देने पर तथा किसी राजा की दो पुत्रियो को रुदन करते उपदेश द्वारा शोक दूर करने आदि पर भी श्रीमद् के चारित्र पर दोषारोपण और दोनों हाथ अग्नि पर रखने और विश्वस्त करने आदि कितनी ही किम्वदन्तियो पर विस्तृत आलेखन हुआ है, जिसकी समीक्षा अनावश्यक है।

श्रीमद् की पद रचना के विविध प्रसगो को लेकर तत्सम्बन्धी लोकोक्तियॉ जैसे पारने के दिन आहार न मिलने, चमत्कार लोभी श्रावको के तथा जैनेत्तर जिज्ञासुजन के प्रश्नादि पर भी आचार्यश्री ने काफी विवेचन किया है।

श्री आत्मारामजी महाराज ने बीसवीं शताब्दी मे बने समेतशिखरजी के ढालिया के अनुसार जो परवर्त्ती अनैतिहासिक बात लिखी है कि आनंदघनजी सत्यविजयजी के लघु–भ्राता थे। यह सौ वर्ष पूर्व की कल्पना सृष्टि है–तेमना लघुभाई लाभानंदजी, ते पिण क्रिया उद्धार जी। वास्तव मे आनदघनजी सत्यविजयजी से अवस्था मे बडे थे और न उनका किसी भी प्रकार से पारस्परिक पारिवारिक सम्बन्ध ही था। सत्यविजय पन्थास लाडलु (?नु) के दूगड वीरचंद के इकलौते पुत्र थे। यह जिनहर्ष कृत सत्यविजय निर्वाण रास से सिद्ध है। अतः न तो वे दोनो भाई-भाई थे और न एक स्थान मे उनकी जन्मभूमि ही थी।

मेडता चातुर्मास मे नगरसेठ के आने के पश्चात् व्याख्यान प्रारंभ किया जाता था। विलम्ब हो जाने से समय पर आनदघनजी द्वारा प्रत्याख्यान प्रारभ करने पर नगर सेठ द्वारा उपालंभ देने पर वे सब कुछ छोडकर जगल मे चले जाने की घटना में सभी एकमत है। किन्तु रायचद अजाणी ने अवधूत आनदघन चौबीसी में उनके देह विलय स्थान को गुजरात ना मेडता लिखा है। मुनि

श्रीरत्नसेन विजयजी पृ 17 में गुजरात प्रदेश के गॉव मे उपर्युक्त नगरसेठ के आगमन से पूर्व व्याख्यान प्रारभ की घटना गुजरात के गॉव मे लिखी है। रायचद अजाणी ने ज्ञानसारजी के आशय आनंदघन तणो दोहे को ज्ञानविमलसूरि कृत एवं रत्नसेनविजयजी ने इस दोहे को पृ 14 मे उपाध्याय यशोविजय कृत लिखा है, पर उपसहार मे उन्होने श्री ज्ञानसारजी महाराज का ही लिखा है। आनन्दघनजी की जीवनी की घटनाओं मे उन्होने भी बुद्धिसागरसूरिजी का ही अनुधावन किया है।

9 दिल्ली के शाहजादे का बीकानेर आना, वृद्ध यति की मश्करी और अश्वारूढ शाहजादे को बादशाह का बेटा खडा रहे कह कर आनदघनजी द्वारा स्तभित कर देने की बात भी अप्रामाणिक है। इस के विषय मे वयोवृद्ध कोठारी जमनालालजी द्वारा मैंने सुना था कि महाराजा गंगासिहजी के समय मे जब वे नाबालिग थे तो तालव्होट साहब ने दूसरे चिदानंद जी को उपालम्भ और अपशब्द कहे कि आप यह चित्र और घटना का आनदघनजी से कोई सम्बन्ध नही है। मुगल इतिहास मे किसी भी शाहजादे का दिल्ली से बीकानेर आना प्रमाणित नही है। आनदघनजी के समय महाराजा करणसिह थे जिसे मुगल इतिहास मे करण भुरटिया लिखा है। वे सुबह–सुबह तुर्क का मुह नही देखते और दरबारी मुसलमानो को भी दाढी मुंडाये रखना पडता था। कोई केन्द्र का अधिकारी मुसलमान आता तो उसे भुरट (कॉटे) के मार्ग से लाया जाता और खारा पानी पिलाया जाता।

श्री बुद्धिसागरसूरिजी ने आबू की गुफाओं, मडलाचल की गुफाएं, सिद्धाचल, गिरनार, ईडर, तारंगा आदि में विचरने की बात लिखी है। उसका लिखित प्रमाण कोई नही मिलता। पृ 154 मे जोधपुर के अपुत्रिये राजा के आनदघनजी की अतःकरण से सेवा द्वारा पुत्र प्राप्ति होना लिखा है, इस विषय मे प्रमाणाभाव मे कुछ नही कहा जा सकता।

***

अनुक्रमणिका

1. ऋषभदेव-स्तुति–

सच्ची परमात्म-प्रीति

(तर्ज- कर्मपरीक्षा करण कुमर चाल्यो   राग-मारु)

ऋषभजिनेश्वर प्रीतम माहरो रे, और न चाहूँ रे कंत।
रीझ्यो साहेब संग न परिहरे रे, भांगे सादि-अनन्त।।ध्रुव.।।1।।

अर्थ–मेरे सच्चे प्रियतम (पतिदेव) तो रागद्वेष-विजेता ऋषभदेव परमात्मा हैं। मैं और किसी को अपने पति के रूप में नहीं चाहती; क्योंकि मेरे परमात्मदेव (पति) यदि एक बार प्रसन्न हो जायेंगे तो वे सादि-अनन्त भंग (विकल्प) की दृष्टि से कदापि मेरा साथ नहीं छोड़ेंगे।

भाष्य–अन्तरात्मा की सर्वोत्तम उपलब्धि परमात्म-प्रीति है। परमात्म-प्रीति के सम्बन्ध में विभिन्न विकल्प हैं। परन्तु स्तुतिकर्ता श्रीआनन्दनघनजी जगत् के किसी भी तथाकथित महान् (धन, सौन्दर्य आदि की दृष्टि से) व्यक्ति को अपने प्रियतम के रूप मे पसद नही करते। इसीलिए अपनी श्रद्धा नाम की सखी से चेतना (अन्तरात्मा) द्वारा कहलाते है–मेरे प्रियतम तो रागद्वेष-विजयी ऋषभदेव परमात्मा (शुद्ध आत्मदेव) है। इन्ही के चरणो मे मै अपने तन, मन, इन्द्रिय, हृदय, बुद्धि आदि सर्वस्व अर्पण करती हूॅ। इन्ही के पास रहने, इन्ही की सेवा मे अहर्निश सलग्न रहने की मेरी भावना है। मै अपने इन्हीं पतिदेव को चाहती हूॅ। इनके साथ रहने मे मै अपने जीवन की परम सफलता मानती हूॅ।

अन्य के साथ क्यों नहीं ?

आर्यनारी जिसके साथ एक बार प्रीति जोड लेती है, उसे अपना सर्वस्व समर्पण कर देती है, वही उसका आमरणान्त पति कहलाता है। उसके साथ मे उसे चाहे जितने कष्ट उठाने पडे, वह पतिपरायणता या पतिवत्सलता ही रहती है, परन्तु उस प्रीति मे तो प्रायः भग होता देखा गया है। कई क्रूर पति अपनी पत्नी को अकारण ही छोड देते है, कई दूसरी सुन्दरी के प्रेम मे पड कर अपनी पत्नी की उपेक्षा कर बैठते हैं, कई अकालमृत्यु के शिकार बन जाते है, इसलिए ऐसी लौकिक प्रीति तो अस्थायी और प्रायः विपत्तिकारिणी होती है, इसी कारण शुद्धचेतना सती ऐसे किसी लौकिक व रागद्वेषपरायण

पति (प्रियतम) से प्रीति जोडना नहीं चाहती।

अखण्डप्रीति के धनी परमात्मा

शुद्धचेतना की अन्तरात्मा पुकार उठती है कि रागद्वेष से अत्यन्त दूर परमात्मा (ऋषभदेव) ही अखण्डप्रीति के धनी है, उनके साथ एक बार मेरी प्रीति जुड जाने पर वह कभी टूटेगी नही। वे एक बार मुझे प्रसन्नतापूर्वक अपना लेगे तो फिर कदापि मेरा साथ नही छोडेगे।

यहाॅ यह बात ध्यान देने योग्य है कि परमात्मा के साथ ऐसी अखण्डप्रीति तभी अविच्छिन्न, स्थायी और अटूट रह सकती है, जब आत्मा (चेतना) भी सतत् अपनी शुद्ध स्वभावदशा मे रहे। आत्मा शुद्ध स्वभावदशा की प्रीति छोडकर यदि सासारिक वस्तुओ, इन्द्रियविषयो या व्यक्तियो के प्रति मोह, आसक्ति, आकाक्षा या स्वार्थवश प्रीति करने जायेगी तो उसकी वह प्रीति परमात्मा के प्रति अव्यभिचारिणी नही रहेगी। अतः वे कहते है–'परमात्मारूपी पति भी तभी प्रसन्न रहेगे, जब उनके प्रति अनन्यभक्ति, अनन्यश्रद्धा और स्वभाव धारा मे सततरमणता होगी और एक बार प्रसन्न (स्वभावनिष्ठ) होने पर वे मेरे हृदय-सर्वस्व कभी मेरा परित्याग नहीं करेगे।'

परमात्मा के प्रति प्रीति के स्थायित्व का कारण

एक बार परमात्मा के साथ प्रीति हो जाने पर वह सदा के लिए स्थायी क्यो हो जाती है, इसके लिए आनन्दघनजी कहते है कि वह प्रीति सादि-अनन्त है। उसकी एक बार आदि (शुरुआत) तो होती है, परन्तु उस प्रीति का अन्त नही होता। जिस प्रीति का प्रारम्भ तो हो, पर अन्त हो जाय, वह प्रीति स्थायी नही होती, ज्यादा से ज्यादा वह एक जन्म तक टिकती है। शरीर छूटने के बाद वह भी छूट जाती है।

संग-परिहार बनाम स्वभावदशापरिहार

कोई कह सकता है, सग का एक अर्थ आसक्ति है, और वह तो त्याज्य मानी गई है, इसलिए परमात्मा के साथ यह कैसे सगत हो सकता है ? परन्तु यहाॅ वीतरागप्रीति का प्रसंग होने से सग का अर्थ आसक्ति नही, अपितु स्वभावदशा का साथ है, जिसे परमात्मदेव कभी छोडते नही।

प्रीत-सगाई रे जगमां सहु करे रे, प्रीत सगाई न कोय।
प्रीत सगाई रे निरुपाधिक कही रे, सोपाधिक धन खोय।।

ऋषभ. ।।2।।

अर्थ–जगत् में प्रीति-सम्बन्ध तो सभी करते हैं। परन्तु ऐसे प्रीति-सम्बन्ध में कोई दम नहीं होता। यथार्थ प्रीति-सम्बन्ध तो सर्व उपाधियों से मुक्त होता है। उपाधियों से युक्त प्रीति-सम्बन्ध तो आत्मधन को खो बैठता है।

भाष्य–अखण्ड प्रीति-सम्बन्ध ही आत्मस्वभावरूपी अखण्डधन का रक्षक होता है, जबकि खण्डित प्रीतिसम्बन्ध आत्मस्वभावरूपी अखण्ड धन को नष्ट कर देता है। इसका मूल कारण उपाधि बतलाया गया है। पूर्वोक्त प्रथम पक्तियो मे अखण्डप्रीति का लक्षण बताया गया है, जबकि इसमें अखण्ड प्रीति-सम्बन्ध का स्वरूप बताया है।

जगत् का प्रेम-सम्बन्ध

जगत् मे अपनी सन्तान, परिवार, जाति, धर्मसघ, राष्ट्र, प्रान्त आदि से अधिकाश लोग प्रेम-सम्बन्ध जोडते है। परन्तु यह सम्बन्ध प्रायः चिरस्थायी नही होता, मनुष्य ही नही पशु-पक्षी आदि समस्त प्रकार के जीव भी परस्पर प्रेम करते है, परन्तु दुनियादारी के इस प्रेम मे प्रायः देहसम्बन्ध होता है। सासारिक प्रीति-सम्बन्ध के पीछे शरीर और शरीर से सम्बन्धित वस्तुएँ-सौन्दर्य, स्वार्थलिप्सा, विविध कामनाएँ, भोगैषणा, पुत्रैषणा, वित्तैषणा, इन्द्रिय-विषयाकाक्षा, अहपोषण आदि पौद्गलिक उपाधियॉ रहती है। जैसे दूध में खटाई डालते ही वह फट जाता है; वैसे ही उस अखण्ड प्रीतिसम्बन्ध मे उपाधि रूपी खटाई पडते ही वह टूट (फट) जाता है। उसमे बाह्य धन, साधन और बल का तो नाश होता ही है, आत्मगुणरूपी धन का सबसे ज्यादा नाश होता है। क्योकि सासारिक पौद्गलिक वस्तु या व्यक्ति सभी नाशवान है, उन्हे अपने मानने पर, यानी उनमे अहता-ममता की उपाधि का आरोपण करने पर भी वे अपनी नहीं होती। उन क्षणभगुर वस्तुओ के साथ प्रीति का सम्बन्ध प्रारम्भ मे, मध्य मे और अन्त मे भी यथार्थरूप से संभव नहीं होता, क्योकि वह विविध उपाधियो से घिरा होता है।

सच्चा प्रीतिसम्बन्ध

इसीलिए श्रीआनन्दधनजी सच्चे प्रीति-सम्बन्ध का स्वरूप बताते हुए कहते है–'सच्चा प्रीति-सम्बन्ध तो निरुपाधिक कहलाता है, जिसमे अखण्डता, अविच्छिन्नता और उपाधिमुक्तता होती है; उसमें प्रीति-सम्बन्ध, प्रीतिसम्बन्ध का पात्र एवं प्रीति-सम्बन्धकर्त्ता तीनों मे निरुपाधिकता होती है।

इस प्रीति-सम्बन्ध के पीछे भी कोई आसक्ति, फलाकांक्षा आदि उपाधि नही होती; ऐसा प्रीति-सम्बन्ध जिसके साथ जोडा जाता है, वह भी राग-द्वेष, मोह आदि उपाधियो से रहित समदर्शी, विश्ववत्सल एवं सर्वभूतात्मभूत होता है, तथा प्रीति-सम्बन्ध जोडने वाला व्यक्ति भी अपने को आराध्यदेव के अनुकूल पूर्वोक्त स्वार्थ, आकाक्षा आदि उपाधियो से रहित आत्मस्वभावनिष्ठ, आत्मपरायण बना लेता है, जिससे उसे आत्मधन खोने का कोई खतरा नही रहता, बल्कि वह अपनी आत्मशक्तियो को प्रगट कर लेता है, आत्मगुणों का विकास कर लेता है।'

निरुपाधिक प्रीति का क्रम

प्रश्न होता है कि सर्वथा निरुपाधिक प्रीति तो क्षीणमोह नामक बारहवे गुणस्थान पर पहुँचे हुए व्यक्ति ही कर सकते है, उससे नीचे की भूमिका वाले साधक की प्रीति सर्वथा निरुपाधिक नही होती, तब फिर एक परिवार या सघ में रहते हुए देव, गुरु, धर्मसघ, देश, किसी सार्वजनिक सस्था व विश्व के साथ या मैत्रीसाधक या वात्सल्यसाधक संगठन के प्रति जो समूहगत प्रीति होती है, उसम निरुपाधिकता कैसे आ सकती है? इसका समाधान सक्षेप में श्रीआनन्दघनजी के दृष्टिकोण से इस प्रकार है—"उपाधि का मूल अहता और ममता है। जितनी-जितनी जिसकी अहता-ममता अधिक तीव्र होगी, उतनी-उतनी उपाधि बढती जायगी और जितनी-जितनी अहता-ममता मन्द होगी, उतनी-उतनी उपाधि कम होती जायगी। इसलिए अहता-ममता का त्याग जितना सकीर्ण दायरे में होगा, उतना ही उपाधि का दायरा बढता जायगा और जितना व्यापक विशाल दायरे म होगा, उतना ही उपाधि का दायरा कम होता जायगा।" इसीलिए एक आध्यात्मिक पुरुष ने साधक को परामर्श दिया है[1]—

'यदि अहंता-ममता का सर्वथा त्याग नही कर सकते तो अहता-ममता को व्यापक कर दो, सर्वत्र फैला दो।'

अर्थात्—शरीर, परिवार, जाति, प्रात, राष्ट्र आदि पर जो अहता-ममता है, उसे इन सबसे ऊपर उठकर सारे विश्व के प्राणियो तक पहुँचा दो' समस्त प्राणियो को आत्मतुल्यदृष्टि से देखो, सर्वभूतमैत्री और विश्ववात्सल

---

1 अहंता-ममता-त्यागः यदि कर्तुं न शक्यते।
अहंता-ममता चैव सर्वत्रैव विधीयताम्।।

की दृष्टि से व्यवहार करो। निष्कर्ष यह है कि एक शरीर मे रहते हुए भी अपने शरीर आदि के प्रति ममत्त्वदृष्टि से न सोच कर सारी मानवजाति की दृष्टि से और यहाँ तक कि बढते-बढते सर्वप्राणिमात्र की दृष्टि से सोचो, विश्व की समस्त आत्माओ के प्रति श्रद्धा और निष्ठा रखो, विरोधी, दुर्गुणी अथवा पापी आत्माओ के प्रति भी घृणा, द्वेष, ईर्ष्या या वैरभाव छोडकर उनमे भी विराजित निरावरण चेतना को देखो और उनके साथ भी समता का व्यवहार करो। अपनी व्यक्तिचेतना को विश्वचेतना मे विलीन करने का प्रयत्न करो। इस प्रकार की विश्ववत्सलता सर्वभूतमैत्री या सर्वभूतात्मभूतदृष्टि रखते हुए जब धर्मसघ, देश या जाति के प्रति विशिष्ट सामूहिक प्रीति-सम्बन्ध होगा तो उसमे उपाधि का अश बहुत-ही कम हो जायगा।[1]

कदाचित् देहादि-सयोगवश निरुपाधिक प्रीतिसम्बन्ध मे स्खलना आ भी जायेगी तो भी वह बहुत सूक्ष्म होगी, उसका परिमार्जन या शुद्धीकरण भी प्रतिक्रमण, आत्मनिन्दा (पश्चात्ताप), गर्हणा, प्रायश्चित्त आदि से हो सकेगा। परन्तु इसके साधक को तादाम्य-ताटस्थ्य का तथा अनायास-आयास का विवेक एव अप्रमादयुक्त जागृति रखना बहुत ही आवश्यक है। इस दृष्टि से सच्चे प्रीतिसम्बन्ध में ध्येयानुकूल-अनुबन्ध जरूरी है। अन्यथा, बाह्यदृष्टि से घरबार कुटुम्ब-कबीला, जमीन-जायदाद आदि की उपाधि छोडने वाला साधक रक्त-सम्बन्ध को छोडकर भी शिष्य-शिष्या, भक्त-भक्ता, स्थान, प्रसिद्धि, आदि के मोहवश होकर नई उपाधियो से घिर जायगा और सच्चे प्रीतिसम्बन्ध को विषाक्त बना लेगा।

कोई कंत-कारण काष्ठभक्षण करे रे, मलशुं कंतने धाय।
ए मेलो नवि कदीए संभवे रे, मेलो ठाम न ठाय।।

।।ऋषभ.।।3।।

***अर्थ*-कई मोहान्ध विवेकविकल महिलाएँ पति के मिलने के लिए काष्ठभक्षण करती हैं (लकड़ियों की चिता पर पति के साथ जीवित जल मरती हैं) ; इस कारण से कि इस प्रकार करने से पति से जल्दी मिलन हो जायगा। परन्तु ऐसा मिलन किसी भी तरह**

1 विश्वबन्धुत्व आदि प्रशस्त भावनाओं मे यद्यपि प्रशस्तराग का अश सभव है, तथापि अप्रशस्तराग (दृष्टि, स्नेह, और विषय के प्रति राग) की अपेक्षा वह बहुत ही क्षीण होगा।

सम्भव नहीं है, क्योंकि मिलने वाले के तथा जिससे मिलना है, उससे मिलने के, किसी स्थान का पता नहीं है, न दोनों का कोई एक स्थान ही निश्चित है।

भाष्य–उपर्युक्त पक्तियो मे श्री आनन्दघनजी प्रीतिसम्बन्ध को दृढ करने हेतु विवेकविकल व्यक्तियो के द्वारा अजमाए जाने वाले पति-मिलन के मिथ्या उपाय बतलाते हुए कहते है–"कई मोहान्ध एव विवेकशून्य नारियॉ आतुर होकर आवेशवश, सामाजिक कुप्रथावश अथवा मोहान्धतावश या दिखावे के लिए प्राचीनकाल मे अपने मृत पति के साथ सती हो जाती थी, 'मुझे अगले जन्म मे यही पति मिले', इस लिहाज से वे मृत पति के साथ चिता मे जल मरती थी, परन्तु इस प्रकार का देहार्पण करके प्रीति का प्रदर्शन निरर्थक है। यह मान्यता सर्वथा भ्रान्तिपूर्ण है कि पति के साथ जल मरने वाली स्त्री को पति मिल ही जायगा, क्योकि सभी प्राणी अपने-अपने कर्मानुसार विविध योनियो और गतियो मे जन्म लेते है, पति और उसके साथ जल मरने वाली पत्नी के कर्म भिन्न-भिन्न है, इसलिए उन्हे गति भी भिन्न-भिन्न मिलेगी। कदाचित् दोनो को एक ही गति मिल भी जाय, फिर भी दोनो का एक ही राष्ट्र, प्रान्त, नगर या ग्राम मे तथा एक ही परिवार मे अथवा समसस्कारी कुल या जाति मे जन्म पाना अत्यन्त कठिन है।

पतिमिलन के लिए स्वदाहक्रिया : भ्रान्तिपूर्ण

इसीलिए अध्यात्मयोगी श्रीआनन्दघनजी का स्पष्ट कथन है कि ऐसी पतिमिलन की मान्यता भ्रमपूर्ण है। यह एक प्रकार की आत्म-हत्या है, इस प्रीतिसम्बन्ध की दृढता का मूल वैषयिक आकाक्षा है, जो जैनदृष्टि से निदान (नियाणा) है। तात्त्विक दृष्टि से देखा जाय तो इस स्वदाहक्रिया के पीछे आत्मदृष्टि की सर्वथा विस्मृति, गति-आगति के कारणो व कर्म के अचल सिद्धान्त का अज्ञान, विश्व-व्यवस्था की अल्पज्ञता तथा प्रायः आवेश और अभिमान के पोषण की दृष्टि से एक प्रकार का आत्महनन प्रतीत होता है। कई व्यक्ति अपनी या अपनी जाति की प्रसिद्धि के लिए भी बहुत धन खर्च करते है, कष्ट सहते है और प्राण तक अर्पण कर देते है। इसलिए ऐसे आत्मदाह के पीछे प्रसिद्धि की कामना भी हो सकती है।

लोकोत्तर दृष्टि से भी काष्ठभक्षणक्रिया से मिलन नहीं

काष्ठभक्षण का पहले जो अर्थ किया गया था, वह लौकिक पति-

मिलन की दृष्टि से था, लोकोत्तरपति-परमात्मा से मिलन की दृष्टि से अर्थ होता है—परब्रह्म परमात्मा को पति मानकर कई लोग उसे प्राप्त करने हेतु प्रीति के आवेश मे आकर पचाग्नि ताप तपते है; यानी अपने चारो ओर आग से तथा सिर को सूर्य के प्रचण्ड ताप से जला कर, अपने सारे शरीर को भस्म कर देते है। किन्तु इस प्रकार मूढतापूर्वक जल कर मरने से भी मुक्ति में विराजित परमात्मा से मिलन सम्भव नही है, क्योकि ऐसा व्यक्ति पता नहीं मर कर किस गति और योनि मे जायगा ! अतः परमात्मा के स्थान (मोक्ष) में उसका मिलाप कदापि सभव नहीं है।

पतिमिलन के ये सब मूढतापूर्ण उपाय देहदमन के सिवाय और कुछ नही है। इसी प्रकार परमात्मा के प्रति प्रीति बताने हेतु यदि कोई व्यक्ति मूढतावश देहदमन करता है, तो उसे भी परमात्मारूपी पति प्राप्त नही होता, क्योकि ऐसे अज्ञानकष्ट से शुभभावना हो तो कदाचित् स्वर्गादि भले ही प्राप्त हो जाय, परन्तु परमात्ममिलन या मुक्तिमिलन अथवा निश्चयनय की भाषा में कहे तो शुद्धात्मभाव-मिलन कदापि नही हो सकता। कारण स्पष्ट है कि इसके पीछे केवल भ्रान्तिवश देहार्पण की क्रिया है, आत्मसयमपूर्वक शुद्ध आत्मस्वरूप मे रमणता और काक्षारहित त्याग नही है। बल्कि कई बार तो परमात्ममिलन के लिए भी इस प्रकार के अज्ञतापूर्वक आत्मदाह के समय तीव्र आर्त्त-रौद्र ध्यान होने से नरक और तिर्यचगति प्राप्त होने की भी सम्भावना है।

इस प्रकार जन्ममरण के चक्कर मे फंसाने वाली मूढतापूर्ण बाह्य प्रीति का दिग्दर्शन करा कर श्रीआनन्दघनजी इसके सम्बन्ध में स्पष्टीकरण करते है—

कोई पतिरंजन अतिघणो तप करे रे, पतिरंजन तन-ताप।
ए पतिरंजन में नवि चित्त धर्यु रे, रंजन धातुमेलाप।।

ऋषभ.।।4।।

अर्थ—कई व्यक्ति पति (परमात्मा=नाथ) को प्रसन्न करने के लिए अत्यन्त कठोर तप करते हैं। इस प्रकार का पतिरंजन शरीर को तपाना—कष्ट देना है। मैंने अपने चित्त में इस प्रकार के पतिरंजन (परमात्मा को खुश करने के तरीके) को स्थान नहीं दिया। मैं एक धातु से दूसरी धातु के मिलन (एकमेक हो जाने) से होने वाले रंजन को ही

परमात्मरूपी पति का रंजन मानता हूँ।

भाष्य—**पतिरंजन के लिए मूढ़तापूर्ण तप**

परमात्मा की प्रीति-सम्पादन के इच्छुक व्यक्तियो द्वारा परमात्मारूपी पति को रंजन करने के नाना उपायो को बता कर श्रीआनन्दघनजी अपना निर्णय स्पष्टरूप से बताते हुए कहते है—जैसे सासारिक जीवन मे विविध प्रकार के काम-भोगो की अभिलाषिणी स्त्रियाँ अपने पति को खुश करने के लिए अनेक प्रकार के तप करती है, कई अपने सुहाग को अमर रखने के लिए महीने-महीने तक उपवास, एकाशन, या चन्द्रायण आदि अनेक कष्टदायक तप करती है, सौभाग्यसूचक चिह्न धारण करती है, कई बार रात्रि-जागरण करती है, भगवान् को मनाने हेतु रात-दिन नाम-जप करती है, पति के खाने-पीने से पहले स्वय नही खाती-पीती, इत्यादि अनेक कष्ट सह कर वे देहदमन करती है। वैसे ही कई तथाकथित साधु-सन्यासी अथवा भक्त परमात्मारूपी पति को रिझाने के लिए[1] जगल मे, गुफाओ मे व एकान्त मे रहते है, परमात्मा व आत्मा का स्वरूप समझे बिना ही कर्त्तव्यविमुख हो कर रात-रातभर जाग कर, जोर-जोर से धुन बोलते है, नाम रटते है, कद-मूल, फल आदि खाकर निर्वाह करते है, कई पचाग्नि-ताप सहते है, कई औधे लटक कर शीर्षासन की तरह उलटे खडे रहते है, कई शीत ऋतु मे ठडे पानी मे घटो खडे रह कर परब्रह्म का जाप करते है, कई महीनो भूखे रहते है या किसी एक चीज पर रहते है, कई महीनो तक खडे रहते है, कई एक टाग ऊँची करके खडे रहते है, कोई विविध आसन करते है। इससे भी आगे बढकर देहदमन के अनेक उपाय परब्रह्म-पति को रजन करने के लिए विवेकविकल लोगो द्वारा अजमाये जाते है—जैसे कई लोग भैरवजप का आलंबन लेकर पहाड या ऊँचे स्थल से गिर कर झपापात करते है, कोई हिमालय मे जा कर बर्फ में गल जाते है, कोई काशी मे करवत से अपने शरीर को चिरवा देते है, कोई जमीन मे मिट्टी मे शरीर को दबवा कर जीवितसमाधि ले लेते है। ये और इस प्रकार के अन्य देहदमन के उपाय बाल (अज्ञान) तप है और इनके फलस्वरूप ये बालमरण के ही प्रकार है।

---

1 इस सम्बन्ध मे विशेष जानकारी के लिए देखिये उववाई सूत्र में बाल तपस्वियो का वर्णन।

परमात्म-पति का वास्तविक रंजन

इसीलिए श्रीआनन्दघनजी ने ऐसे तपो को तप नही, तनताप (शरीर को तपाना=कष्ट देना) कहा है और इस प्रकार पतिरजन के तमाम उपायो को उन्होने मन से भी नही चाहा, न स्वीकार किया। मतलब यह है कि देहदमन से होने वाले अज्ञानयुक्त निरुद्देश्य बाह्य तप में और आत्मा की शुद्ध दशा मे रमण करने के हेतु होने वाले तप मे बहुत अन्तर है। आत्मशुद्धि (निर्जरा) के हेतु सिवाय इस प्रकार का अज्ञानपूर्वक किया जाने वाला कष्ट-सहनरूप तप लौकिक पति का रजन कर सकता है, मगर लोकोत्तर पति (परमात्मदेव) का रजन तो सोने और चादी के मिलाप, या सोने के साथ सोने के मिलाप (धातुमिलाप) की तरह एकमेक हो जाने अर्थात् आत्मा के शुद्ध आत्मस्वभाव मे तल्लीन हो जाने से हो सकता है। प्रेम करने वाला और प्रेमपात्र दोनो मे अभिन्नता, एकवाक्यता या तद्रूपता हो जाना ही वास्तविक लोकोत्तर पतिरजन है।

लोकोत्तर पतिरंजन में सोद्देश्य तप

उपर्युक्त गाथा मे शुद्धचेतना का परमात्मचेतना के साथ एक रूप हो जाने को ही वास्तविक पतिरजन कहा है, जो शुद्धचेतना की उत्कटदशा की भावना है, परन्तु इसके दौरान जो भी बाह्य या आभ्यन्तर तप होगा, वह लक्ष्य की दिशा मे ले जाने वाला होगा, जैसे सोना, चांदी आदि दो धातुओ को एकमेक करने के लिए उसे कदाचित् 500 डिग्री तक का ताप देना पडता है, वैसे ही परमात्मा के साथ आत्मा का मिलन करने के लिए मन, वचन, काया की इतनी उत्कट तीव्र दशा, स्वाभाविक रूप से भूख, प्यास, सर्दी, गर्मी आदि को समभाव से सहने के रूप मे बाह्य तप तथा अहिसादि व्रतपालन के रूप में ध्यान, कायोत्सर्ग, वैयावृत्य, स्वाध्याय, प्रायश्चित्त, विनय आदि आभ्यन्तर तप करने पड सकते है। लेकिन उस तप को हम केवल देहताप नही कहेंगे, क्योकि वह उत्कृष्ट रसायनपूर्वक आत्मा की परमविशुद्धदशा की प्राप्ति के लिए स्वाभाविक रूप से होने वाला सौद्देश्य तप है।

सांसारिक प्रेम को पतिरंजन के विषय मे निरर्थक बताने के बाद कई व्यक्ति किसी से प्रेम करना या प्रेम प्राप्त करना बिलकुल नहीं चाहते, यह मान्यता भी भ्रान्तिमूलक है, इसे बताने के लिए आगे की गाथा में श्रीआनन्दघनजी कहते है–

कोई कहे लीला रे अलख-अलख तणीरे, लख पूरे मन आस।
दोषरहित ने लीला नवि घटे रे, लीला दोष-विलास।।
ऋषभ.5।।

***अर्थ*–कोई (वैदिक आदि सम्प्रदाय वाले) कहते हैं कि ईश्वर (परमात्मा) तो अलक्ष (जिसके स्वरूप की जानकारी या पहिचान न हो सके, ऐसा) है, इस सारे दृश्यमान जगत् की अदृश्यरूप रचना, उसी ईश्वर की लीला है। अतः इस लीला को जान लेने पर वह अलक्ष ईश्वर मन की सभी आशाएँ पूर्ण कर देता है। परन्तु योगीश्वर आनन्दघनजी कहते हैं कि परमात्मा (बाह्यचक्षुओं से अलक्ष्य निरंजन निराकार जरूर है, मगर वह) तो समस्त पापदोषों से रहित होता है, उसके ऐसी लीला संगत नहीं होती; क्योंकि जगत् की रचनारूपी लीला तो काम-क्रोधादि दोषरूप विलास है।**

***भाष्य*–परमात्मप्रीति का अज्ञानजनित प्रकार**

परमात्मा के साथ प्रीति करने का एक अन्य प्रकार सासारिक लोगो द्वारा अपनाया जाता है, जिसका उल्लेख करते हुए आनन्दनघनजी कहते है–कई लोगो की मान्यता है कि यो व्यर्थ ही तप करके देहदमन करने की या परमात्मपति को रिझाने के लिए जल मरने की आवश्यकता नहीं; क्योकि परमात्मा तो अलक्ष्य (अज्ञेय-अदृश्य) है, उस विदेह (देहरहित) के साथ हम सदेह का मिलन यो हो नही सकता, इसलिए उस अलक्ष परमात्मा की जो लीला (ससार की रचना) है, उसे लक्ष्य मे ले लो, यानी उस ईश्वर-लीला को साक्षात् देख लो और उसकी महिमा का इस रूप मे गुणगान करते रहो। निष्कर्ष यह है कि ईश्वर ही हमारे विचारो, भावो और कार्यो का नियंता है, उसकी इच्छा पर ही हमारे जीवन का सारा दारोमदार है, इस बात को मानकर उस पर ही सब कुछ छोड दो, हमे कुछ करने-धरने की जरूरत नही, न तप करना है, न कष्ट सहना है, न आत्मस्वरूप मे रमण के लिए ध्यान, कायोत्सर्ग, स्वाध्याय आदि करना है, वही प्रसन्न होकर सब कुछ कर देगा। उसकी इस लीला को देखकर उसी के गुणगान मे मस्त रहने से वह प्रसन्न होगा और हमारे मनोरथ पूर्ण कर देगा। परन्तु यह मान्यता भ्रान्तियुक्त है, आत्मा की स्वतन्त्रता को नष्ट करने वाली और स्वपुरुषार्थविघातक है, स्वरूपरमणता मे विघ्नकारक है, ज्ञान-दर्शन-चारित्र की आराधना से आत्मा को हटाने वाली है।

निर्दोष परमात्मा के लिये सदोष लीला संगत नहीं

उपर्युक्त मान्यता का खण्डन करते हुए वे कहते है—"जो परमात्मा राग, द्वेष, काम, क्रोध, अन्याय, पक्षपात आदि दोषो से बिलकुल मुक्त है, वीतराग है, अनन्त ज्ञान-दर्शन-चारित्र-सुखमय है, उसमे कामनाजनित इच्छा से सम्पृक्त दोषयुक्त ससार की रचनारूप लीला कैसे सम्भव हो सकती है ? संसार के विकारो एव दोषो-कर्मो आदि से सर्वथा मुक्त निरजन निराकार होने पर परमात्मा पुनः कामना आदि दोषो से युक्त होकर इस राग-द्वेषयुक्त संसार की रचना करके अपनी लीला क्यो दिखाएँगे? क्योंकि लीला कुतूहूलवृत्ति से होती है, जो ज्ञान एव सुख की अपरिपूर्णता से ही सभव है। इसलिए ऐसी लीला प्रत्यक्ष दोषयुक्त ही है। परमात्मा जन्म-मरण के चक्र मे डालने वाली ऐसी दोषयुक्त प्रवृत्ति मे क्यो पडेगे?

अलक्ष्य परमात्मा के लक्ष्यरूप के साथ प्रीति

उक्त मान्यता वालो का कथन है—हम मानते है कि परमात्मा तो बिलकुल अलक्ष्य-अदृश्य, अव्यक्त है, मनुष्य की बुद्धि से पर-अगम्य है। ऐसे परब्रह्म का ध्यान करने के लिए भी कई योगी, बाबा अलख (अलख की ध्वनि करके) जगाते है। अतः ऐसे अलक्ष्य मे से लक्ष्यस्वरूप अवतरित होता है, पैदा होता है। भक्तिमार्गी लोगों ने ऐसे अलक्ष्य को ब्रह्मा, विष्णु और महेश, इन तीनो लक्ष्यरूपो मे कल्पित किया है, यानी उनका कहना है कि ब्रह्मा सृष्टि का उत्पादन करता है, विष्णु उसका सरक्षण करता है और महेश (शिव) उसका सहार करता है। ये तीनो परब्रह्म परमात्मा के लक्ष्यरूप है। अलक्ष्यरूप परमात्मा के इन लक्ष्यरूपो की जब इच्छा होगी, तभी लक्ष्य के साथ हमारी सच्ची प्रीति होगी। उन्हीं की इच्छा बलवान है। परमात्मा के ये लक्ष्यरूप ही हमारी आशाओं को पूर्ण करेगे। इसलिए कुछ करने की जरूरत नहीं। जब ये लक्ष्यरूप भगवान् तुष्ट होगे, तभी परमात्मप्रीति प्राप्त होगी। यही कारण है कि भक्तिमार्गीय लोगों ने इन लक्ष्यरूप भगवानो को परमात्मा के अवतार, पैगम्बर, या मसीहा (प्रभुपुत्र) मानकर उन्हे प्रसन्न करने के लिए कीर्तन, धुन, नामोच्चारण आदि विधियाँ प्रचलित कीं। उनको रिझाने के लिए नृत्य-गीत, वाद्य आदि का आयोजन किया, परन्तु यह सब भ्रान्ति है; क्योंकि इसके पीछे सबसे बडा अज्ञान तो कर्म-सिद्धान्त का है। प्राणी जैसा-जैसा कर्म करता है, वैसे-वैसा ही फल उसे स्वयं को मिलता है। खुद के सिवाय दूसरा कोई उसके

शुभ या अशुभ कर्म को बदलने और अच्छा या बुरा फल देने मे समर्थ नही है। दूसरी भूल यह है कि जीवन मे हिंसा, असत्य आदि का त्याग या परभावो में रमणता का त्याग किये बिना तथा स्वभाव मे तथा अहिसा आदि आत्मिक गुणो मे रमण किये बिना अथवा कर्त्तव्यकर्म छोड कर सिर्फ परमात्मा या उनके लक्ष्यरूप अवतारों के गुणगान करने आदि से परमात्मा की प्रीति या प्रसन्नता सम्पादन करने की बात व्यर्थ चेष्टा है, बालचेष्टा है। क्या परमात्मा चाटुताप्रिय है कि उसकी चापलूसी करने से वह उनके पाप माफ कर देगा? परमात्मा के प्रति प्रीति इतनी सस्ती नहीं है। उसमे तो दो धातुओ के एकरूप होने की तरह अपने अह आदि विकारो को मिटाकर शुद्ध आत्मदशा के प्रति सर्वस्व समर्पण करना पडता है। अगर ज्ञान-दर्शन-चारित्र मे पुरुषार्थ किये बिना केवल ऐसे थोथे गुणगानो से ही परमात्मा प्रसन्न हो जाता तब तो ज्ञान-दर्शन-चारित्र की आराधना करने की जरूरत ही क्या रहती? अथवा स्वभाव मे रमणता की आवश्यकता भी क्यो होती?

इसीलिए अगली गाथा मे परमात्मप्रीति या परमात्मभक्ति का रहस्य बताते हुए श्रीआनन्दघनजी कहते है—

चित्तप्रसन्ने रे पूजनफल कह्युं रे, पूजा अखंडित एह।
कपटरहित थई आतम-अर्पणा रे, आनन्दघन-पद-रेह।।
ऋषभ.।।6।।

अर्थ—**आत्मचेतना—अन्तरात्मा की प्रसन्नता को ही परमात्मपूजा का फल कहा है। यही वास्तव में अखण्डपूजा है और ऐसी अखण्ड परमात्मपूजा निष्कपट या निःशल्य अथवा कषायरहित होकर अपनी आत्मा को परमात्मा में अर्पण कर देने से होती है। यही स्वात्म-अर्पणता आनन्दघन (सच्चिदानन्दमय परमात्मा के) पद (स्थान) की रेखा या मर्यादा है, अथवा निशानी है।**

भाष्य—**परमात्मा की पूजा का फल : चित्तप्रसन्नता**

पूर्वोक्त गाथाओ मे परमात्मारूपी पति को प्रसन्न करने के विविध अज्ञानमूलक उपायो को श्रीआनन्दघनजी ने भ्रान्त ठहराकर परमात्मा के साथ धातुमिलाप की तरह एकरूपता (तदात्मता) को उनकी प्रसन्नता का कारण बताया, अब इस गाथा मे उसकी विशेषता एव फलप्राप्ति की निशानी बताते हुए वे कहते हैं कि आत्मचेतना की प्रसन्नता ही परमात्मापूजा का फल है। आत्मचेतना की प्रसन्नता द्वैत, कषाय, परभाव, विकल्प या शल्य आदि विकारों

से रहित होकर परमात्मा के साथ अन्तरात्मा की एकरूपता से होती है। एकरूपता निर्विकारता–स्वच्छता व निर्विकल्पता रखने से होती है। यही अविच्छिन्न-अखण्डपूजा है। जब अन्तरात्मा परभावो से विरत होकर सतत् परमात्मतत्त्व या शुद्ध चैतन्यभाव में लीन हो जाती है, तभी अखण्ड शुद्धचेतना की धारा मे बहती रहती है, वही परमात्मा की अविच्छिन्न पूजा है। प्रसन्न का अर्थ स्वच्छ या निर्मल भी होता है। चैतन्य (चित्त) तभी निर्मल रह सकता है, जब उस पर विकल्पो, परभावों, कषायो या माया-निदान-मिथ्यादर्शनरूप शल्यो की छाया न पडे, या इनसे मलिन न हो।

निष्कपट अर्पणता : परमात्मा की वास्तविक पूजा

परमात्मा की भावपूजा ही वास्तविक पूजा है। क्योकि उसी में पूज्य, पूजक और पूजा का अभेद या एकत्व अविच्छिन्नरूप से रह सकता है। तभी परमात्मा के साथ तन्मयता या तदात्मता हो सकती है। और ऐसी तन्मयता के लिए निष्कपट अर्पणता होनी अनिवार्य है। जहॉ कपट आया कि अर्पणता मे द्वैतभाव, स्वार्थभाव या मायादि शल्य या मोहभाव आ गया, समझलो। जहॉ अर्पणता मे दभ, दिखावा, या छल-प्रपच आ जाता है, वहॉ अर्पणता वास्तविक नही होती और न वहॉ आत्मा मे आनन्द उत्पन्न होता है।

कई बार बहुत-से लोग परमात्मा की भक्ति का दिखावा करते है। बडे-बडे समारोह करके वे परमात्मा की पूजा की अखंडितता बताने के लिए अखड कीर्तन, अखण्ड जप आदि करते है, परन्तु उसके साथ सच्चे माने मे अर्पणता नही होती, या तो प्रसिद्धि या नामना-कामना होती है या लोकरंजन करके परमात्मभक्ति, प्रभुपूजा या अखड प्रभुनामकीर्तन की ओट मे अपनी किसी स्वार्थसिद्धि की भावना होती है। अतः किसी प्रकार के दभ, छलप्रपच, मायाजाल या दिखावे आदि से दूर रह कर निष्काम-निःस्वार्थभाव से शुद्ध चेतना का परमात्म-चेतना मे अर्पित हो जाना-तल्लीन हो जाना ही परमात्मा की सच्ची पूजा है। सच्चा समर्पण 'अप्पाण वोसिरामि'– यानी अपने आत्मतत्त्व से भिन्न परभाव–जिनको अभी तक साधक अपने मानता आया है, उनका व्युत्सर्ग–अन्तःकरण से त्याग करने पर ही आता है। समर्पण मन को मनाने या लौकिक चातुर्य बताने का नाम नही है, क्योकि ऐसा करने मे सहजभाव नहीं रहता। इसमे तो परमात्मा (आदर्श शुद्धात्मदशा) के लिए सर्वस्व न्यौछावर करने, अपने आपको भूल जाने और तद्रूप दृष्टि, तन्मयता और तदात्मता

प्राप्त करने की तडफन चाहिए। ऐसे समर्पणकर्त्ता को बहिरात्मदशा से सदा-सर्वदा के लिए सर्वथा मुक्त होकर अन्तरात्मदशा में ही सतत विचरण करना पड़ता है। साथ ही बाह्यभाव का विसर्जन, बुद्धि-विलास पर अकुश, परभाव के त्याग के साथ शुद्धचेतना के पति विशुद्ध परम आत्मा के साथ इतनी एकलयता हो जाय कि ध्याता, ध्येय और ध्यान एक हो जाय, ऐसा आत्मार्पण हो जाना ही वास्तविक परमात्म-प्रीति है और अध्यात्मयोगी का लक्ष्य सदा इसी प्रीति का साक्षात्कार करना होता है।

आनन्दघन-पद का अर्थ

आनन्दघन का अर्थ है—सच्चिदानन्दमय। सच्चा और ठोस आनन्द आत्मा को तभी प्राप्त होता है; जब वह विकल्पों, वितर्को, विकारो, पौद्गलिक भावो या कषायादि परभावो से शून्य हो। आनन्दघनशब्द का शब्दशः अर्थ भी (सिद्ध=शुद्ध, बुद्ध, मुक्त) आत्मा के आनन्द का समूह भी होता है। गणितशास्त्र मे लंबाई, चौडाई और ऊँचाई, इन तीनों के समूह को घन कहते है। यहाँ भी आनन्द यानी आत्मा की निर्विकारी दशा और घन यानी उसकी विपुलता, ठोसपन; दोनो मिलकर आनन्दघनपद होता है।

रेह शब्द की विभिन्न अर्थो के साथ संगति

रेह शब्द का अर्थ 'रहना' भी होता है। जिसका अर्थ होता है—'आनन्दघनमय परमात्मा के स्थान मे रहना। अधिकाश विचारको ने इसका अर्थ 'रेखा' किया है। रेखा का अर्थ वह चामत्कारिक मर्यादा है, जिसका उल्लघन नहीं किया जा सकता। कपटरहित होकर आत्मसमर्पण करना ही आनन्दघनपद की मर्यादा (रेखा) है। रेखा का अर्थ कई लोग निशानी (चिह्न) भी करते है। वे यों अर्थसंगति बिठाते है कि निष्कपट आत्मार्पणा ही आनन्द घन-पद-प्राप्ति की निशानी है।

कई प्रतियों में रेह के बदले 'लेह' शब्द भी मिलता है। जिसका अर्थ किया जाता है—ऐसा निर्व्याज आत्मार्पण ही आनन्दघनपद को उपलब्ध करता है।
सारांश—श्री आनन्दघनजी ने प्रथम तीर्थकर श्री ऋषभदेव परमात्मा की स्तुति करते हुए परमात्म-प्रीति का समस्त तत्त्वज्ञान इसमे बता दिया है। प्रीति के लिए यथार्थ प्रीति-पात्र की पहिचान, निरुपाधिक प्रीति का तत्त्व और सोपाधिक प्रीति, लौकिक प्रीति मे पतिरंजन के लिए आत्मदाह, अज्ञानपूर्वक विविध कष्ट-सहन आदि को नश्वर बता कर लोकोत्तर पतिरजन के लिए

अखण्डप्रीति का रहस्य, तत्पश्चात् अदृश्य प्रभु की प्रीति से विरक्त होकर दृश्यमान की प्रीति सिद्ध करने वालो की अज्ञता बता कर सच्ची प्रीति के लिए चेतना की प्रसन्नता और निष्कपट आत्मार्पणता की अनिवार्यता बताई है। सचमुच, परमात्मप्रीति का रहस्योद्‌घाटन करने मे योगी श्रीआनन्दघनजी ने कमाल कर दिखाया है।

***

2. श्री अजितनाथ-स्तुति–

परमात्मपथ का दर्शन

(तर्ज-पूर्ववत्)

परमात्मा से प्रीति के सम्बन्ध मे पूर्व स्तुति मे बहुत ही स्पष्ट रूप मे योगी श्री आनन्दघनजी ने कह दिया कि निष्कपट होकर आत्म-समर्पण करने से ही परमात्मप्रीति हो सकती है, परन्तु उक्त परमात्मप्रीति या परमात्मप्राप्ति का मार्ग जब तक वास्तविक रूप से जान लिया न जाय तब तक परमात्मभक्ति अधभक्ति रहेगी, इसलिए अब इस स्तुति मे परमात्मप्राप्ति के मार्ग का दर्शन (निर्णय) करने की दृष्टि से वे कहते है–

पंथड़ो निहालुं रे बीजा जिन तणो रे, अजित अजित-गुणधाम।
जे तें जीत्या रे, तेणे हुं जीतियो रे, पुरुष किस्युं मुझ नाम।।
पंथड़ो.।।1।।

अर्थ–**मैं द्वितीय वीतराग परमात्मा श्रीअजितनाथ भगवान् का (उनके पास पहुँचने का) मार्ग अत्यन्त बारीकी से देख रहा हूँ। अजितनाथ परमात्मा मुझ सरीखे व्यक्तियों द्वारा नहीं जीते (साधे) गए सद्गुणों के धाम हैं। उन्होंने रागद्वेषादि शत्रुओं को जीत कर जिस मार्ग से कार्य सिद्ध किया था, उस मार्ग को देखते हुए मैं उन्हें कहता हूँ- मेरे परमात्मदेव! जिनको आपने जीत लिया था, उन्होंने आपसे पराजित होकर अब मुझे जीत लिया है। दूसरों के द्वारा विजित (पराजित) होकर भी मेरा नाम पुरुष (पौरुषवान आत्मा) कैसे ठीक हो सकता है? अत: फिलहाल तो आप जिस मार्ग से गए हैं, उस समस्त पथ का अवलोकन करने का प्रयत्न कर रहा हूँ।**

भाष्य–**परमात्मपथ का निरीक्षण क्यों, कैसे?**

परमात्मा (विशुद्ध आत्मा) के साथ प्रीति करने वाले अन्तरात्मा के लिए पहले यह जानना जरूरी है कि परमात्मा के धाम तक पहुॅचने के लिए परमात्मा जिस मार्ग से गए है और अपने धाम तक पहुचे है, उस मार्ग को पहले भलीभाति देख ले, अतर मे उस पथ को हृदयगम कर ले। इसी दृष्टि से वीतरागभाव अथवा शुद्धात्मभाव का पथिक अन्तरात्मा पहले परमात्मपथ का दर्शन करने के लिए पूर्णतया उत्सुक है।

जगत् मे भिन्न-भिन्न धर्मो और पथो के, मत-मतान्तरो के ग्रथ या पुरुष परमात्म-प्राप्ति के अलग-अलग मार्ग बताते है। कई बार जिज्ञासु साधक वास्तविक मार्ग को छोडकर एक या दूसरे मार्ग को पकड लेता है, आगे चल कर जब उद्देश्य के विरुद्ध उसके नतीजे सामने आते है या वीतरागप्राप्ति के बदले राग, द्वेष और मोह की भूलभुलैया नजर आती है या विपरीत अनुभव होता है तो साधक पश्चात्ताप या कई बार आर्त्तध्यान मे पड जाता है। कई बार साधक राजसी बुद्धि की दौड लगा कर तर्क-वितर्क द्वारा अपना चातुर्य प्रगट करके उलटे मार्ग (उत्पथ) पर चढ जाता है, फिर घबराता है, उससे पिड छुडाने के लिए छटपटाता है और मोहनीयकर्म की प्रबलता के कारण वीतराग परमात्मा द्वारा अभ्यस्त या प्ररूपित सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप (मोक्ष) मार्ग को प्राप्त नही कर पाता। सात्त्विक बुद्धि और हृदय का समन्वय करके चलने के बजाय यह केवल बुद्धि पर भरोसा रख कर चलता है, इसलिए पतन के मार्ग पर चढ जाता है या ठोकर खा जाता है।

तीसरी बात भक्तिरस की दृष्टि से यह है कि जैसे प्रेमी या विरहिणी स्त्री अपने पति के आने की बाट जोहती रहती है, इसी प्रकार परमात्मा के साथ सच्ची प्रीति करने वाला परमात्मप्रेमी साधक भी परमात्मा से (उनके स्वधाम मे पहुँच जाने के कारण) विरह हो जाने से अन्तरात्मा मे उनके पधारने (शुद्ध आत्मभाव के आने) की बाट जोहता=प्रतीक्षा करता रहता है।

परमात्मप्राप्ति का मार्ग कहे, शुद्ध आत्मभाव-प्राप्ति का मार्ग कहे या मोक्षप्राप्तिमार्ग कहे, बात एक ही है। इसलिए केवल जान लेना (ज्ञान) ही परमात्मप्राप्ति का मार्ग नही है, दर्शन (हृदय से श्रद्धापूर्वक धारण करना) और चारित्र (तदनुसार आचरण करना) भी मार्ग है। निष्कर्ष यह है कि भौतिकता की चकाचौध मे साधक की दृष्टि आध्यात्मिकता के मार्ग से हट जाती है, वह अपनी नजर भौतिकता में गडा लेता है, इसीलिए अध्यात्मयोगी साधक आध्यात्मिकता की मंजिल, अध्यात्म के चरमशिखररूप परमात्मा के समीप जाने के लिए आध्यात्मिकता के मार्ग मे अपनी दृष्टि स्थिर करना चाहता है।

शत्रुविजेता परमात्मा के मार्ग में शत्रुओं से विजित साधक के अन्तर की पुकार

जब परमात्ममार्ग का पथिक साधक अन्तर मे डुबकी लगा कर परमात्मा के मार्ग का अवलोकन करता है तो उसके अन्तर से पुकार उठती है- 'हे अजितनाथ (रागद्वेषादि शत्रुओ से अविजित) परमात्मन्! आपके पास पहुँचने के मार्ग मे तो काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, राग, द्वेष आदि अनेक चोर, डाकू लुटेरे, शत्रु के रूप मे आत्मधन का हरण करने के लिए खडे है, आपने तो उन सबको जीत लिया है, इसलिए आपका 'अजित' नाम तो सार्थक है, परन्तु वे कामादि शत्रु, जिन्हे आपने जीत लिया था, वे अब मुझे जीत रहे है, या पराजित कर देते है; मै जब आपके द्वारा प्ररूपित या अभ्यस्त मार्ग को देख कर चलने के लिए तत्पर होता हूँ तो अनेक शत्रु आ कर उस रास्ते मे खडे हो जाते है। मै उन सबसे हार कर घबरा जाता हूँ। अपनी पुरुषार्थहीनता पर मुझे तरस आती है, मै सोचने लगता हूँ, जब आप पुरुष हो कर वीतरागता के मार्ग मे बाधक उन[1] अठारह दूषणो पर विजय प्राप्त करके या उन दोषो द्वारा विजित (पराजित) न हो कर अनन्त गुणो तथा मुख्य अष्टगुणो के धाम बन कर अपने नाम को सार्थक कर चुके है, जबकि मै उन दूषणो से पराजित हो कर उनके आगे घुटने टेक देता हूँ; तब भला मेरा पुरुष नाम कैसे सार्थक हो सकता है? आगमो मे तथा सांख्य-दर्शन मे आत्मा को पुरुष कहा गया है। आत्मा

---

1 अठारह दोष ये है—दानान्तराय, लाभान्तराय, भोगान्तराय, उपभोगान्तराय, वीर्यान्तराय, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, काम, (वेदोदय) अज्ञान, मिथ्यात्व, निद्रा, अविरति, राग और द्वेष।

पौरुषयुक्त होने के कारण 'पुरुष'[1] कहलाता है। जब साधक आत्मा अपनी शक्तियो को न पहिचान कर विकारो के नचाये नाचने लगता है, रागादि दूषणों का गुलाम बन जाता है, पौरुषहीन व निराश बन कर कामादि शत्रुओं के आगे पराजित हो जाता है, तब वह परमात्मा के आगे पुकार उठता है- **'पुरुष किस्युं मुझ नाम?'** मेरा पुरुष नाम कैसे यथार्थ है? मैं पौरुषवान् हो कर जब विकारों से अपनी पराजय देखता हूँ, तब मुझे ऐसा लगता है कि मेरे लिए पुरुष शब्द शोभा नही देता!

यद्यपि पुरुष होते हुए भी मेरी दशा पुरुषार्थहीन हो रही है, फिर भी आपने जिस मार्ग का पुरुषार्थ किया, उस मार्ग के दर्शन तो कर लूं! रास्ता देखा होगा तो किसी दिन इस रास्ते से जाने का पुरुषार्थ भी हो सकेगा। इसलिए प्रभो ! मै आपके पथ का अवलोकन करने को उद्यत हुआ और प्राथमिक अवलोकन मे मुझे जो कुछ मालूम हुआ, उसे मै आपके सामने विनम्र भाव से प्रस्तुत करता हूँ।

जैनदर्शन की दृष्टि से देखें तो काल, स्वभाव, नियति, कर्म और पुरुषार्थ इन पॉचो कारणो का समवाय होने पर ही कोई कार्य बनता है। परन्तु इन पॉचो कारणो मे पुरुषार्थ को भी विकासमार्ग में स्थान दिया गया है। वास्तव में देखा जाय तो शुभ या अशुभ कर्मो का बन्धन भी आत्मा के वैभाविक पुरुषार्थ से होता है। आत्मा जब तीव्र स्वाभाविक पुरुषार्थ करता है, तब इन कर्मो पर विजय प्राप्त करके अपने लिए अजर-अमर-अक्षय स्थान भी प्राप्त कर लेता है। इसी कारण आत्मा पुरुष (पुरुषार्थ करने वाला) कहलाता है। वीतराग परमात्मा (अजितनाथ) से चैतन्यसम्पन्न साधक कहता है—आप तो स्वाभाविक परम पुरुषार्थ करके कर्मो पर विजय पा कर परमपुरुष कहलाए! लेकिन मेरी स्थिति देखते हुए मुझे लगता है कि मेरे लिए पुरुष नाम सार्थक नहीं है। चूंकि मैंने वीतराग परमात्मा के आदर्श को तथा उनको प्रियतम के रूप में स्वीकार किया है, तब मेरा यह कर्त्तव्य हो जाता है कि मैं आपका मार्ग देख कर आपके मार्ग पर आ जाऊँ। जो वीतराग परमात्मा के पैरो तले हैं, उन्हें मैंने सिर पर चढा लिये हैं, अत आपके सदृश बनने का खरा मार्ग यही है कि वीतराग जिस मार्ग से चले हैं, उस रास्ते को देखूँ और उनके पथ का अनुसरण करूँ।

1 'पुरिसा तुममेव तुम मित्तं , पुरिसा अत्ताणमेव समभिजाणह ' आचारागसूत्र

इसी प्रकार करने पर मेरा 'पुरुष' नाम सार्थक होगा। इसी दृष्टि से अन्तरात्मा से वीतराग परमात्मा (अजितनाथ) के मार्ग के अवलोकन करने का निर्णय किया ।

यहाँ अवलोकन मे केवल जिज्ञासातृप्ति ही नहीं, अपने पुरुषार्थ को अवकाश देने की भी तीव्र इच्छा प्रतीत होती है। इसीलिए अन्तरात्मा वीतराग परमात्मा के आदर्शमार्ग के दर्शन के लिए सुसज्ज होता है, वहाँ कैसे-कैसे अनुभव होते हैं, वह स्वयं प्रकट करता है–

मार्ग-अवलोकन में पहली कठिनाई

चरमनयणे करी मारग जोवतां रे, भूल्यो सयल संसार।
जेणे नयणे करी मारग जोइए रे, नयण ते दिव्य-विचार।।
पंथड़ो।।2।।

अर्थ–चमड़े की आँखों से आपका (वीतराग परमात्मा का) मार्ग देखते हुए तो सारा संसार भ्रान्त हो गया है। अजितनाथ परमात्मा जिस मार्ग से 'अजित' (अजेय) बने हैं, उस मार्ग को जिस नेत्र से देखना चाहिए, वह दिव्यविचाररूपी नेत्र (ज्ञाननेत्र) है।

***भाष्य*–चर्मचक्षुओं से वीतरागमार्ग के दर्शन अशक्य हैं**

स्थूल ऑखो से परमात्मा के मार्ग को देखने वाले लोग उनके प्रतीक के आगे नाचना, गाना, बजाना, रागरंग करना, उनके चित्र पर फूलो की माला डालना, स्थूल द्रव्यो की भेट चढाना, उनका-सा स्वाग रचना और उसका प्रचार-प्रसार करना, या इन्द्र या देव-देवी का रूप बना कर उनकी बाह्य भक्ति करना अथवा उनकी सिर्फ जय बोल कर, रात-रात भर जाग कर उनका केवल नाम-कीर्तन करके या उनके कोरे गुणगान करके इसके साथ अपने जीवन मे सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र के विषय मे कोई खास पुरुषार्थ न करके एकमात्र बाह्य भक्ति को ही परमात्मा का सच्चा मार्ग समझ लेते है। ऐसे लोग भी बाह्य रागरग की भूलभुलैया मे ही अटक कर रह जाते है। परमात्मा के मार्ग का यथार्थ दर्शन नहीं कर पाते।

दूसरी दृष्टि से देखे तो वर्तमानकाल मे प्रचलित अनेक धर्म-सम्प्रदाय, मत, पथ, या दर्शन परमात्मा के मार्ग को सिर्फ चमडे की इन स्थूल ऑखो से देखने का प्रयत्न करते है। वे प्राय स्थूलदृष्टि से ही भगवान् की बाह्य क्रियाओ या प्रवृत्तियो अथवा बाह्य व्यवहार व आचरण को देख कर उनके मार्ग का निर्णय करते हैं। वे इन स्थूल ऑखो से प्रायः यही देखा करते है कि हमारे पूजनीय

आराध्यदेव गृहस्थावस्था मे कैसे स्नान करते थे? कैसी गाडी मे बैठते थे? उन्होने विवाह किया या नही किया? उनके माता-पिता, भाई-बहिन थे या नही? वे कौन थे, क्या थे? वे कैसे वस्त्र पहिनते थे? दीक्षा ली, तब कैसे ठाठबाठ से ली थी? कहाँ-कहाँ विहार किया? कितनी बाह्य तपस्याएँ की? उनका शिष्य-शिष्यासमुदाय कितना था? कितने अनुयायी थे? केवलज्ञान होने के बाद वे आहार करते थे या नही? वे वस्त्र रखते थे या नग्न रहते थे? वे दिनभर उपदेश आदि बाह्य क्रियाए क्या-क्या करते थे? वे रत्नजटित स्वर्णमय सिंहासन या पट्ट पर बैठते थे या शिलापट्ट पर? उनके पास देवता, इन्द्र आदि आते थे या नही? आते थे तो उन पर छत्र करते, व चमर ढुलाते थे या नही? वे अतिशयो ये युक्त थे या नही? ये और ऐसी ही बाते चर्मचक्षुओ से देखी जा सकती है। इस प्रकार चमडे की ऑखो से इस स्थूलदर्शन को ही परमात्ममार्ग समझ कर सारा ससार भूला हुआ है। वह परमात्ममार्ग के वास्तविक तत्त्व या हार्द को नही समझ पाता।

इसी प्रकार कई स्थूल दृष्टि वाले लोग गाजा, सुलफा, भाग या शराब आदि नशैली चीजो का सेवन करके परमात्मा के मार्ग को देखने की चेष्टा करते है। उनका कहना है कि नशे की धुन मे भगवान् मे सूरत लग जायगी, व्यक्ति अन्य स्थूल सासारिक चिन्ताओ से मुक्त हो जाएगा। परन्तु ये भी भ्राति से पूर्ण बेतुकी बाते है। नशे मे चूर होने पर व्यक्ति आपे मे ही नही रहता, वह परमात्मपथ को कैसे जान पाएगा?

वस्तुतः मोहनीय कर्म की प्रबलता के कारण व्यक्ति की दिव्यदृष्टि (स्वभावदृष्टि) पर जब पर्दा पड जाता है, तब वह स्थूल दृष्टि से आबद्ध होने के कारण परमात्मा के सच्चे मार्ग को देख नहीं पाता। वह भ्रान्तिवश विविध धर्मो, पथो, मतो, सम्प्रदायों या दर्शनो की मृगमरीचिका मे फंस जाता है।

परमात्मपथ के दर्शन दिव्यनेत्र द्वारा ही सम्भव

जिस प्रकार एक गॉव से दूसरे गॉव जाते समय भूतल पर सडक या मार्ग स्थूल ऑखो से साफ दिखाई देता है, उस प्रकार का वीतरागमार्ग नही है, जो चर्मचक्षुओ से दिखाई दे सके। वह स्थूलमार्ग नही, अतीन्द्रिय मार्ग है, जो दिव्यविचाररूपी नेत्र से ही दिखाई दे सकता है।

अर्थात् पारमार्थिक-विचारणारूपी दिव्यनयन के बिना मस्तक में स्थित चमडे की ऑखो से परमात्मा का यह अतीन्द्रिय मार्ग देखा नहीं जा

सकता। परमात्ममार्ग का यथार्थ निर्णय करने मे चर्मचक्षु सफल नही हो सकते और न ही विभिन्न मतों, पंथों को देख कर उनके विश्लेषणपूर्वक वीतराग के यथार्थ मार्ग को पृथक् करने मे चर्मचक्षु समर्थ हो सकते है। स्थूलनेत्र आखिर कितनी दूर तक देख सकते है? अन्त मे उनकी भी सीमा है। स्थूलनेत्रो से प्रमाणनय के भगजाल का या अंशसत्यपूर्णसत्य का अथवा आत्मा के स्वभाव-विभाव का दर्शन नही किया जा सकता। इसी कारण वीतराग परमात्मा के यथार्थ मार्ग का निर्णय दिव्यदिचाररूपी नेत्र-अन्तश्चक्षु से ही हो सकता है। साथ ही परमात्ममार्ग और संसारमार्ग दोनो का सम्यक् विश्लेषण करना भी चर्मचक्षुओ के बूते से बाहर है। दिव्यविचारचक्षु का अर्थ है—शुद्ध आत्मा का ज्ञान, गहरा आन्तरिक ज्ञान; वही आन्तरिक नेत्र है। वीतराग परमात्मा के पथ को जानने, समझने और निरखने परखने मे दीर्घदृष्टि या रहस्यज्ञ चक्षु होनी चाहिए। बाह्य प्रवृत्ति पर से बहुत-सी बाते समझ मे नहीं आती। परमात्ममार्ग को जानने-समझने से पहले शरीर और आत्मा का सम्बन्ध, स्व-परभाव, कर्म और आत्मा का सम्बन्ध, वगैरह अनेक बातो का जानना जरूरी है। इनके लिए केवल चर्मचक्षु ही पर्याप्त नही है और लोकोत्तर दीर्घदृष्टि के लिए गहरा अभ्यास जरूरी है, जो अभी तक मुझे प्राप्त नही हुआ। यह मेरी पहली कठिनाई है।

'चरम' शब्द का अर्थ 'अन्तिम' भी होता है, यानी अन्तिम ऑखे-विशिष्ट सम्पूर्ण ज्ञानी के नेत्र। इसकी अर्थसगति इस प्रकार होती है- अगर केवल (पूर्ण) ज्ञानी की दृष्टि से इस ससार को देखे तो सारा ससार विविध अटपटी चक्करदार गलियो या पगडंडियो मे भूला हुआ नजर आता है।

परमात्ममार्ग के दर्शन में दूसरी-तीसरी कठिनाई

परमात्मपथ के यथार्थ दर्शन के लिए स्थूलचक्षु पर्याप्त नही है और दिव्य विचारचक्षु (अलौकिक नेत्र) अभी तक मुझे प्राप्त नही हुए है। इस कठिनाई को देखते हुए अब मुझे परमात्मपथ के दर्शन के अन्य उपायो पर दृष्टिपात कर लेना जरूरी है, यह सोच कर अगली गाथा मे परमात्मपथ के दर्शन का पिपासु साधक कहता है—

पुरुष-परम्पर-अनुभव जोवतां रे, अंधों अंध पलाय।
वस्तु विचारे रे जो आगते करी रे, चरण धरण नहीं ठाय।।
पंथड़ो.।।3।।

अर्थ–परमात्ममार्ग से अनभिज्ञ किसी ख्यातिप्राप्त (प्रसिद्ध) पुरुष के अनुभव अथवा सम्प्रदाय-परम्परा से चले आते हुए (मार्ग-विषयक) रूढ़िग्रस्त ज्ञान या पंचेन्द्रियों की विषयाशक्ति से उत्पन्न पराश्रित बोध की दृष्टि से परमात्ममार्ग को देखने जाएं तो वहां अंधों के दल की तरह एक के पीछे एक अन्धानुसरण ही प्रतीत होता है। निर्दोष आप्तपुरुषों के वचनसमूह-रूप आगम की दृष्टि से वस्तुतत्त्व (यथार्थ मार्ग) का विचार करें तो आगमोक्त परमात्ममार्ग और उपर्युक्त पुरुष-परम्परा आदि द्वारा बताये जाने वाले परमात्ममार्ग में आकाश-पाताल जितना अन्तर दिखाई देता है, अतः आचरण के अन्तर को देखते हुए कहीं पैर रखने को जगह नहीं रहती।

_भाष्य_–पुरुष-परम्परा-अनुभव से मार्गनिर्णय संभव नहीं

उपर्युक्त गाथा मे पुरुष-परम्परा और अनुभव ये तीन पद है। तीनों का आशय भी अलग-अलग प्रतीत होता है। पुरुष-परम्परा से आशय है, वीतराग मार्ग से अनभिज्ञ किसी प्रसिद्ध पुरुष ने कोई परमात्ममार्ग बताया, उसके पीछे बिना सोचे-समझे अन्धश्रद्धावश चले आते हुए मार्ग के ज्ञान को परमात्ममार्ग मानना। दूसरे परम्परापद से आशय है—शास्त्रो मे न लिखी गई बातो को एक के बाद एक गुरु-शिष्य-परम्परा या सम्प्रदाय-परम्परा द्वारा कुरूढिवश प्रचलित मार्ग को परमात्ममार्ग मानना। तथा अनुभव का आशय है—पचेन्द्रियो मे विषयासक्त पुरुष के अनुभव के द्वारा परमात्ममार्ग का निर्णय करना। यानी अपनी गलत समझ से उत्पन्न हुए अनुभव से परमात्म-मार्ग का निर्णय करना।

श्री आनन्दघनजी कहते है कि पूर्वोक्त तीनों उपाय अन्धो की टोली मे एक अन्धे के पीछे दूसरे अन्धे के भागने की तरह है। इनमे वीतराग परमात्मा के असली मार्ग का पता नहीं लगता।

वीतरागमार्ग से अनभिज्ञ किसी प्रसिद्ध पुरुष ने वीतरागमार्ग के नाम से कोई बात चलाई। उसके पीछे आने वाली भीड उस पर कोई पूर्वापर विचार किये बिना अन्धश्रद्धावश उसे यथार्थ परमात्ममार्ग के नाम से पकड लेती है। अत ऐसे प्रसिद्ध पुरुष की परम्परा से परमात्ममार्ग का निर्णय करना कोरा अन्धानुकरण हो जाता है।

इसी प्रकार शास्त्र में कई बातें लिखी नहीं होती; कई बाते पूर्वापरविरुद्ध या वीतरागता के सिद्धान्त से असंगत भी मिलती है, परन्तु गुरुधारणा या सम्प्रदाय-परम्परा के नाम से वे परमात्म-मार्ग के रूप मे चलाई

जाती है, मगर ऐसी रूढ सम्प्रदायपरम्परा पर से भी परमात्ममार्ग का निर्णय करना खतरे से खाली नही है, क्योकि ऐसा करना भी लकीर के फकीर बन कर अन्धाधुन्ध चलना है।

अपना या बहुत से लोगो का पराश्रित अनुभव भी गलत हो सकता है, इसलिए उस पर से भी परमात्ममार्ग का निर्णय करना गतानुगतिकता को बढावा देना है।

'अन्धो [1] अध पलाय' कहावत का तात्पर्य यह है कि अधा आदमी स्वय मार्ग देख नहीं सकता। ऐसी स्थिति में वह जिसे मार्ग बताता है, वह भी उसके बताए अनुसार स्वय की ऑख न होने से पीछे-पीछे चलता है। फलतः वह सारा का सारा टोला या तो उत्पथ पर चढ जाता है, अथवा दूसरे मार्ग का अनुसरण करता रहता है। अंधे मार्गदर्शक के मार्गदर्शन मे अनुगामी पथिक भी अन्ध हो कर चलता है। इसी प्रकार पुरुष-परम्परा, सम्प्रदाय-परम्परा और पराश्रित अनुभव-परम्परा तीनो ही अन्धानुकरण मात्र है, इनसे वास्तविक परमात्ममार्ग का निर्णय नही हो सकता। प्रेरणा देने वाला अपने मत, पथ या अभिप्राय का अत्याग्रही हो कर जब प्रेरणा लेने वाले को प्रेरणा देता है, तब प्रायः सत्यदृष्टि को छोड देता है, इसलिए परमात्ममार्ग के बारे मे उसकी या उसकी परम्परा की बात भी प्रायः पूर्णतया यथार्थ नहीं मानी जा सकती।

आगम से भी मार्गनिर्णय कठिन है

परमात्मा के मार्ग का निर्णय करने मे आगमो-धर्मशास्त्रो का आधार भी काफी वजनदार माना जाता है। अ [illegible] थ क [illegible] करने मे पहली कठिनाई यह है कि यद्यपि आप्त [illegible] ([illegible]
अर्थ एव गणधरो द्वारा ग्रथित ([illegible] या
है, परन्तु प्राय आगम या [illegible] नाम [illegible] या
गई बातो का अर्थ करने [illegible] वे

1 देखिये 'अन्धो अन्ध [illegible]
अंधो अंधं पहं नितो,
आवज्जे उप्पहं जंतू
अधा आदमी अन्धे को [illegible]
जाता है अथवा अन्धा प्राणी [illegible]
है।

मत, पथ, या गच्छ की परम्परा के अनुसार ही प्राय अर्थ करते है, उसी अर्थ को यथार्थ और दूसरी परम्परा द्वारा कथित अर्थ को यथार्थ मान कर अपने माने हुए अर्थ को ही चाहे वह यथार्थ न हो; यथार्थ रूप में चलाते रहते है। द्रव्यानुयोग, धर्मकथानुयोग (चरितानुयोग), चरणानुयोग और गणितानुयोग— इन चार भागो मे आगमो मे तत्त्वज्ञान के अतिरिक्त चारित्र, क्रिया, सम्यक्त्व का स्वरूप, साधुश्रावक के चरित्र एव आचार-विचार का वर्णन गुणस्थान क्रमारोह, जीवो क भेदाभेद, सात नय, निक्षेप, प्रमाण, नौ तत्त्व, गणित, विभिन्न धर्मकथाए, व्रत, तप आदि की विधियाँ बताई गई है। अतः इन सब तथाकथित आगमो मे कथित बातो का अर्थ प्रत्येक सम्प्रदाय, मत, पथ, या गच्छ आदि अपनी परम्परा के अनुसार करता है और उसी को सच्ची बताता है। उसे ही वीतरागता का शुद्ध व यथार्थ मार्ग कहता है। श्रद्धालु व्यक्ति की बुद्धि परस्परविरोधी बाते देख कर चकरा जाती है, इसलिए आगमो से परमात्म के असली मार्ग को खोजना बडा दुष्कर कार्य है।

इसमे दूसरी कठिनाई यह है कि वीतरागप्रभु के मार्ग का आगमो मे अन्वेषण करने वाले साधक प्राय उनके साधु-धर्म पालन के समय आए हुए उपसर्ग और परिषह, उनके तप, त्याग, महाव्रत, पाँच समिति, तीन गुप्ति तथा निर्दोष भिक्षाचर्या आदि का वर्णन या साधक के लिए विधिरूप मे कथित मार्ग का वर्णन पढते है तो उनके रोगटे खडे हो जाते है। फलतः प्रभु जिस बाह्य चारित्र के पथ से गए, जो कठोर क्रियाकाण्ड प्रभु ने किए, स्वपरकल्याण के लिए जो घोर कष्ट-सहन प्रभु ने किए, सर्दी-गर्मी आदि सहन करके जो कठोर साधना उन्होने की; उस कठोर क्रियादण्ड के मार्ग को ही परमात्मा का मार्ग समझ बैठते है। इस प्रकार बाह्य चारित्र मे ही प्रायः उनकी बुद्धि उलझी रहती है। ऐसे साधक स्वय भी उसी क्रियाकाण्ड-मार्ग का अनुसरण करके अपने को प्रभुमार्ग पर चलने वाले पथिक मानते हैं। इस कारण भी प्रभुपथ के रूप मे प्रभु के द्वारा अन्तरग रूप मे आचरित स्वरूपरमणरूप चारित्र या स्वरूप का ज्ञान-दर्शन उनकी समझ मे प्रायः आता नहीं। इसीलिए प्रभुपथ का निर्णय आगम से दुर्लभ लगता है।

और फिर आगम या शास्त्र का जो लक्षण आचार्यो ने किया है, तदनुसार तो कई आगम आगम या शास्त्र की कोटि मे आने भी कठिन हो जाते

है। क्योकि उत्तराध्ययनसूत्र के अनुसार शास्त्र की परिभाषा की गई है—'जिसके द्वारा[1] आत्मपरिबोध हो, आत्मा अहिसा एवं सयम की साधना के द्वारा पवित्रता की ओर गति करे, उस तत्त्वज्ञान को शास्त्र कहा जाता है। व्युत्पति के अनुसार आचार्य जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण ने शास्त्र का अर्थ किया है—[2]जिसके द्वारा यथार्थ सत्यरूप ज्ञेय का, आत्मा का परिबोध हो, आत्मा को अनुशासित, शिक्षित किया जा सके वह शास्त्र है। आचार्य सिद्धसेन एव समन्तभद्र भी शास्त्र की यह कसौटी निश्चित करते है— [3]जो वीतराग—आप्तपुरुषों द्वारा जाना-परखा गया हो, जो किसी अन्य वचनो के द्वारा उल्लघति=हीन (अपदस्थ) न किया जा सके, जो प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाणो (तर्क एवं प्रमाण) से खण्डित न हो सके, जो प्राणिमात्र के कल्याण के निमित्त सार्वजनिक हितोपदेश हो, आध्यात्म-साधना के विरूद्ध जाने वाले पथो-विचारसरणियो का जो विरोध करता हो, वही सच्चा शास्त्र है।[4] आप्तवचन को आगम कहते है, लेकिन आचार्य अभयदेवसूरि के अनुसार [5] आप्तपुरुष उसका प्रतिपादन करने को उत्साहित नहीं होते, जो साक्षात् या परम्परा से मोक्ष का अग न हो, क्योकि ऐसा करने से उनकी आप्तता मे दोष आता है। तत्त्व का यथार्थ उपदेशक आप्त है, जिसके वचन मे पूर्वापरविरोध या असगति-विसंगति न हो, जिसके वचन प्रत्यक्षादि प्रमाणो से खण्डित न हो। अतः आगम, शास्त्र एव आप्त के पूर्वोक्त लक्षणो के अनुसार वर्तमान मे प्रचलित तथाकथित आगमों के अनुसार जब परमात्ममार्ग का निर्णय करने जाते है तो उनमे कौन सी बात किस नय की दृष्टि से कही गई है? पूर्वापरविरोधी बाते किस अपेक्षा से कही गई है? यह समझ मे नही आता। इसलिए आगम के अथाह समुद्र मे डुबकी लगा कर परमात्मा का मार्ग ढूढना

1. 'जं सोच्चा पडिवज्जंति तवं खंतिमहिसय'—उत्तराध्ययन
2 सासिज्जए तेण तहिं वा नेयमायावतो सत्थं —विशेषावयक भाष्य
शासु अनुशिष्टौ,.शास्यते ज्ञेयमात्मा वाऽनेनाऽस्मादस्मिन्निति वा शास्त्रम्-टीका
3. आप्तोपज्ञमनुल्लंघ्यमदृष्टविरोधकम्।
तत्वोपदेशकृत् साव शास्त्रं कापथघट्टनम्।। -रत्नकरण्डक श्रावकाचार
4. 'आप्तवचनमागमः' — प्रमाणनयतत्त्वालोक
5. नहि आप्त. साक्षात्पारम्पर्येण वा यन्न मोक्षांगं तत्प्रतिपादयितुमुत्सहते अनाप्तत्वप्रसंगात् —भगवतीसूत्रवृतिः
6. आप्तः खलु साक्षात्कृधर्मा तथादृष्टस्यार्थस्य चिख्यापयिषया प्रयुक्त उपदेष्टा
—न्यायदर्शन वात्सयायनभाष्य।

बडा दुष्कर कार्य है।

और फिर आगमो के द्वारा सिर्फ मार्ग का अवलोकन (निरीक्षण) करना हो तो वह प्रचलित आगमो व शास्त्रो के बार-बार स्वाध्याय, अध्ययन एवं परिशीलन (अभ्यास) से बहुत कुछ सम्पन्न हो सकता है, मार्ग कैसा है? क्या है? इसका रहस्य क्या है? आदि बाते समझ मे आ सकती है, लेकिन यहाँ कोरे (वन्ध्य) अवलोकन को परमात्मपथ के निहारने मे स्थान नहीं है, ऐसा अवलोकन तो उत्तराध्ययनसूत्र की **'जं सोच्चा पडिवंज्जंति तवं खंतिमहिंसयं'** उक्ति के अनुसार थोथा व निष्फल है। त्यागभाव से रहित ज्ञान, आचरण से रहित ज्ञान वन्ध्य है। परमात्मपथ का निश्चय करने के लिए शास्त्रज्ञान के अनुसार आचरण का कदम बढाना आवश्यक है। इसलिए परमात्मपथ को निहारने का अर्थ-प्रभु मार्ग को देख-समझ-जान कर उस पर चलना है, प्रभुपथ पर चले बिना, उसका सम्यग्ज्ञान या अनुभव नहीं हो सकता है।

'चरण धरण नहिं ठाय' का रहस्य

इसीलिए श्रीआनन्दघनजी ने पूर्वोक्त कारणो को लेकर स्पष्ट कर दिया कि आगम (शास्त्र) के द्वारा परमात्मा के पथ की असलियत का विचार करें तो उस पर चरण टिकाने को या चारित्र का आचरण करने को कोई स्थान ही नही रहता। वह अत्यधिक कठोर लगता है। इस दृष्टि से **'चरण धरण'** के तीन रहस्य प्रतीत होते है। प्रथम तो यह है कि आगमो मे कथित प्रभु द्वारा आचरित व्यवहार (स्थूल) दृष्टि के चारित्र (क्रियाकाण्ड) को ही प्रभुपथ समझ लेने से स्वरूपरमणरूप निश्चयचारित्र मे स्थिर रहना साधक के लिए कठिन हो जाता है, इस कारण स्वरूपरमणरूप चरित्र पर कदम रखना दुष्कर है। दूसरा रहस्य यह है—शास्त्रो मे कथित बातो मे परस्परविरुद्ध तथा कई जगह असगत बातों को देखकर बुद्धि के चकरा जाने से कौन-सा परमात्म-पथ है? किसका अनुसरण किया जाय? इस प्रकार बुद्धिभ्रम हो जाता है और साधक परमात्मा के असली मार्ग को पहिचान ही नही पाता। उस पर कदम रखना तो दूर की बात है।

तीसरा रहस्य यह है कि प्रचलित आगमो मे भी जो बाते बताई है, परमात्मा तक पहुचने का जो सम्यक मार्ग[1] बताया है, उसके अनुसार वर्तमान

1. 'सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्गः' —तत्त्वार्थ सूत्र 1।1

युग मे पूरी तरह से आचरण करना टेढी खीर है। क्योकि प्रभुपथ का निहारना कोरे शास्त्रावलोकन से नही हो जाता, उसके लिए प्रभु के चरण-शास्त्रप्रतिपादित चारित्र को जान-बूझ-समझ कर उस पर चलना अनिवार्य है, इसीलिए कहा गया– उस प्रभुपथ पर कदम रखना-चलना-असिधाराव्रत है, वहॉ पैर टिकाना अत्यन्त कठिन है।

'चरण धरम नहिं ठाय'- का एक रहस्य यह भी हो सकता है कि शास्त्रो मे कथित प्रभुमार्ग-चारित्रमार्ग पर कदम रखते समय यह भी कहा गया है कि[1] 'इस लोक के किसी भी लौकिक स्वार्थ या प्रयोजन से आचरण (चारित्र पालन) न करे, पारलौकिक प्रयोजन से भी आचरण न करे, कीर्ति, प्रशस्ति, प्रशसा, पद-प्रतिष्ठा की लालसा से प्रेरित हो कर चारित्र का आचरण करना ठीक नही, केवल आर्हत्पद (वीतरागता) प्राप्त करने के लिए चारित्र-पालन करे।' इस दृष्टि से वीतरागता के पथ पर चलना बडे-बडे साधको के लिए कठिन हो जाता है, क्योकि आचार्य हेमचन्द्र को भी कहना पडा–'दृष्टिराग इतना बलवान और पापिष्ठ है कि बडे-बडे साधको के लिए उसको नष्ट करना कठिन होता है।[2]' काक्षामोहनीय भी इतना प्रबल होता है कि वह साधक की पवित्र दृष्टि पर मोह एव अज्ञान का पर्दा डाल देता है, जिससे उसे परमात्मा का यथार्थ पथ ही दृष्टिगोचर नही होता, उस पथ पर चलने को तो अवकाश ही कहॉ? इसीलिए आगम से पथ के वस्तुतत्त्व पर विचार कर लेने पर भी पूर्वोक्त कारणो से उस पर चरण (कदम) रखना कठिन हो जाता है या उनके स्वरूपरमणरूप चारित्र पर स्थिर रहने अथवा व्यवहार चारित्र के रूप मे आचरित प्रभुपथ की कठोरता को देख कर उसका आचरण करने की कोई गुँजाइश नही।

प्रभुपथ के निर्णय में चौथी और पाँचवी कठिनाइ

वीतरागमार्ग के निर्णय का पिपासु आशावान साधक अपनी अन्य कठिनाइयॉ पेश करता है–

---

1 'न इहलोगट्ठयाए आयारमहिट्ठिज्जा, न परलोगट्ठयाए आयारमहिट्ठिज्जा न कित्तिवन्नसिलोगट्ठयाए आयारमहिट्ठिज्जा, नन्नत्थ आरहंतेहिं हे ऊहिं आयारमहिट्ठिज्जा।' –दशवै 9/36

2. दृष्टिरागो हि पापीयान् दुरुच्छेदः सतामपि–आचार्य हेमचन्द्र

तर्क-विचारे रे वाद-परम्परा रे, पार न पहुंचे कोय।
अभिमत वस्तु रे वस्तुगते कहे रे, ते विरला जग जोय।।
पंथड़ो.।।4।।

***अर्थ*–तर्क यानी अनुमानप्रमाण के द्वारा परमात्मपथ का विचार करें तो सिवाय शुष्क वाद-विवाद की लम्बी परम्परा के और कुछ हाथ नहीं आता। ऐसे विवादों की लम्बी कतार से कोई भी जिज्ञासु साधक किसी निर्णय के सिरे तक नहीं पहुंचता। हमारी अभीष्ट और जिज्ञासा के अनुकूल वस्तु का यथार्थरूप से लाभदायक और परिपूर्ण अंशों में कथन करने वाले पुरुष तो इस संसार में बहुत ही विरले दिखाई देते हैं।**

***भाष्य*–तर्क द्वारा भी परमात्ममार्ग का निर्णय दुष्कर**

न्यायशास्त्र मे अनुमान-प्रमाण का बहुत बड़ा स्थान है। जो बाते साव्यवहारिक प्रत्यक्ष या आगमप्रमाण से सिद्ध नही होती, वे अनुमान प्रमाण द्वारा सिद्ध की जाती है । सारा जैनतत्त्वज्ञान तर्क के अनुकूल है। जैन दर्शन का समग्र नयवाद, सप्तभगी, स्याद्वाद, आत्मवाद या तत्त्ववाद आदि अनेक बाते तर्क की कसौटी पर यथार्थ रूप से कम कर निर्णीत की गई है। सन्तति-तर्क, स्याद्वाद-मजरी, अनेकान्त-जयपताका, स्यादवादरत्नाकर, खण्डनखाद्य, रत्नाकरावतारिका, तत्त्वार्थसूत्र आदि ग्रन्थरत्नो पर विचार करते है, तो ऐसा मालूम होता है, जैनदर्शन ने तर्क द्वारा जबर्दस्त किला फतह किया है, परन्तु तर्क मे वाद-विवाद का कहीं अन्त नहीं आता। एक प्रबल तर्क पूर्वोक्त निर्बल तर्क को काट देती है। चतुर नैयायिक तर्कों का ऐसा जाल बिछा देता है कि उसमे से प्रतिवादी का निकलना तो दूर रहा, उन सबको पूर्वपक्ष के रूप में समझना भी दुष्कर हो जाता है। इसीलिए कहा[1] है–

वाद और प्रतिवाद करके मानो अपने-अपने मत की निश्चित और यथार्थ बात कहते हों, इस प्रकार के लोग तेल की घाणी के चारो ओर घूमने वाले बैल की तरह गोल-गोल चक्कर खाते रहते हैं, वे भी किसी तत्त्व का सिरा नहीं पाते।

---

1. वादांश्च प्रतिवादांश्च वदन्तो निश्चितानिव।
   तत्त्वान्तं नैव गच्छन्ति तिलपीलकवद्गतौ।।

इसीलिए कहा है–'**तर्कोऽप्रतिष्ठः**' तर्क बिना पेदे के लोटे की तरह एक जगह प्रतिष्ठित (स्थिर) नहीं हो पाता।

इसलिए परमात्ममार्ग का विचार भी केवल तर्क द्वारा करने पर सिवाय अनुभवहीन या भावहीन शुष्क वादविवाद के और कुछ पल्ले नहीं पडता। थोथी दलीलो या शुष्क तर्को से व्यक्ति किसी एक नतीजे पर नहीं पहुँच पाते। यही कारण है, छहों दर्शन अपने-अपने मत को तर्क द्वारा प्रमाणित करते है, मिल कर समन्वय नही कर पाते। चर्चा करने वाले जब अपने-अपने हेतुओं द्वारा अपने मतागृहीत पक्ष को सिद्ध करने का प्रयत्न करते है, तब सत्यशोधन के बदले केवल विद्वता का प्रदर्शन किया जाता है। तर्क-वितर्क करने वालो मे जिज्ञासा के बदले प्रायः विजिगीषा पाई जाती है। क्रियामार्ग मे भी तत्त्वज्ञान की तरह अपनी मानी हुई क्रियाओ को सत्य तथा वीतराग मार्गानुकूल सिद्ध करने के लिए तर्को का बहुत दुरुपयोग किया जाता है तथा परस्पर आपेक्ष करके जिज्ञासाबुद्धि से भ्रष्ट हो कर दूसरो को नीचा दिखाने, बदनाम करने या हराने की बुद्धि मुख्य बन जाती है। मतलब यह है कि सम्प्रदाय-मत-पथ के भेद खींचातान, दुराग्रह सत्यान्वेषणवृत्ति के बदले अपने अभिमत को सत्य सिद्ध करने के लिए मानवसुलभ अहवृत्ति-पोषण के कारण वर्तमान स्थिति मे सत्यशोधन या वीतराग-परमात्ममार्ग का पर्यवलोकन या निर्णय कोरे तर्क द्वारा होना अतीव दुष्कर है।

वस्तु का यथार्थ रूप में कथन करने वाले विरले हैं

इससे पहले पूर्वोक्त सभी उपायो द्वारा वीतरागमार्ग के निर्णय के सम्बन्ध मे विचार किया गया, लेकिन ऐसा कोई भी उपाय सफल नहीं मालूम पडता, जिससे यथार्थ निश्चय किया जा सके।

अतः श्रीआनन्दघनजी कहते है कि अब तो यह इच्छा होती है कि वस्तु जैसी और जिस प्रकार की है, उसे वैसी और उसी प्रकार से जो यथार्थरूप मे कहे, उनके पास जा कर परमात्ममार्ग का निर्णय करू, मगर ऐसे यथार्थवक्ता महापुरुष तो विरले ही हैं। जो है, वे झटपट पहचाने नही जा सकते। ऐसे महान् पुरुषो का समागम अशक्य नहीं तो दुर्लभ जरूर है क्योकि वस्तु के स्वरूप मे किसी भी प्रकार की न्यूनाधिकता न करके कहना, अपने रागद्वेष, अपनी साम्प्रदायिक एवं परम्परागत मान्यताओं, धारणाओं या अपने निजी स्वार्थो संस्कारो या अहं का कथन मे लेशमात्र भी प्रवेश न होने देना,

बहुत ही कठिन है। किसी वस्तु के बारे मे जब हम सत्यता खोजने के लिए किसी महान् से महान् कहलाने वाले महानुभाव के पास जाते है, तो वहॉ उनके तत्त्व प्रतिपादन के समय व्यक्तिगत अहंभाव, साम्प्रदायिकता का पुट, परम्परागत धारणाओं, मान्यताओ या अपने सस्कारो का समावेश तथा कई बार यह सत्य स्वयं को ही उपलब्ध हुआ है, इस प्रकार के दावे ही दृष्टिगोचर होंगे। इस प्रकार के प्रतिपादन से जिज्ञासु वीतराग परमात्मा के असली मार्ग के सत्यदर्शन के बदले उपयुक्त भूलभूलैया या अधिक उलझन मे पड जाता है। जगत मे ऐसे लोग इनेगिने है, जो किसी वस्तु मे निहित वस्तुतत्त्व या यथार्थ धर्म का यथातथ्यरूप मे कथन कर सके। क्योकि वस्तु का यथार्थ कथन करना इसलिए टेढी खीर है कि ऐसा करने वाले प्राय. साम्प्रदायिकता, स्वत्वमोह या कालमोह से ग्रस्त अपने कहे जाने वाले लोगो के कोपभाजन बन जाते है, प्रायः उन्हे नास्तिक, मिथ्यात्वी, कृतघ्न आदि नाना गालियो का शिकार बनना पडता है अथवा उनके पूर्वाग्रह, रूढ मिथ्यासंस्कार, अहभाव से लिपटे हुए मत ही उन्हें किसी लागलपेट के बिना मध्यस्थभाव से सत्य प्रतिपादन करने मे बाधक बन जाते है। इसलिए अपने पूर्वाग्रहो, रूढ संस्कारों, विवेकविकल मान्यताओ या धारणाओ, या अन्धविश्वासो अथवा देव-गुरु-धर्म एव आगम-सम्बन्धी मूढताओं से ऊपर उठ कर वीतरागपथ के सम्बन्ध मे निष्काम भाव से सत्य प्रगट करने वाले महापुरुष विरले है। शुद्ध सत्यभाषको की विरलता के कारण परमात्ममार्ग का निश्चय दुर्लभ है।

वस्तु को यथार्थ व यथारूप मे कहने वाले व इसमे जरा-सी भी अतिशयोक्ति खीचातान, मताग्रह या पूर्वाग्रह रखे बिना जिज्ञासु के आगे प्रगट करने वाले पुरुषो की विरलता देखनी हो तो किसी भी बडे से बडे तथाकथित तत्त्वज्ञानी या महान् कहलाने वाले व्यक्ति के सान्निध्य में कुछ दिन रह कर, उनकी दलील, तर्क, साम्प्रदायिक झुकाव आदि पर से देखी समझी जा सकती है।

परमात्मपथ के दर्शन में छठी कठिनाई

इस प्रकार परमात्मपथ के दर्शन मे मुख्य-मुख्य कठिनाइयो का पूर्वोक्त गाथाओ मे उल्लेख करके श्रीआनन्दघनजी अब परमात्मपथ के दर्शन के लिए पूर्वोक्त दिव्यनयनरूपी आधार के विषय मे दुर्लभता का प्रतिपादन करते ह–

वस्तु विचारे रे दिव्यनयन तणो रे, विरह पड़्यो निरधार।
तरतम जोगे रे तरतम वासना रे, वासित बोध आधार।।
पंथड़ो.।।5।।

***अर्थ*—पदार्थ के यथार्थ रूप का विचार करने में जो दिव्यनेत्र-प्रत्यक्षज्ञानी अतिशयज्ञानी या अतिशय प्रत्यक्ष ज्ञान है उनका तो इस (पंचम) काल में निश्चय ही वियोग हो गया है। इसलिए उनके विरह में वैसे तो वस्तुतत्त्व के यथार्थ ज्ञान का कोई आधार नहीं है। मन-वचन-काया के योगों की तरतमता वासनाओं(कषायों) की तरतमता के अनुसार होती है। इस दृष्टि से प्रबल वासनाओं (कषायों) से क्रमशः मुक्त होने के कारण कई महान् आत्माओं के कषायों के क्षयोपशम की अधिकता होगी, उतनी ही मन-वचन-काया के योगों की स्थिरता अधिक होगी। अतः ऐसे महापुरुषों के ज्ञान के अधिकाधिक क्षयोपशम से भावित बोध ही इस काल में आधारभूत है।**

***भाष्य*—दिव्यनयन क्या है? उनका वियोग क्यों?**

योगी श्रीआनन्दघनजी ने परमात्म-पथ के दर्शन के लिए पहले दिव्यनयन की मुख्यता बताई थी। अन्य उपायो से प्रभुपथ-दर्शन की दुष्करता का प्रतिपादन के बाद यहाँ वे पुनः उसी दिव्यनयन का उल्लेख करते हुए कहते है कि अगर आज इस प्रकार के दिव्यनेत्रधारी या आत्मप्रत्यक्षज्ञान होते तो मुझे प्रभुपथ के दर्शन के लिए पूर्वोक्त कठिनाइयों का सामना न करना पडता। मेरी परमात्म-मार्ग के दर्शन की समस्या बहुत ही आसानी से हल हो जाती परन्तु अफसोस है कि आज वे दिव्यनेत्रधारी महापुरुष इस क्षेत्र (भरतक्षेत्र) मे रहे नही अथवा मेरे अपने अंदर वे दिव्यनेत्र (प्रत्यक्षज्ञान) प्रकट होने, दुर्लभ होने से मुझे भी परमात्मा-पथ का निर्णय करना कठिन हो रहा है। उनका निश्चय ही वियोग हो गया है।

दिव्यनयन-पद से यहाँ इन्द्रियो से न होकर, जिन्हे सीधे आत्मा से होने वाला ज्ञान प्राप्त हो गया है, वे प्रत्यक्षज्ञानी महापुरुष या आत्मप्रत्यक्षज्ञान विवक्षित है। क्योकि वस्तुतत्त्व का यथार्थ पूर्ण निर्णय तो प्रत्यक्ष ज्ञानी या प्रत्यक्षज्ञान ही कर सकते हैं। परोक्षज्ञानियो के ज्ञान मे कुछ न कुछ कमी रह ही जाती है।

मुख्यतया ज्ञान दो प्रकार के है—प्रत्यक्ष और परोक्ष। इन्द्रियो और मन की उपस्थिति मे जो ज्ञान होते है, वे परोक्षज्ञान कहलाते है। जैनदर्शन की दृष्टि

से मतिज्ञान और श्रुतज्ञान ये दोनो परोक्षज्ञान है। चूँकि अन्य दर्शन इन्द्रियों और पदार्थ के सन्निकर्ष से होने वाले ज्ञान को प्रत्यक्षज्ञान मानते है, इसी कारण जैन दार्शनिक इसे साव्यवहारिक प्रत्यक्ष और इन्द्रियों और मन के निमित्त के बिना सीधे ही आत्मा से होने वाले ज्ञान को पारमार्थिक प्रत्यक्ष कहने लगे। पारमार्थिक प्रत्यक्ष ही वास्तविक प्रत्यक्ष ज्ञान है।

इसी को ही श्रीआनन्दघनजी दिव्यनयन=आत्मप्रत्यक्ष ज्ञान कहते है।

ऐसे आत्मप्रत्यक्ष ज्ञान से ही वस्तुतत्त्व का यथार्थ रहस्य समझा जा सकता है। तभी परमात्मा के मार्ग का सच्चा निर्णय हो सकता है, परन्तु इस पचम काल में इस (भरत) क्षेत्र मे तो ऐसे आत्मप्रत्यक्षज्ञानी या आत्मप्रत्यक्षज्ञान का संयोग नही है, उनका इस समय वियोग है।

विभिन्न दृष्टियों से तरतमयोग और तरतम वासना के अर्थ तथा तद्युक्त बोध

वासना का अर्थ है—कषाय, राग-द्वेष, या मोह आदि और योगो का अर्थ है— मन-वचन-काया के व्यापार। ज्यो-ज्यो वासनाओं की तरतमता= न्यूनाधिकता होती जाती है, त्यों-त्यो मन-वचन-काया के योगो की तरतमता होती है। अर्थात् जिसमे वासनाओ (कषायो, अभिमान, नामना-कामना, पूजा-सत्कार-लिप्सा एव विविधि एषणाओ) की जितनी और जिस अनुपात में तीव्रता या मन्दता होगी, उतनी और उसी अनुपात मे उसमे मन-वचन-काया के योगो की चपलता (अस्थिरता) या अचपलता (स्थिरता) होगी और उस- उस व्यक्ति का बोध भी योगो की चपलता या अचपलता के अनुसार उतना-उतना अशुद्ध (अनिर्मल) या शुद्ध (निर्मल) होगा।

तात्पर्य यह है कि जिस व्यक्ति का बोध जितना-जितना तीव्र कषायो आदि से रहित होगा, उतना-उतना वह निर्मल, निर्मलतर होता जायेगा। इस दृष्टि से प्रबलतर या प्रबल कषायो से मुक्त होने के कारण जिन महानुभावों के मतिज्ञान और श्रुतज्ञान विशुद्ध व निर्मल है, ऐसे आगमज्ञ, बहुश्रुत, स्थितप्रज्ञ या गीतार्थ महापुरुषो का शुद्धात्मभावना से वासित (भावित) बोध ही वर्तमानयुग मे परमात्मपथ दर्शन के लिए आधारभूत है।

अथवा निश्चयनय की दृष्टि से कहे तो अपनी आत्मा प्रबलतर या प्रबल कषायो से मुक्त होगी, तभी उसका क्षयोपशम तीव्र होगा और उक्त तीव्र क्षयोपशमभाव से वासित (युक्त) बोध मे ज्ञान की विशुद्धता होगी, बुद्धि पर

अज्ञान, मोह, अभिमान, लालसा, स्पृहा, स्वार्थ आदि का आवरण कम होगा और तभी मै स्वय परमात्मपथ=शुद्धात्मदशा के पथ का निर्णय कर सकूगा। अर्थात्-प्रबलकषायो से रहित मेरी आत्मा शुद्धात्मभावरमणरूप परमात्मपथ के प्रत्यक्षदर्शन में अग्रसर होगी।

साधारण प्राणी सासारिक वासनाओ या परभावो की ओर इतना आसक्त होता है कि सहसा उसमे आत्मविकास या स्वभावरमणता की भावना जागृत नहीं होती और उसे ज्ञानावरणीय कर्म का क्षयोपशमभाव उतना नही मिलता और न ही तदनुरूप योग=(सयोग) मिलते है। इस दृष्टि से जिस व्यक्ति की जितनी-जितनी शुद्धात्मज्ञान की क्षयोपशमभाव से होती है, उतने-उतने प्रबल व प्रबलतर सयोग (योग) भी उसे सहज मे मिलते जाते है। यानी क्षयोपशमभावो की न्यूनाधिकता के अनुसार अनुकूल सयोगो की न्यूनाधिकता होती है।

उदाहरणार्थ—कई साधको का क्षयोपशमभाव तीव्र होता है तो उन्हें प्रौढ और अनुभवी गुरुओ, तदनुकूल साधनो, अनुकूल साधन-सहकार-सत्सग आदि का सयोग मिलता है, उनकी ग्रहण-धारणा-शक्ति भी तीव्रतर होती है, जबकि कई साधकों को तीव्र और कतिपय साधको को मन्द या मन्दतर मिलती है। इस दृष्टि से जिन साधको की क्षयोपशमभावना तीव्रतम होगी, उन्हे तदनुकूल तीव्रतम सयोग और तीव्रतम ग्रहण-धारणाशक्ति मिलेगे और तदनुसार उनका बोध भी तीव्रतम क्षयोपशमभावना से भावित होगा। ऐसे व्यक्तियों का बोध ही वर्तमानकाल मे तो परमात्मपथ के निर्णय का आधार हो सकता है।

वर्तमानकाल में परमात्मपथ निर्णय में आधारभूत बोध

हम बहुत-सी बार यह अनुभव करते है कि साधको के बोध मे अनेक प्रकार की न्यूनाधिकता होती है। किसी-किसी साधक का क्षयोपशम इतना प्रबल होता है कि चाहे जैसा नया प्रश्न उसके सामने प्रस्तुत किया जाय, वह अपने विशाल वाचन और व्यापक बोध के आधार पर उसका यथार्थ उत्तर दे सकता है। शास्त्र मे ऐसे-ऐसे श्रुतज्ञानियों का उल्लेख है कि वे अपने मतिज्ञान से उसका ठीक उपयोग लगाएँ और उनका बोध स्थिर विशाल और सुदृढ हो तो चाहे जैसे सूक्ष्मभावों के विषय में केवलज्ञानियों के बराबर यथातथ्य निर्णय दे सकते है। इसीलिए श्रीआनन्दधनजी आत्म-प्रत्यक्षज्ञानियो (दिव्यनेत्रो) के

अभाव मे पूर्वोक्त प्रबलतम क्षयोपमभावना से भावित बोध को इस युग में परमात्मपथ-निर्णय का अधार मानते है।

निश्चयनय की भाषा मे कहे तो अपने में आत्मप्रत्यक्षज्ञान (दिव्यनेत्र) के अभाव मे अपने उपादान=क्षयोपशमभाव के प्राबल्य से होने वाला (वासित) बोध ही वर्तमानकाल मे परमात्ममार्ग के निर्णय का आधार बन सकता है।

इस बात को न मान कर यदि यही आग्रह रखा जाय कि जब कभी दिव्यज्ञानी या दिव्यज्ञान का योग मिलेगा, तभी परमात्मपथ का बोध किया जायेगा, तो उस साधक को अनेक कठिनाइयो का सामना करना पडेगा, अनेक विघ्न उसके विकासमार्ग में रोडा अटकाएँगे, अब तक उसने जो भी प्रगति की है, वह भी ठप्प हो जायगी और आत्मा कर्मो से भारी हो कर जन्ममरण के चक्र मे भटकती रहेगी। अतः अपने क्षयोपशम के अनुसार जो भी अनुकूल साधन या संयोग प्राप्त हों, उनका अवलम्बन ले कर परमात्मपथ पर प्रगति करते रहना चाहिए। इसी आशय से श्रीआनन्दघनजी ने वर्तमानकाल में मति-श्रुतज्ञान के उत्कृष्ट क्षयोपशमभाव से भावित बोध से युक्त ज्ञानी या ज्ञान के आधार को योग्य माना है।

परमात्मपथदर्शन के लिये श्रेष्ठ आधार : समय की परपक्वता

पूर्वोक्त गाथा में दिव्यज्ञान के अभाव में वर्तमान युग में उत्कृष्ट क्षयोपशमयुक्त मति-श्रुतज्ञानी या मति-श्रुतज्ञान के निर्मल बोध को आधार भूत बताया, परन्तु श्रीआनन्दघनजी उस दिन के लिए उत्सुक है। उनका मनोरथ है कि मैं स्वय वैसा दिव्यज्ञान या दिव्यज्ञानियों का योग प्राप्त करूं, परन्तु इस समय उसकी उपलब्धि न होने पर भी कौन-सा श्रेष्ठ आधार है- परमात्पथ के दर्शन के लिए, इसका उल्लेख वे अन्तिम गाथा में करते हैं—

काललब्धि लही पंथ निहालशुं रे, ऐ आशा अपलम्ब।
ए जन जीवे रे जिनजी ! जाणजो रे, आनन्दघन-मत-अम्ब॥

पंथड़ो.॥6॥

अर्थ-यथार्थ (स्वभावरमणतारूप) पुरुषार्थ करते-करते काल परिपक्व (समय पक जाने) होने पर तथारूप आत्मलब्धि (आत्मशक्ति) प्राप्त करके आपका (परमात्मा का) पथ देख सकूंगा; यह आशा (प्रतीक्षा) ही मेरे लिए श्रेष्ठ अवलम्वन है। हे वीतरागप्रभो ! इसी आशा के आधार पर मेरे सरीखा व्यक्ति जी रहा है। इसे ही

आप आनन्दघन (सच्चिदानन्दरूप) के पथ का आम्रवृक्ष या सार समझना।

भाष्य—काललब्धि की प्रतीक्षा: जीने का श्रेष्ठ आधार

श्रीआनन्दघनजी आशावादी (Optimist) है, वे जैनदर्शन की रगो को छूते हुए कहते है, जिसके तन-मन-प्राण मे परमात्मपथ—मोक्षपथ पाने की तीव्रता है, जो अहर्निश स्वभावरमणस्वरूप ज्ञान-दर्शन-चारित्र मे पुरुषार्थ करता है, उसे एक न एक दिन परमात्मपथ के दर्शन हो कर रहते है, उसका वह पुरुषार्थ, वह तीव्र तमन्ना खाली नही जाती, पर साधक को उस समय की प्रतीक्षा करना, उस अवसर के आने तक धैर्य रखना जरूरी है।

खेत मे बीज बोते ही किसान को उसका फल नहीं मिल जाता, उसे काफी प्रतीक्षा करनी पडती है, धैर्य के साथ फसल पकने तक इन्तजार करनी पडती है, तब तक उसे उत्साहपूर्बक गोडाई, सिचाई और सुरक्षा करनी होती है। तभी उसे उसका सुन्दर फल मिलता है। इसी प्रकार परमात्मपथ के दर्शन के लिए भी स्वभावरमणरूप पुरुषार्थ द्वारा आत्मशक्ति प्राप्त होने तक प्रतीक्षा करनी आवश्यक है। इसी दृष्टि से योगी श्रीआनन्दघनजी अन्तर से पुकार उठते है—

'वीतरागप्रभो! समय परिपक्व होते ही आत्मशक्ति (काललब्धि) प्राप्त होने पर मै अवश्य आपके पथ का दर्शन करूँगा, इसी आशा-प्रतीक्षा का अवलम्बन ले कर मै जी रहा हूँ। वास्तव मे, मेरी आत्मा तो उसी दिन को देखने के लिए उत्सुक है, जिस दिन मुझे परमात्मपथ के दर्शन होगे, उसी दिन मेरी यह आत्मसाधना सफल होगी।'

काललब्धि का अवलम्बन क्या और कैसे?

जैनदर्शन मे प्रत्येक कार्य के लिए काल, स्वभाव, नियति, कर्म और पुरुषार्थ, पॉच कारणसमवाय को अनिवार्य बता कर उपयुक्त स्थान दिया गया है, यही बात आत्मविकास के लिए है। इस दृष्टि से आत्मविकास के लिए दूसरे चार कारणो की तरह काल का परिपाक भी होना चाहिए। समय पकने पर ही अमुक कार्य होता है। आम अमुक समय आने पर ही पकता है। गर्भ नौ महीने का होने पर ही बालक का प्रसव होता है, फसल अमुक समय पर ही पकती है। इसी तरह दिव्यज्ञान के लिए अमुक काल का लाभ या प्राप्ति काललब्धि कहलाती है। स्वभावरमण मे पुरुषार्थ करते-करते जिस समय आत्मशक्ति इतनी बढ जायेगी कि दिव्यज्ञान—आत्मप्रत्यक्षज्ञान होते देर नही लगेगी, उसी

समय को काललब्धि[1] (समय का परिपाक) कहना चाहिये।

शास्त्र मे 5 प्रकार की लब्धियाँ बताई गई है—1. काललब्धि, 2 भावलब्धि, 3. करणलब्धि, 4 उपशमलब्धि और 5 क्षायिकलब्धि। काललब्धि भी आत्मशक्ति-विशेष से ही प्राप्त होने वाला एक सामर्थ्य है, एक प्रकार की योग्यता है, जिसके प्राप्त होने पर परमात्मपथ का स्पष्ट दर्शन हो जाता है। इसलिए श्रीआनन्दघनजी ने काललब्धि को ही परमात्मपथ-दर्शन की आशा का अन्तिम आधार मान कर उसी के सहारे जीने व तब तक प्रतीक्षारत रहने की बात अभिव्यक्त की है।

दूसरों की आशा और पथदर्शन की आशा में अन्तर

यो तो **'आशा औरन की क्या कीजै'** पद में श्री आनन्दघनजी ने आशा के प्रति उपेक्षा व्यक्त की है, लेकिन यहाँ आशा को बडा आधार माना है, परन्तु इस आशा और उस आशा मे रात-दिन का अन्तर है। वह आशा पराई है, जिसमें पौद्गलिक वस्तुओ, स्थूल या भौतिक पदार्थो या विषयों की प्राप्ति की आशा है, उसमे आशा करने वाले को पूंछ हिलाने वाले कुत्ते की उपमा दी गई है। वह आशा परपदार्थो की गुलामी है, परन्तु यहाँ आशा है—काललब्धि प्राप्त होने पर परमात्मपथ के दर्शन की आशा; इसमे किसी से माँग, गुलामी या याचना नही की गई है, न परपदार्थो को प्राप्त करने की यह आशा है, यह तो आत्मा का अपने आत्मस्वभाव में पुरुषार्थ करके काललब्धि प्राप्त होने पर परमात्मपथदर्शन की आशा है। उसमे आशादासी के दास बनने की बात है, जबकि इसमे आशादासी पर विजय प्राप्त करने की बात है। चेतनराज (आत्मा) को इस प्रकार की आशा के अवलम्बन के सिवाय और कोई चारा ही नही है।

जीवन का आधार : भौतिक या आत्मिक ?

श्रीआनन्दघनजी आगे कहते है—इसी आशा के आधार पर मुझ सरीखा साधकजन जीवन जी रहा है। साधक-जीवन के लिए संसारी जीवो की तरह धन-सम्पत्ति, सुख-सामग्री आदि जीने के आधार नहीं होते, उसके जीने का आधार आध्यात्मिक होता है। क्योंकि साधक को अब तक पूर्णशुद्ध आत्मदशा की प्राप्ति नही हो जाती, जब तक का जितना काल है, उस काल को वह आत्मशक्ति उपलब्ध करने में बिताता है वह स्वभावरमण में पुरुषार्थ करते-

1 'पाइयसद्द महण्णवो' में लब्धि के क्षयोपशम, सामर्थ्य विशेष, अहिसा, लाभ, प्राप्ति और योग्यता आदि अर्थ किये गये है।

करते ही अपना जीवन पूर्ण करता है, उसके जीवन जीने का आधार आत्मिक होता है। आत्मसाधना करना, आत्मस्वरूप जानना, आत्मशक्ति प्राप्त करना, आत्मशक्ति प्राप्त करने के लिए साधन-सामग्री जुटाना व उसका समुचित उपयोग करना ही उसके जीवन का एकमात्र लक्ष्य होता है।

इसी दृष्टि से श्रीआनन्दघनजी के अन्तर का स्वर गूँज उठता है–

'ए जन जीवेरे जिनजी ! जाणजो रे..........'

आनन्दघन-मत-अम्ब के सम्बन्ध में

योगी श्रीआनन्दघनजी ने अपना कोई मत, पथ, सम्प्रदाय या गच्छ नही बनाया और न वे किसी सम्प्रदाय को चलाना चाहते थे, बल्कि उन्होने इसी चौबीसी मे आगे गच्छ सम्प्रदाय, पथ आदि के प्रति अपनी अरुचि प्रदर्शित की है, इसलिए आनन्दघन-मत का अर्थ किसी मत, पथ या सम्प्रदाय का सूचक नही हो सकता। चूकि योगी आनन्दघनजी जिदगीभर आत्म-शोधन, आत्म-चिन्तन-मनन और आत्मविकास के अवलोकन मे रहे है, इसलिए आनन्दघनमत का अर्थ यहाँ आनन्दघनरूप=शुद्धात्मभावमय मत=विचाररूपी आम्रफल अथवा शुद्धात्मभावमय विचार का सार है।

श्री आनन्दघनजी के कहने का अभिप्राय यह है कि जब मैने अपने शुद्ध चित्त-क्षेत्र मे परमात्म-पथ-दर्शन के प्रति तीव्र आत्मनिष्ठा रूपी आम की गुठली बो दी है तब तो एक दिन मे उसके स्वभावरमणता मे आनन्द देने वाले आनन्दघनरूप परमात्मा के विचार की शीतल शुद्धात्मदशारूपी छाया वाला आम्रवृक्ष=परमात्मा (वीतराग) अथवा परमात्मपथदर्शनरूपी आम्रफल अवश्य प्राप्त करूँगा। ऐसा मेरा अखण्ड मत=निश्चय है।

सारांश–अजितनाथ भगवान् की स्तुति के बहाने इस स्तुति मे श्रीआनन्दघनजी ने परमात्म-मार्ग के दर्शन की तीव्र उत्कण्ठा बताई है। साथ ही दिव्यज्ञानचक्षु को उसका सर्वोत्तम उपाय बता कर उन्होने परमात्मपथ के दर्शन करने मे चर्मचक्षु, पुरुष-परम्परा, शास्त्र-परम्परा, तथा पराश्रित अनुभव, आगम, तर्क, यथार्थ-वक्ता एवं दिव्यज्ञान का वियोग आदि मुख्य कठिनाइयाँ बताई है, लेकिन अन्त मे स्वीकार किया है कि उच्चश्रेणी के क्षयोपशम वाले निर्मल श्रुतज्ञानी पुरुष के श्रुतज्ञान का बोध वर्तमानयुग मे आधाररूप हो सकता है। लेकिन अन्तिम गाथा में कालपरिपक्व होने तक परमात्मपथदर्शन की प्रतीक्षा मे

रत रहने की आशा का अवलम्बन मान कर उसी के सहारे जीवन जीने का निश्चय किया है। मतलब यह है कि रागद्वेषादि विकारों से रहित शुद्ध आत्मदशा प्राप्त होने पर ही पूर्णरूप से परमात्मपथ का साक्षात्कार हो सकता है, यही सब गाथाओं का निचोड है।

***

3. श्री सम्भवनाथ-स्तुति–

परमात्मा की सेवा

(तर्ज- रातली रमी ने किहांथी आविया रे, राग-रामगिरि)

परमात्मा के साथ अखण्ड प्रीति के बाद परमात्मा के मार्ग का दर्शन व निर्णय करना आत्मसाधक के लिए अनिवार्य होता है, मार्ग का निर्णय हो जाने पर ही परमात्मा की सेवा भलीभॉति हो सकती है। इसलिए अब तीसरे तीर्थंकर श्री सम्भवनाथभगवान् की स्तुति के माध्यम से परमात्म-सेवा का रहस्योद्घाटन करते हुए श्रीआनन्दघनजी कहते है-

'संभवदेव' ते धुर सेवो सवे रे, लही प्रभुसेवन-भेद।
सेवन-कारण पहली भूमिका रे, अभय, अद्वेष, अखेद।।
सम्भव.।। 1।।

अर्थ–**परमात्मा (परमशुद्ध आत्मा) की सेवा का गहरा रहस्य समझ कर सभी आत्मसाधक सर्वप्रथम सम्भवनाथदेव (वीतराग परमात्मा) या वीतराग-परमात्मा के देवत्व की सेवा करें। परमात्मसेवा में कारणभूत पहली भूमिका-अवस्था के योग्य, अभय, अद्वेष और अखेद ये तीन बाते हैं।**

भाष्य–**परमात्म-सेवा क्यों?**

पूर्वोक्त दो स्तुतियो मे जिस प्रकार प्रथम और द्वितीय तीर्थंकर की स्तुति के माध्यम से श्रीआनन्दघनजी ने परमात्मप्रीति और परमात्ममार्ग के दर्शन का रहस्य खोल कर रख दिया है, वैसे ही इस स्तुति मे तीसरे तीर्थंकर श्री सम्भवनाथदेव की स्तुति के माध्यम से परमात्मा की या परमात्मत्त्व की सेवा सर्वप्रथम क्यो करनी चाहिए? परमात्म-सेवा क्या है और कैसे करनी चाहिए? इन सबका विश्लेषणपूर्वक रहस्योद्घाटन किया है।

सवाल यह होता है कि श्रीआनन्दघनजी ने इस स्तुति मे दूसरे सब कार्य छोड कर सभी साधको को सर्वप्रथम परमात्मा की सेवा करने की प्रेरणा क्यो दी? इसका कारण यह प्रतीत होता है कि दूसरी स्तुति की अन्तिम गाथा मे उन्होने यह बता दिया कि मै परमात्मपथ के दर्शन के बिना हर्गिज हटने वाला नही, चाहे कितना ही काल क्यो न व्यतीत हो जाय, मै तब तक धैर्य या प्रतीक्षा

करूँगा, जब मेरी आत्मशक्ति इतनी बढ जायेगी, मेरा क्षयोपशमभाव इतना तीव्रतम हो जाएगा कि काल का परिपाक भी हो जाएगा और एक दिन वह अवसर भी आ जाएगा, जब मै परमात्मपथ का साक्षात्कार करके ही दम लूँगा इसी आशा और विश्वास के साथ मै बैठा हूँ। अतः जब साधक की परमात्मपथदर्शन की इतनी तत्परता हो जाती है, तब उसे अपने आपको परमात्मपथदर्शन के योग्य, समर्थ और कार्यक्षम बनाने के लिए सर्वप्रथम उत्साहपूर्वक परमात्मसेवा करना अनिवार्य होता है। यही कारण है कि श्रीआनन्दघनजी सभी मुमुक्षुओं, किन्तु परमात्मपथदर्शन से निराश साधकों का व अपने को परमात्मपथदर्शन के योग्य बनाने हेतु पहले परमात्मसेवा करने का आह्वान करते है।

परमात्म-सेवा क्या है?

परन्तु साथ ही वे कुछ साधको तथा स्वय के चेतनराज से चेतावनी के तौर पर कहते हैं—परमात्मा की सेवा करने से पहले सेवा का स्वरूप तथा उसका रहस्य समझ लो। परमात्मसेवा का स्वरूप एव रहस्य समझे बिना ही दुनियादार लोगो की तरह अगर परमात्मसेवा के नाम से किसी और कार्य को करने लग जाओगे, या सेवा के साथ किसी प्रकार का राग-द्वेष, मोह, नामना-कामना, भय, लोभ या किसी स्वार्थ को जोड दोगे अथवा सेव्य पुरुष का स्वरूप न समझ कर, जैसे-जैसे रागी-द्वेषी, कामी, क्रोधी देव को ही देवाधि देव परमात्मा मान कर उसकी सेवा को परमात्मसेवा मान कर करने लगोगे या परमात्मा (निरजन-निराकार शुद्ध अनन्तज्ञानदर्शनचारित्रमय आत्मा) के वीतरागत्व या शुद्ध आत्मत्त्व की उपासना के बदले उनके बाह्यरूप, स्थूलप्रतीक, या उनके द्वारा विहित क्रियाकलापो या उनके बाह्य अतिशय, शारीरिक वैभव की ही सेवा करने मे जुट कर उनके थोथे गुणगान या कोरे कीर्तन करके ही उसे परमात्मसेवा समझ लोगे; अथवा परमात्मा के नाम से किसी व्यक्तिविशेष (भले ही वह महान् हो) के प्रति राग और मोह करके उसकी बाह्य सेवा-स्थूलसेवा (अपनी आत्मा को रागद्वेष, मोह या परभावों से न हटा कर) करने लग जाओगे तो परमात्मसेवा के वास्तविक लाभ से वंचित हो जाओगे। परमात्मसेवा का वास्तविक और चरम लाभ कषायो, राग-द्वेष-मोह या कर्मों से मुक्ति है। मुक्ति प्राप्त होने की अवधि तक बीच मे परमात्मसेवा की साधना के दौरान उसी सिलसिले मे जो-जो यथार्थ (कार्यक्षम से सम्बन्धित)

सम्भव है, उनका उल्लेख आगे की गाथाओ मे वे स्वय करते है। बिना ज्ञान के (सोचे-समझे) सेवा करने से कर्ममुक्ति के बदले कर्मबन्धन ही अधिक सम्भव है।

साथ ही यह विचारणीय है कि यहाँ सम्भवदेव (परमात्मदेव) की ही सेवा करने का कहा है। यानी आत्मसाधक का आदर्श सेव्य पुरुष परमात्मदेव है। परमात्मदेव को मामूली या न्यूनाधिक गुणो से देवत्व प्राप्त नही होता। ऐसे देवत्व की प्राप्ति के लिए अनन्त गुणो की परिपूर्णता होनी आवश्यक है। परिपूर्णता के शिखर पर पहुँचे हुए आत्मा को ही परमात्मदेव कहा जा सकता है। वही साधक द्वारा सेवा के योग्य आदर्श हो सकता है। यही कारण है कि किसी-किसी प्रति मे 'सम्भवदेवत' पाठ मिलता है, उसका अर्थ सम्भव (परमात्म) देव की सेवा के बदले परमात्मा के देवत्व की सेवा होता है, निश्चयनय की दृष्टि से यह अर्थ अधिक सगत प्रतीत होता है।

तात्पर्य यह है कि वीतराग परमात्मदेव अपनी किसी प्रकार की सेवा नही चाहते, वर्तमान मे वे स्वय प्रत्यक्ष नही है, इसलिए उनके शरीर से सम्बन्धित वस्तुओ की सेवा करना भी सम्भव नही है, और परोक्ष होने के कारण उनकी आत्मा को हमारी सेवा की अपेक्षा नहीं है। बल्कि वे अपनी आत्मा को परमात्मदेव बनाने के लिए किसी की सेवा या सहयोग की अपेक्षा रखे बिना स्वय के शुद्धात्मभवरमण मे पुरुषार्थ करते है। वे प्रत्यक्ष हो या परोक्ष हमारे द्वारा उनके गुणगान या स्तुति करने से उनको कोई भी लाभ नही है। वीतराग होने के कारण हमारे द्वारा सेवा करने या न करने से वे कोई खुश या नाराज नही होते, न वरदान या श्राप देते है। अतः निश्चय दृष्टि से परमात्मसेवा का रहस्य है—शुद्ध आत्मसेवा। वीतराग-परमात्मदेव को आदर्श मान कर अपनी आत्मा को राग, द्वेष, कषाय आदि परभावो से हटा कर शुद्ध स्वभाव मे लगाना, अपनी आत्मा को परमात्मा की तरह आत्मगुणो से पूर्ण व योग्य बनाने का सतत पुरुषार्थ करना—परमात्मदेवरूप आदर्श को न भूलना ही प्रकारान्तर से परमात्म सेवा है। वस्तुत परमात्मसेवा शुद्ध आत्मभाव का एक आदर्श है। अत साधक के द्वारा परमात्मा के साथ स्वभाव-स्वरूपरमणता के रूप मे अभिन्नता स्थापित करना ही परमात्म-सेवा है।

यही कारण है कि जैनदर्शन परमात्मदेव शब्द से राग, द्वेष, अहकार

आदि परभावो मे पडने वाले, जगत् के नियन्ता-कर्त्ता-धर्त्ता-हर्त्ता, अच्छे-बुरे कर्म के फल प्रदान मे समर्थ किसी तथाकथित देव को आदर्श या सेव्य नहीं मानता। परमात्मदेव इन सब मोहमायादि परभावों से रहित निरजन, निराकार, अनन्त-ज्ञानादि गुणो से परिपूर्ण परमशुद्ध आत्मा होते है।

परमात्मसेवा कैसे ?

पूर्वोक्तस्वरूपयुक्त परमात्मदेव की सेवा कैसे की जाय? उन्हे क्या भेट चढाई जाय? उनकी सेवा के लिए क्या ले कर पहुँचा जाय? ये और ऐसे प्रश्न सेवक के सामने उपस्थित होते है। यह तो सर्वविदित है कि वीतराग परमात्मा किसी प्रकार की बाह्य भेट या ससार का कोई भी पदार्थ दूसरो से नही चाहते। परन्तु आत्मार्थी साधक जब वीतरागदेव को आदर्श मान कर उनकी सेवा करने के लिए तत्पर होता है तो परमात्मसेवा के लिए उसे अपनी आत्मा मे वैसी योग्यता प्राप्त करनी चाहिए। बिना भूमिका प्राप्त किये ही कोई व्यक्ति बाह्य नाचगान, रगराग या कीर्तन-भजन आदि को ही परमात्मसेवा मान बैठेगा तो वह धोखा खाएगा। परमात्मासेवा केवल नाचने, गाने या रिझाने से नहीं हो जाती; उसके लिए अपनी आत्मा मे वैसी योग्यता प्राप्त करनी जरूरी है। कोई व्यक्ति दसवी कक्षा की योग्यता प्राप्त किये बिना ही प्राइमरी से सीधा दसवी कक्षा मे बैठ जाय तो वह सफल नहीं हो सकता, वैसे ही परमात्मसेवा की भूमिका या योग्यता प्राप्त किये बिना या सेवा का क ख ग सीख कर बीच की भूमिका पार किये बिना सीधा ही परमात्मसेवा की उच्चकक्षा पर पहुँचना चाहे तो वह सफल नही हो सकता। इसीलिए परमात्मसेवा के लिए सर्वप्रथम अपना उपादान तदनुरूप शुद्ध होना जरूरी है। उपादान शुद्ध हुए बिना सेव्यपुरुष-परमात्मा के प्रत्यक्ष निकट सम्पर्क मे रहने पर भी व्यक्ति उनसे कुछ लाभ नहीं उठा सकता, वास्तविक सेवा करना तो बहुत दूर है और न ही उससे परोक्ष सेवा हो सकती है। इसीलिए यहाँ सेवा के लिए प्रथम भूमिका प्राप्त करने का अर्थ होता है—सेव्यपुरुष के अनुरूप अपने उपादान की शुद्धि। 'देवो भूत्वा देव यजेत्' इस न्याय के अनुसार वीतराग परमात्मदेव की सेवा के लिए अपनी आत्मा (उपादान) के तदनुरूप होने का पुरुषार्थ करना आवश्यक है।

यहाँ 'सेवनकारण' शब्द है, उसका अर्थ 'सेवा के लिए' अधिक संगत प्रतीत होता है। यदि 'सेवनकारण' शब्द मे कारण शब्द को निमित्तकारण माना

जाय तो भूमिका का अर्थ करना होगा-'चितभूमिका' (अवस्था) अथवा 'चित्तभूमि' (मनोभूमि)। क्योकि परमात्मसेवा मे चित्त की अमुक भूमिका या अमुक प्रकार की चित्तभूमि ही निमित्त कारण बन सकती है।

परमात्मसेवा की प्रथम भूमिका के रूप में तीन बातें जरूरी

परमात्मसेवा की निष्ठा रखने वाले साधक के लिए प्राथमिक भूमिका के रूप में तीन बाते प्राप्त करनी जरूरी है–'अभय, अद्वेष, अखेद'। इन तीनो की पहली भूमिका मे अनिवार्यता इसलिए बताई कि साधारण व्यक्ति या राजा अथवा धनाढ्य की सेवा के लिए भी व्यवहार मे तदनुकूल योग्यता और भूमिका प्राप्त करनी पडती है, तब लोकोत्तर वीतराग परमात्मा की सेवा के लिए तो काफी ऊँची आत्मभूमिका अथवा चित्तभूमिका[1] का होना आवश्यक है। परमात्मा की सेवा को बहुत-से अज्ञलोग बहुत आसान समझते हैं अथवा बहुत से नशेबाज या धूर्त लोग साधु-सन्त के वेष मे कुछ भी त्याग करने की बात अथवा आत्मभावो मे रमण करने की बात को तिलाजलि दे कर सिर्फ नशा करके सूरत लगाने या परमात्मा के कोरे गुणगान, कीर्तन-भजन करने मात्र से उनकी सेवा होना मानते है। परन्तु यह इतना सस्ता सौदा नहीं है। इसीलिए श्रीआनन्दघनजी इसी स्तुति की अन्तिम गाथा मे कहते है–**'मुग्ध सुगमकरी सेवन आदरे रे, सेवन अगम अनूप'** इसी कारण परमात्मदेव की सेवा की पात्रता के लिए ये तीन बाते सर्वप्रथम आवश्यक बताई है। यदि साधक को परमात्मस्वरूप का सेवन (स्पर्श या मिलन) करना हो तो उसके लिए प्राथमिक योग्यता के रूप मे उसमें भयरहितता, द्वेषरहितता और खेदरहितता होनी आवश्यक है। इन तीनों के बिना आत्मा मे परमात्मदेव की सेवा की योग्यता नहीं आती।

किसान खेत मे बीज बोने से पहले भूमि को साफ व समतल करता है, उसमे काटे, ककड, झाडझंखाड आदि हो तो उन्हे उखाड फेकता है, जमीन ऊबडखाबड हो तो उसे फोड कर दताली से सम बनाता है। इसी प्रकार आत्मरूपी भूमि में सेवारूपी बीज बोने से पहले आत्मभूमि मे रहे हुए भय, द्वेष, खेद आदि कांटे-कंकडो को साफ करके आत्मभूमि को समताभाव से समतल बनाना आवश्यक है। तभी परमात्मसेवा का यथार्थ फल मिल सकता है। भय,

1 योगसाधना में चित्त की पॉच भूमिकाएँ बताई गई है–क्षिप्त, मूढ, विक्षिप्त, एकाग्र और निरुद्ध।

द्वेष, खेद से कंकरीली, कंटीली या पथरीली बनी हुई ऊबड-खाबड़ (विषम) मनोभूमि या आत्मभूमि में यदि परमात्मसेवारूपी बीज बो दिया जायगा तो बीज तो निष्फल होगा ही, परिश्रम भी व्यर्थ जाएगा। इसीलिए परमात्मसेवा के लिए तत्पर साधक को पहली भूमिका के रूप में ये तीन बातें अपनानी जरूरी है। आगे की भूमिका के लिए तो इससे भी बढकर उच्च योग्यता की अपेक्षा है; यह बात भी 'पहली' शब्द से ध्वनित होती है।

अब आगे की गाथा मे श्रीआनन्दघनजी स्वयं इन तीनों के अर्थ बताते हैं—

'भय' चंचलता (हो) जे परिणामनी रे, 'द्वेष' अरोचकभाव।
'खेद' प्रवृत्ति हो करतां थाकिए रे, दोष-अबोध-लखाव ॥
संभव. 2॥

***अर्थ*—परिणामों (मनोभावों) अथवा विचारों की चंचलता (अस्थिरता) ही भय है, परमात्मसेवा के प्रति अरुचि, अथवा मन के प्रतिकूल पदार्थ के प्रति या मुक्ति, मुक्तिमार्ग या मुक्तिमार्ग के आराधक के प्रति घृणा=अप्रीति द्वेष है, इसी प्रकार परमात्मसेवा की या संयमादि धर्म की प्रवृति=क्रिया करते हुए ऊब जाना, घबरा जाना, थक जाना, या रुक जाना खेद है। परमात्मसेवा में बाधक ये तीनों दोष अबोध (नासमझी, अज्ञान या मिथ्यात्व) की मिशानी हैं।**

***भाष्य*—परमात्मसेवा में प्रथम विघ्न : भय**

परमात्मसेवा अन्ततोगत्वा शुद्ध आत्मसेवा में फलित होती है। अत साधक के मन के किसी भी कोने मे यदि नरकादि का भय छाया रहता है, या नरकादिभय-निवारण की दृष्टि से ही वह परमात्मसेवा का पुरुषार्थ करता है, अथवा परमात्मसेवा का लक्ष्य नरकादि का भय या इहलोक के किसी भय के निवारण का है, अथवा किसी अपयश, अकस्मात् दुर्घटना, सुरक्षा या प्राण अथवा आजीविका चले जाने के डर से परमात्मसेवा की जाती है या अन्य किसी स्वार्थ मे भंग पड़ जाने के डर से की जाती है तो वह भय प्रेरित होने के कारण दोषयुक्त है। क्योंकि भय का अर्थ परिणामो में चंचलता आ जाना है। जब मनुष्य के मन मे भय की आग लगती है तो वह चंचलता की लपटें उछालता है और मन शुद्धात्मभावरमणतारूप परमात्मसेवा से हट कर अमुक भय के चिन्तन में चला जाता है, चित एकाग्र न रह कर व्यग्र हो जाता है। कई दफा मनुष्य परिवार, समाज, जाति, कौम, सम्प्रदाय, राष्ट्र या किसी तथाकथित महान् व्यक्ति के डर

से परमात्मसेवा मे लगता है अथवा इनके दबाव मे या निन्दा के डर से शुद्ध परमात्मसेवा के मार्ग को छोड बैठता है। वास्तव मे ये सब, परमात्सेवा से भ्रष्ट करने वाले तथा मनोयोग को चचल बनाने वाले होने से विघ्नकारक है। शास्त्रो में भय के मुख्यता 7 कारण बताये है—इहलोकभय, परलोकभय, आदान (छीन लेने का) अथवा अन्नाण (असुरक्षा का) भय, अकस्मात (दुर्घटना हो जाने का) भय, आजीविका का भय, अपयशभय और मरणभय। साधक मे इन 7 भयो में से कोई भी भय होगा तो वह रजोगुणी बन जाएगा, अस्थिर हो जाएगा, उसकी आत्मा शुद्धात्मभावरमणतारूपी परमात्मसेवा से विमुख हो जाएगी। भययुक्त प्राणी कोई भी सत्कार्य साहसपूर्वक नही कर सकता, वह सत्कार्य करने मे दूसरो से दबता है, सच्ची बात नही कह सकता। उसका जीवन सदा शकाग्रस्त बना रहता है, ऐसी स्थिति मे परमात्मसेवा के बारे मे भी उसकी समझ स्पष्ट नही होती, उसका ज्ञान-दर्शन सम्यक् नही होता।

परमात्मसेवा में द्वितीय विघ्न : द्वेष

परमात्मा की सेवा का तात्पर्य शुद्ध आत्मा की सेवा है। जब आत्मभाव से भिन्न भावो—शरीर और शरीर से सम्बन्धित वस्तुओ के प्रति रुचि, प्रीति और उसका उत्कटरूप मोह या लालसा होती है और जब अनात्मभावो के प्रति रुचि प्रबल होती है तो आत्मभावो की सेवा (परमात्मसेवा) के प्रति अरुचि या घृणा हो जाती है। मतलब यह है कि जब आत्मभाव-रमणता के प्रति अरुचि होती है तो साधक के जीवन में शरीर से सम्बन्धित पदार्थो—धन, मकान, जायदाद, सन्तान, जाति अथवा सम्प्रदाय आदि के प्रति आकर्षण, राग या मोह बढ जाता है। क्योकि यह स्वाभाविक है कि जब एक पदार्थ के प्रति राग या मोह होगा तो दूसरे पदार्थ के प्रति अरुचि या घृणा होगी। वही वास्तव मे द्वेष है। शुद्धात्मभाव के प्रति या आध्यात्मिक प्रगति के प्रति ऐसा अरोचकभाव परमात्मसेवा मे बाधक है।

दूसरी दृष्टि से सोचे तो शुद्धात्मभाव की दृष्टि से स्वरूप मे रमण करने वाला साधक जब किसी जाति, धर्मसम्प्रदाय, वेष, रग, वर्ण, प्रान्त या राष्ट्र के व्यक्ति या प्राणी के इन बाह्यरूपो—परभावो को देख कर अरुचि या घृणा प्रगट करता है, उसके प्रति अप्रीति पैदा होती है, तब वह उसके अन्दर विराजमान शुद्धात्मतत्त्व को नहीं देखता; किन्तु उसके बाह्य (शारीरिक) रूप, वेषभूषा व रहनसहन को ही देख कर उससे घृणा या अरुचि करने लगता है; यह भी

परमात्मसेवा मे विघ्न है।

अथवा दूसरी दृष्टि से कहे तो शुद्धात्मदशा मे रमणता यानी परमात्मसेवा करने वाले साधक को जीवन मे शरीर और मन के प्रतिकूल किसी भी परिस्थिति या प्रतिकूल (अनिष्ट) वस्तु या व्यक्ति के प्राप्त होने पर यानी निश्चयनय की भाषा मे कहे तो प्रतिकूल परभावो का संयोग उपस्थित होने पर अरुचि, अप्रीति या घृणा होना भी परमात्मसेवा मे बाधक है।

अथवा यो भी कहा जा सकता है कि जो व्यक्ति परमात्मसेवा (शुद्ध आत्मसेवा) के लिए तत्पर है, उसको अगर सर्वकर्मक्षयकारी मुक्ति के प्रति या मुक्तिमार्ग के प्रति अरुचि है; जो भवाभिनन्दी साधक इन्द्रियो के भोग-विलास, नाचगान, खानपान, आदि मे मस्त है, और यह सोचता है कि मुक्ति मे तो ये सब चीजे है नही, अतः उस रूखीसूखी मुक्ति से क्या लाभ? इस तरह जो व्यक्ति मुक्ति या मुक्तिपथ का नाम सुनते ही मुँह मचकोड कर उसके प्रति घृणा और अप्रीति प्रगट करता है, तो उसका यह अरोचकभाव भी द्वेष है जो परमात्मसेवा मे बाधक है।

परमात्सेवा में तीसरा विघ्न : खेद

आत्मा की शुद्धदशा मे रमण करने की या मोक्षमार्ग की प्रवृत्ति करते समय थक जाना, रूक जाना, ऊब जाना, झुझलाहट पैदा होना खेद है और यह भी परमात्मसेवा मे विघ्न है।

बहुत-सी बार हम देखते है कि साधक परमात्मसेवा की साधना करता-करता ऊब जाता है और कह उठता है—अब कहाँ तक इस प्रवृत्ति को करे ! इतने वर्ष तो करते-करते हो गये! तब या तो वह शुद्धात्मभावरमणता की या मोक्षमार्ग की प्रवृत्ति को बेगार समझ कर जैसे-तैसे बिना मन के करता है, अथवा झुँझला कर उसे बिलकुल छोड देता है। अथवा किसी आत्मसाधक को वर्षो तक परमात्मसेवा की साधना करते हो जाते है और उसे अपने अनुकूल अभीष्ट फल नही नजर आता अथवा प्रतिकूल फल नजर आता है, या उसकी उक्त साधना के साथ संजोयी हुई लौकिक फलाकांक्षा पूर्ण नहीं होती, तब या तो वह उस साधना के प्रति अश्रद्धा प्रगट करता है, या उसे कोस कर वहीं स्थगित कर देता है। अथवा आत्मसाधना या मोक्षसाधना की प्रवृत्ति करते-करते फल के लिए उतावला हो कर फल के शीघ्र दृष्टिगोचर न होने पर शकाशील हो कर बिना किसी प्रकार का समाधान अथवा आत्मनिरीक्षण-

अवलोकन या अपनी भूल का पर्यालोचन-परिमार्जन किये बिना सहसा उक्त प्रवृत्ति करने से रकक जाता है। ये सब खेद के ही प्रकार है, जो परमात्मसेवा के मार्ग मे बहुत बडे विघ्न है।

ये तीनों दोष अबोध के परिचायक हैं

परमात्मसेवा के मार्ग मे बाधक या विघ्नकारक भय, द्वेष और खेद नामक ये त्रिदोष वात-पित-कफ नामक त्रिदोष के समान साधक के अबोध के चिह्न हैं। ये तीनो दोष आत्मसाधक मे हो तो समझना चाहिए कि उसमे परमात्मसेवा के बारे में नासमझी है, अज्ञान है, अथवा अल्पज्ञान है। उसे पता ही नहीं कि ये तीनो दोष मिल कर उसकी परमात्मसेवा-साधना की जड कैसे काट रहे है ! परमात्मसेवा के साधक को अपनी साधना के दौरान जहाँ परिणामों में किसी भी प्रकार की चंचलता (अस्थिरता) दिखाई दे, अथवा स्वभावरमणरूप परमात्मसेवा या मुक्तिमार्ग की प्रवृत्ति करते समय किसी व्यक्ति, परिस्थिति शरीर या शरीर से सम्बद्ध वस्तु या प्राणी के प्रति अरुचि या घृणा पैदा होने लगे, अथवा आत्मसाधना-रूप परमात्मसेवा (मुक्तिमार्ग) की प्रवृत्ति करते समय थकान, अधीरता, या झुझलाहट होती प्रतीत हो तो समझ लेना चाहिए कि यह मेरी किसी नादानी का परिणाम है। मुझे इनसे बच कर तुरत किनाराकसी करनी चाहिए, अन्यथा मेरी परमात्मसेवा की प्राथमिक भूमिका परिपक्व नहीं होगी; कच्ची रह जाएगी।

इन तीनों दोषों से रहित हो कर परमात्मसेवा की भूमिका तैयार करें

निष्कर्ष यह निकला कि किसी के लिहाज, दबाव, या किसी प्रकार की भीति के शिकंजे में न आ कर निर्भयता से-अभय बन कर सेवासाधना करे, साथ ही सभी प्राणियों—खासकर मानवो मे निहित प्रतिकूल वेष, जाति, सम्प्रदाय, वर्ण, रंग, प्रान्त आदि के प्रति या प्रतिकूल परिस्थिति अथवा वस्तु के प्राप्त होने पर उनके प्रति घृणा, अरुचि या अप्रीति छोड कर प्राणियो में निहित शुद्ध आत्मतत्त्व के प्रति रुचि या प्रीति करे, अनिष्ट वस्तु या स्थिति के प्राप्त होने पर शुद्ध आत्मभाव की ओर अपनी लीनता-तन्मयता रखे। इसी प्रकार परमात्मसेवासाधना की किसी भी प्रवृत्ति को रुचिपूर्वक श्रद्धापूर्वक, धैर्य के साथ बिना थके, बिना ऊबे, फलाकांक्षा पूरी न होने पर भी उत्साहपूर्वक सतत् करता रहे।

परमात्मसेवा के लिए प्राथमिक भूमिका के रूप मे अभय, अद्वेष और

अखेद इन तीनो को साधक अपना ले, यही श्रीआनन्दघनजी का आशय है।

भूमिकापूर्वक परमात्मसेवा के वास्तविक अवान्तर फल

पूर्वगाथाद्वय मे परमात्मसेवा का स्वरूप, रहस्य और उसके लिए प्राथमिक भूमिका के रूप मे भय, द्वेष और खेद इन तीनो दोषों का त्याग बताया, परन्तु साधक के अन्तर मे सहज ही प्रश्न होता है कि आखिर परमात्मसेवा की पूर्वोक्त भूमिका और स्थिति कब और कैसे तैयार होती है? उसे उक्त साधना के दौरान क्या-क्या यथार्थ लाभ कर्मक्षय या क्षयोपशम की दृष्टि से मिलते है? इसी जिज्ञासा को शान्त करने हेतु श्रीआनन्दघनजी अगली गाथा मे कहते है–

चरमावर्त हो चरमकरण तथा रे, भवपरिणति-परिपाक।
दोष टले वली दृष्टि खुले भली रे, प्राप्ति प्रवचन-वाक।।
सम्भव.3।।

अर्थ–जब चरम (अन्तिम) पुद्गलपरावर्त चल रहा हो, यानी भवभ्रमण का अन्तिम चक्र हो; तथा उसमें भी चरमकरण (तीनों करणों में से अन्तिम करण) हो और जब भवपरिणति (जन्ममरण की स्थिति=परम्परा) का परिपाक=अन्तिम सिरा आ पहुंचा हो, तब कर्ममलरूप दोषों का निवारण हो जाता है, तथा उसकी दृष्टि सम्यक् होकर खुल जाती है, आत्मसम्मुख होती जाती है और उसे वीतराग-प्रवचन की वाणी का लाभ प्राप्त होता है।

भाष्य–पूर्वोक्त गाथाद्वय मे बताये हुए भय, द्वेष और खेद इन तीनों दोषो के चले जाने पर परमात्मसेवा की प्रथम भूमिका प्राप्त होती है; और तब साधक की दृष्टि मे से भवाभिनन्दिता (ससार मे जन्म-मरण के चक्र मे डालने वाली बातो में रुचि=प्रसन्नता) मिट जाती है और उसमे मोक्षाभिनन्दिता उत्पन्न हो जाती है। यानी साधक का मुख ससार की ओर से हट कर मोक्ष की ओर हो जाता है।

पहली उपलब्धि : चरमपुद्गलपरावर्त

कर्मक्षयरूप मुक्ति की दशा में साधक अपारजन्ममरणरूप संसारसागर में मिथ्यात्वाश्रित अनन्तदुःखरूप अनन्त पुद्गलपरावर्तो का अनुभव करता हुआ सागर के किनारे लगने की तरह पुद्गलपरावर्त के किनारे लग जाता है। अर्थात् उसका पुदगलपरावर्त-जन्ममरण का चक्र अन्तिम रह जाता है। परमात्मसेवा के लाभ के रूप में साधक की संसारयात्रा कितनी कम हो जाती है! मोक्ष की दौड मे वह कितना सफल हो जाता है! चरमपुद्गलपरावर्त कोई

कम उपलब्धि नही है। पुद्गलपरावर्त जैन पारिभाषिक शब्द है। द्रव्य से सामान्यतया सर्वपुद्गलो का जिसमे ग्रहण और त्याग हो, वह पुद्गलपरावर्त कहलाता है। चरम (अन्तिम) पुद्गलपरावर्त यानी पर्यन्तवर्ती पुद्गलावर्त–द्रव्यतः सामान्यतया सभी पुद्गलों के ग्रहण और त्यागरूप मे प्रवृत्त होने पर होता है। इसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है–चौदह रज्जूप्रमाण लोक में औदारिक, वैक्रिय, तेजस, कार्मण, भाषा, श्वासोच्छ्वास और मन इन सातो की वर्गणाओ के रूप में सभी पुद्गल भरे हुए है। उनका परिणमन करना अर्थात् उक्त प्रत्येक वर्गणा के रूप मे प्रत्येक पुद्गल का परिणमन किया जाय, तब द्रव्य से बादर पुद्गलपरावर्त होता है। इसी तरह एक-एक पुद्गलपरमाणु को पहले औदारिक वर्गणा के रूप मे भोगे, तत्पश्चात् क्रमशः वैक्रियादि छहो वर्गणाओ के रूप मे दूसरी वर्गणा के व्यवधानरहित भोगे, इस प्रकार क्रमश· सातो वर्गणाओ के रूप मे सर्वपुद्गल भोगे जाय, तब द्रव्य से सूक्ष्म पुद्गल परावर्त होता है। इसमे एक परमाणु औदारिकवर्गणा के रूप मे भोगने पर यदि बीच में वैक्रियादिवर्गणा के रूप मे उसे चाहे जितनी बार भोगा जाय, वह सूक्ष्म पुद्गल परावर्त मे नही माना जाता। लोकाकाश के असख्य प्रदेश है। प्रत्येक प्रदेश का मरण से स्पर्शन किया जाय, तब क्षेत्र से बादर पुद्गलपरावर्त होता है। इसी तरह लोकाकाश के प्रत्येक प्रदेश का क्रमश एक के बाद एक मरण से स्पर्शन किया जाय, तब क्षेत्र से सूक्ष्म पुद्गलपरावर्त होता है। क्षेत्र से सूक्ष्म पुद्गलपरावर्त मे एक प्रदेश मे मरण होने के बाद उसके अनन्तर (उससे बिलकुल सग्लन) प्रदेश में मरण हो, वही माना जाता है, बीच के काल मे अन्य प्रदेशो मे चाहे जितने मरण हो, वे नहीं गिने जाते है। कालचक्र के उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी दोनो के सभी समयो का व्युत्क्रम से (आगे-पीछे) मरण से स्पर्शन करे, तब काल से बादर पुद्गलपरावर्त होता है, तथा इसी प्रकार कालचक्र के उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी आरो के समय का मरण से क्रमशः स्पर्शन हो, तब काल से सूक्ष्म पुद्गलपरावर्त होता है। उदाहरणार्थ–इससे पीछे की उत्सर्पिणी के प्रथम समय मे मृत्यु होने पर उसके बाद की दूसरी किसी भी उत्सर्पिणी मे दूसरे समय मे मृत्यु हो, वही काल से सूक्ष्म पुद्गलपरावर्त माना जाता है। बाकी के बीच मे मरणसमय की गणना इसमे नहीं की जाती। कषाय से अध्यवसाय पैदा होते है और उनसे कर्मबन्ध होते है। चूंकि कषायजनित अध्यवसाय तीव्र, तीव्रतर, तीव्रतम, मन्द, मन्दतर, मन्दतम आदि होने से कर्मबन्ध में बहुत तारतम्य (न्यूनाधिक्य) होता है। कषायजनित

अध्यवसायों की तीव्रतामन्दता के असंख्य स्थान (डिग्रियॉ) होते है, इसीलिए अनुबन्ध-स्थान भी असख्य है। चूँकि वासना अनेक प्रकार की होती है, अतः अनुबंधस्थान भी असंख्य (उतने ही) प्रकार के होते है। इन सभी अनुबध-स्थान को पहले-पीछे मृत्यु द्वारा स्पर्श करके पूर्ण करे, तब भाव से बादर पुद्गलपरावर्त होता है। इसी प्रकार पहले अल्पकषायोदय के अध्यवसाय से मृत्यु पा कर तत्पश्चात् उसके अनन्तर रहे हुए (लगते) अध्यवसाय-स्थान मे मरण प्राप्त करके क्रमशः सर्व अध्यवसायस्थानो का उक्त मरण से स्पर्श करे, तब भाव से सूक्ष्मपुद्गलपरावर्त होता है। यदि बीच मे दूसरे अध्यवसाय स्थानो का मरण से स्पर्श करे तो उसे सूक्ष्म पुद्गलपरावर्त नही माना जाता।

प्राणी ने ऐसे अनन्त पुद्गलपरावर्तन किये हैं। इस प्रकार के अनन्त अगणित पुद्गलपरावर्तनो के प्रवाह मे यह अब तक थपेडे खाता आया है। द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव से जो पुद्गलपरावर्तन ऊपर बताए है, वे तो बादर (स्थूल) परावर्तन बताए है, सूक्ष्म पुद्गलापरावर्तन तो अनन्त बार किये होंगे। तात्पर्य यह है सूक्ष्म पुद्गलपरावर्तन का विचार करे तो दस कोटाकोटी सागरोपमकाल की एक उत्सर्पिणी होती है, उसके प्रथम समय मे मरण हो, उसके बाद दूसरी उत्सर्पिणी के ठीक दूसरे समय मे मरण हो, वही गिना जाता है। बीच में व्युत्क्रम से जितनी बार मरण हुए वे व्यर्थ गए। वे सूक्ष्म पुद्गलपरावर्त की गणना मे नहीं आते। इस प्रकार के अनन्त पुद्गलपरावर्त हो चुकने के बाद जब ससार में भटकते-भटकते प्राणी का अन्तिम पुद्गलपरावर्त आए, तब उसके ओघदृष्टि हट कर योगदृष्टि प्राप्त होने लगती है। परमात्मसेवा की प्राथमिक भूमिका (योग्यता) हो जाने पर साधक को इस 'चरमपुद्गलावर्त' का लाभ मिलता है। यह भी एक प्रकार की 'काललब्धि' है।

दूसरी उपलब्धि : चरमकरण

इस ससार में उपर्युक्त कथानानुसार अनन्त पुद्गलपरावर्तनकाल तक प्राणी अबोधदशा मे भटकता रहता है। यह रागद्वेष मे गाढ ग्रस्त, संसाररसिक हो कर अनेक प्रकार की स्थूल और सूक्ष्म यातनाएँ सहता है। एक गड्ढे में से निकल कर दूसरे मे गिरता है। कई दफा देवगति मे जन्म लेकर स्थूल सुखो का अनुभव करता है तथा अनेक बार नरकगति मे पैदा हो कर महायातनाएँ सहता है। कई बार तो एक बार ऑख मूंद कर खोलें, उतने समय में 16-16 बार जन्ममरण होता है। परन्तु जहाँ तक सम्यग्दृष्टि प्राप्त नही होती, वहाँ तक

पौद्‌गलिक पदार्थो-परभावों मे ही वह आनन्द मानता है, परभावो मे रमण का वह आदी हो जाता है। परन्तु जब किसी जिज्ञासु को यथार्थ मार्ग पर आना होता है तो उसकी ओघदृष्टि नष्ट हो कर योगदृष्टि खुल जाती है। वह चरम पुद्‌गलपरावर्त तक आ पहुँचता है।

और सम्यग्दर्शन प्राप्त होने से पहले वह धर्ममार्गानुसारी सुनीति, उचित नियत्रण और उचित व्यवहारमार्ग पर चल कर गुणप्राप्ति मे धीरे-धीरे प्रगति करता है और व्यवहारकुशल बनता है। जैनदर्शन मे सम्यक्त्व प्राप्त होने से पहले उक्त मार्गानुसारी व्यक्ति को तीन करण प्राप्त होने का विधान है। करण का अर्थ यहॉ एक विशेष परिणाम या अध्यवसाय है। वे तीन करण ये है- यथाप्रवृत्तिकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण । ये तीनो करण सम्यक्त्वप्राप्ति मे कारणभूत है।

यथाप्रवृत्तिकरण में प्राणी की पूर्वकाल में जैसी प्रवृत्ति थी, वैसी ही बनी रहती है, उसमे जरा भी परिवर्तन नही होता। कई लोग इसे अध प्रवृत्तिकरण भी कहते है। जिस प्रकार पहाडी नदी का पत्थर नदी मे बारबार इधर-उधर लुढकते-टकराते गोल, चमकदार व चिकना बन जाता है, इसी प्रकार जीव भी संसारसागर मे अनेक दु ख सहते-सहते कोमल और शुद्ध परिणामी बन जाता है। उसका परिणाम इतना शुद्ध हो जाता है कि उसके बल पर उसके आयुष्यकर्म के सिवाय बाकी के ज्ञानावरणीय आदि सात कर्मो की (मिलाकर) उत्कृष्ट स्थिति[1] घटते-घटते पल्योपम के असख्यातवे भाग न्यून (जरा-सी कम) एक कोटाकोटी सागरोपमकाल की रह जाती है। इसी परिणाम को शास्त्र मे यथाप्रवृत्तिकरण कहा है। यथाप्रवृत्तिकरण से जीव रागद्वेष की एक मजबूत, कर्कश, गूढ बॉस के समान दुर्भेद्य दृढ ग्रन्थी (गाठ) तक आता है, इसी को ग्रन्थीदेश की प्राप्ति कहते है । यो तो यथाप्रवृत्तिकरण से अभव्यजीव भी इस ग्रन्थीदेश की प्राप्ति अनन्तवार कर सकते है, यानी कर्मो की बहुत बडी स्थिति घटा कर अन्त कोटाकोटी सागरोपमप्रमाण कर सकते है, परन्तु वे रागद्वेष की

---

1 कर्मो की उत्कृष्ट स्थिति इस प्रकार है—ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय और अन्तराय की उत्कृष्ट स्थिति 60 कोटाकोटी सागरोपम की है, मोहनीय की उत्कृष्ट स्थिति 70 कोटाकोटी सागरोपम की है, नाम–गोत्र कर्मो की उत्कृष्ट स्थिति 20 कोटाकोटी सागरोपम की है, आयुकर्म की उत्कृष्ट स्थिति 22 सागरोपम की है।

इस दुर्भेद्य निविड ग्रन्थी को तोड नही सकते। अतः इस ग्रन्थी का भेदन किये बिना ही प्राणी वापस पूर्वप्रवृत्ति में लौट जाय तो यथाप्रवृत्तिकरण का कोई अर्थ नही रहता। ऐसा निष्फल यथाप्रवृत्तिकरण तो प्राणी ने अनेक बार किया है। किन्तु ऐसे अनन्त यथाप्रवृत्तिकरण किया हुआ भव्यजीव अन्तिम यथाप्रवृत्तिकरण के बाद वापस नहीं लौटता; ज्यो-ज्यो वह आगे बढता जाता है त्यो-त्यो उसे परिणामों मे यथाप्रवृत्तिकरण से भी अधिकाधिक निर्मलता (शुद्धता) होती जाती है और एक दिन वह उस विशुद्धत्तर परिणाम के द्वारा रागद्वेष की दृढतम और कठोर ग्रन्थी को अर्थात् रागद्वेष के अतिदूढसंस्कारो को छिन्न-भिन्न कर सकता है।

अपूर्वकरण- भव्यजीव पूर्वोक्त जिस परिणाम से रागद्वेष की दुर्भेद्य ग्रन्थी को लाघ जाता है, उस परिणाम को शास्त्र मे **अपूर्वकरण** कहा है। अपूर्वकरण नाम रखने का मतलब यह है कि इस प्रकार का परिणाम कदाचित् ही होता है, बारबार नही होता। इस कारण से तथा प्राणी ने अपनी संसारयात्रा मे इससे पहले कभी इस प्रकार का ग्रन्थीभेद नही किया होने से तथा रागद्वेष की पक्की गांठ को तोड डालने का यह पहला ही अवसर होने के कारण आत्मशक्ति के इस अभूतपूर्व उज्वल और साहसिक कार्य को 'अपूर्वकरण' कहा जाता है। इस प्रखर वक्रग्रन्थी के टूटने से चेतन रागद्वेष पर कुठार की तरह तीक्ष्णपरिणामरूपी धारा से प्रहार करके उक्त ग्रन्थी को शिथिल कर देता है और अपनी अपूर्व आत्मशक्ति के चमत्कार को आगे बढाता है, अपनी प्रगति के नये आयाम और नूतन द्वार खोलता है। परन्तु अपूर्वकरण वही कर सकता है, जिसने यथाप्रवृत्तिकरण किया हो। मगर यथाप्रवृत्तिकरण वाला अपूर्वकरण करे ही, ऐसा एकान्त नियम नही है। पर अपूर्वकरण करने के लिए पहले यथाप्रवृत्तिकरण करना अनिवार्य है। इस दृष्टि से यथाप्रवृत्तिकरण की अपूर्वकरण के प्रर्वूकरण के रूप मे बहुत ही उपयोगिता है। किन्तु यह ध्यान रहे कि अपूर्वकरण मे निविड रागद्वेष की गाठ टूटने से रागद्वेष का सर्वथा नाश नहीं हो जाता, रागद्वेष की जो पक्की गांठ थी, वह खुल जाती है, उसकी पकड ढीली हो जाती है और उसका सर्वथा नाश करने का मार्ग खुल जाता है।

अनिवृत्तिकरण=चरमकरण=अन्तरकरण– अपूर्व (करण) वीर्योल्लास के परिणाम से प्राणी ग्रन्थिभेद करने के बाद अन्तर्मुहूर्तकाल में अनिवृत्तिकरण मे आ जाता है। अपूर्वकरण करते समय प्राणी के परिणामो मे जो निर्मलता

(कर्मक्षय के कारण) हुई थी, उसकी अपेक्षा अनिवृत्तिकरण मे और भी अधिक निर्मलता होती है। इसे अनिवृत्तिकरण या चरमकरण इसलिए कहा जाता है कि इस परिणाम के बल से जीव सम्यक्त्व को अवश्य प्राप्त कर लेता है। सम्यक्त्व प्राप्त किये बिना वह निवृत्त नही होता, वापिस नही लौटता। इन तीनों कारणों का क्रम इस प्रकार है। जब तक पूर्वोक्त ग्रन्थी देश है, तब तक प्रथमकरण है, ग्रन्थीभेद हो जाने पर द्वितीय करण हो जाता है और जब जीव सम्यक्त्व को आसन्न (निकट) कर लेता है, या पुरस्कृत (सामने) कर लेता है, तब अनिवृत्तिकरण होता है। अनिवृत्तिकरण की स्थिति अन्तर्मुहूर्तप्रमाण है, उस स्थिति मे से जब कई एक भाग व्यतीत हो जाते है और सिर्फ एक भाग शेष रह जाता है, तब अन्तकरण की क्रिया शुरू होती है। वह भी अन्तर्मुहूर्तप्रमाण ही होती है चूकि अन्तर्मुहूर्त के असख्यात भेद हैं। अन्तरकरण करने पर उस मिथ्यात्वकर्म के एकत्रित कर्मदलो की दो स्थितियॉ हो जाती है। अन्तरकरण से अधस्तनी प्रथम स्थिति अन्तर्मुहूर्तपर्यन्त रहती है, उतने काल मे जितने भोगे जा सके, उतने उसके कर्मदल होते हैं और दूसरी स्थिति इसी अन्तरकरण से शेष उपरितनी होती है। प्रथम स्थिति मे जीव अन्तिम अन्तर्मुहूर्तकाल मे मिथ्यात्व-कर्मदलिको को भोग लेता है, तब तक वह इसलिए मिथ्यादृष्टि ही रहता है। परन्तु अन्तर्मुहूर्त के बाद प्रथम स्थिति, के हटते ही अन्तरकरण की द्वितीय स्थिति के प्रथम समय मे ही औपशमिक सम्यक्त्व को प्राप्त कर लेता है। क्योंकि उस समय मे मिथ्यात्वमोहनीय कर्मदलिको का विपाक और (प्रदेशोदय=वेदन) नही रहता। परन्तु यह औपशमिक सम्यक्त्व उतने काल (अन्तर्मुहूर्त) तक ही रहता है, जितने काल तक के उदययोग्य दलिक आगे पीछे कर लिये जाते है। इसके प्राप्त होते ही जीव को पदार्थो की स्पष्ट या असदिग्ध प्रतीति होती है। जैसे वन मे लगी हुई दावाग्नि पहले जले हुए इन्धन या ऊषरप्रदेश को पा कर दब जाती है, वैसे ही मिथ्यात्ववेदनरूप दावानल भी अन्तरकरण को पा कर दब जाता है। ऐसी स्थिति मे व्यक्ति को औपशमिक सम्यक्त्व का लाभ होता है। तात्पर्य यह है कि अनिवृत्तिकरण मे प्राणी दो कार्य करता है—मिथ्यात्वस्थिति के दो विभाग करके अन्तरकरण करता है। [1] अन्तर्मुहूर्तकाल तक का मिथ्यात्वकर्मदलिक वाला छोटा पुज जो उदय मे

1 अन्तमुहूर्त्त काल का मतलब है—48 मिनिट से जरा–सा कम काल।

आता है, उसका क्षय कर देता है और इसके अनन्तर क्षण मे ही बाकी के जो कर्मदलिक उदयाभिमुख न हुए हो उस पुज को उपशान्त कर देता है, जिससे उसे[1] उपशमसम्यक्त्व प्राप्त होता है। इस प्रकार के अनिवृत्तिकरण को ही चरमकरण समझना चाहिए।

मिथ्यात्वकर्मदलिको का इस प्रकार अन्तर करना (भेद डालना) ही अन्तरकरण कहलाता है। मिथ्यात्वमोहनीय के कर्मदलिको मे जिस समय इस प्रकार का अन्तर (भेद) किया जाता है, उस समय प्राणी को जो आनन्द आता है, उसकी तुलना ग्रीष्मऋतु मे रेगिस्तान मे दोपहर को चलती हुई लू और कडी धूप से व्याकुल प्राणी के शरीर पर बावना चन्दन छिडकाने अथवा रेगिस्तान मे किसी हरे-भरे जमीन के टुकडे को पा कर जो आनन्द और सुखशान्ति प्राप्त होती है या जो अपूर्व आनन्दमयी परिस्थिति बन जाती है, उससे की गई है। ठीक इसी प्रकार का आनन्द अनिवृत्तिकरण के अन्त मे और अन्तरकरण में प्रथम समय मे प्राणी को होता है। उस समय उसके गाढ मिथ्यात्वतिमिर की तीव्रता कम हो जाती है, कठोर अनन्तानुबन्धी कषाय हट जाता है, मिथ्यात्व ने उस व्यक्ति को जो परिताप दिया था, वह भी मिट जाता है। जिस मिथ्यात्व के जोर से प्राणी ससार मे भटकता था, अनादिकाल से उसके जाल मे फसा हुआ था, उसकी समाप्ति होती देख कर उसे बहुत आनन्द का अनुभव होता है, फिर उसे सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होने से उसकी उत्तरोत्तर प्रगति होती जाती है। सचमुच अनिवृत्तिकरण मुमुक्षु के लिए वरदानरूप है, सम्यग्दर्शन का द्वार खोलने वाला है।

परन्तु यह आनन्दानुभूति, यह अद्‌भुत उपलब्धि उसी को होती है, जो रागद्वेष की पक्की वज्रमयी गांठ को तोड कर आगे बढ जाता है। जो रागद्वेष की गाठ या चट्टान को देख कर घबरा कर वापिस लौट जाता है या वही ठिठक जाता है, वह इस आनन्दानुभूति या उपलब्धि को प्राप्त नहीं कर सकता।

इस सम्बन्ध मे तीनो चीटियो का उदाहरण दिया जाता है—कुछ चीटियॉ ऐसी होती हैं, जो चलते-चलते कील, चट्टान या दीवार जैसी कोई रुकावट आ जाय तो घबरा कर वही से वापस लौट जाती हैं। कुछ ऐसी होती है,

1 जिसका तत्काल उदय न हो तथा सर्वथा नाश भी न हो, जो अन्दर दबा हुआ पड़ा रहे, उसे उपशमन या उपशम कहते हैं।

जो साहस करके रुकावट डालने वाली कील, चट्टान या दीवार पर चढ तो जाती है, किन्तु वहीं ठिठक जाती है, आगे नहीं बढ पाती। किन्तु तीसरे प्रकार की कुछ चीटियॉ ऐसी भी होती है, जो कील आदि को छोड कर आगे बढ जाती है। इसी प्रकार जो व्यक्ति दर्शनमोहनीयकर्म के भारी-भरकम पुॅज को देखते ही घबरा कर वापस लौट जाते है, वे यथाप्रवृत्तिकरणी की कोटि मे आते है। जो उस दर्शनमोहनीयकर्मपुज से साहस करके भिड जाते है, उसमे निहित रागद्वेष की ठोस और कठोर गाठ को तोड डालते है, वे अपूर्वकरणी की कोटि मे आते हैं, परन्तु रागद्वेष की निविडग्रन्थी का भेदन करके वहॉ से जो आगे बढते है, वे अनिवृत्तिकरण के अधिकारी बनते है। अर्धपुद्गलपरावर्तकाल तक ससार मे स्थिति बाकी रहती है, तब जीव अपूर्वकरण करता है। जबकि चरमकरण मे चरमपुद्गलपरावर्त काल तक का ससार-भ्रमण रहता है । इसमे मोक्षयात्रा की ओर जीव की दौड शुरू हो जाती है।

तीसरी उपलब्धि : भवपरिणतिपरिपाक

साधक को परमात्मसेवा की प्रथमभूमिका प्राप्त होने के बाद जब चरमपुद्गलपरावर्त और चरमकरण की उपलब्धि हो जाती है तो यह स्वाभाविक है कि उसकी परिणति यानी रुचि या आदत परभावो मे रमण के कारण ससार मे-जन्ममरणरूप परिभ्रमण मे, या परभावो-पौद्गलिक पदार्थो को अपने मान कर उनमे आसक्त होने, व आनन्द मानने आदि भव यानी सांसारिक बातो की ओर से हट कर मोक्ष की ओर हो जाय। क्योकि आत्मा का मूल स्वभाव तो अनन्तज्ञान-दर्शन-चारित्रमय है। रागद्वेष की परिणति (भवपरिणति) के कारण उसका मूल स्वभाव, दब गया है या वह अपने असली स्वभाव से भटक गया है। परभावरमणता या परपरिणति मे दिलचस्पी जीव की ससार-यात्रा का दिग्दर्शन है, मगर जब उसे परमात्मसेवा की प्रथम भूमिका प्राप्त हो जाती है तो वह अपने स्व-स्वभाव मे रमणता की ओर सम्मुख हो जाता है, उस समय उसकी ससारपरिणति (रुचि, स्वभाव या आदत) का अन्त आ जाता है, उसका किनारा आ जाता है। सासारिक वस्तुओ मे दिलचस्पी लेने की उसकी सीमा आ जाती है। क्योकि अब उसकी मुक्तियात्रा शुरू हो चुकी है, इसलिए उसकी ससारयात्रा (भवस्थिति) की परिणति पक कर जीर्ण-शीर्ण हो चुकती है। मतलब यह है कि ऐसे साधक को इस प्रकार की भवपरिणति का किनारा दिखाई देने लगता है, तब ससार के प्रति परिणति का अन्त तो आ जाता है,

मगर अभी तक संसार का सर्वथा अन्त नही आया, उसके अन्त के लिए तो जब वह सम्यग्दर्शन पाने के बाद 'स्वभावरमण' मे सतत् पुरुषार्थ करता है, तभी आता है।

चौथी उपलब्धि : दोष-निवारण

यहाँ पंच-कारणसमवायो का योग किस प्रकार होता है, यह भी विचारणीय है। पहला चरमावर्त (अन्तिम पुद्गलपरावर्त) काल नामक कारण का द्योतक है, दूसरा अनवृत्तिकरण पुरुषार्थ नामक कारण का सूचक है और तीसरा भवपरिणतिपरिपाक स्वभाव, भवितव्यता और कर्म नामक कारणो का द्योतक है। अतः पाँचो कारणो के समवाय के होने पर उक्त तीनों उपलब्धियो के माध्यम से उपशमसम्यक्त्व तक साधक पहुँच जाता है। यहाँ तक जब साधक पहुँच जाता है तो संसार-सम्मुखता का दोष या मिथ्यात्वदोष हट जाता है; अथवा प्रकारान्तर से कहे तो अनन्तानुबन्धी क्रोध मान, माया और लोभरूप तीव्रतम व कठोरतम कषायदोष मिट जाता है। यह ध्यान रहे कि इस भूमिका मे स्थित साधक मे अन्य प्रकार के दोषो का सर्वथा नाश नहीं होता, मगर वे दोष दूर हट जाते हैं।

पंचम उपलब्धि : सम्यग्दृष्टि का खुलना

जब उक्त साधक मे मिथ्यात्व का दोष दूर हट जाता है, हालांकि उसमे अभी सम्यग्दर्शन (क्षयोपशम) के साथ चल, मल और अगाढ दोष रहते हैं, तथापि अनिवृत्तिकरण के अन्तर्गत अन्तरकरण करने से उसकी दृष्टि सम्यक् रूप में खुल जाती है, उसे वस्तुतत्त्व का भलीभांति यथातथ्यरूप से बोध हो जाता है, वह हेय, ज्ञेय उपादेय तत्त्वो को अच्छी तरह जान जाता है, परभाव और स्वभाव का भेदविज्ञान उसके हृदय में भलीभांति जग जाता है। ओघदृष्टि खत्म हो कर उसे योगदृष्टि प्राप्त हो जाती है, अपने स्वरूप का उसे ज्ञान हो जाता है। अब तक उसका दृष्टिबिन्दु संसारसम्मुख था, अब वह दिशा बदल कर मोक्षसम्मुख होता जाता है।

जब इस प्रकार साधक की दृष्टि सम्यक् हो जाती है; तब अभी तक उसमे रहे हुए दुराग्रह, एकान्त अभिनिवेश आदि दूर होते जाते हैं, संसार के प्रति उसका राग (मोह या आसक्ति) कम होता जाता है, उसके चित्त में स्थिरता, शान्ति और नम्रता आती जाती है; उसमे स्वकीय-परकीय भावों का विवेक आ जाता है, उसे अपने हिताहित का बोध हो जाता है, संसार से

उसमे भटकाने वाला कौन-कौन है? इसका पृथक्करण करने की उसमे शक्ति आ जाती है। इसी का नाम भली दृष्टि का खुलना है। 'योगदृष्टिसमुच्चय' मे मित्रा, तारा, बला, दीप्ता, स्थिरा, कान्ता, प्रभा और परा नामक जिन 8 दृष्टियों का उल्लेख है, यद्यपि उनमे से पूर्व-पूर्व की 4 दृष्टियाँ आत्मा के सम्मुख क्रमशः खुलती हुई दृष्टियाँ है, मगर वे चार दृष्टियाँ तो मिथ्यात्वगुणस्थान की भूमिका में रहती है; जबकि यहाँ मिथ्यात्व की भूमिका पार करके साधक चरमकरण की भूमिका पर आ कर सम्यग्दृष्टि का द्वार खोल देता है। इसलिए 'भली दृष्टि' से यहाँ प्रसंगानुसार सम्यग्दृष्टि अर्थ ही सगत लगता है।

कही-कही 'दृष्टि खुले' का अर्थ मार्गानुसारी की दृष्टि खुल जाती है, किया गया है। परन्तु यह अर्थ भी यहाँ सगत नही जॅचता। क्योकि मार्गानुसारी की भूमिका सम्यक्त्वप्राप्ति से पहले की भूमिका है, मार्गानुसारी की भूमिका के लिए जो 35 गुण बताए है, वे नैतिक जीवन के है। आध्यात्मिक जीवन की भूमिका सम्यग्दर्शन-प्राप्ति के बाद शुरू होती है। यहाँ सम्यक्त्वप्राप्ति के प्रारम्भ की भूमिका मे तो सम्यक्दृष्टि खुलती ही नही है। मार्गानुसारी की दृष्टि तो उक्त साधक की बहुत पहले ही खुल चुकी होती है। अतः 'दृष्टि खुले भली' से सम्यग्दृष्टि का खुलना ही सिद्धान्त-सम्मत अर्थ है।

छठी उपलब्धि : प्रवचनवाणी की प्राप्ति

ऐसे सम्यग्दृष्टिसम्पन्न साधक को अनायास ही प्रवचनवाणी की प्राप्ति हो जाती है। यह बात स्पष्ट है कि प्रवचनवाणी की प्राप्ति सम्यग्दृष्टि को ही हो सकती है, मिथ्यादृष्टि को नही। मिथ्यात्वग्रस्त व्यक्ति के हृदय मे प्रवचन सम्यक्रूप मे परिणत न हो कर मिथ्यारूप मे ही प्रायः परिणत होते है। मिथ्यादृष्टि प्रवचनवाणी का श्रवण कर सकता है, कर्णकुहरो मे प्रवचनवाणी के शब्द डाल सकता है, किन्तु प्रवचनवाणी की प्राप्ति वह नही कर पाता, क्योकि उसे प्रवचनवाणी हृदयगम नही होती, उसकी दृष्टि सम्यक् खुली न होने से वह दिमाग मे जंचती नही, गले उतरती नही । इसलिए जो बात गले न उतरे, अनेकान्त के आइने मे भिन्न-भिन्न दृष्टि बिन्दुओ से समझ मे न आए, हृदय और बुद्धि को जचे नही, उसे उसकी प्राप्ति नही कहा जा सकता। यही कारण है कि अनिवृत्तिकरण की सम्प्राप्ति से पहले मिथ्यादृष्टि की भूमिका मे व्यक्ति को प्रवचनवाणी की प्राप्ति नही होती, जबकि उक्त-चरमकरण की प्राप्ति के साथ ही सम्यग्दृष्टि खुल जाने से व्यक्ति प्रवचनवाणी की प्राप्ति भलीभाँति कर लेता है।

प्रवचनवाणी की प्राप्ति का अर्थ है—वीतराग-प्ररूपित सिद्धान्त की वाणी की प्राप्ति अथवा सुविहित जिनागमो की वाणी की उपलब्धि। वास्तव मे महामूल्य सिद्धान्तो के महान् सत्यों को जान लेना, उन्हे व्यवस्थित रूप से यथायोग्य स्थान पर संयोजन करना प्रवचनवाणी की प्राप्ति है।

प्रवचन का अर्थ-जिनदेवप्रणीत सिद्धान्त या वीतराग आप्तपुरुषो द्वारा प्ररूपित प्रवचनरूप द्वादशागी (बारह अगो) होता है। प्रवचन का अर्थ सघ या चतुर्विध तीर्थ—यहाँ संगत नही है।

ऐसे उत्तम और वीतराग-विज्ञानपारगत आप्त-प्रवचनो की प्राप्ति बहुत बडी उपलब्धि है, साधक के जीवन मे। ऐसे प्रवचनलाभ से साधक ससार और मोक्ष का स्वरूप, हेय-ज्ञेय-उपादेय का तत्त्व, स्वपरविवेक आदि भलीभाँति जान जाता है। शुद्धात्मभाव मे रमण या सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप मोक्षमार्ग मे प्रयाण को अधिक स्थिर, परिपक्व और निश्चित कर लेता है। उसके हृदय मे ऐसे प्रवचनोक्त वचनो के प्रति श्रद्धा, प्रतीत और रुचि अधिकाधिक बढती जाती है। प्रवचनप्राप्ति से वह शान्त, धीर, निष्पक्ष और समतावान् हो जाता है, साथ ही इससे उसमे सहिष्णुता, रहस्यज्ञता, समझाने की चातुरी, प्रत्येक समस्या को आत्मबुद्धि से सुलझाने की शक्ति, उपकारबुद्धि जिज्ञासा और समता बढती जाती है और आक्षेपबुद्धि, कदाग्रही वृत्ति, ईर्ष्या प्रत्येक बात को देहबुद्धि से सोचने की स्वार्थवृत्ति घट जाती है।

इस प्रकार पूर्वोक्त छहो उपलब्धियाँ परमात्मसेवा की प्रथम भूमिका प्राप्त होने पर साधक को हस्तगत हो जाती है।

प्रथम-भूमिकापूर्वक परमात्मसेवा में प्रेरकनिमित्त

पूर्वोक्त गाथा मे कर्मक्षय एव मोक्षप्राप्ति अथवा स्वभावरमणता से क्रमशः मुक्ति की दिशा मे प्रस्थान से सम्बन्धित 6 फलो का उल्लेख श्रीआनन्दघजी ने किया। अब उन फलो की प्राप्ति मे प्रेरक निमित्तकारण के सम्बन्ध मे वे अगली गाथा मे कहते हैं—

परिचय पातक-घातक साधुशुरे, अकुशल-अपचय चेत।
ग्रन्थ अध्यातम श्रवण-मनन करी रे, परिशीलन नय हेत।।

।।संभव. 4।।

अर्थ—ऐसा होने पर साधक को पापों के नाश करने वाले साधुओं का परिचय होता जाता है। उसके चित्त में अकल्याणकारी अशुभसंकल्पों की कमी होती जाती है और

उसे आत्मा के सम्बन्धों में विचार करने वाले आध्यात्मिक ग्रन्थों के श्रवण एवं मनन द्वारा नैगम आदि समस्त नयों, हेतुओं या उपादानादि कारणों का अनाग्रहबुद्धिपूर्वक परिशीलन (बार-बार अभ्यास) करने का योग मिलता जाता है।

भाष्य–प्रेरक निमित्तों की प्राप्ति

जब साधक चरमावर्त, चरमकरण, भवपरिणतिपरिपाक, दोष-निवारण सम्यग्दृष्टि और प्रवचनवाणी की प्राप्ति, इन उपलब्धियो का अनायास लाभ पा लेता है, तब उसकी आध्यात्मिक प्रगति बढती जाती है, किन्तु सामान्य जनता उसकी आध्यात्मिक प्रगति की परख नही कर पाती। वह ऐसे साधक को धुनी या पागल-सा कह देती है। परन्तु श्रीआनन्दघनजी ने ऐसे सम्यग्दृष्टिप्राप्त साधक की आध्यात्मिकप्रगतिसूचक कुछ बातो का निर्देश किया है, जो प्रेरक निमित्त के रूप में उसे अनायास ही मिलती जाती है। जिन पर से उसे आध्यात्मिक-विकासपथिक के रूप मे पहिचाना जा सकता है।

प्रथम प्रेरक निमित्त : पापनाशक साधु से परिचय

ऐसा आध्यात्मिकविकासपथिक अतीव जिज्ञासु व नम्र होता है, वह अपने आशिक ज्ञान के मद मे आ कर अक्खड नहीं बनता। अतः उसे नये-नये ज्ञान की प्राप्ति के लिए, अपने आचरण मे आगे बढे हुए पापनाशक एव धर्म (स्वभाव) मे लीन स्वपरमुक्तिसाधक साधुओ से परिचय का योग मिल जाता है उनका सत्संग करके वह अपने स्वरूप के ज्ञान मे तथा तत्त्वों के अनुभव में वृद्धि करता जाता है। जो भी जहाँ भी ऐसा स्वभावरमणसाधक या परमात्मभावलीन स्वपर-कल्याण-साधक पुरुष उसे मिल जाते हैं, उनकी संगति वह अवश्य करता है। वास्तव मे, किसी भी व्यक्ति की आध्यात्मिक प्रगति का मापदण्ड बाह्यवेष या बाह्य क्रियाएं नहीं होती, वह होता है–ज्ञान का भण्डार भरने अथवा निश्चयदृष्टि से कहें तो अपने सुषुप्त ज्ञान को जागृत व प्रगट करने के उदेश्य से, किसी प्रकार की स्वार्थभावना या स्पृहा से दूर रह कर अध्यात्मज्ञान के अनुभवी, शुद्धात्मविज्ञान में पारंगत, अशुभकार्यो या अशुभभावो (पापों) को नष्ट करने वाले पुरुष का सत्संग, सम्पर्क या परिचय। किसी व्यक्ति की सोहबत से ही उससे असली जीवन का पता लगाया जा सकता है। **'समान शील-व्यसनेषु संख्यम्'** इस नीतिसूत्र के अनुसार एक सरीखी आदत, समान शील, स्वभाव और तुल्य व्यसन वालों की ही परस्पर एक दूसरे के साथ पटरी

बैठती है। दीर्घ परिचय, चिरकालस्थायी मैत्री या स्थायी संगति समान भूमिका वाले लोगो की ही निभती है। उक्त सद्गुणी साधुपुरुष का परिचय (लम्बे अर्से तक सहवास या सम्पर्क-मेलजोल) साधक के आध्यात्मिक विकास का परिचायक होता है। वास्तव मे ऐसे पापवृत्तिनाशक सन्तपुरुष के समागम का योग मिल जाने से उसकी पापवृत्ति स्वतः नष्ट हो जाती है, बुद्धि की जडता दूर हो जाती है, वाणी मे सत्यता आ जाती है, ऐसे पुरुषों के सत्संग से साधक अपनी इज्जत मे चार चॉद लगा देता है, जीवन मे उन्नति की राह पा लेता है। चित्त मे आर्तध्यान-रौद्रध्यान या चिन्ताए काफूर हो कर प्रसन्नता पैदा होती है, ऐसे व्यक्ति का जीवन सर्वागीण बनता है। जिसके मन-वचन-काया में एकरूपता हो, जो सरलता और निश्छलता, नि.स्पृहता और नम्रता की मूर्ति हो बडे से बडे पापियो के मन मे स्थित पाप जिसके दर्शन से ही दूर भाग जाते हों, वही साधुमना पुरुष है। मतलब यह है कि परमात्मसेवा की प्रथमभूमिकाप्राप्त साधक को ऐसे महान् साधुपुरुष का सत्सगरूप निमित्त प्राप्त हो ही जाता है। जो आध्यात्मिक प्रगति के मार्ग पर बढना चाहता है, उसे वैसे निमित्त प्रायः मिल जाते है।

दूसरा निमित्त : चित्तवृत्ति में अकुशलता का त्याग

आत्मसाधना मे प्रगति हो जाने की दूसरी परख यह है कि उक्त साधक की चित्तवृत्ति मे अकल्याणकारी अथवा खराब परिणामो-अध्यवसायो (या सकल्पविकल्पो) का अपचय=क्षय या ह्रास हो जाता है अथवा अकुशल शब्द का अर्थ अशुभकार्य या पापकर्म भी होता है, इसके अनुसार **'चेत'** शब्द को छोड़ कर अर्थसगति इस प्रकार बिठाई जा सकती है कि उसकी आत्मा मे अशुभ=पापकर्म घट जाते ह, कम हो जाते ह अथवा क्षीण हो जाते ह।

चित्तवृत्ति या चित्त की परिणाम (अध्यवसाय) धारा अकुशल (अविवेकी या विकृत) कैसे बन जाती है? और उसका ह्रास कैसे हो जाता है? कुशल चित्तवृत्ति कैसी होती है? वह साधक की साधना में कितनी उपयोगी उपलब्धि है? इस सम्बन्ध मे विचार करने पर स्पष्ट प्रतीत होगा कि अकुशल चित्तवृत्ति के कारण स्पर्श, रस, घ्राण, कर्ण और नेत्र इन पॉचो इन्द्रियों के अनुकूल विषयो को देख कर वह तुरन्त ललचा जाएगा, उनमें आसक्त हो कर उनके भोग में अनुकूल, किन्तु नतीजे मे भयंकर दु खदायी विषयों को भोगने के लिए तत्पर हो जाएगा, हितैषी व्यक्तियो के मना करने पर भी वह उनसे

विरक्त नही होगा, उसका चित्त उक्त विषयो को पाने के लिए तैयार हो जाएगा, उनके वस्तुस्वरूप का सही मूल्याकन वह नहीं कर पाएगा। मतलब यह है कि जहाँ तक व्यक्ति का चित्त इस प्रकार का अकुशल रहता है, वहाँ तक उसमे ससार की वासना कम नहीं होती, शरीर अथवा जडवस्तुओ का और चेतन का परस्पर सम्बन्ध कितना, कैसा और कहाँ तक है? इसका ज्ञान न होने से सिर्फ सुनी-सुनाई बातो से वह थोडा बहुत जानता है, उसे इन्द्रियभोगो मे जीवन की सार्थकता दृष्टिगोचर होती है। जहाँ तक अकुशलता होती है, वहाँ तक क्रोध, मान, माया, लोभ आदि मानसिक विकारो को उनके असली रूप मे वह पहिचान नहीं सकता, रागद्वेष के यथार्थ रूप को न जानने के कारण प्रणय (दाम्पत्यप्रेम) साम्प्रदायिक व जातीय मोह तथा राष्ट्रान्धता आदि को उपादेय मान लेता है, अतत्त्वाभिनिवेश का शिकार बन कर ससार के गाडरिया प्रवाह मे बह जाता है, ऐसी स्थिति मे आत्माभिमुखता न हो कर ससाराभिमुखता ही अधिक रहती है।

किन्तु जब उक्त अकुशल चित्तवृत्ति का ह्रास हो जाता है तो उसके मोह, कषाय आदि का ह्रास हो जाता है, वह शरीर, चित्त, इन्द्रियो आदि पर नियन्त्रण कर सकता है, शरीर, चित्त, इन्द्रियो आदि का स्वभावरमणरूप धर्म मे सदुपयोग कर सकता है, वह कर्मक्षय करने मे कारणभूत समताभाव को अपना लेता है; वस्तु के यथार्थस्वरूप को जान लेता है, क्रोधादि विकारो या रागद्वेषो के स्वरूप से भलीभाति परिचित हो जाने के कारण, उनसे होने वाली भारी हानि को देख कर वह अपने स्वरूप मे रमण करने लगता है। उसे आध्यात्मिक विकास मे जीवन की सार्थकता प्रतीत होने लगती है। पापकर्म से वह सहसा लिपटता नहीं; बल्कि पापकर्म का ह्रास कर देता है। अकुशल चित्त का ह्रास ऐसा प्रबल निमित्त है, जिसके कारण साधक की स्वत. आध्यात्मिक उन्नति होती रहती है।

दूसरे अर्थ के अनुसार अकुशल-अपचय यानी, चेतना (आत्मा) मे से पापकर्मो या अशुभ कर्मो का ह्रास हो (घट) जाता है। अर्थात् जब तक बुरे या अशुभकर्म रहते हैं, तब तक आत्मा की परभावों मे, विशेषतः अशुभ परभावो में रमण करने की वृत्ति बनी रहती है, वह पापकर्म करने मे ही जीवन का सच्चा आनन्द मानता है। किन्तु आत्मा मे कुशलता प्राप्त होने पर वह पापकर्मो को बहुत ही कम देता है, उसके अशुभकर्मो की जडे हिल जाती है। उसकी चेतना

आत्माभिमुखी हो कर संसाराभिमुखता या स्वार्थान्धता के कारण होने वाले पापकमा को क्षीण कर देती है। यही उसकी आध्यात्मिक प्रगति का मापदण्ड है।

तीसरा निमित्त : आध्यात्मग्रन्थों का श्रवण, मनन और परिशीलन

वास्तव मे व्यक्ति के जीवन मे जब आध्यामिक विकास होता है, तब उसकी जिज्ञासा, आत्मा के अपने असली गुण=ज्ञान को; जो सोया हुआ है। जगाने की होती है। वह ज्ञानाभिव्यक्ति मे महानिमित्त, ज्ञान के स्त्रोत आध्यात्मिक ग्रन्थो को सुनने, उन पर मनन-चिन्तन करने और विविध नयो और हेतुओ या उपादानादि कारणो से उसका परिशीलन करके अधिकाधिक हृदयगम करने की होती है। वह ज्ञान भी उसका वन्ध्य नहीं होता, वह आचरण के रूप मे उसे क्रियान्वित करके आध्यात्मिक प्रगति के नये-नये द्वार खोलता रहता है।

आध्यात्मिक ग्रन्थो के श्रवणमनन-पूर्वक परिशीलन पर से साधक की आध्यात्मिक प्रगति का पता लग जाता है। जिस साधक मे आध्यात्मिक विकास अधिक होगा, उसकी रुचि स्वाभाविकरूप से आध्यात्मिक ग्रन्थो के श्रवण और मनन द्वारा उनकी गहराई मे डूब जाने और उन ग्रन्थो मे विहित बातो का अपनी आत्मा के साथ तालमेल बिठाने की होगी। वह उन आध्यात्मिक ग्रन्थो की गहराई मे डुबकी लगा कर ज्ञानरत्नो को खोज कर निकाल लेगा, आत्मा मे सुषुप्त शक्तियोरूपी मुक्ताओ को प्राप्त कर लेगा, आत्मा मे निहित अनन्त ज्ञानादिगुणों की निधि को हस्तगत कर लेगा। आध्यात्मिक ग्रन्थो के परिशीलन (बार-बार के अभ्यास) से उसमे हेय-ज्ञेय-उपादेय का विवेक आ जाएगा। कर्म, शरीर, आत्मा, पुण्य, पाप, धर्म, अधर्म, निर्जरा, बंध, मोक्ष, स्वभाव-परभाव, रागद्वेष, कषाय आदि परपरिणतियो का आत्मा पर प्रभाव-अप्रभाव, आत्मा का स्वरूप क्या है? वह स्वयं अपने कर्मो का कर्त्ता-हर्त्ता है या और कोई महासत्ता है ? मन, वाणी, इन्द्रिय, काया आदि का आत्मा के साथ क्या सम्बन्ध है? ये आत्मा को कैसे गुलाम बना लेते हैं? इनकी दासता से कैसे मुक्ति हो सकती है? इत्यादि अनेक बातो के सम्बन्ध मे उसका ज्ञान सिद्धान्त सम्मत, परिपक्व और सम्यक् हो जाएगा। जीवन और जगत् की अटपटी गुत्थियो, मानसिक उलझनो, चिन्ताओ, भयो, पूर्वाग्रहो, झूठे आग्रहो आदि से उसका मानस मुक्त हो कर शान्ति, समता, सहिष्णुता, निष्पक्षता, धीरता, एकाग्रता आदि से युक्त हो जाएगा। नि:सन्देह आध्यात्मिक ग्रन्थो का

स्वाध्याय वाचना, पृच्छना, परावर्तना, अनुप्रेक्षा और धर्मकथा से अनुप्राणित हो तो मानवजीवन का कायापलट हो सकता है, अपने खोये हुए ज्ञान के खजाने को पाकर आत्मा मे अपूर्व आनन्द की अनुभूति होती है, आत्मा अपने अभिन्न साथी ज्ञान को पा कर उसमें तन्मय हो जाती है। आध्यात्मिक ज्ञान मे ओत-प्रोत व्यक्ति खाना-पीना, सोना तथा अन्य शारीरिक चिन्ताएँ सर्वथा भूल जाता है। आध्यात्मग्रन्थो के एकाग्रतापूर्वक स्वाध्याय से व्यक्ति को ज्ञान-समाधि लग जाती है, उसको प्रत्येक वस्तु सूर्य के प्रकाश की तरह हस्तामलकवत् मालूम हो जाती है। मै कौन हूँ, परमात्मा कौन है? ससार के अन्य प्राणी कौन है? उनके साथ शरीरादि जडपदार्थो या परपदार्थो के साथ मेरा क्या और कितना सम्बन्ध है? कैसे आत्मा कर्मो के बन्धन से जकड जाता है? कैसे छूट सकता है? कर्मबन्धन के कितने प्रकार है? मुक्ति के क्या-क्या उपाय है? आत्मा की स्वरूपरमण मे निष्ठा कैसे सुदृढ हो सकती है? आत्मा परभावो मे आसक्त क्यो हो जाता है? आदि तमाम बाते उसके ज्ञाननेत्रो के सामने स्पष्ट हो जाती है।

किन्तु तोतारटन की तरह आध्यात्मिक ग्रन्थो की शब्दावली या पारिभाषिक शब्दो को केवल घोट लेने का नाम ही स्वाध्याय नहीं है। और न ही अर्थ समझे-बूझे बिना किसी ग्रन्थ को पढ-सुन लेने को ही स्वाध्याय कहा जा सकता है। इसलिए श्रीआनन्दघनजी का स्वर गूज उठता है-**'ग्रन्थ अध्यातम श्रवण-मनन करी रे परिशीलन नय हेत'** अर्थात् अध्यात्मग्रन्थो का केवल पढना-सुनना ही नही, अपितु नयो और हेतुओ के साथ मननपूर्वक परिशीलन करना ही वास्तविक स्वाध्याय है और इस प्रकार के स्वाध्याय से साधक की आध्यात्मिक प्रगति की परख हो जाती है। केवल द्रव्य, गुण, पर्याय, का रटन करने वाला या अध्यात्मग्रन्थो को सूने मन से या विद्वता प्रदर्शित करने की दृष्टि से पढने या सुनने-सुनाने वाला, अथवा आत्मा-परमात्मा की लम्बी-चौडी व्यवहार से बिल्कुल असम्बद्ध चर्चा करने वाला, या आध्यात्मिकता से पहले नैतिकता या धार्मिकता की बूद भी जीवन मे न हो और कोरी आध्यात्मिक तर्क-वितर्क करने वाला व्यक्ति वास्तविक स्वाध्याय से कोसो दूर है। उसे आध्यात्मिक या आध्यात्मिक विकास की पगडडी पर चलने वाला नही कहा जा सकता। कई दफा तो इस प्रकार के तथाकथित अध्यात्मवादी अध्यात्मशून्य जीवन बिताते हुए लम्बी चौडी आध्यात्मिकता, तत्त्वज्ञान और स्वाध्याय की डीगे मार कर आत्मवचना और समाजवचना करते देखे जाते है।

इसलिये आत्मा से सम्बन्धित उपर्युक्त बातें जिन ग्रन्थों मे निश्चय और व्यवहार दोनो दृष्टियो से अकित हो, जो अध्यात्म को जीवन मे रमाने और पचाने वाले अनुभवी मनीषियो, चारित्रशील महान् आत्माओ द्वारा लिखे गए हो, जिन ग्रन्थो मे उल्लिखित बातें सर्वज्ञ आप्तवचनो से सम्मत हो, सिद्धान्त, युक्ति, तर्क, प्रमाणो, और नयो से सिद्ध हो, जो अपने पूर्वाग्रह, परम्पराग्रह, साम्प्रदायिक पक्षपात आदि से दूर हो, जो जीवन के उच्च आदर्शों और ध्येय को स्पष्टत प्रतिपादन करते हो, ऐसे ग्रन्थ आध्यात्मिक ग्रन्थ है। ऐसे ग्रन्थों का एकाग्रतापूर्वक श्रवण, मनन, निदिध्यासन और युक्ति, प्रमाण, नय, हेतु, कारण आदि के विचारपूर्वक परिशीलन करने और अपनी आत्मा के साथ उन बातो का ताल-मेल बिठाने का अभ्यास करना सच्चे माने मे 'स्वाध्याय' है। ऐसे साधक को अनायास ही इस प्रकार के स्वाध्याय का वातावरण एवं प्रबलनिमित्त मिल जाता है, आध्यात्मिक ग्रन्थो की जिज्ञासा और मीमांसा-पूर्वक प्राप्त हुआ स्वाध्याय साधक की आध्यात्मिक प्रगति का परिचायक है।

दूसरे शब्दो मे कहे तो परमात्मसेवा की प्राथमिक भूमिका प्राप्त करने का फल बता कर श्रीआनन्दघनजी ने वैसी भूमिका प्राप्त करने मे निमित्त कारणरूप ये सब वस्तुएँ बता दी है। क्यो अभय, अद्वेष, और अखेद-अवस्था के परिपक्व बनाने के लिए पापघातक साधुपुरुष का सत्संग, चित्त मे अकुशलता का ह्रास एव अध्यात्मग्रन्थो का श्रवण-मननपूर्वक सयुक्तिक अभ्यास बहुत आवश्यक है। इसलिए ये तीनो बाते, पूर्वोक्त तीनो गुणो को न मान कर जो व्यक्ति परमात्म-सेवारूप कार्य के लिए आध्यात्मिक विकास और उसके कारणों को उडाने का प्रयास करते है, उन्हे फटकारते हुए श्रीआनन्दघनजी अगली गाथा मे कहते है-

कारणजोगे हो कारज नीपजे रे, एहमां कोई न वाद।
कारण विण पण कारज साधीए रे, ए निजमत उन्माद।।

सम्भव. 5।।

अर्थ-कारणों के योग मे ही कार्य निष्पन्न होता है, ऐसा न्यायशास्त्रीय सिद्धान्त है इसमे विवाद को कोई अवकाश नहीं है। परन्तु जो लोग यह कहते है कि हम अनुकूल कारणों के बिना ही कार्य सिद्ध कर (बना) लेंगे, यह उनका मनमाना बकवास है, अपने मत का मतवालापन है।

स्वाध्याय वाचना, पृच्छना, परावर्तना, अनुप्रेक्षा और धर्मकथा से अनुप्राणित हो तो मानवजीवन का कायापलट हो सकता है, अपने खोये हुए ज्ञान के खजाने को पाकर आत्मा में अपूर्व आनन्द की अनुभूति होती है, आत्मा अपने अभिन्न साथी ज्ञान को पा कर उसमें तन्मय हो जाती है। आध्यात्मिक ज्ञान मे ओत-प्रोत व्यक्ति खाना-पीना, सोना तथा अन्य शारीरिक चिन्ताएँ सर्वथा भूल जाता है। आध्यात्मग्रन्थों के एकाग्रतापूर्वक स्वाध्याय से व्यक्ति को ज्ञान-समाधि लग जाती है, उसको प्रत्येक वस्तु सूर्य के प्रकाश की तरह हस्तामलकवत् मालूम हो जाती है। मै कौन हूँ, परमात्मा कौन है? ससार के अन्य प्राणी कौन है? उनके साथ शरीरादि जडपदार्थों या परपदार्थों के साथ मेरा क्या और कितना सम्बन्ध है? कैसे आत्मा कर्मो के बन्धन से जकड जाता है? कैसे छूट सकता है? कर्मबन्धन के कितने प्रकार है? मुक्ति के क्या-क्या उपाय है? आत्मा की स्वरूपरमण मे निष्ठा कैसे सुदृढ हो सकती है? आत्मा परभावो मे आसक्त क्यों हो जाता है? आदि तमाम बाते उसके ज्ञाननेत्रो के सामने स्पष्ट हो जाती है।

किन्तु तोतारटन की तरह आध्यात्मिक ग्रन्थो की शब्दावली या पारिभाषिक शब्दो को केवल घोट लेने का नाम ही स्वाध्याय नही है। और न ही अर्थ समझे-बूझे बिना किसी ग्रन्थ को पढ-सुन लेने को ही स्वाध्याय कहा जा सकता है। इसलिए श्रीआनन्दघनजी का स्वर गूज उठता है-**'ग्रन्थ अध्यातम श्रवण-मनन करी रे परिशीलन नय हेत'** अर्थात् अध्यात्मग्रन्थो का केवल पढना-सुनना ही नही, अपितु नयो और हेतुओ के साथ मननपूर्वक परिशीलन करना ही वास्तविक स्वाध्याय है और इस प्रकार के स्वाध्याय से साधक की आध्यात्मिक प्रगति की परख हो जाती है। केवल द्रव्य, गुण, पर्याय, का रटन करने वाला या अध्यात्मग्रन्थों को सूने मन से या विद्वता प्रदर्शित करने की दृष्टि से पढने या सुनने-सुनाने वाला, अथवा आत्मा-परमात्मा की लम्बी-चौडी व्यवहार से बिल्कुल असम्बद्ध चर्चा करने वाला, या आध्यात्मिकता से पहले नैतिकता या धार्मिकता की बूंद भी जीवन में न हो और कोरी आध्यात्मिक तर्क-वितर्क करने वाला व्यक्ति वास्तविक स्वाध्याय से कोसो दूर है। उसे आध्यात्मिक या आध्यात्मिक विकास की पगडडी पर चलने वाला नही कहा जा सकता। कई दफा तो इस प्रकार के तथाकथित अध्यात्मवादी अध्यात्मशून्य जीवन बिताते हुए लम्बी चौडी आध्यात्मिकता, तत्त्वज्ञान और स्वाध्याय की डीगें मार कर आत्मवंचना और समाजवंचना करते देखे जाते है।

इसलिये आत्मा से सम्बन्धित उपर्युक्त बातें जिन ग्रन्थों मे निश्चय और व्यवहार दोनो दृष्टियो से अकित हों, जो अध्यात्म को जीवन मे रमाने और पचाने वाले अनुभवी मनीषियों, चारित्रशील महान् आत्माओ द्वारा लिखे गए हो, जिन ग्रन्थो मे उल्लिखित बाते सर्वज्ञ आप्तवचनों से सम्मत हो, सिद्धान्त, युक्ति, तर्क, प्रमाणो, और नयो से सिद्ध हों, जो अपने पूर्वाग्रह, परम्पराग्रह, साम्प्रदायिक पक्षपात आदि से दूर हो, जो जीवन के उच्च आदर्शो और ध्येय को स्पष्टत प्रतिपादन करते हो, ऐसे ग्रन्थ आध्यात्मिक ग्रन्थ है। ऐसे ग्रन्थो का एकाग्रतापूर्वक श्रवण, मनन, निदिध्यासन और युक्ति, प्रमाण, नय, हेतु, कारण आदि के विचारपूर्वक परिशीलन करने और अपनी आत्मा के साथ उन बातो का ताल-मेल बिठाने का अभ्यास करना सच्चे माने मे 'स्वाध्याय' है। ऐसे साधक को अनायास ही इस प्रकार के स्वाध्याय का वातावरण एव प्रबलनिमित्त मिल जाता है, आध्यात्मिक ग्रन्थो की जिज्ञासा और मीमांसा-पूर्वक प्राप्त हुआ स्वाध्याय साधक की आध्यात्मिक प्रगति का परिचायक है।

दूसरे शब्दो मे कहे तो परमात्मसेवा की प्राथमिक भूमिका प्राप्त करने का फल बता कर श्रीआनन्दघनजी ने वैसी भूमिका प्राप्त करने मे निमित्त कारणरूप ये सब वस्तुएँ बता दी है। क्यो अभय, अद्वेष, और अखेद-अवस्था के परिपक्व बनाने के लिए पापघातक साधुपुरुष का सत्संग, चित्त मे अकुशलता का ह्रास एव अध्यात्मग्रन्थो का श्रवण-मननपूर्वक सयुक्तिक अभ्यास बहुत आवश्यक है। इसलिए ये तीनो बाते, पूर्वोक्त तीनो गुणों को न मान कर जो व्यक्ति परमात्म-सेवारूप कार्य के लिए आध्यात्मिक विकास और उसके कारणो को उडाने का प्रयास करते है, उन्हे फटकारते हुए श्रीआनन्दघनजी अगली गाथा में कहते है–

कारणजोगे हो कारज नीपजे रे, एहमां कोई न वाद।
कारण विण पण कारज साधीए रे, ए निजमत उन्माद।।

सम्भव. 5।।

अर्थ–कारणों के योग से ही कार्य निष्पन्न होता है, ऐसा न्यायशास्त्रीय सिद्धान्त है इसमें विवाद को कोई अवकाश नहीं है। परन्तु जो लोग यह कहते है कि हम अनुकूल कारणों के बिना ही कार्य सिद्ध कर (बना) लेंगे, यह उनका मनमाना बकवास है, अपने मत का मतवालापन है।

भाष्य–कारण और कार्य का अविनाभावी सम्बन्ध

यह केवल न्यायशास्त्र की ही बात नही, विश्व के प्रत्येक मानव की अनुभवसिद्ध बात है कि कारण होने पर ही कार्य सम्पन्न होता है। इसलिए यह निर्विवाद है। परन्तु कौन-से कारणो का किन-किन कार्यो के होने मे हाथ है, यह निश्चितरूप से नही बताया जा सकता। इसलिए कई ईश्वरवादी, देववादी या अव्यक्तशक्तिपूजक लोग अथवा प्रकृतिवादी आलसी मनुष्य ऐसा कह देते है, कि हमे किसी भी कार्य के लिए कारणो को जुटाने की आवश्यकता नही। ईश्वर चाहेगा, अमुक देव की कृपा होगी या फला देवी या अदृश्यशक्ति हम पर प्रसन्न होगी, या प्रकृति हमारे अनुकूल होगी तो कार्य अपने आप ही हो जायेगा। हमें कुछ करने-धरने की जरूरत नही। परन्तु उनकी यह बाते बेसिरपैर की है। वे स्वय रोटी बनाने का और रोटी मुँह मे डालने का क्यो प्रयास करते है? वहाँ उन्हे अपने आराध्यदेव या मान्यशक्ति के सहारे को छोड कर समय आने पर, उक्त वस्तु का स्वभाव तद्रूपपरिणत होने का हो, अपना कर्म भी अनुकूल हो, वैसा कार्य करना नियत भी हो, तो भी स्वय पुरुषार्थ करना होता है।

प्रत्येक कार्य में कोई न कोई कारण अवश्य होता है। कारण के अभाव मे कोई भी कार्य नही हो सकता। मूल मे कारण के दो रूप होते है—उपादानरूप और निमित्तरूप। जो कारण अनन्त स्वय स्वय कार्य-रूप मे परिणत होता है, उसे उपादानकारण कहा जाता है। जो कारण कार्य की सम्पन्नता मे अनुकूल (सहयोगी) रहता है और कार्य हो जाने के बाद अलग हो जाता है, वह निमित्तकारण कहलाता है। उदाहरण के लिए, कल्पना कीजिए, घडा एक कार्य है। मिट्टी उसमे उपादान कारण है, क्योकि मिट्टी स्वय अन्त में घटरूप मे परिणत होती है, किन्तु घडे के बनने मे कुम्हार, डडा, चाक और डोरी वगैरह निमित्त कारण है। निमित्त तीन प्रकार का होता है—सहकारीनिमित्त, प्रेरकनिमित्त और तटस्थनिमित्त। घडे के बनने में घडा बनाने वाला कुम्हार प्रेरकनिमित्त है और चाक, डडा, डोरी आदि जो अन्य साधन है, वे सहकारीनिमित्त है तथा काल, स्वभाव, नियति (भवितव्यता), कर्म और पुरुषार्थ, तथा आकाश आदि सब तटस्थनिमित्त है। जैनदर्शन में विहित काल, स्वभाव आदि पच-कारणसमवाय भी प्रत्येक कार्य के होने मे अनिवार्य बताये है। कोई व्यक्ति उपर्युक्त पच-कारण-समवाय मे से पाँचो को कारण न मान कर एकान्तरूप से किसी एक या अनेक को कारण माने तो वह यथार्थ नही है।

कारण का लक्षण भी न्यायशास्त्रियो ने यही किया है कि जो कार्य होने के अव्यवहित पूर्वक्षण मे अवश्य हाजर हो। जो कार्य में साधक हो, जिसके न होने पर कार्य हो ही न सके, उसे कारण कहते है।

कारण के इस लक्षण की दृष्टि से कार्य की सम्पन्नता के लिए दोनों ही कारण आवश्यक है, परन्तु मुख्यता उपादान की है। उपादान के होने पर निमित्त तो कोई न कोई अवश्य रहेगा ही। हॉ, निमित्तकारण एक के बदले दूसरा हो सकता है, परन्तु तद्रूप उपादान का होना तो अनिवार्य है। इसीलिए अध्यात्मशास्त्र मे उपादान की मुख्यता मानी गई है।

जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आदि 6 द्रव्यो में से जीव और पुद्गल गतिमान और क्रियावान द्रव्य है। प्रत्येक द्रव्य अपनी क्रिया मे उपादानकारण स्वयं होता है जीव और पुद्गल में जो क्रिया और गति होती है, उसका उपादान वह स्वय ही है। उपादान तो एक ही होता है जब कि निमित्त अनेक हो सकते है, उनके सम्बन्ध मे निश्चितरूप से कुछ नहीं कहा जा सकता । यदि उपादान का कार्यरूप मे परिणत होने का निश्चित का लक्षण आ चुका है, तो निमित्त भी उसी क्षण आ मिलेगे। किन्तु यदि उपादान ही शुद्ध नहीं है, तो निमित्त कितना ही शुद्ध क्यो न रहे, उससे किसी प्रकार का परिवर्तन नही होगा। परिवर्तन निमित्त मे नही उपादान मे होना चाहिए। निमित्त बलवान नही, बलवान तो उपादान है।

आकाश मे जब सूर्य उदित होता है तो उसका प्रकाश धीरे-धीरे फैलना प्रारम्भ होता है, तब कमल स्वत ही खिलने लगते है। सूर्य ने न तो कमल-पुष्प को खिलाया और न उन मुर्झाए हुए फूलो के अंदर उसने कोई साक्षात् सीधा परिवर्तत ही किया। फूल का खिलना फूल की अपनीं क्रिया है। यहॉ सूर्य प्रेरकनिमित्त नही, तटस्थ निमित्त है। किन्तु एक कुम्भकार जिस समय घडा बनाता है तब वह इच्छापूर्वक ही बनाता है। अतः वह तटस्थनिमित्त नहीं प्रेरक निमित्त है। मछली जब जल मे तैरती है तो तैरने का काम मछली स्वयं ही करती है। अतः तैरने की क्रिया का उपादान स्वय मछली ही है, क्योकि उसी में क्रिया हुई किन्तु मत्स्य की तरणक्रिया मे निश्चय मे धर्मास्तिकाय और व्यवहार मे जल निमित्त होता है।

उपादान और निमित्त की समस्या इतनी गहन है कि उसे इतना आसान नही है। फिर भी यदि उपादान को पकड लिया जाय तो

हल होते देर नहीं लगती। सम्यग्दृष्टि आत्मा की मूल दृष्टि उपादान पर केन्द्रित रहती है। यद्यपि वह निमित्त का तिरस्कार नहीं करता, तथापि वह निमित्त मे उलझ कर नहीं बैठ जाता। निमित्त तो सदा उपस्थित रहता ही है, देर उपादान की ही होती है।

शक्ति बाहर मे नहीं, अपने अन्तर मे रहती है। जो व्यक्ति अपनी शक्ति को जागृत कर लेता है, वह जगत मे असाधारण समझे जाने वाले कार्य कर लेता है। अन्दर की शक्ति को जागृत करने का अर्थ है—उपादान को जागृत करना । जिस आत्मा ने उपादान को समझ लिया, उस आत्मा के लिए कोई भी साधना कठिन नही है।

प्रस्तुत प्रसग मे परमात्मसेवारूप कार्य है। उसके लिए उपादानकारण आत्मा है। अभय, अद्वेष, अखेद ये आत्मा के सहभावी गुण होने से सहकारी उपादानकारण है। किन्तु प्रकारान्तर से इन्हे परमात्मसेवारूप कार्य के अन्तरग निमितकारण कहा जा सकता है। और पूर्वगाथा मे बताए हुए तीन कारणो मे से अकुशलवृति का ह्रास अन्तरग-निमित्त व पाप घातक साधुओ से परिचय, तथा आध्यात्मिक ग्रन्थो का श्रवण, मनन एवं नयहेतु-पूर्वक परिशीलन ये दो परमात्मसेवारूप कार्य के प्रेरक निमित्तकारण है, जबकि काल, स्वभाव, नियति, कर्म, पुरुषार्थ आदि इसके तटस्थ (उदासीन) निमित्तकारण है। इसी प्रकार चरम आवर्त, चरमकरण, भवपरिणतिपरिपाक, दोष-निवारण, सम्यग्दृष्टि की प्राप्ति आदि कार्य (फल) भी कारण की अपेक्षा रखते है।

दूसरी तरह से देखे तो अभय, अद्वेष, और अखेद ये तीन परमात्मसेवा रूप कार्य के लिए अनन्तर कारण है और पापनाशक साधु से परिचय, चित्तवृत्ति या चेतना मे से अशुभ (पाप) कर्मो का ह्रास तथा आध्यात्मिक ग्रन्थों के श्रवण-मननपूर्वक सयुक्तिक परिशीलन आदि परम्पराकारण है।

सौ बात की एक बात है—परमात्मसेवा के योग्य बने हुए आत्मारूप मुख्य उपादानकारण का तथा अभय, अद्वेष एव अखेदरूप सहकारी उपादान कारणो का कार्य से ठीक पहले क्षण मे होना अनिवार्य है। अगर उपादानरूप कारण जागृत होगा तो पूर्वोक्त निमित स्वत उपस्थित हो जायेगे।

शास्त्रो मे वर्णन आता है कि राजा प्रदेशी एक घोर नास्तिक था। वह धर्म के प्रति अश्रद्धालु व धार्मिक पुरुषो के प्रति घृणा करता था! पर जब केशीकुमार श्रमण के सान्निध्य मे आया तो उसकी दृष्टि मे अचानक परिवर्तन

कैसे हो गया? जो व्यक्ति अत्यन्त क्रूर और कठोर था, वह अत्यन्त कोमल कैसे बन गया? यह सब कुछ उपादान के परिवर्तन से हुआ। राजा प्रदेशी का उपादान प्रसुप्त पडा था, केशीकुमार श्रमण का निमित्त मिलते ही वह जागृत हो गया। इतना जागृत कि उसकी रानी ने धर्मसाधना में संग्लन राजा को विष दे दिया, तब भी वह शान्त बना रहा। ऐसा परिवर्तन उसकी निजशक्ति-उपादान का था। अर्जुनमालाकार प्रतिदिन सात व्यक्तियों की हत्या करने वाला महापापी बना हुआ था, कोई भी, यहाँ तक कि राजग्रही का राजा भी उसे पकडने का साहस नही कर सका। उसी अर्जुनमाली को महावीर के दर्शनार्थ जाते हुए राजगृही के निर्भीक श्रमणोपासक सुदर्शन का निमित्त मिला तो वह एकदम नम्र एव दयालु बना गया। अतः सुदर्शन का निमित्त अवश्य है, लेकिन अर्जुन का उपादान शुद्ध न हुआ होता तो सुदर्शन (निमित्त) क्या कर सकता था? भगवान महावीर का निमित्त गौतम को भी मिला और गौशालक को भी। लेकिन गौशालक छह वर्ष तक उनके साथ रह कर भी श्रेष्ठत्व अर्जित करने मे इसलिए निष्फल रहा कि उसका उपादान शुद्ध न था, जबकि गौतम महान् बनने मे सफल हो गया था।

इसलिए अपनी योग्यता, निजशक्ति (उपादान) को परमात्मसेवा (शुद्ध आत्म-रमणता) रूप कार्य के लिए जागृत करना आवश्यक है। उपादान जागृत होते ही निमित्त अपने आप उपस्थित हो जायेगे। परन्तु यह बात निर्विवाद है कि परमात्मसेवा—रूप कार्य के लिए उपादानकारण के साथ-साथ पूर्वोक्त निमित्त कारणो का होना अवश्यम्भावी है।

कार्य-करण-सम्बन्ध को न मानने वालों का मत

प्रस्तुत परमात्मसेवा के सम्बन्ध मे एकान्त भक्तिवादी, या एकान्त निश्चयदृष्टिवादी अथवा अव्यक्तशक्तिवादी या एकान्त नियति आदि पच कारणवादी अथवा एकान्त परमात्माश्रयवादी या इसी प्रकार की मान्यता वाले लोगो का कहना है कि परमात्मसेवारूप कार्य को हम पूर्वोक्त कारणों के बिना ही सिद्ध कर लेगे। हमे उक्त कारणो के झझट मे पडने या अपनी आत्मा को किसी कष्ट मे डालने की जरूरत नही, अपने आप परमात्मसेवा का सब काम हो जायगा।

एकान्त-भक्तिमार्गियों का कहना है—न कोई भय, द्वेष या खेद छोडने की जरूरत है और न किसी प्रकार का त्याग, तप या स्वभावरमणरूप पुरुषार्थ

(ज्ञान-दर्शन-चारित्र में पुरुषार्थ) करने की ही आवश्यकता है। ये सब स्वकर्तृत्ववाद के झंझट है। इन बातों के चक्कर मे पड कर मन मे दृढ विश्वास कर लो कि परमात्मा जब चाहेगे, तब अपने आप उनकी सेवा का कार्य हो जायगा।

एकान्त निश्चयाभासियों का कहना है—किसी प्रकार का त्याग, तप या चारित्र मे पुरुषार्थ आदि सब व्यवहार की बाते है, असद्भूत है, ये सब शरीर से सम्बन्धित बाते है, इनसे परमात्मा की सेवा मे कोई सहायता नही मिल सकती। जब आत्मा से परमात्मसेवा होनी होगी, तब अपने आप हो जायगी आत्मा भी अपने आप तदनुरूप शुद्ध हो जायगी। उपादानरूप आत्मा शुद्ध होगी तो निमित्तकारणो की कोई जरूरत ही नही रहेगी। परन्तु व्यवहार का और निमितकारणो का यह अपलाप वस्तुत निश्चयनयाभास ही सूचित करता है।

अव्यक्तशक्तिवादियो का मत भी लगभग भक्तिवादियो जैसा ही है। वे केवल देवी या अव्यक्तशक्ति अथवा प्रकृति को रिझाने, प्रसन्न करने और उससे वरदान मॉगने का प्रयास करते है। अपनी आत्मा द्वारा कोई भयादि के त्याग, अहिसादि के पालन या आत्मरमणरूप पुरुषार्थ की कतई जरूरत महसूस नहीं करते।

एकान्त नियतिवादी भी कालादि अन्य चार कारणो का अपलाप करते हुए या आत्मारूपी उपादानकारण के प्रति उपेक्षा करते हुए कहते हैं—जो कुछ होना होगा, वह हो ही जायगा। परमात्मसेवा विधाता ने (या भाग्य मे) लिखी होगी तो हो जायगी। हमारे त्याग, तप, व्रत, नियम, सयम या स्वभावरमण मे पुरुषार्थ आदि करने से क्या होगा? इन सब चक्करो मे पडने की क्या जरूरत है? यही हाल एकान्तकालवादी, एकान्तस्वभाववादी, एकान्तनियतिवादी, एकान्तकर्मवादी या एकान्तपुरुषार्थवादी (क्रियाकाण्डरत) लोगो का है। वे भी परमात्मसेवारूप कार्य के लिए अपने एक-एक कारण को लेकर उपादानकारणरूप आत्मा को शुद्ध बनाने या अन्य विभिन्न प्रकार के निमित्तकारणों की आवश्यकता नही समझते। एकान्तपरमात्माश्रयवादी तो लगभग आलस्यपोषक से होते है। आलसियो का जीवनसूत्र तो यही है—

"अजगर करै न चाकरी, पंछी करै न काम।
दास मलूका कह गये, सबसे दाता राम।।"

स्पष्ट है कि वे भी परमात्मा को ही सब कार्यो का दारोमदार मानते हैं।

परन्तु आखिर जब वे अपने ही इस मत के विरुद्ध चलते है तो उन्हे घूम फिर कर कार्यकारणवाद की मान्यता पर आना ही पडता है।

इसलिए श्रीआनन्दघनजी का मुख्य स्वर यही गूँज रहा है कि जो लोग परमात्मसेवा रूप कार्य को पूर्वोक्त उपादान या निमित्त कारणो के बिना ही कर लेने की झूठी जिद्द ठानते है, या इस मिथ्याग्रह के शिकार है, वे अपनी मान्यता की झूठी दुहाई देते है या उनका कथन महज बकवास है। अथवा 'वदतो व्याघात' न्याय के अनुसार अपने ही मुँह से अपनी बात का खण्डन है या फिर साम्प्रदायिक मत के दुराग्रह का मतवालापन है।

कुछ लोग पूर्वोक्त मान्यता के दुरभिनिवेशवश यह कह बैठते है कि परमात्मा की सेवा तो बहुत आसान है, तुम लोगो ने इसे बहुत कठोर और अगम्य बना दी है, इसमे त्याग के रूप मे कुछ भी करना-धरना नही है, उन्हे श्रीआनन्दघनजी असलियत बताते हुए कहते है—

मुग्ध सुगम करी सेवन आदरे रे, सेवन अगम अनूप।
देजो कदाचित् सेवक-याचना रे, आनन्दघन-रस-रूप।।

।।संभव 6।।

अर्थ-मुग्ध (अज्ञानी, भोले, बालजीव या अतत्त्वदर्शी, नासमझ) लोग परमात्मसेवा को आसान मान कर उसे अपना लेते हैं। मगर परमात्मसेवा अगम्य (प्रत्येक व्यक्ति द्वारा आसानी से जानी न जा सकने योग्य) और अनुपम (बेजोड़) है। आनन्द के घनरसरूप प्रभो ! मेरी आपसे प्रार्थना है कि भविष्य में कभी मुझे ऐसी अद्वितीय परमात्मसेवा देना।

भाष्य—मुग्ध लोगों की दृष्टि में परमात्मसेवा आसान

मुग्ध से यहॉ अभिप्राय है—उन अतत्त्वदर्शी लोगो से, जो कार्यकारणभाव का गहराई से कोई विचार नहीं करते, जो लकीर के फकीर बन कर अपनी बुद्धि से परमात्मसेवा के बारे मे नहीं सोचते, अथवा आडम्बरपरायण लोगो की चकाचौध मे पड कर भयादि के त्याग, तप या स्वभावरमणरूप ज्ञानदर्शनचारित्र मे पुरुषार्थ करने की मुख्य बात को उडा कर, उपेक्षा करके केवल नाचने-गाने और कीर्तनजपादि करने की आसान बात पर मुग्ध हैं, या जो नासमझ और भोलेभाले लोग हैं, जिनमे लंबी समझ नही है, तथाकथित गुरु ने जो भी मार्ग पकडा दिया, उसे परमात्मा की सेवा भक्ति मान कर चलने वाले बालजीव है।

ऐसे विवेकमूढ लोग परमात्मसेवा को बहुत ही आसान समझ कर अपना लेते है। वे यह नहीं सोचते कि परमात्मभक्ति केवल नाच-गा कर या उनका नाम जोर-जोर से रट कर उन्हें रिझाने का प्रदर्शन करने से या चढावा चढाने या प्रसाद बांटने या उनके प्रतीक के आगे कोरे हाथ जोड देने या उनका गुणगान करने मात्र से अथवा उनकी नकल कर लेने से सिद्ध नहीं होती। परमात्मसेवा के लिए जो वास्तविक कारण है, उन्हें अपनाने पर ही वह सिद्ध हो सकती है। केवल शब्दादि-विषयो मे आसक्त, सासारिक स्वार्थ मे मग्न, स्वार्गादि ऋद्धिसिद्धि के लोभ मे डूबे हुए अथवा अपनी नामबरी या प्रसिद्धि के लिए परमात्मा का प्रतीक बना कर उनके मुकुट या अन्य सासारिक पदार्थ चढा देने मात्र से परमात्मसेवा नहीं हो सकती। परन्तु मुग्ध लोग इस परमात्मसेवा को जो[1] साधारण व्यक्ति की पहुॅच से बाहर है, जो संसार मे अनुपम वस्तु है, उसे बिलकुल आसान, सुगम और झटपट सिद्ध होने वाली चीज मानते है और उसी दृष्टि से परमात्मसेवा के वास्तविक कारणो को तिलाजलि दे कर सेवा के नाम पर सस्ता सौदा अपनाते है, जिससे **'हींग लगे न फिटकरी रंग चोखा हो जाय'** चाहते है। परन्तु परमात्मसेवा को वे जितनी सरल मानते है, उतनी सरल नही है, इसमे तो बाह्य (पर) भावो को छोड कर आन्तरिक भावो की गहराई मे जाना पडता है। सन्त कबीरजी भी यही बात कहते है।[2]

परमात्मसेवा की प्रार्थना : साधक की भक्तिमय नम्रभषा

इस स्तुति के अन्त में योगी श्रीआनन्दघनजी ऐसी कठोर परमात्मसेवा की सम्भवदेव प्रभु से याचना करते है। प्रश्न होता है—साधक को तो स्वय पुरुषार्थ द्वारा परमात्मसेवा सिद्ध करनी चाहिए, उसे परमात्मा से मागने की क्या जरूरत है? वास्तव मे निश्चयनय की दृष्टि से तो परमात्मसेवा या किसी भी आध्यात्मिक अनुष्ठान के लिए परमात्मा या किसी भी अव्यक्त शक्ति से साधक को मागने की जरूरत नही होती और न ही वीतरागपरमात्मा किसी को कोई चीज देते-लेते है। मगर व्यवहारिक दृष्टि से आनन्दघनजी अपनी नम्रता

---

1 नीतिकार कहते है—'सेवाधर्मः परमगहनो योगिनामप्यगम्यः।' सेवाधर्म अत्यन्त गहन है, वह योगियो के लिए भी अगम्य है, साधारणजनों की तो बात ही क्या ?

2 **भक्ति भगवन्त की बहुत बारीक है, शीश सौंपे बिना भक्ति नाहीं।**
नाचना, कूदना, ताल का पीटना, रांडिया खेल का काम नाहीं।।

प्रदर्शित करने के लिए भक्ति की भाषा मे परमात्मा के सामने इस प्रकार की प्रार्थना कर बैठते है तो कोई अनुचित भी नहीं है और फिर श्रीआनन्दघनजी परमात्मा से किसी सासारिक वस्तु या प्रसिद्धि, पदवी, ऋद्धि,सिद्धि आदि की कोई माग नहीं करते, वे तो अध्यात्मयोग के लिए परमात्मसेवा अनिवार्य होने से उसी की प्रार्थना करते है। वह भी **'देजो कदाचित्'** कह कर उतावलेपन से नहीं, किन्तु धीरता के साथ, जब कभी अपने चारित्रमोहनीयकर्म का क्षयोपशम तीव्र हो जाय तभी परमात्मा की शुद्ध सेवा चाहते है।

चूकि वे परमात्मसेवा को अगम्य और अनुपम वस्तु कह चुके है। इस प्रार्थना से वे वर्तमान में अपनी आत्मा का उक्त प्रकार की अगम्य या अतीन्द्रिय अनुपम सेवा के योग्य न होना भी नम्रतापूर्वक ध्वनित कर देते है।

एक बात यह भी है कि वे परमात्मसेवा के इस आग्नेयपथ पर आने से पहले जो महापुरुष इस कठोरपथ पर प्रयाण करके इसे पार कर चुके है, उनकी प्रेरणा, मार्गदर्शन या दिशानिदर्शन चाहते है। क्योकि परमात्मसेवा जैसे आध्यात्मिक मार्ग में पारगत पुरुष के निर्देशन में चलने पर ऐसे गहन कार्य मे कहीं स्खलना, आत्मवचना, पतन या भ्रान्ति की संभावना नही रहती। इसलिए ऐसे सेवानिष्णात वीतराग परमात्मा के चरणो मे विनय करके, उनकी आज्ञा ले कर उनके सामने सेवक बन कर नम्र प्रार्थना करके सेवा के आग्नेय पथ पर चलने मे सहीसलामती या आत्मसुरक्षा अधिक है, खतरे की सभावना कम है। कई लोग गुरु या परमगुरु (परमात्मा) का निश्राय (शरण) न स्वीकार करके अध्यात्म के नाम से उलटे रास्ते चढ जाते है, फिर उन्हे उसी पथ का पूर्वाग्रह हो जाता है, वे गलत मार्ग को भी सही सिद्ध करने की कोशिश करते है। इसलिए ये और ऐसे सभावित खतरों से बचने का उपाय शरणागत बन कर 'अप्पाण वोसिरामि' कह कर प्रार्थना करना है।

'आनन्दघन-रसरूप के सम्बन्ध में'

आनन्दघनरसरूप-शब्द परमात्मा का सम्बोधन भी सम्भव है। जिसका अर्थ होता है—आनन्द से ओतप्रोत सेवारस आपमे लबालब भरा है, आप आनन्दघनरसमय है। 'आनन्दघनरसरूप' सेवा का विशेषण भी बहुत कुछ सम्भव है; क्योकि परमात्मा की सेवा इतनी ठोस आनन्दरसदायिनी होती है कि उसका अनुभव वही कर सकता है। जिस भाग्यशाली को परमात्मसेवा यथार्थ रूप मे उपलब्ध हो जाती है, उसको वह सेवा आनन्द से ओत

वाणी से अगम्य होने के कारण वह वाणी से उसका वर्णन नहीं कर सकता। अथवा मेरी याचना आनन्दधनरसरूप है, यह अर्थ भी हो सकता है। यानी मेरी परमात्मसेवा की याचना आनन्दमगलदायिनी है, मुझे संसार की कोई भी वस्तु परमात्मसेवा के समान आनन्ददायिनी नहीं लगती। यही अनुपम आनन्ददायिनी है। इसी की याचना मै करता हूँ, मुझे इसी याचना मे आनन्द है।

सारांश—इसमे श्री सभवनाथ परमात्मा की स्तुति के माध्यम से श्रीआनन्दधनजी ने परमात्म सेवा का रहस्य खोल दिया है। प्रारभ मे अध्यात्मयोगी के लिए परमात्मसेवा सर्वप्रथम आवश्यक बता कर उसके लिए प्राथमिक भूमिका के रूप मे अभय, अद्वेष और अखेद की साधना करना जरूरी बताया है। चूकि वीतरागपरमात्मा स्वय[1] अभय, वीतद्वेष, (वीतराग) और खेदरहित है,[2] इसलिए उनकी सेवा के लिए उक्त तीनो गुण प्राथमिक भूमिका के रूप मे शुद्धात्मभावरमणकर्ता साधक मे होने आवश्यक हैं। इसके पश्चात् परमात्मासेवा फल के रूप मे चरमावर्त, चरमकरण, भवपरिणति परिपाक, मिथ्यात्त्वदोषनिवारण, सम्यग् दृष्टि की प्राप्ति, प्रवचनवाणी की प्राप्ति आदि बताए है। तदनन्तर परमात्मसेवा की प्रथम भूमिका प्राप्त करने के तीन मुख्य उपाय है, फिर परमात्मसेवारूप कार्य के लिए कारणो की अनिवार्यता बता कर कार्यकारणभावसम्बन्ध को न मानने वाले तथा परमात्मसेवा को सुगम समझ कर अपनाने वाले मुग्ध लोगो को चुनौती दी है और अन्त मे, अगम्य, अनिर्वचनीय, अनुपम परमात्मसेवा प्राप्त होने की प्रार्थना भक्ति की भाषा मे करते हुए प्रस्तुत विषय का उपसहार किया है। सचमुच, इस स्तुति मे परमात्म सेवा का रहस्य अध्यात्मयोगी श्री ने खोल कर रख दिया है !

***

1 भयवेराओ उवरए।

2 'खेयन्नए से कुसले महेसी'—(सूत्रकृताग वीरस्तुति)

परमात्म-दर्शन की पिपासा

(तर्ज- आज निहेजो रे दीसे नाईलो रे, राग-धनाश्री, सिधुडो)

अध्यात्म के क्रमिक विकास पथ पर आया हुआ साधक परमात्मसेवा के बाद परमात्मा के दर्शन का प्यासा बन कर, अनेक विध्नबाधाओ और सकटो के बीच भी दर्शनोत्सुक होता है और पुकार उठता है–

अभिनन्दन जिन दरिसण तरसीए, दरिसण दुर्लभ देव।
मत-मतभेदे रे जो जई पूछीए, सहु थापे अहमेव।।
अभि.।।1।।

अर्थ–मैं अभिनन्दन नामक चतुर्थ जिनेन्द्र (वीतराग परमात्मा) के दर्शन के लिए तरस रहा हूं; परन्तु हे परमात्मदेव! आपका दर्शन बहुत ही दुर्लभ हो रहा है। प्रत्येक मत, पंथ, सम्प्रदाय और दर्शन के अग्रगण्यों के पास जाकर पूछते हैं कि परमात्मदर्शन कैसे होगा ? तब उत्तर में सभी मत-पंथ-सम्प्रदाय वाले अलग-अलग मत (अभिप्राय) से अपनी-अपनी मान्यता की स्थापना करते हुए कहते हैं– "हमारा मार्ग ही प्रभुदर्शन का सच्चा मार्ग है, हम ही परमात्मा का दर्शन करा देंगे।" अथवा प्रत्येक मत पंथ वाले कहते हैं–"यहीं आ जाओ। मैं ही परमात्मा हूं।"

***भाष्य*–परमात्मदर्शन क्यों, क्या और कैसे?**

परमात्मसेवा की प्रथम भूमिका के द्वारा सम्यग्दर्शन के प्रथम सोपान पर चढा हुआ साधक ठेठ मजिल तक पहुँचना चाहता है, उसे केवल इतने से ही सतोष नही होता। वह सम्यग्दर्शन के अतिम छोर तक पहुँच कर परमात्मा के भलीभांति दर्शन करना चाहता है और सम्यगदर्शन के पथ पर प्रयाण प्रारम्भ होते ही उसका यह प्रश्न उठाना उचित भी है कि "परमात्मा के दर्शन क्योकर होगे? मै उनके दर्शन पाने के लिए बहुत ही उत्सुक हूँ। जब मै वीतराग परमात्मा के दर्शन के सम्बन्ध मे विचार करने लगता हूँ तो मुझे उनके दर्शन बहुत ही दुर्लभ, दुष्प्राप्य और कठिन प्रतीत होते है। यदि अब भी–इतनी उच्च भूमिका पर

आने के बाद भी परमात्मा का दर्शन नही प्राप्त कर सका तो मेरा जीवन व्यर्थ चला जायगा। परमात्मा का दर्शन प्राप्त किये बिना मेरे लिए जगत मे सब कुछ मिथ्या है, सारा विश्व अन्धकारमय एव दु खमय है।"इसीलिए श्रीआनन्दघनजी कहते है- **'दरसण तरसीए'** आपके देवदुर्लभ दर्शन के लिए तरस रहा हूॅ। आपके सम्यक् दर्शन के बिना मैने ससार की अनेक परिक्रमाएॅ कर ली, अनेक जगह भटका, देवलोक मे भी गया, नरक, तिर्यच और मनुष्यलोक मे पहुॅचा, मगर किसी भी जगह सुख नही मिला। आपके सम्यग्दर्शन के बिना सच्चा सुख प्राप्त होता भी कैसे? क्योकि वहॉ मै क्षणभगुर वैषयिक सुखो के चक्कर मे फंस रहा, आपका सद्दर्शन पाकर शुद्धात्मतन्मयतारूपी आत्मिक सुख प्राप्त नहीं किया। अत मै पूर्ण तत्परता के साथ सन्नद्ध हूॅ।

चूकि गाथा मे जिनै-दर्शन पद है, इसलिए उसका सही अर्थ- वीतराग परमात्मा को ऑखो से देखना नही होता, अपितु परमात्मा को अन्तरात्मा से देखना होता है। अथवा दर्शनशब्द दर्शनमोहनीय कर्म के उपशम, क्षयोपशम या क्षय से होने वाली तत्त्वरुचि या तत्त्वार्थश्रद्धा के अर्थ मे है। अथवा वीतराग-परमात्मा का जो दर्शन है, उसे प्राप्त करना है-यानी साधक को प्राप्त हुए क्षायोपशमिक या औपशमिक सम्यग्दर्शन से ही सन्तुष्ट होकर बैठ जाना नही है, अपितु अनन्त क्षायिकसम्यग्दर्शन तक मुझे प्राप्त करना है, जो आज दुर्लभ हो रहा है, अथवा परमात्मदर्शन का मतलब शुद्ध आत्मा का दर्शन है।

परमात्मदर्शन दुर्लभ क्यों?

आज कर्मो व कषाय, राग-द्वेष, मोह आदि विकारो के कारण शुद्ध (परम) आत्मा पर नाना आवरण आए हुए है, इसलिए उसकी झांकी नहीं हो रही है, उसके दर्शन मे अनेक विघ्न-बाधाएं अडी-खडी है, इसलिए परमात्मदर्शन दुर्लभ हो रहा है।

कोई यह कह सकता है कि जगत् मे इतने धर्मो, सम्प्रदायो, मतो, पथो, या दर्शनो के होते हुए भी परमात्मा के दर्शन क्यो दुर्लभ हो रहे है? सभी धर्म, मत, पथ आदि परमात्मा के दर्शन कराने, प्रभु-साक्षात्कार कराने का दावा करते है, फिर क्या कारण है कि परमात्मा के दर्शन इतने दुष्प्राप्य हो रहे है? जहॉ इतने धर्म और धर्मो के संस्थापक हो, जहॉ विविध धर्मावतार, परमात्मा के पुत्र, पैगम्बर, मसीहा, या अवतार मौजूद हो, वहॉ भला परमात्मा का दर्शन इतना कठिन क्यो होना चाहिए? इस प्रश्न के उत्तर मे स्वय

आनन्दघनजी इस गाथा के उत्तरार्ध द्वारा कहते है–**'मत मतभेदे रे जो जई पूछीए, सहु थापे अहमेव'** इसका तात्पर्य यह है कि चाहे जिस पथ, मत, सम्प्रदाय या दर्शन के केन्द्र या धर्मस्थान में जा कर पूछा जाय, सर्वत्र प्रायः मिथ्या आग्रह, अपनी मान्यता की पकड, अपने मत पर सच्चाई की छाप लगाने का अभिनिवेश दिखाई देगा। इसलिए एकान्तदृष्टिपरायण, मताग्रही प्रायः यही कहेगे–"हम कहते है, वही प्रभुदर्शन का सत्यमार्ग है, हमारे मत, पंथ या सम्प्रदाय आदि के सिवाय किसी पंथ, मत आदि को सत्य के दर्शन नहीं हुए, न हमारे सिवाय किसी ने आज तक प्रभुदर्शन का रहस्य (या सत्य) प्रगट किया है अथवा वे कहेगे– 'हमारे धर्म-सम्प्रदाय या मत-पथ मे बताये गए ईश्वर या भगवान् ही परब्रह्म परमात्मा है, उनके दर्शन हमारे मत, पथ या सम्प्रदाय में शामिल होने पर ही होगे। हमे गुरु स्वीकार कर लो, बस, तुम्हें परमात्मा के दर्शन बहुत जल्दी करा देगे।" इस प्रकार एक या दूसरी तरह से सभी अपनी-अपनी मान्यताओ को सत्य बता कर जिज्ञासु व्यक्ति के कान, नेत्र, और मुंह बद कर देते है, वे न दूसरे की बात सुनने देते है, न दूसरो की सत्य बात देखने-समझने देते है, न किसी विषय मे तर्क करने देते है। इस प्रकार जिज्ञासु एव भद्र परमात्मदर्शनपिपासु व्यक्ति इन सम्प्रदायो या मतपंथों के भंवरजाल मे फस जाते है। एकान्त आग्रही लोग कोई शका या तर्क भी प्रायः नहीं करने देते, बल्कि शका या तर्क करने वाले को या तो वे अधर्मी, नास्तिक बताते है या फिर वे अधर्मी, मिथ्यादृष्टि या नास्तिक हो जाने का डर दिखा कर चुप कर देते है। अनेकान्तवाद के उपासक भी प्रायः मताग्रह या मतान्धता के शिकार बन जाते है, और अपने ही मत को सत्य सिद्ध करने मे एडी से चोटी तक पसीना बहा देते है। विविध दर्शन भी एकान्त आग्रही बन कर अपनी मानी हुई बात को सची और दूसरे की बात को बिल्कुल मिथ्या सिद्ध करने मे तनिक भी नहीं सकुचाते। यहॉ तक कि अपनी बात को भगवान् के द्वारा बताई हुई सिद्ध करने का प्रयास करते हैं। अत इन वादो, मतों, पंथो या सम्प्रदायों के झझावातो मे साधक सहसा निर्णय नही कर पाता कि कौन-सा पथ, मत या धर्मसम्प्रदाय मुझे परमात्मदर्शन करायेगा? कौन-सा दर्शन सत्य है? और कभी-कभी तो बाह्य आडम्बरो या वाक्पटु लोगो के मोहक शब्द जाल में साधक फंस जाता है, परमात्मदर्शन की धुन में एकान्त और मिथ्या दर्शन के चक्कर मे पड जाता है, अथवा भोगविलास, रागरंग, या इन्द्रिय विषयपोषक वातावरण की चकाचौंध

में परमात्मदर्शन भूल जाता है, किसी दूसरे बनावट, दिखावट व सजावट से ओत-प्रोत अमुक व्यक्ति के दर्शन को ही परमात्मा का दर्शन समझ लेता है, अथवा अनेक मान्यताओं एवं मतो के अधड मे व्यक्ति भ्रान्तिवश कही का कही भटक जाता है। इसी कारण परमात्मा के दर्शन या परमात्मा का दर्शन बहुत दुर्लभ है।

विश्व मे प्रचलित विविध दर्शनो को देखते है तो वे भी अपनी-अपनी मान्यताओ के एकान्त आग्रह मे फंसे हुए है। वे दूसरे दर्शनो के दृष्टिकोणों को समझ कर समन्वय करने या अपने मताग्रह को छोडने के लिए जरा भी तैयार नही है। यहां प्रसगवश आत्मा के सम्बन्ध में कुछ दर्शनो के एकान्त दृष्टिपरक मत देखिए-साख्य, योग और वेदान्तदर्शन आत्मा को कूटस्थ नित्य मानते है। वे कहते है कि जैसे ऐरन पर हथौडे की चाहे जितनी चोटे पडे, वह स्थिर रहता है, वैसे ही देश, काल आदि के कितने ही थपेडे खाने पर भी आत्मा मे जरा भी परिवर्तन नहीं होता, वह बिलकुल स्थिर रहती है। इस मान्यता में उपर्युक्त तीनो दर्शन बिलकुल भी परितर्वन नही करने और न ही अपनी ज्ञानदृष्टि खोल कर सत्य के दूसरे पहलू को देखने-परखने का प्रयास करते है। इसी प्रकार नैयायिक और वैशेषिक सुख-दु:ख, ज्ञान आदि को आत्मा के गुण मानते अवश्य है, लेकिन आत्मा को एकान्त नित्य और अपरिवर्तनशील (अपरिणामी) मानते है।

बौद्ध दर्शन आत्मा को एकान्त क्षणिक, परिणामी और निरन्वय परिणामो का प्रवाहमात्र मानते है।

इसी प्रकार आत्मा और पुद्गल के, चेतना और भौतिक वस्तु के अथवा एक आत्मा का दूसरी आत्माओ के साथ सम्बन्ध के विषय मे तथा वस्तु और आत्मा का सम्बन्ध छूट जाने के बाद आत्मा की होने वाली स्थिति के सम्बन्ध मे प्रत्येक दर्शनकार की मान्यता भिन्न-भिन्न है। प्रत्येक दर्शन प्रायः अपनी ही बात को सत्य मान कर आग्रहपूर्वक पकडे रखता है। परिणामस्वरूप वे परमात्मा (आत्मा) के यथार्थ दर्शन के अन्वेषण की उदात्त भावना के बदले आत्मा (परमात्मा) के सम्बन्ध मे अपनी बात को सच्ची स्थापित करने का प्रयास करते है। इसलिए इन दर्शनो के शब्दजालरूप महारण्य मे फस कर प्राणी यथार्थ (सम्यग्) दर्शन नही कर पाता। यही कारण है कि श्रीआनन्दघनजी ने यथार्थदर्शन को दुर्लभ बताया है।

अथवा उपर्युक्त पंथों, वादो, मतो या दर्शनो का एकान्त आग्रह, सापेक्षता रहित दृष्टि, पूर्वापरविरोध न हो, तभी सापेक्षदृष्टियुक्त, एकान्त-आग्रह-रहित, पूर्वापरसंगत, विशुद्ध, पक्षपातरहित और अनेकान्तवाद विशुद्ध परमात्मदर्शन (तत्त्वज्ञान का शुद्ध श्रद्धान) हो सकता है। परन्तु पूर्वोक्त मतो पथो, या दर्शनो मे ये लक्षण न होने से साधक के लिए परमात्मदर्शन या तत्त्वार्थश्रद्धानरूप दर्शन अथवा शुद्ध आत्मदर्शन अत्यन्त दुर्लभ है। अथवा आत्मा के द्वारा बार-बार परभावो मे पड जाने के कारण या छही द्रव्यों के यथार्थ वस्तुतत्त्व (स्वरूप) पर स्वत्वमोह-कालमोह व पूर्वाग्रह आदिवश न टिक सकने के कारण परमात्मा (सत्य) के दर्शन दूरातिदूर होते जाते है। इसलिए आचार्य सिद्धसेन दिवाकर[1] के अन्तर से स्वर फूट पडा- 'प्रभो! मोह के अन्धकार से मेरे नेत्र आवृत्त हो गए। इसी कारण मैने आज तक कभी एक बार भी आपका दर्शन नही किया। मै सोच रहा था कि इस समय मर्मस्थान को बीधने वाले अनेक अनर्थ (अनिष्ट कष्ट) मुझे पीडित कर रहे है, अगर आपका दर्शन हो गया होता तो ये मुझे कष्ट देने को उद्यत क्यो होते?' सचमुच परमात्मदर्शन के बिना बार-बार ससार मे जन्म-मरण की अनर्थ-परम्पराएँ खडी होती है, अगर एक बार भी सच्चे माने मे सम्यक्त्वमोह का आवरण हट कर मुझे आपका सम्यग्दर्शन हो जाय तो यह अनर्थपरम्परा भी मिट जाय या इसकी सीमा आ जाय। परन्तु मोहादि विकारो से आत्मा घिरी होने के कारण शुद्धात्मदर्शन नही कर पाती, जो परमात्मा का सच्चा दर्शन है, उसे नही प्राप्त कर पाती और न ही उन परमात्मा के बताये हुए सद्दर्शन (सत्य) पर अविचल, गाढ और निर्दोषरूप से श्रद्धा ही टिक पाती है।

चूँकि सम्यग्दर्शनरहित प्राणी की सिद्धि (कर्ममुक्ति) नही हो सकती, न संसार का अन्त आ सकता है, इसलिए दर्शन देवदुर्लभ है, और उसी की हार्दिक तमन्ना है।

इस गाथा मे बताई हुई योगी श्रीआनन्दघनजी की बात की साक्षी के रूप मे उत्तराध्ययनसूत्र मे स्वयं श्रमण भगवान महावीर स्वामी के गौतमगणधर

---

1 नूनं न मोहतिमिरावृतलोचनेन, पूर्व विभो ! सकृदपि प्रविलोकितोऽसि।
मर्माविधो विधुरयन्ति हि मामनर्थाः; प्रोद्यत्प्रबन्धगतयः कथमन्यथैते।।
—कल्याणमंदिर स्तोत्र

के समक्ष निकाले हुए उद्‌गार है–

न हु जिणे अज्ज दीसई, बहुमए दीसई मग्गदेसिए।

'हे गौतम! तुम्हे आज जिन (वीतराग परमात्मा) का दर्शन नही हो रहा है। अनेकों मत (मान्यता) वाले मार्गदेशक दिखाई दे रहे है।' बहुत से मार्गदेशक लोग परमात्मदर्शन (शुद्ध आत्मदर्शन) इसलिए नही करा पाते, उसका कारण श्रीआनन्दघनजी ने इसी गाथा के उत्तरार्द्ध मे स्पष्ट दिया है। इसीलिए वर्तमानकाल मे परमात्मदर्शन अतीव दुर्लभ है, जिसको पाने के लिए वे उत्सुक है।

इसीलिए अगली गाथा मे दर्शन की दुर्लभता का विशेष स्पष्टीकरण करते हुए कहते है–

सामान्ये करी दर्शन दोहिलुं, निर्णय सकल विशेष।
मद में घेर्यो रे अंधो केम करे, रवि-शशिरूप-विलेख?।।

अभिनन्दन.।।2।।

***अर्थ*–सामान्यरूप से ही जब आपका दर्शन दुर्लभ है तो समस्त नयों, प्रमाणों, निक्षेपों आदि द्वारा सर्वप्रकार से निर्णयरूप आपका विशेष दर्शन तो और ही दुर्लभ है। क्योंकि जैसे कोई अन्धा हो और फिर शराब आदि के नशे से घिरा हो तो पहले तो वह सूर्य और चन्द्रमा के रूप को ही देख नहीं सकता, तो फिर इन दोनों के स्वरूप का पृथक्-पृथक् विश्लेषण कैसे कर सकता है? वैसे ही विवेकतंत्र से रहित और उनमें भी मत, सम्प्रदाय, पंथ और दर्शन आदि के आग्रहरूप मद से मत बने हुए मतपंथवादी सामान्यतया आपका दर्शन प्राप्त नहीं कर सकते तो विभिन्न नयप्रमाणादि द्वारा आपके (शुद्धात्मा के) विश्लेषणपूर्वक विशेष दर्शन तो प्राप्त ही कैसे कर सकते हैं?**

***भाष्य*–सामान्य और विशेषरूप से दर्शन की दुर्लभता**

पूर्वोक्त गाथा मे परमात्मदर्शन की दुर्लभता का एक कारण बताया था– मतपंथवादियो का मताग्रह। इस गाथा मे उसी का विशेष स्पष्टीकरण किया गया है कि उसका नतीजा क्या आता है? परमात्मदर्शन की दुर्लभता को इसमे सामान्य और विशेष दो दृष्टियो से श्रीआनन्दघनजी ने तोला है। यहाँ परमात्मा के दर्शन के दो प्रकार बताए है–सामान्य और विशेष। सामान्यरूप से परमात्मा (अभिनन्दन) के दर्शन है, वे ही आत्मा के (मेरे) दर्शन हैं। जो मेरी आत्मा के दर्शन है, वे ही परमात्मा के है। 'मेरी और इनकी आत्मा (द्रव्य) के स्थूल पर्याय में भले ही भिन्नता हो, सामान्यरूप से स्वरूपदर्शन मे कोई

भिन्नता नही है।'

आत्मा और परमात्मा दोनो के आत्मगुणो- ज्ञाताद्रष्टा या चैतन्यस्वरूप मे कोई अन्तर नही। यह सामान्य दर्शन है।

इसी दृष्टि से कहा है कि सामान्यरूप से समस्त ससारी आत्माओ को परमात्मदर्शन या शुद्धात्मदर्शन दुर्लभ है। बहुत-से प्राणी तो आत्मदर्शन का विचार भी नहीं करते, वे ससार के व्यवसाय या अपने सांसारिक क्रियाकलापों या शरीर, परिवार व सन्तान आदि के भरण-पोषण आदि सासारिक प्रवृत्तियो में इतने रचे-पचे रहते है, अथवा विविध व्यसन, निद्रा, गपशप या आलस्य मे इतने ग्रस्त रहते है कि उन्हे दर्शन के सम्बन्ध में सोचने-विचारने तक की फुरसत ही नही मिलती, दर्शन प्राप्त करना तो दूर की बात है।

अथवा कई लोग ऐसे होते है, जो मतमतान्तर के झगड़े में पड कर अपने पाथिक या साम्प्रदायिक कदाग्रहो, पूर्वाग्रहों या मिथ्या मान्यताओ, या मिथ्याज्ञान के चक्कर मे ऐसे फंस जाते है कि उससे छूटना कठिन हो जाते हैं। ऐसे दुराग्रही और ऑख खोल कर न देखने वालो के लिए दर्शनप्राप्ति सामान्य रूप से कठिन है।

इसी प्रकार आत्मा के सम्बन्ध मे 6 स्थान (बाते) बताए गए है, जिन्हे मानना या जिन पर सोचना दर्शनप्राप्ति के लिए अनिवार्य है-(1) आत्मा अवश्य है, (2) आत्मा शाश्वत है, अविनाशी है, (3) जीव पुण्य और पाप का कर्ता है, (4) जीव कृतकर्मो का भोक्ता है, (5) योग्य पुरुषार्थ होने पर जीव की मुक्ति होती है, (6) जीव की मुक्ति के लिए उपाय भी है। इन 6 स्थानको का विचार, स्वीकार और स्पष्ट जानकारी न हो तो दर्शनप्राप्ति नही होती, दर्शनप्राप्ति के अभाव मे वह जीव संसार मे भटकता रहता है, मगर वह उसका कारण नहीं जान पाता और चक्कर खाता रहता है। इसलिए विभावों या पौद्गलिक भावों मे रमण करते रहने वाले जीवो को सामान्यरूप से दर्शन की प्राप्ति दुर्लभ है।

व्यवहारनय की दृष्टि से दर्शनप्राप्ति के 3 लिग (चिह्न) बताए है- (1) **शुश्रूषा**-जिसे दर्शन सम्बन्धी तथ्यो और तत्त्वो को सुनने-समझने की अर्हनिश तमन्ना हो तथा जो दूसरे सब काम छोड कर दर्शन की विचार-चर्चा सुनने के लिए दौड पडता हो, उसमे उसे खूब आनन्द आता हो, वह शुश्रूषा लिगी है। (2) **सेवा**-जिसे धर्मकरणी या धर्माचरण में बहुत आनन्द आता हो, ऐसा व्यक्ति सेवा-लिगी है। तथा (3) **वैयावृत्य**-जिसे देव अथवा गुरु की सेवा, परिचर्या,

वैयावृत्य करने मे आनन्द आता हो, रोगी, वृद्ध, तपस्वी, आदि की सेवा मे जिसकी दिलचस्पी हो, वह वैयावृत्यलिगी है।

इन तीन लिगो की प्राप्ति वाला दर्शन प्राप्त होना बहुत कठिन है। क्योंकि इन तीनों के लिए अपना स्वार्थ, स्पृहाएँ, व इच्छाएँ छोड कर मानसिक एकाग्रता, अनुशासनशीलता एवं इन्द्रियसंयम को अपनाना पडता है। ये साधारण प्राणी मे होते नही, इसलिए सामान्यरूप से दर्शन की प्राप्ति दुर्लभ बताई है।

वस्तुतत्त्व का बोध तथा पर सच्ची समझपूर्वक श्रद्धा को जब हम परमात्मा का सम्यग्दर्शन कहते है, तो इसे प्राप्त करने के लिए भी सामान्यतया व्यवहारनय की दृष्टि से 4 अगो की प्राप्ति आवश्यक बताई है-(1) तत्त्वज्ञान का सुदृढ परिचय (2) तत्त्वज्ञान या तत्त्वज्ञानी की सेवा (3) व्यापन्नकुदर्शनी का वर्जन (दर्शनभ्रष्ट जीव का सग न करना) और (4) कुलिगीसगवर्जन (धर्म-विरोधी, धर्मान्ध अथवा अधर्मी व्यक्ति के सग का त्याग) सम्यक्त्व के लिए ये चारों शर्ते बहुत ही कठिन होने से सामान्यतया दर्शन को कठिन बताया गया है। अतः निश्चय और व्यवहार दोनो दृष्टियो के सामन्य रूप से दर्शन की दुर्लभता का प्रतिपादन यथार्थ है।

दर्शनमोहनीय की तीव्रग्रन्थी का श्रुतज्ञानरूपी पैनी छैनी से जब भेदन हो जाता है, तब आत्मा के सर्वप्रथम दिव्यनयन खुलते है, उनसे सर्वप्रथम जो सामान्यज्ञान होता है कि मैं हूॅ, वह है, वे है। इस प्रकार के ज्ञान को सामान्यदर्शन है कहा जाता है, जो कि अत्यन्त दुर्लभ है। शास्त्रीय परिभाषा मे सामान्यदर्शन को उपशमसम्यक्त्व कहा है, जो अनादि मिथ्यात्व के नष्ट होने पर अनिवृत्तिकरण के अन्तिम दौर मे होता है और इसके आते ही सर्वप्रथम अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ, आदि का उपशमन होता है। जिसे ज्ञान के द्वारा समस्त पदार्थो का विभिन्न दृष्टियो, नयो एव हेतुओ से समग्ररूप से विश्लेषण हो सके तथा सम्यक् निर्णय हो सके, उसे विशेष दर्शन कहते है।

विशेषदर्शन सामान्यदर्शन से भी दुर्लभत्तर इसलिए है कि इसमे वस्तु के तमाम पहलुओ का विभिन्न दृष्टिकोणो से विचार और निर्णय करना होता है। जो व्यक्ति साम्प्रदायिक, पाथिक या दार्शनिक कदाग्रह, पूर्वाग्रह या अपने माने हुए मत-पथ या मान्यता को सत्य मानने के मद से ग्रस्त है, जो दूसरो के पास या अन्यत्र सत्य सम्भव है, इसे कतई देखना-सुनना भी नही चाहता, वह अहंकार, अन्धश्रद्धा, साम्प्रदायिक कट्टरता, हृदय मे असत्य जानते हुए भी

सत्य सिद्ध करने का हठ, विवेकचक्षु के प्रयोग से इन्कार इत्यादि अनेक उपाधियो से युक्त है, वह विभिन्न नयो (दृष्टिकोणो), पहलुओ और हेतुओ से वस्तुतत्त्व का या आत्मा का विचार या निर्णय नही कर सकता। इस कारण विशेषदर्शन की प्राप्ति दुर्लभत्तर बताई है। कदाचित् विशेषदर्शन की प्राप्ति हो भी जाय, तो भी आसपास के विरोधी वातावरण के कारण उसके दिल-दिमाग मे यह बात जचनी मुश्किल है कि स्वय के माने हुए मत-पंथ-दर्शन के अतिरिक्त अन्यत्र भी सत्य के अशो की सम्भावना है, अथवा भिन्न-भिन्न दृष्टिबिन्दुओ से प्रत्येक वस्तुतत्त्व को देखा जा सकता है। इसलिए निर्णय करना या निश्चय करना दर्शन की प्राप्ति से भी बढकर मुश्किल है। इसी कारण सर्वागसत्यदर्शन की झाकी होना कठिन है।

सामान्य और विशेष रूप से दर्शन की दुर्लभता को स्पष्ट करने के अभिप्राय से श्रीआनन्दघनजी एक उदाहरण प्रस्तुत करते है- "**मद में घेर्यो रे अंधो केम करे, रविशशिरूपविलेख?**" जिस प्रकार कोई व्यक्ति स्वयं अन्धा हो, फिर शराब आदि नशीली चीज का सेवन करने से वह नशे में चूर हो जाय तो सूर्य और चन्द्रमा के स्वरूप का विश्लेषण करना तो दूर रहा, उनके रूप का अवलोकन भी नही कर सकता। उसी प्रकार जो व्यक्ति पहले तो मिथ्यात्वरूपी अन्धकार से ग्रस्त हो, मिथ्यात्व से अन्धा हो, फिर वह अपने मत, पंथ, सम्प्रदाय या दर्शन के मद ('मेरा ही सच्चा है' के अहकार के नशे) में डूबा हो तो, वह नयो, हेतुओ आदि द्वारा विभिन्न पहलुओ या दृष्टिकोणो से विशेष प्रकार से परमात्मा के सत्य का दर्शन करना तो दूर रहा, सामान्यरूप से भी उक्त दर्शन को प्राप्त नही कर सकता।

व्यावहारिक दृष्टि से सोचे तो जिसे दर्शनमोहनीय के कारण मिथ्यात्वदशा से ग्रस्त होने से सामान्यरूप से सम्यग्दर्शन की प्राप्ति नही हुई, उसे शंका, कांक्षा, विचिकित्सा, मिथ्यादृष्टि-प्रशंसा, मिथ्यादृष्टिसंस्तव; इन सम्यक्त्व के 5 अतिचारो (दूषणो) से रहित विशिष्ट परमात्मदर्शन की प्राप्ति कैसे हो सकती है?

बहुत-से तथाकथित पण्डित या विद्वान् विभिन्न प्रकार के नयो, हेतुओ, तर्को या आगमो द्वारा भी परमात्मा का सम्यग्दर्शन प्राप्त करने में समर्थ हो सकते है, इस बात का खण्डन करते हुए श्रीआनन्दघनजी अगली गाथा मे कहते है-

हेतु-विवादे हो चित्त धरी जोइए, अतिदुर्गम नयवाद।
आगमवादे हो गुरुगम को नहीं, ए सबलो विषवाद।।
अभिनन्दन. ।।3।।

***अर्थ*-हेतुओं (तर्कों) के विवादों (पूर्वपक्ष-उत्तरपक्ष के झगड़ों में) चित्त को दृढ़ता से लगा कर उनके द्वारा परमात्मा का दर्शन करने जायें तो नयवाद (विभिन्न दृष्टिबिन्दुओं) को समझना अत्यन्त पेचीदा है। शास्त्र प्रमाण की सहायता लेने जायें तो शास्त्र की जटिल एवं पूर्वापर-असंगत बातों से जहाँ बुद्धि चकरा जाती है, वहाँ कोई गुरुगम (निष्पक्ष गुरु की धारणा) न होने से परमात्म-दर्शन में यह सब व्यर्थ का विवाद है, बड़ा झगड़ा है, प्रपंच है या अत्यन्त खेदजनक है।**

***भाष्य*—नयवाद से परमात्म-दर्शन दुर्लभ**

श्रीआनन्दघनजी परमात्मदर्शन की दुर्लभता का प्रतिपादन अब अन्य पहलुओं से करते है। बहुत से लोग परमात्मदर्शनप्राप्ति को बहुत ही आसान समझते है। वे सोचते है कि इतने बडे-बडे विद्वान् दुनिया मे है, वे किसी भी वस्तु को समझने-समझाने के लिए सूक्ष्म-से-सूक्ष्म तर्क प्रस्तुत करते है, विविध दृष्टिकोणो को समझते-समझाते है। परन्तु तर्को या हेतुओ से परमात्मा का दर्शन इतना आसान नही है। क्योकि नयवाद अत्यन्त दुर्गम्य है। विभिन्न नयो का वर्णन कर देना या विभिन्न दृष्टिकोणो को प्रस्तुत कर देना एक बात है और अपना मताग्रह, पूर्वाग्रह या पक्षाग्रह अथवा एकाशसत्य की प्राप्ति को सर्वांश सत्य समझने का अहकार छोड कर विभिन्न नयो या दृष्टिकोणो मे सापेक्षता-सामंजस्य-अविरोधिता अथवा संगति स्थापित करना और बात है। यह बात बुद्धि की अपेक्षा हृदय से ज्यादा सम्बन्ध रखती है। जब तक हृदय परमात्मा (शुद्ध आत्मा) के सत्यदर्शन के लिए झुके नही, बुद्धि मे से कदाग्रह, मताग्रह या स्वत्वमद का नशा न उतरे; तब तक हृदय नम्र और सरल नही हो सकता, और हृदय के नम्र व सरल हुए बिना सत्यदर्शन होने अतीवं दुर्लभ है। जहाँ बौद्धिक पहलवानो द्वारा तर्को के दाव-पेच लगा कर दूसरे को हराने और स्वयं के जीतने अथवा अपने बुद्धिबल से भ्रान्त तर्क प्रस्तुत करके या तोड-मरोड कर अर्थ करके अपनी मानी हुई बात को सच्ची सिद्ध करने का प्रयास होता है; वहाँ सत्यनिष्ठा नहीं होती। प्रभुदर्शन की प्राप्ति के लिए आन्तरिक निष्ठा के अभाव में कोई भी हेतु या नयवाद सहायक नही हो सकता।

आगमवाद से भी दर्शनप्राप्ति कठिन

अब रही आगम प्रमाणो द्वारा प्रभुदर्शन प्राप्त करने की बात, वह भी व्यर्थ श्रम है। क्योकि आगमो के पाठो से परमात्मदर्शन का निर्णय करने मे कठिनाई यह है कि आगमो मे जहॉ भी पूर्वापरविरुद्ध, असगत, अमुक द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के सन्दर्भ मे कही हुई बाते आएगी, वहॉ साधक की बुद्धि की गाडी अटक जाएगी, वहॉ निष्पक्ष गुरु की धारणा की जरूरत पडेगी और निष्पक्ष, सापेक्षवादपूर्वक वस्तुतत्त्व का यथातथ्य प्रतिपादन करने वाले गुरु बहुत ही विरले है। आगम का अर्थ है-वीतराग आप्तपुरुषो द्वारा भाषित और गणधरो द्वारा ग्रथित-सकलित मूलसूत्र, जिनमे जैनदर्शन के चारो अनुयोगो के सम्बन्ध मे बाते कहीं गई हो। आगमो मे बहुत-सी बाते प्रचलित और उपादेय होती है, बहुत-सी हेय और ज्ञेय होती है, कई स्थलो पर द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के अनुसार अमुक परिस्थिवश उत्सर्गसूत्र के बदले अपवादसूत्र होते है, कई जगह विभिन्न आशयो से पृथक्-पृथक् विधान व्यवहारचारित्रपालन के हेतु किये गए हैं, ऐसी स्थिति मे सामान्य साधक की बुद्धि गडबड या शका मे पड जाती है और उस समय यथार्थ निर्णय करने के लिए निष्पक्ष, सच्चे गुरु का मिलना भी कठिन हो जाता है। क्योकि आगमो मे बहुत-से विवादास्पद स्थलो मे परम्परागत अर्थ या सम्प्रदायगत धारणाएँ चलती है, किसी विवादास्पद विषय के बारे मे किसी गुरु से पूछने पर प्राय वह जिस सम्प्रदाय-परम्परा का होगा, उसे जैसी धारणा होगी, तदनुसार ही प्राय अर्थ करेगा या धारणा बताएगा। ऐसी स्थिति मे परमात्मा के यथार्थ दर्शन की प्राप्ति तो खटाई मे पड जायेगी; व्यक्ति एक के बदले दूसरी परम्परागत बात को ही परमात्मा का दर्शन समझ कर अपना लेगा। इसलिए शास्त्रप्रमाण द्वारा भी परमात्मदर्शन की प्राप्ति होना कठिन है।

अतः सापेक्षदृष्टि (अनेकान्तदृष्टि)-प्ररूपक जब वाद-विवाद के अखाडे मे उतर जाता है, तब उसे परमात्म-(सत्य) दर्शन तो होते नहीं, वह अपने अहकार से ही सतुष्टि करता है, जो पहले से जाना-माना है, उसी को सत्य समझ कर परमात्मा के दर्शन के नाम से चलाता है।

वाद-विवादो मे अक्सर विजिगीषाभाव होता है, जिज्ञासा भाव नही। इस कारण **वादे-वादे जायते तत्त्वबोधः**[1] के बदले वाद-विवाद, झगडे, वैर-

1 "आयगुत्ते सया दंते, छिन्नसोए अणासवे।
ते धम्मं सुद्धमाइक्खंति, पडिपुन्नमणेलिसं।।"

विरोध और द्वेष का रूप ले लेता है। फिर चाहे वह हेतुवाद हो या आगमवाद वे यथार्थ परमात्मदर्शन की प्राप्ति मे प्रायः बाधक बनते है।

गुरुगम का अर्थ होता है–निष्पक्ष गुरु की प्रेरणा या मार्गदर्शन। आगमो मे बहुत-सी बाते गुरुगम के अभाव मे उलटे रूप मे परिणत या प्रचलित हो जाया करती है। प्रत्येक व्यक्ति मे गुरु होने की योग्यता नहीं होती। केवल संस्कृत, प्राकृत आदि भाषाओ का पण्डित होने से, शास्त्रो का अधिक वाचन होने मात्र से कोई गुरु नहीं हो सकता। शास्त्र मे (धर्मोपदेशक) के सम्बन्ध मे बहुत ही स्पष्ट बताया गया है।

जो अपनी आत्मा को परभावो (दुर्गुणो) से सदा बचाता हो, इन्द्रियो और मन का दमन करता हो, जिसने चिन्ता-शोक आदि को नष्ट कर दिया हो, जो निश्चिन्त व नि स्पृह हो, आश्रवो से दूर हो, वही परिपूर्ण (सभी दृष्टियों मे सर्वागपूर्ण) एव यथातथ्यरूप से शुद्ध धर्म का कथन कर सकता है।

जिसका गम्भीर अध्ययन हो, विचारो के अनुरूप आचार हो, भौतिक-दृष्टि के बदले आध्यात्मिक दृष्टि मुख्य हो, शुद्ध आत्मभाव मे निष्ठा हो, जो श्रद्धापूर्वक अहिसा सत्य-आदि धर्मो का पालन करता हो, जिसने धर्म को जीवन मे रमाया हो, वही गुरु कहलाने और शास्त्रो के सम्बन्ध मे मार्गदर्शन देने का अधिकारी है।

अतः इस काल मे निष्पक्ष, निरभिमानी, स्वयंप्रेरित, दीर्घद्रष्टा, नवीन-प्राचीन युगद्रष्टा, द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव के ज्ञान मे कुशल गुरु का सयोग मिलना बहुत ही कठिन है। यही कारण है कि हेतुवाद, नयवाद या आगमवाद के द्वारा परमात्मा के दर्शन की प्राप्ति होने के बदले विवाद, विरोध, झगडा, या विषमभाव या खेद बढने की आशका है, जिसका सकेत श्रीआनन्दघनजी ने इस गाथा के अन्त मे कर दिया है।

परमात्मदर्शन के विषय मे और क्या-क्या विघ्न है, उनका निर्देश करते हुए श्रीआनन्दघनजी अगली गाथा मे कहते है–

घाती डूंगर आडा अतिघाणा, तुझ दरिसण जगनाथ
धीठाई करी मारग संचरूं, सेंगू कोई न साथ।

अभिनन्दन. ॥4॥

अर्थ–हे जगत् के नाथ! मेरे देव! आपके यथार्थदर्शन में रास्ते में विघ्न कारक घातीकर्मो के अनेक पहाड़ अड़े खड़े हैं। साहस करके कदाचित् आपके दर्शन पाने

के मार्ग पर चल पड़ूं तो भी साथ में चलने वाला कोई रास्ते का जानकार पथप्रदर्शक भी तो नहीं है!

_भाष्य_–परमात्मदर्शन में बाधक : घातीकर्मपर्वत

परमात्मा के यथार्थदर्शन के लिए आत्मा का भी शुद्ध होना आवश्यक है। चेहरा चचल या मलिन होता है तो दर्पण मे ठीक दिखाई नही देता, वैसे ही आत्मा मन-वचन-काया के योगो से अस्थिर और कषायो व कर्मो से मलिन होता है तो परमात्मारूपी दर्पण मे यथार्थरूप मे उसके दर्शन नहीं हो सकते। यही कारण है कि परमात्मदर्शन के लिए सर्वप्रथम आत्मा के गुणो का सीधी घात करने वाले कर्मो (चार घातीकर्मो–ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय) को श्रीआनन्दघनजी ने पर्वत के समान बाधक बताए है–1 विभिन्न मतों वालो का स्वमत-स्थापना का आग्रह, 2 सामान्य रूप से दर्शन प्राप्ति की दुर्लभता, 3 किसी एक निश्चय पर आने की उससे भी अधिक कठिनता, 4. मत-मद के नशे मे चूर मिथ्यात्वान्ध होने के कारण स्वरूप की अशक्यता, 5 तर्कवाद की जटिलता, 6 नयवाद की दुर्गम्यता, 7 आगम द्वारा दर्शन प्राप्ति मे गुरुगम का अभाव, 8 सच्चे मार्गदर्शन के अभाव मे झूठे विवाद, इतने प्रभुदर्शनघाती पर्वतों की बात पूर्वोक्त गाथाओ मे श्रीआनन्दघनजी ने की। परन्तु इनसे भी बढकर आत्मगुणघातक 4 मुख्य पर्वत है, जो परमात्मा के दर्शन मे रोडे अटकाते है। वे एक नही, चार नहीं, अनेक है और ठोस है। कर्मो के मुख्यतया दो विभाग किये है–घाती और अघाती। घातीकर्म आत्मा के चार मूल अनुजीवी गुणो- ज्ञान, दर्शन, चारित्र और वीर्य का घात करते है, इनमे विघ्नबाधा पहुंचाते है। वे है- ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय। ज्ञानावरणीय ज्ञान का कम या ज्यादा घात करता रहता है। वह वस्तु का यथार्थ ज्ञान नही होने देता। दर्शनावरणीय वस्तु का सामान्य बोध होने मे विघ्न डालता है। जो बुद्धि को चक्कर मे डाल कर राग-द्वेष के आश्रित बना कर मनोविकारो, कषायो व वेदोदय द्वारा चारित्र पर प्रभाव डालता है, वह चारित्रमोहनीय तथा शुद्ध आत्मा-परमात्मा के दर्शन मे बाधक बनता है, वह दर्शनमोहनीय कर्म है। जो आत्मा की अचिन्त्यशक्ति, अनन्त बल-वीर्य विकसित नही होने देता, वह अन्तरायकर्म है। इन चारो घातीकर्मो की सर्वगुणघाती प्रकृतियाँ 20 हैं और देशघाती कर्मप्रकृतियाँ 27 है। बाकी के 4 (वेदनीय, नाम, गोत्र और आयु) कर्म अघाती है। ये आत्मगुणो का सीधा घात नहीं करते। ये प्रायः शरीर से ही

अधिक सम्बन्धित है।

श्रीआनन्दघनजी परमात्मा से प्रार्थना करते है-"हे जगन्नाथ! ये आत्मगुणघाती कर्मपर्वत है, जो आपके दर्शन मे अन्तरायरूप है। ये पहाड जब तक चूर-चूर नहीं हो जायेगे, तब तक आपके दर्शन होने कठिन है।"

निश्चयनय की दृष्टि से कहे तो आत्मा के शुद्ध स्वरूप के दर्शन होने मे ये परभावरूप घातीकर्म विघ्नकारक है। ये चारो मिल कर मेरे अनन्तज्ञानगुण, अनन्तदर्शनगुण, अनन्तचारित्रगुण और अनन्तबलवीर्य का ह्रास कर रहे है, अथवा मैने इन परभावो को अपने मान कर अपनाए, ये मेरे ही असली स्वरूप के दर्शन मे बाधक बन गए है। इन्हे कैसे दूर करूं?

दर्शन में विघ्न : साथी पथप्रदर्शक का अभाव

कोई कह सकता है कि साधक को तो अपनी आत्मा मे ही रमण करने से मतलब है, कर्मो का आत्मा से सम्बन्ध ही क्या है? ये क्या कर सकते है? परन्तु वास्तविकता कुछ और ही है। साधक बाहर से शुष्क अध्यात्मवाद के घेरे मे पडा-पडा यों कहता रहता है-"मै ज्ञाता हूँ, द्रष्टा हूँ, निर्मोही हूँ, अनन्तबली हूँ, परन्तु इस भ्रम मे अपने आपका अधिक मूल्यांकन करके जब वह परमात्मदर्शन के मार्ग पर आगे बढता है तो उसके पैर लडखड़ाने लगते है, उसका हृदय कापने लगता है, उसकी शक्ति सासारिक मोहमाया मे ही अधिक लगती है, उसका मन रागद्वेष के द्वन्द्वो, मताग्रहो, पूर्वाग्रहो, आदि की ओर ही अधिक दौडता है, बुद्धि अहकार के पोषण मे ही लगती है, काम-क्रोध-लोभ-मोह आदि दुर्गुणो की शिकार बन कर आत्मा निर्बल हो जाती है। फिर भी आनन्दघनजी इन घातीपर्वतो की परवाह न करके परमात्मदर्शन के लिए साहसपूर्वक कदम आगे बढाते है, अपनी सारी शक्ति बटोर कर वे चल पडते है, या तो कार्य सिद्ध करके छोडूगा या शरीर छोड दूंगा, इस प्रकार के दृढसकल्पपूर्वक जब वे दर्शनप्राप्ति के रास्ते पर चल देते है, तो आगे चल कर उन्हे अनुभव होता है कि "अरे ! मै तो अकेला ही चल पडा! मुझे न रास्ते का पता है और न परमात्मा के दर्शन की विधि की जानकारी है, कैसे पहुँच पाऊँगा परमात्मा के निकट?" अतः वह स्वयं ही इस कठिनाई को प्रगट करता है-**'सेंगू कोई न साथ'** सेगू का अर्थ होता है-रास्ते का जानकार रास्ते बताने वाला पथप्रदर्शक। जब अज्ञात देश मे कोई व्यक्ति जाता है या अटवी (घोर जंगल) के रास्ते से जाता है तो किसी-न-किसी पथप्रदर्शक-मार्ग के जानकार आदमी

को साथ ले लेता है। ताकि वह रास्ता भूले नही, सही सलामत अपने गन्तव्य स्थान पर पहुँच जाए और रास्ते मे डाकुओ, लुटेरो, आदि से भी रक्षा हो सके। परमात्मदर्शन का पथ भी बहुत कटकाकीर्ण और अटपटा है। अनजाना आदमी इस पथ पर चलने का साहस करेगा, तो वह कहीं रास्ता भूल कर परमात्मा के बदले किसी चमत्कारी या प्राणिघातक या स्वार्थसाधक रागद्वेषपरायण देवी-देवो के चक्कर मे फॅस जाएगा अथवा परमात्म-दर्शन के नाम से किसी उटपटाग व्यक्ति के दर्शन को ही सच्चा दर्शन मानने लगेगा। उसे परमात्मदर्शन मे सफलता नहीं मिलेगी। वास्तव मे ऐसे आध्यात्मिक व्यक्ति को परमात्मदर्शन के लिए चलना तो स्वय को ही है, उसके बदले दूसरा व्यक्ति चले तो उसे दर्शन नही हो सकेगे। परन्तु कोई सच्चा मार्गदर्शक मिल जाता है, तो उसे रास्ता ढूंढने मे कोई दिक्कत नही होती और न वह सीधा रास्ता छोड कर या भूल कर उत्पथगामी बनता है। परन्तु श्रीआनन्दघनजी अपनी लाचारी प्रदर्शित करते है कि मै चला तो था, ऐसे किसी मार्गदर्शक साथी की खोज मे, पर मुझे ऐसा कोई व्यक्ति नही मिला, जो नि स्पृह निष्पक्ष और नि स्वार्थ हो कर सही-सही मार्गदर्शन कर दे, या मुझे उत्पथ पर जाने से बचा ले, जहॉ मै रास्ता भूल जाऊॅ, वहॉ मुझे रास्ता बता दे। परन्तु अफसोस है कि ऐसा कोई योग्य मार्गदर्शक साथी नहीं मिला। अधकचरे, उत्पथगामी, ससारपोषक, वासनावर्द्धक या स्वार्थी मार्गदर्शक जरूर नजर आए, पर उनसे मेरा काम बनने के बदले ज्यादा बिगडता, इसलिए मेरी कठिनाई यह है कि मै अब बिना ही किसी मार्गदर्शक साथी के बैठा हूॅ। मुझे परमात्मदर्शन की बहुत ही तमन्ना है, पता नही कब पूरी होगी?

इतनी सब कठिनाइयॉ बता कर अब श्रीआनन्दघनजी परमात्मदर्शन के अन्य उपायो को निष्फल बताते हुए कहते है-

'दर्शन-दर्शन' रटतो जो फिरूं, तो रणरोज-समान।
जेहने पिपासा हो अमृतपाननी, किम भांजे विषपान?'

अभिनन्दन. ॥5॥

***अर्थ*-अगर मैं दर्शन-दर्शन की रट लगाता फिरूं तो यह मेरा रटन अरण्यरोदन के समान या मेरा वह भ्रमण जंगली रोज के भ्रमण के समान होगा ! भला जिसे प्रभुदर्शनरूपी अमृत पीने की इच्छा हो, उसकी वह प्यास दर्शनशब्द के रटनरूपी जहर से कैसे मिट जायेगी?**

_भाष्य_–दर्शन के रटन से दर्शन की प्यास नहीं मिटती

श्री आनन्दघनजी ने दर्शन की दुर्लभता पर विचार करते हुए पिछली गाथाओ मे अपनी उलझन और खिन्नता प्रगट की है। उन्हे मताग्रहवादियो से परमात्मदर्शन-प्राप्ति दुर्लभ लगती है। इसी तरह तर्कवाद, नयवाद और आगमवाद से भी विवाद के सिवाय और कुछ पल्ले नही पडता नजर आता! स्वय पुरुषार्थ करने जाये तो उन्हे घातीकर्मरूपी पर्वतो का लांघना दुष्कर लगता है और कदाचित् साहस करके परमात्मदर्शन के पथ पर चल भी पडे, तो भी रास्ते से अनभिज्ञ होने के कारण तथा कोई पथप्रदर्शक (Guide) न होने से कही भटक जाने का खतरा प्रतीत होता है। परन्तु अन्त मे उन्हे एक उपाय सूझा कि मै 'दर्शन-दर्शन' की रट लगा कर लोगो के सामने अपना विचार प्रगट करू, शायद कोई राहवर मिल जाय और दर्शन की मेरी प्यास मिटा दे।' परन्तु इस सम्बन्ध में भी वे अपनी निराशा प्रगट करते है कि अगर मै जनता के सामने दर्शन-दर्शन चिल्लाता फिरू तो मेरी यह पुकार अरण्यरोदन के समान होगी। मुझे ऐसी सम्भावना कम है कि कोई मेरी यह पुकार सुने। क्योकि ससार मे अधिकतर लोग शुष्क अध्यात्मवाद की रटन के द्वारा अपना आत्मसतोष मान लेते है, अथवा सूखा अध्यात्मवाद बचा कर जनता मे अध्यात्मयोगी या आध्यात्मिक व्यक्ति के रूप मे प्रसिद्धि प्राप्त कर लेते है, वे अपने जीवन मे प्रायः वास्तविक आत्मदर्शन या परमात्मदर्शन न तो स्वय ही कर पाते है और न दूसरो को करा सकते है।

अथवा मेरा दर्शन-दर्शन की रट लगाते घूमना भी उसी तरह होगा, जैसे जगल मे रोज (नील गाय) का होता है। बेचारा वह पशु गर्मी मे प्यास लगने पर पानी की खोज मे इधर-उधर दौड लगाता फिरता है, परन्तु पास जाने पर दूर से दिखाई देने वाले पानी के बदले सूखी रेत मिलती है। जैसे उससे उसकी प्यास नही मिटती, वैसे ही परमात्मदर्शन की प्यास बुझाने के लिए दर्शन शब्द की रट लगाता जगह-जगह भटकता फिरू, तो उस आशिक सत्य को ही सर्वाशसत्य मान लेने, चाहे जिस दर्शन को परमात्मा का दर्शन मान लेने से मेरी भी दर्शन की प्यास नहीं मिट सकती। जिस तरह किसी व्यक्ति को अमृत पीने की इच्छा हो, वह अगर अमृत के नाम पर विष पीले तो उसकी अमृतपिपासा मिट नही सकती, उसी तरह जिसे परमात्मा (वीतराग) के सम्यग्दर्शन की पिपासा हो, उसे अगर सम्यगदर्शन के नाम से प्रचलित कोई कुदर्शन या

अव्यवस्थित एकान्त-दर्शन प्राप्त करा दे तो उसकी सम्यग्दर्शनपिपासा कैसे मिट सकती है? बल्कि जैसे पानी के बदले मिट्टी का तेल पी लेने पर प्यास मिटने के बदले अधिक भडक उठती है, वैसे ही परमात्मा वीतराग के सम्यग्दर्शनरूपी अमृत के बदले कोई कुदर्शनरूपी विष पिला दे तो उससे दर्शन की प्यास मिटने के बदले और अधिक भडकेगी, यानी ऐसे व्यक्ति को प्रत्येक सम्यग्दर्शन को देख कर भी उसमे मिथ्यादर्शन की बू आने लगेगी, वह सच्चे दर्शन को भी झूठा समझने लगेगा। जैसे दूध का जला छाछ को भी फूक-फूक कर पीता है, वैसे ही सम्यग्दर्शनपिपासु भडक जाने पर सम्यग्दर्शन को अपनाने मे भी सदेह या वहम् करने लगेगा।

यहॉ '**रणरोज**' का अर्थ अरण्यरोदन अधिक सगत प्रतीत होता है। इस दृष्टि से अर्थ होगा–सुदूरयात्री की वन मे होने वाली दशा के समान उक्त अध्यात्मयात्री की दशा ससाररूपी वन मे हो जाती है। घोर अटवी पार करके जाने वाला यात्री अगर उस अटवी मे पानी-पानी पुकारता है तो उसकी प्यास जब नही बुझती, तब आखिर वह हार-थक कर पानी के नाम से जो भी चीज मिल जाती है, उसे पी कर मन को मना लेता है, मगर उससे उस यात्री की प्यास बुझती नही, इसी प्रकार ससाररूपी घोर अटवी पार करके जाने वाला अध्यात्मयात्री भी परमात्मा के सम्यग्दर्शन की प्यास लगने पर दर्शन-दर्शन शब्द की रट लगाता है और जब उसे सच्चा दर्शन नही मिलता, तब आखिरकार हार-थक कर वह जो भी 'दर्शन' मिल जाता है, उसे ही सच्चा मान कर मन को बहलाता है, लेकिन उसकी सद्दर्शन की जो प्यास थी, वह मिटती नही। फलतः प्यास बनी की बनी रहती है। यह ठीक उसी तरह है, जैसे किसी को अमृत पीने की इच्छा हो, वह अमृत के बदले अमृत के नाम से विषपान कर ले, अथवा गगाजल मे अवगाहन करने की इच्छा वाला व्यक्ति तलैया के गंदे व छिछले पानी मे अवगाहन कर ले। या गुलाब के सुगन्धित फूल के बदले गुलाबी रग के निर्गन्ध टेसू के फूल प्राप्त कर ले। कई बार अंशदर्शन (आशिक सत्य) विषपान जैसा बन जाता है, उसी को सर्वाशदर्शन (सत्य) मान कर प्राणी वही फंस जाता है, उसका आगे का विकास या गुणस्थान क्रम रूक जाता है। असल मे अमृत-दर्शन का अर्थ है–अमर होने का दर्शन। बाह्य क्रियाकाण्ड से अनुप्राणित या भौतिक दर्शन अथवा लौकिक सुखो की पूर्ति करने वाला दर्शन अमरता या अमृत का दर्शन नहीं है। उससे चाहे स्वर्गप्राप्ति हो जाती हो, या

मनुष्यगति प्राप्ति हो जाती हो, मगर है यह जन्ममरण का चक्र, ससार (मृत) की प्राप्ति ही। इसलिए जिसे जन्ममरण के चक्र से मुक्त हो कर अमृतत्त्व के दर्शन पाने या उन परमात्मा के अमृतत्त्व के दर्शन पाने की इच्छा है, वह इस मृतत्त्व (जन्म-मरण के) चक्र में फॅसाने वाले दर्शन को पकड ले तो उसके लिए यह विषपान तुल्य ही होगा। उसकी अमृतपिपासा उस विषपानतुल्य विपरीत दर्शन, ससारमार्ग मे भटकाने वाले कुदर्शन या भौतिक दर्शन से कैसे मिट सकती है?

कई बार सामान्य साधक यह मान लेते है कि वीतराग देव, पचमहाव्रती गुरु और वीतरागकथित धर्म इन तीनो का पाठ गुरु के मुख से सुन लेने से और तथाकथित अमुक वेष व अमुक क्रिया वाले गुरु को गुरु बना लेने मात्र से वीतराग-परमात्मा के सम्यग्दर्शन की प्राप्ति हो गई। परन्तु सम्यग्दर्शन की प्राप्ति इतनी सुलभ नही है। सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के लिए आत्मा की शुद्धस्वरूप और तदनुसार शुद्ध आत्मदशा को प्राप्त देव (फिर उनका नाम चाहे जो हो, वे किसी भी धर्मतीर्थ मे हुए हो। अथवा शुद्धात्मदशा को प्राप्त करने के लिए परभावो के प्रति आसक्ति, मूर्च्छा, मोह आदि को छोड कर साधना करने वाले (वे चाहे जिस पथ, धर्म-सम्प्रदाय या वेष के हो) गुरु या स्वर्गादि प्राप्ति के कराने वाले मोह (प्रेय) मार्ग-जन्ममरण के पथ को छोड कर मोक्षमार्ग पर ले जाने वाले धर्म को धर्म मानना, विश्वास करना और अपनी आत्मा को इसी शुद्ध आत्मभाव रमण वाले पथ पर ले जाने के लिए अहर्निश प्रयत्न करना आवश्यक है। अन्यथा, वीतराग परमात्मा के सम्यग्दर्शन के बदले अन्धविश्वास गुरुंडमवाद, झूठा सतोष, सच्चे आत्मविकास मे रुकावट आदि चीजे ही पल्ले पडेगी। फिर तो हर कोई पढा-लिखा तथाकथित व्यक्ति वेष पहन कर भोलेभाले व्यक्तियों के कान मे यह मन्त्र-"देवअर्हन्त, गुरु निर्ग्रन्थ (अथवा अमुक नाम वाला) और केवली प्ररूपित धर्म, ये तीन करो स्वीकार, हो जायेगा बेडा पार" फूॅक देगा और लाखो तथाकथित सम्यग्दर्शनी अनुयायी आसानी से बना लेगा। जैसा कि अनेक धर्म-सम्प्रदाय के लोगो मे देखा जाता है।

श्रीआन्दघनजी को इसीलिए कहना पडा-'**मत मत भेदे रे जो जई पूछिए सहु थापे अहमेव**'। सभी मतपथवादी अपने-अपने मत-पंथ या अपने नाम की समकित (सम्यक्त्व) दे कर वीतराग-परमात्मा के सम्यग्दर्शन के नाम से अपना सिक्का चलाने का प्रयास करते देखे जाते है और वह तथाकथित

सम्यग्दर्शन अमृत के बदले जहर का काम करता है–परस्पर विभिन्न धर्मसम्प्रदायों, पंथो, मतों के झगडे बढा कर वैर-विरोध फैला कर; रागद्वेष बढा कर। ऐसे तथाकथित सम्यगदर्शनियों में मेरे-तेरे की, अपने उपाश्रयों, मान्यताओं, परम्पराओ व अनुयायियों के अहंत्व-ममत्व बढाने और दूसरों को नीचा दिखाने उनके प्रभाव को फीका करने की होड लगती है। इन सारी प्रक्रियाओं मे तथाकथित सम्यग्-दर्शन या सम्यग्दर्शन प्राप्त कराने के दावेदार आत्मदृष्टि को ताक मे रख कर या परमात्मा या आत्मा के तत्त्वज्ञान की जोर-शोर से रट लगा कर उसकी ओट में प्रायः शरीरदृष्टि बन जाते है। वे शरीर से सम्बन्धित बातो-बढिया खानपान, सम्मान, प्रतिष्ठा, अनुयायियो की वृद्धि, शरीरपोषण, अहकारपोषण, या राग-द्वेषवर्धक प्रवृत्तियो मे ही अधिक संलग्न नजर आते है।

इसीलिए आनन्दघनजी इस तथाकथित लेबल वाले सम्यग्दर्शन से सतुष्ट नही है, वे इसे अमृतपान के बदले विषपान समझते है। अत वे इसे न अपना कर अगली गाथा मे परमात्मा के सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के लिए कृतसंकल्प हो कर पुकार उठते है–

तरस न आवे हो मरण-जीवन तणो सीझे जो दरसणकाज।
दरसण दुर्लभ सुलभ कृपा थकी, 'आनन्दघन' महाराज।।
अभिनन्दन.।।6।।

अर्थ–**अगर आपके (परमात्मा) दर्शन का कार्य सिद्ध हो जाय, तो मुझे जीवन या मृत्यु के कष्ट की कोई परवाह नहीं है। अथवा यदि आपके दर्शन की प्राप्ति का मेरा काम बन जाय तो फिर मुझे जीवन (जन्म) मरण के चक्र में भटकने का त्रास (कष्ट) नहीं रहेगा–सदा के लिए मिट जाएगा। सामान्यरूप से तो दर्शन दुर्लभ है, तथापि आनन्द के समूहरूप आप जिनराज (परमात्मदेव) की कृपा हो जाय तो यह सुलभ भी है।**

भाष्य–दर्शनकार्य की सिद्धि के लिए जीवनमरण की बाजी लगाने को तैयार

आध्यात्मिक जीवन में मोक्षयात्री के लिए परमात्मदर्शन या सम्यग्दर्शन सबसे महत्वपूर्ण वस्तु है; यो कहा जाय तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी कि सम्यग्दर्शन का अंक एक है और ज्ञान, चारित्र, तप, वीर्य, उपयोग आदि बिंदियाँ हैं। जैसे एक के न होने पर बिदियो का कोई मूल्य नहीं होता; वैसे ही सम्यग्दर्शन न हो तो ज्ञान, चारित्र, तप, नियम, संयम, वीर्य, उपयोग आदि की

कोई कीमत नही है। सम्यग्दर्शन के अभाव में ज्ञान, चारित्र आदि सब भवभ्रमण में वृद्धि करने वाले है, भय से मुक्ति दिलाने वाले नहीं। सम्यग्दर्शन के अभाव में चाहे जितना तप कर ले, चाहे जितना शरीर को कष्ट दे ले, चाहे जितनी कठोर क्रिया कर ले, चाहे जितना आचार पालन कर ले, वे सब मुक्ति के कारण नहीं बनते; उनसे स्वर्गादि भले ही प्राप्त हो जाय, वे जन्ममरण के बन्धन को काटने वाले नही बनते। उत्तरोत्तर आत्मविकास भी तभी होता है, जब सम्यग्दर्शन के साथ ज्ञान और चारित्र हो। गुणस्थानश्रेणी पर भी जीव तभी चढता है, जब उसमें सम्यग्दर्शन हो। कोरे वेष का, थोथी क्रियाओ का, विद्वता, पाण्डित्य या शास्त्रो के गम्भीर अध्ययन का सम्यग्दर्शन के बिना कोई मूल्य नहीं है। आत्मविकास मे ये वस्तुएँ तभी मदद दे सकती है, जब सम्यग्दर्शन इनके मूल मे हो। जिसका दर्शन (दृष्टि) सम्यक् हो जाता है, उसे शास्त्रो की, तत्त्वो की, हेय-ज्ञेय-उपयोग की, वस्तुस्वरूप को समझने की, अध्यात्मदृष्टि से किस वस्तु का, कहाँ, कितना और कैसा उपयोग या सम्बन्ध है? इन सब बातो की यथार्थ समझ आ जाती है, आत्मभाव पर ठोस श्रद्धान हो जाता है, समस्त जीवों को आत्मा की दृष्टि से देखने मे वह अभ्यस्त हो जाता है, समस्त शास्त्रो, धर्मो, दर्शनो, मतो, पथों, धर्मग्रन्थो, धर्मधुरधरो, महापुरुषो आदि तथा ससार के समस्त पदार्थो को वह आत्मा की कसौटी पर कस कर जाँचने-परखने लग जाता है। प्रत्येक वस्तु मे निहित सत्यो व तथ्यो की छानबीन वह कर सकता है। यही सच्चा आत्मदर्शन और यही सच्चा परमात्मदर्शन है। वीतराग का सम्यग्दर्शन भी यही है। इसे पाकर व्यक्ति निहाल हो जाता है, जन्म-मरण के अनेकानेक चक्करों को काट देता है, उसका ससार-परिभ्रमण सीमित हो जाता है और प्राणी के जीवन मे सबसे बडा कष्ट जन्म-मरण का है, क्योकि जन्म लेने के बाद मृत्यु पर्यन्त प्राणी सम्यग्दर्शन के अभाव मे अज्ञान व मोह के वशीभूत हो कर अनेक अनर्थकर व तीव्र अशुभकर्मबन्धक प्रवृत्तियाँ कर बैठता है, अपने लिए फिर जन्ममरण के चक्र बढाता रहता है। यही दु खो की परम्परा का मूल कारण है। अतएव श्रीआनन्दघनजी कहते है कि अगर दर्शन-प्राप्ति का मेरा कार्य सिद्ध होता हो तो मै जीवन-मरण की बाजी लगाने को तैयार हूँ। मुझे जिदगी में चाहे जितने कष्ट सहने पडे, मेरी जिदगी चाहे आफतो के कगार पर खडी हो, मुझे मारणान्तिक कष्ट भी क्यो न सहना पडे, चाहे मेरी मृत्यु ही सामने खडी हो, अथवा चाहे मुझे कई जीवन क्यो न धारण करने पडे, मुझे इसका कोई रज

नहीं, न मुझे जिदगी या मौत की प्यास है, जिंदगी रहे या जाय, मौत भले ही आज ही आ जाय, मुझे इन पर कोई तरस नही आती; न मुझे जिंदगी से मोह होगा, और न ही मृत्यु से नफरत। अगर प्रभु के सम्यग्दर्शन की उपलब्धि होती हो तो मै हजार जिदगियॉ न्यौछावर करने को तैयार हूॅ। यह हुआ इस पक्ति का एक अर्थ, जो अधिक संगत जचता है।

इसका दूसरा अर्थ इस प्रकार भी किया गया है कि अगर वीतरागप्रभु के दर्शन का मेरा कार्य सिद्ध हो जाय तो मुझे फिर इतने जन्म-मरण के त्रास नही रहेगे। यानी मेरे जन्म-मरण के कष्ट कम हो जायेगे, क्योकि सम्यग्दर्शन प्राप्त होने पर (ससार=जन्ममरण का चक्र) परित्त (सीमित) हो जाता है।

पहले अर्थ मे श्रीआनन्दघनजी की सम्यग्दर्शन-प्राप्ति की तीव्र तमन्ना, अपूर्व उत्सर्गभावना प्रगट होती है, उसके लिए वे जीवन-मरण की बाजी लगाने को तैयार हो जाते हैं। जिस प्रकार धन या बहुमूल्य रत्न आदि की प्राप्ति के लिए मनुष्य अनेक प्रकार के कष्ट सहन करने को तैयार हो जाता है, इतना ही नहीं, अपनी जान हथेली पर रख कर, या गोताखोरो की तरह मरजीवा बन कर अभीष्ट वस्तु को प्राप्त करने का भरसक प्रयत्न करता है, वैसे ही श्रीआनन्दघनजी भी मानो दर्शनपिपासु लोगो को दर्शनप्राप्ति का उपाय बताते हुए कहते है-भव्य जीवो! परमात्मदेव (शुद्ध आत्मदेव) के दर्शन की प्राप्ति के लिए जीवन और मरण की परवाह मत करो, तन, मन, धन, साधन सभी वस्तुऍ इस पर फना कर दो, इसके लिए जो भी कष्ट आऍ, सहने को तैयार रहो।

दूसरे अर्थ के अनुसार श्रीआनन्दघनजी दर्शनकार्य की सिद्धि का फल बताते है, कि अगर दर्शनकार्य सिद्ध हो जायगा तो जन्म-मरण का त्रास नहीं रहेगा, अपार जन्म-मरण का वह कष्ट मिट जायगा या कम हो जायेगा।

दुर्लभ दर्शन-कृपा से सुलभ

पूर्वोक्त गाथाओ द्वारा श्रीआनन्दघनजी दर्शन की दुर्लभता का विभिन्न पहलुओ से प्रतिपादन कर चुके। दर्शनप्राप्ति के मार्ग मे कितनी अडचने है? दर्शनप्राप्ति के लिए व्यवहारिक, मानसिक, आध्यात्मिक आदि दृष्टियों से कौन-कौन से उपाय हैं? यह बात भी उन्होंने इस स्तुति में दिल खोल कर प्रभु के समक्ष रख दी। परन्तु अन्त में हार-थक कर वे परमात्मा के सामने घुटने टेक कर कहते हैं-"आपका दर्शन तो दुर्लभ है, परन्तु है आनन्दमूर्ति देव! आपकी कृपा से सुलभ भी है। मतलब यह है कि श्रीआनन्दघनजी मानो अपना बौनापन

जाहिर करते हुए कहते है–दर्शनरूपी अमृतफल जो परमात्मारूपी तरु मे लगे हुए है, पाने तो है, पर मै तो अभी उन्हें पाने में अक्षम हूँ, बौना हूँ। मुझ पर परमात्मा की कृपा हो जाय तो दुर्लभ दर्शन भी सुलभ हो सकता है। निष्कर्ष यह है कि श्रीआनन्दघनजी से यह अमृतफल छोडा भी नही जाता, किन्तु साथ ही पाने की दुर्लभता भी है। दर्शन की महत्ता के साथ-साथ उसकी दुर्लभता भी प्रतीत होती है। मगर वे इस दुर्लभता को सुलभता मे परिणत करने के लिए कटिबद्ध है, परमात्म-कृपा द्वारा। देखना यह है कि वह परमात्मकृपा कैसे प्राप्त होती है? यह बात आत्म-अर्पण के सन्बन्ध मे की गई अगली (सुमतिनाथ प्रभु की) स्तुति से स्पष्ट की गई है।

आनन्दघन-परमात्मा की कृपा क्या व कैसे?

प्रभुकृपा से दुर्लभ दर्शन सुलभ होने की बात पर विचार कर लेना आवश्यक है, क्योंकि जिस धर्म या दर्शन मे ईश्वर को सृष्टिकर्ता माना जाता है, वहां ईश्वर–अनुग्रह या प्रभुकृपा से किसी भी वस्तु की प्राप्ति होने की बात मानी जा सकती है, परन्तु सृष्टि को अनादि मानने वाले जैनदर्शन में परमात्मा की कृपा को क्या स्थान हो सकता है? यह विचारणीय प्रश्न है। वीतराग परमात्मा तो पर कर्ता-हर्ता है नही, न कुछ लेते-देते है। फिर भी जैन दृष्टि से प्रत्येक कार्य के होने मे निमित्त कारणो मे जो 5 कारण–समवाय आवश्यक माने हैं, उनके अतिरिक्त भी अनेक निमित्त कारण हो सकते है, वैसे निमित्त कारणो मे से एक कारण 'परमात्मा' हो सकते है। ऐसा मानने मे सैद्धान्तिक दृष्टि से कोई आपत्ति भी नही है। सभी प्राणी एक साथ तो मोक्ष मे जाते ही नहीं है, परन्तु परमात्मा की कृपा तो सबको मोक्ष मे ले जाने की है, और रही है। आवश्यकनिर्युक्ति मे सिद्धो (परमात्मा) और आत्मा के गुणो का शाश्वतभाव वर्णित है। सिद्ध (परमात्मा) की उपकारकता शाश्वतभाव को ले कर है। इस तत्त्वदृष्टि से प्रभुकृपा को आगम मे अतिमहत्त्वपूर्ण स्थान दिया गया है।

मूल में तो स्वयं आत्मा, जो उपादानकारण है, इतनी प्रबल होनी चाहिए कि वह परमात्मदर्शन के योग्य बन सके। इसीलिए निश्चयदृष्टि से वे अपनी आनन्दघनरूप वीतराग शुद्धस्वरूप आत्मा को ही सम्बोधित करते हुए कहते है– हे अनन्त आनन्द के धाम आत्मा, तेरी कृपा हो जाय, यानी तू इतनी सशक्त, समर्थ और कार्यक्षम बन जाय तो तू आसानी से परमात्मदर्शन या शुद्धात्म-दर्शन कर सकती है। जब आत्मा शुद्धात्मभाव की ओर तीव्रता से

बढती है, तो अनायास ही सिद्ध-परमात्मा की कृपा प्राप्त हो जाती है। आत्मा का शुद्धता की ओर बढना ही परमात्मा का वास्तविक दर्शन है, अथवा सम्यग्दर्शन का लाभ है।

सारांश—इस स्तुति मे श्रीआनन्दघनजी ने परमात्मा के दर्शन (सम्यग्दर्शन) की महत्ता और दुर्लभता के विभिन्न कारणो का उल्लेख करते हुए वर्णन किया है। मतपथवादियो का अपने मत की स्थापना का आग्रह, हेतु (तर्क) वाद, नयवाद, और आगमवाद, घातीकर्मपर्वत-निवारण, पथप्रदर्शक का साथ, दर्शन की रट, आदि सभी उपायो से परमात्मदर्शन की दुर्लभता सिद्ध की है। घातीकर्मपर्वतों को हटाना तथा दर्शनकार्य की सिद्धि के लिए जीवनमरण की बाजी लगाना, ये दो दर्शनप्राप्ति के उपादानकारण है, जिनके प्रगट होने पर कार्य अवश्य होता है। बाकी के सब निमित्त कारण तो उपादानकारण के शुद्ध और योग्य होने पर प्रायः अपने-आप ही अनुकूल बन जाते है।

सचमुच, परमात्मा के सम्यग्दर्शन के सम्बन्ध मे श्रीआनन्दघनजी ने विभिन्न पहलुओ से वर्णन करके कमाल कर दिखाया है।

वास्तव मे सम्यग्दर्शन का स्वरूप, व्यवहार और निश्चय दोनो दृष्टियो से विचारणीय है। साथ ही सम्यग्दर्शन के प्रकार, इसके गुणस्थान, इसे पुष्ट करने वाले 8 गुण, इसकी प्रगति व फल के सम्बन्ध मे तीन (योग) शुद्धि, शुश्रुषादि तीन लिग, क्षमादि 5 लक्षण, शकादि 5 दूषण, 5 भूषण (स्थैर्य, प्रभावना, भक्ति, कुशलता और तीर्थसेवा), प्रावचनी आदि 8 प्रभावक, रायाभियोगेणं आदि 6 आगार, तत्त्वज्ञान-परिचय आदि 4 सद्दहणा, 6 जयणा (कुदेव और कुगुरु के साथ वन्दन, नमन, दान, प्रदान, आलाप, संलाप, इस तरह 6 प्रकार का व्यवहार न रखना), 6 भावना (आलकारिक शब्द, मूल, द्वार, नींव, निधान, आधार, भाजन), 6 स्थान (अस्ति, नित्य, कर्त्ता, भोक्ता, मुक्ति, उपाय) अरिहत आदि 10 विनय, इस प्रकार सम्यग्दर्शन के 67 बोल (अधिष्ठान) विशेष रूप से जानने योग्य हैं। दर्शन आत्मा का मूलगुण है, मोक्ष का द्वार है, धर्म का मूल है। इस पर जितना भी मनन किया जाय, थोडा है।

***

5: सुमतिनाथ-जिन-स्तुति–

परमात्मा के चरणों में आत्मसमर्पण

(तर्ज–राग-वसंत, तथा केदारो)

सुमतिचरणकज आतम-अर्पणा, दर्पण जिम अविकार, सुज्ञानी।
मतितर्पण बहुसम्मत जाणीए, परिसर्पण सुविचार, सुज्ञानी।।
सुमति. 1।।

***अर्थ*–हे सुज्ञानी! इस अवसर्पिणी काल के पंचम तीर्थंकर श्री सुमतिनाथ परमात्मा के दर्पण की तरह निर्मल निर्विकार चरणकमल (अथवा कमलवत् निर्लेप चारित्र) में अपनी आत्मा को समर्पित (अर्पण) करना वास्तव में अपनी बुद्धि को तृप्त (संतुष्ट) करना है; और इस बात को बहुजन-सम्मत (मान्य) समझो। ऐसा करने से आत्मा में (या जगत् में) सद्विचारों का प्रचार-प्रसार होगा।**

***भाष्य*–आत्म-समर्पण क्यों?**

पूर्वस्तुति मे परमात्मा के दर्शन की दुर्लभता का वर्णन करते हुए श्रीआनन्दघनजी ने अन्त मे परमात्मा की कृपा से उसकी सुलभता बताई, परन्तु परमात्मा की कृपा तभी प्राप्त हो सकती है, जब साधक अपनी आत्मा को परमात्मा के चरणों मे '**अप्पाणं वोसिरामि**' (मै अपने आपका व्युत्सर्ग–न्यौछावार–बलिदान करता हूँ) कर दे, अपने आपको सर्वतोभावेन समर्पण कर दे। इसलिए श्रीसुमतिनाथ तीर्थंकर की स्तुति के माध्यम से इस स्तुति मे आध्यात्मिक साधक के लिए परमात्मा के चरणो मे अपनी आत्मा को समर्पित करने की बात पर जोर दिया है।

कई बार साधक अपनी स्वच्छन्द वृत्ति-प्रवृत्तियो, स्वार्थो, स्पृहाओ या नाम=नाकामनाओ को छोडे बिना ही आत्मविकास के पथ पर आगे बढना चाहता है। अथवा तथाकथित प्रभु के आगे नाच-गा कर, उनकी जय बोल कर, उनके गुणगान करके, उनकी चापलूसी करके, बिना कुछ त्याग व पुरुषार्थ किये सिर्फ उनको रिझा कर उनकी कृपा प्राप्त करना चाहता है, अथवा

नाटकीय ढंग से औपचारिक रूप से शब्दो से कहता है–"यह सब प्रभु का है, परन्तु अन्तर मे सभी चीजो पर अहत्व-ममत्व का सर्प फन फैलाए बैठा रहता है, प्रभु की आज्ञा की ओट मे सभी कार्य मनमाने ढंग से करता है, स्वच्छन्द प्रवृत्ति करता है। परन्तु ये सब आत्मा के निजी (अनुजीवी) गुणो के विकास मे बाधक है; इसी दृष्टि से श्रीआनन्दघनजी को कहना पडा–आत्मसमर्पण, और वह भी निर्दोष, नि.स्पृह, निर्विकारी परमात्मचरणो में किये बिना आत्मविकासेच्छुक साधक की कोई गति नहीं है। इसके बिना उसके संकल्प-विकल्प मिट नहीं सकते, उसकी बुद्धि को सन्तोष नहीं हो सकता उसके तन-मन को शान्ति नहीं मिल सकती। और जब तक विकल्प और योगों का चापल्य कम नहीं होगा, तब तक आत्मविकास होना दुष्कर है; परमात्मभक्ति होनी कठिन है। इसीलिए परमात्मभक्ति[1] के लिए आत्म-समर्पण व शीष-समर्पण संत कबीरजी ने अनिवार्य बताया है।

आत्म-समर्पण का स्वरूप

सर्वप्रथम सवाल यह है कि आत्मसमर्पण क्या है? इसका स्वरूप क्या है? जब तक इसे समझ न लिया जाय, तब तक आत्मसमर्पण की बात अधूरी और औपचारिक या शाब्दिक ही रहेगी।

जैनदर्शन मे 'विनय' में उसका समावेश किया गया है, उसके लिए जैनशास्त्रो में **'अप्पाणं वोसिरामि'** शब्द का प्रयोग जगह-जगह किया गया है उसका तात्पर्य है–अपनी अहंता-ममता, अपनी लालसा, अपनी इच्छा-कामना, वासना, अपनी स्वच्छन्दता, अपना स्वार्थ, अपनी समस्त उद्दाम एवं चंचल वृत्तियॉं, अपने गुप्त मनोभाव, अपने समस्त दुर्विचारो, दुष्कार्यो व अपनी तमाम सावद्य प्रवृत्तियों का सर्वतोभावेन उत्सर्ग (त्याग) करके परमात्मा के चरणो में अपनी बुद्धि, इन्द्रियॉं, मन, वाणी आदि सबको समर्पण करना। मुनि बनने के बाद पादाघात के कारण संयम से विचलित होने पर मेघकुमार को जब श्रमण भगवान् महावीर ने विभिन्न युक्तियों द्वारा समझाया तो उसने अपनी भूल स्वीकार कर ली और प्रायश्चित द्वारा आत्मशुद्धि करके प्रभु महावीर के समक्ष प्रतिज्ञा कर ली कि "आज से जीवनपर्यन्त सिर्फ ऑख के सिवाय, मेरे समस्त

1 "भक्ति भगवंत की बहुत बारीक है।
शीष सौंप्यां बिना भक्ति नाहीं।।"

अंगोपांग, मन-बुद्धि-इन्द्रियादि सब आपको समर्पित है, ये सब आपकी आज्ञा से बाहर नहीं चलेंगे।'[1] आज्ञा में ही धर्म है, आज्ञा में तप है, इसका भी आशय आत्मसमर्पण से है।[2] चार शरणों का स्वीकार करना भी आत्मसमर्पण के अन्तर्गत है।

वैष्णव-सम्प्रदाय मे प्रभुभक्ति की दृष्टि से समर्पण करने की बात का उल्लेख भगवद्गीता[3] एवं भागवत् आदि धर्मग्रन्थों मे जगह-जगह किया है। वहॉ 'सर्वस्व अर्पण' का अर्थ यही किया गया है कि तूने जो कुछ सत्कार्य, सद्विचार, सदाचार, सद्व्यवहार, या सद्नुष्ठान किये है, उन सबको प्रभुसमर्पण कर।[4] तेरे बुद्धि, मन, इन्द्रियॉ, वाणी आदि सब अवयव तथा मेरे पास जो कुछ भी अपने माने हुए तन, मन, धन, साधन, परिवार, सन्तान, प्रतिष्ठा, सम्प्रदाय आदि है, उन्हें प्रभु के चरणो मे समर्पण कर दे, और कह दे **'इदं न मम'**(यह मेरा नही है, प्रभु आपका ही है।) ईश्वर–कर्तृत्ववाद की दृष्टि से समस्त पदार्थ, शरीर, धन आदि भगवान् के दिये हुए माने जाते है, इसलिए समर्पण करते समय भक्ति की भाषा मे भक्त यही कहता है– "प्रभो! आपकी दी हुई वस्तु आपको ही समर्पित करता हूॅ।[5] सर्वस्व-समर्पण में खाने-पीने-पहिनने से लेकर व्यापार, आजीविका, अध्ययन करना, भोजन बनाना, आदि जो भी सत्प्रवृत्तियॉ है, उन सबमे ममत्वबुद्धि का त्याग करना आवश्यक होता है। यदि समर्पण नाटकीय तौर पर न हो तो समर्पणकर्ता यही मानता है कि मैने जो भी सत्कार्य किये, वे किसी कामनावृत्ति से नही, केवल निष्कामभाव से अर्थात् प्रभुकृपा से या प्रभुप्रीत्यर्थ किये है, उनके शुभफल का श्रेय भी प्रभु को हो। इस प्रकार के समर्पण मे भक्त प्रत्येक शुभ कार्य निष्कामभाव से करता है तो अहंता-ममता या स्वच्छन्दता की, वृत्ति किसी प्रकार के बदले या शुभफल की आकाक्षा या अपेक्षा नही रह सकती। इस प्रकार के समर्पण से अहकर्तृत्व, ममकर्तृत्व का

1 'आणाए धम्मो, आणाए तवो'
2. 'अरिहंते सरणं पवज्जामि, सिद्धेसरणं पवज्जामि' आदि।
3. 'मय्यर्पितमनोबुद्धिः' (मेरे मे मन और बुद्धि को अर्पित कर)
4. तत् कुरुष्व मदर्पणं (तेरे समस्त कार्यों को मेरे अर्पण कर)
5. त्वदीयं वस्तु गोविन्द ! तुभ्यमेव समर्पये।

त्याग हो जाने से भक्त प्रभु मे तन्मय, तल्लीन और तद्रूप हो जाता है। इस प्रकार का तादात्म्य स्थापित करना और नि स्पृह वृत्ति रखना ही समर्पण का कार्य है।

आत्मसमर्पण किसको किया जाय?

आध्यात्मिक साधक के लिए आत्म-समर्पण करने की बात तो समझ मे आती है, परन्तु किसके समक्ष किया जाय? क्योकि जगत् मे देखा जाता है कि साधारण व्यक्ति अपने से विशिष्ट सत्ता, प्रभुता, शक्ति, और वैभव वाले शासक, सम्राट, पदाधिकारी, शक्तिशाली, या वैभवशाली के आगे समर्पण कर देता है, विजेता के सामने पराजित अपने हथियार डाल देता है, वह स्वय को उन-उन विशिष्ट शक्तिशाली देवो या प्रभुओ के अधीन (Surrender) कर देता है। इसी प्रकार लौकिक व्यवहार मे भी कई ब्रह्मा, विष्णु, महेश आदि विशिष्ट देवो या दुर्गा, काली, भवानी, चण्डी, चामुण्डा, सरस्वती, लक्ष्मी आदि विशिष्ट देवियो के आगे व्यक्ति नतमस्तक हो कर सर्वस्व-अर्पण करता है, नैवेद्य (चढावा) चढाता है।

अथवा परमात्मा के नाम से कई रागी, द्वेषी, भौतिक, ऐश्वर्य-सम्पन्न प्रभु को सर्वस्व-समर्पण कर देता है।

इसी बात को दृष्टिगत रख कर श्रीआनन्दघनजी आध्यात्म-विकास-पथिक साधको के लिए इसी गाथा में आत्मार्पण की बात स्पष्ट करते है– **"सुमतिचरणकज आतम-अर्पणा, दर्पण जेम अविकार, सुज्ञानी!"**–'हे आत्मज्ञानी! अध्यात्म-विकास-तत्पर! दर्पण की तरह निर्मल (निर्विकार) श्रीसुमतिनाथ वीतराग (परमात्मा) के चरण मे आत्म-समर्पण करो।' यहॉ प्रभुचरण को दर्पण के समान निर्विकार इसलिए बताया है कि जैसे दर्पण पर अच्छी-बुरी सभी वस्तुओ का प्रतिबिम्ब पडता है, लेकिन दर्पण पर उनका कोई असर नहीं होता, वह स्वच्छ और निर्मल रहता है; वैसे ही प्रभु का चरण भी निर्मल निर्विकार रहता है, उस पर भी संसार के विकारों का कोई असर नहीं होता, उनके ज्ञान मे सभी अच्छी–बुरी वस्तुओ की झलक पडती है, लेकिन उन पर कोई असर नही होता। यहॉ सुमतिनाथ नामक पॉचवें तीर्थकर की स्तुति का प्रसंग होने से 'सुमतिचरण कहा है', परन्तु 'दोषरहित वीतराग परमात्मा का चरण' ही समझना चाहिए। चूँकि इस स्तुति मे आत्मसमर्पण करने वाला व्यक्ति मुमुक्षु है, अध्यात्म–रसिक है, वीतराग का राही है, इसीलिए 'सुज्ञानी' शव्द से उसे सम्बोधित किया गया है। इस कारण ऊपर बताए हुए किसी भौतिक

शक्तिशाली, वैभवशाली, योद्धा या रागी-द्वेषी प्रभु के चरणो मे आत्मसमर्पण करने का तो सवाल ही नही उठता। जो काम, क्रोध आदि अठारह दोषो से रहित, निर्विकारी, निःस्वार्थ, निःस्पृहा, समभावी वीतराग परमात्मा है, (उनका नाम चाहे जो हो) उन्ही के चरणों मे आत्मसमर्पण करना चाहिए। रागी, द्वेषी या लौकिक व्यक्ति या भौतिक शक्ति के आगे समर्पण करने से सुज्ञानी के आत्मगुणों का विकास होने के बदले ह्रास ही होगा।

अध्यात्मविज्ञान का एक सिद्धान्त है कि **'यादृशी भावना यस्य सिद्धिर्भवति तादृशी'** जिसकी जैसी भावना होती है, वैसी ही कार्यसिद्धि हो जाती है। जो जिस पर श्रद्धा रखता है, वह वैसा ही बन जाता है।[1] इसके अनुसार अगर कोई साधक भौतिक-शक्तिसम्पन्न देख कर कामी, क्रोधी, विकारी को अपना आदर्श मान कर उसके चरणो मे समर्पण कर देता है, उसके प्रति पूर्ण श्रद्धा रखता है, तो उसके भी वैसा ही बन जाने की सम्भावना है; उससे उसकी आत्मशक्तियाँ प्रगट नही हो सकेगी, उसके आत्मगुणो का विकास नही हो सकेगा। इसलिए आदर्श को छोटा या नीचा कदापि नहीं बनाना चाहिए। यही कारण है कि इस स्तुति मे निर्दोष एव निर्विकारी-वीतराग परमात्मा के चरणो मे साधक को आत्मसमर्पण करने का कहा गया है। यानी अध्यात्म-साधक को अपना आदर्श, श्रद्धेय या, आराध्य निर्दोष, निर्विकारी परमात्मा को मानता है, उन्हीं के चरणो मे अपना सर्वस्व समर्पण करता है।

परन्तु यह सब कथन भक्ति की भाषा मे व्यवहारनय की दृष्टि से है। निश्चयनय की दृष्टि से अर्थ होगा—आत्मा का दर्पण की तरह निर्विकारी (शुद्ध) परम आत्मा (परमात्मा) में समर्पण करना। अथवा चरण चारित्र को कहते है, इस दृष्टि से इसका अर्थ यह भी हो सकता है कि वीतराग-उपदिष्ट निर्लेप (कमलवत्) व निर्दोष चारित्र में अपनी आत्मा को तल्लीन—तन्मय कर देना या आत्मा के परमशुद्ध स्वरूप मे अपने आपको लीन कर देना। यही कारण है कि 'विनय' के चार भेदो मे ज्ञान-दर्शन-चारित्र के विनय को अध्यात्म-साधना मे अत्यधिक महत्त्वपूर्ण माना गया है।

आत्मसमर्पण से लाभ और उसका महत्त्व

इस प्रकार के आत्मसमर्पण से अध्यात्मपथिक को भौतिक लाभ तो

1 **यो यच्छ्रद्धः स एव सः—भगवद्गीता।**

अनेको है। सर्वस्व-समर्पण कर देने से सबसे बडा लाभ तो यह है कि व्यक्ति निश्चित हो जाता है; किसी भी शुभकार्य के हानि-लाभ के समय मन के पलडे पर मानसिक चिन्ताओ का उतार-चढाव नही होता, मानसिक सन्तुलन या समत्व बना रहता है, कार्य बिगड जाने पर मनुष्य मनः कल्पित या अकल्पित निमित्तो को कोसने, या उन्हे भला-बुरा कहने की प्रवृत्ति से छूट जाता है और कार्य भलीभॉति सिद्ध होने पर भी अपने या अपनो को निमित्त मान कर मनुष्य अहकार मे फूल जाता है, प्रतिष्ठा-प्राप्ति और श्रेय के लूटने की धुन मे वह विविध मदो मे झूम कर अपनी आत्मा को नीची गिरा लेता है, अपने विकास का अधिक मूल्याकन करके आगे के विकास से अपने को वचित कर देता है। परन्तु परमात्म-समर्पण करने के बाद दोनों ही अवस्थाओ मे वह अपने समत्व पर, उपादान पर स्थिर रहेगा। इससे उसकी बुद्धि को बहुत सतोष मिलेगा।

भक्तिमार्गीय सर्वस्व-समर्पण की दृष्टि से देखे तो भी कई लाभ प्रतीत होते है। क्योकि बहुत-सी बार साधक को फलाकांक्षा थका देती है, वर्षो तक साधना करते-करते वह उब जाता है और झटपट सफलता-प्राप्ति न होने पर वह तिलमिला उठता है और झुझला कर सत्कार्य या सत्पथ को भी छोड बैठता है। ऐसी दशा मे परमात्म-समर्पित व्यक्ति को फलाकांक्षा (काक्षा) नही सताएगी। वह निष्काक्ष, नि·शकित और निर्विचिकित्स हो कर साधना के पथ, पर अबाधगति से चलता जायगा। दूसरा लाभ सर्वस्वसमर्पित व्यक्ति को बदले की भावना से छुटकारे का मिलता है। यानी प्रायः साधक किसी की सेवा परोपकार आदि सत्कार्य के बदले उस व्यक्ति से प्रतिष्ठा, नामबरी या कुछ भौतिक लाभ चाहता है, इस प्रकार की सौदेबाजी करके वह साधना को मिट्टी मे मिला देता है। परन्तु परमात्मसमर्पित साधक निःस्पृह व निःस्वार्थभाव से सत्कार्य या सत्पुरुषार्थ करेगा। इससे कांक्षामोहनीय कर्म से बहुत अंशो मे वह साधक बच जायगा।

ईष्ट के वियोग और अनिष्ट वस्तु या व्यक्ति के संयोग से उसे आर्तरौद्रध्यान नही होगा; क्योंकि वह तो सब कुछ भगवच्चरणो में समर्पित कर चुका है। किसी प्रकार का भय, क्षोभ, अस्थिरता या लोम का ज्वार उसे नही दबा सकेगा। क्योकि समर्पण करने पर उसे वैराग्यरूप अभय का वरदान मिल जाता है। सबसे बडा भौतिक लाभ संसारिक लोगो को यह है कि वे सच्चे माने मे परमात्मा के चरणों मे सर्वकार्यो या इच्छाओ को समर्पित कर देते हैं तो फिर

अकार्य या बुरे कार्य मे वे प्रवृत्त नहीं हो सकते, दुर्व्यसनो और पापकार्यो से तो उन्हें फिर बचना ही होगा। जैनसाधकों के लिए तो 'अप्पाण वोसिरामि' करने के बाद समस्त सावद्य (दोषयुक्त) कार्यो को छोडना होता है तथा अपने मन-वचन-काया को पापकार्यो से हटाना अनिवार्य होता है।

समर्पणकर्ता के जीवन मे अहकर्तृत्व और ममकर्तृत्व—जो कि समस्त राग-द्वेषो की जडे है, सभी सासारिक झगडो के मूल है– से भी प्राय पिण्ड छूट जाता है। इन और ऐसे ही दोषो के हट जाने या नष्ट हो जाने पर आत्मसमर्पणकर्ता को आध्यात्मिक लाभ भी अनेको होते है–(1) आत्मा मोहनीय आदि घातीकर्मो को आते हुए रोक (सवर कर) लेती है, (2) आर्त-रौद्र-ध्यान से बच कर धर्म-शुक्लध्यान मे लग जाती है, (3) परभावो मे रमण करने की वृत्ति छोड कर स्वभाव मे रमण करने मे प्रवृत होती है, (4) शरीर और शरीर से सम्बन्धित सभी दुर्भावो या भौतिक पदार्थो, (परभावो-विभावो) के चिन्तन से हट कर आत्म-चिन्तन मे अधिकाधिक जुटती है, (5) आत्मसमाधि प्राप्ति कर लेती है। इसीलिए श्रीआनन्दघनजी ने इस गाथा मे इसके मुख्यतया दो लाभ बता दिये है– मतितर्पण और सुविचार–परिसर्पण। अहंत्व, ममत्व, चिन्ता, कांक्षा, स्वार्थ, दोषारोपण, स्वत्वमोह, आदि सब बुद्धि की उछलकूद का परिणाम है। जब साधक आत्मसमर्पण कर देता है तो बुद्धि की यह सब उछलकूद बन्द हो जाती है, वह स्थिर, शान्त और सन्तुष्ट (तृप्त) हो जाती है कि जब मैने सब कुछ परमात्मा पर छोड दिया है, सब कुछ उन्हे ही सौप दिया है तो मुझे किसी बात की चिन्ता, फलाकाक्षा, निमित्त को श्रेय-अश्रेय देने, मनमाना करने, या अहता-ममता करने की क्या जरूरत है? आत्मा मे समर्पण से पहले जो दुर्विचारो के बादल उमड-घुमड कर आ जाते थे, समर्पण के बाद वे सब फट जाते है और सद्विचारो का सचार आत्मा मे होता रहता है। अथवा आत्मा परभावो मे सचार करना छोडकर स्वभाव या स्वरूप मे रमणता के सुविचारो मे ही सचार करता है अथवा ऐसे सुविचारो मे आगे बढता है।

इस प्रकार के आत्मसमर्पण की बात केवल हम ही नही कह रहे है, इसका महत्त्व प्रत्येक धर्मसस्थापक, प्रत्येक सम्प्रदाय, प्रत्येक मत-पथ और दर्शन मे आका गया है। बडे-बडे धर्मधुरधरो, आध्यात्म-पथ प्रेरको या आध्यात्म-मार्गदर्शको एवं भक्तिमार्गियो ने आत्मसमर्पण को अध्यात्म-पथ पर प्रयाण करते समय आवश्यक माना है। इसलिए आत्मसमर्पण की बात बहुजनसम्मत,

अनेक धर्मपुरुष-मान्य और सार्वजनिक है; केवल हमारी कपोलकल्पित या नई नही है।

परन्तु परमात्मा के चरणो मे आत्मसमर्पण करने के लिए किस प्रकार की आत्मा होनी चाहिए, इस सन्दर्भ मे श्रीआनन्दघनजी अगली गाथा मे आत्मा की तीन मुख्य अवस्थाएँ बताते है–

त्रिविध सकल तनुधरगत आतमा, बहिरातम धुरि भेद, सुज्ञानी!
बीजो अन्तर आतम, तीसरो परमातम अविच्छेद, सुज्ञानी ।।

***अर्थ*–समस्त शरीरधारियों के आत्मा तीन प्रकार की होती हैं–सबसे पहला प्रकार बहिरात्मा का है, दूसरा प्रकार अन्तरात्मा का है और तीसरा प्रकार परमात्मा का है, जो अखण्ड, अविनाशी और नित्य है।**

***भाष्य*–आत्मा की तीन अवस्थाओं के कारण तीन प्रकार**

अध्यात्मसाधक जब संसार की समस्त आत्माओ के साथ मैत्री, अभिन्नता या सर्वभूतात्मभाव या आत्मौपम्य अथवा समत्व स्थापित करने जाता है तो उसे संसार के समस्त देहधारियो या प्राणियों के ऊपरी चोलो, ढॉचो या विभिन्न देशो, वेषो, भाषाओ, प्रान्तो, धर्म-सम्प्रदायों, जातियो या दर्शनो के ऊपरी आवरणो को अपनी विवेकमयी प्रज्ञा से दूर हटा कर सब मे विराजमान आत्मा को देखना चाहिए। उसे किसी भी प्राणी का मूल्याकन इन ऊपरी भेदो या आवरणो से न करके आत्मा पर से करना चाहिए। वैसे तो निश्चय दृष्टि से ससार की सभी आत्माओं व परमात्मा की आत्मा मे कोई अन्तर नहीं है, परन्तु व्यवहारदृष्टि से आत्मा को ले कर विश्लेषण करते है, तो ज्ञान की न्यूनाधिकता के कारण बाह्य भेद दिखाई देता है। अतः संसार के समस्त प्राणियो की आत्माओ को देखते हैं तो उसकी मुख्यतः तीन कोटियॉ नजर आती है–(1) बहिरात्मा, (2) अन्तरात्मा और (3) परमात्मा। ये तीनो आत्माएँ उत्तरोत्तर निर्मलतर हैं। आत्म-गुणो के विकास की दृष्टि से उत्तरोत्तर आगे बढी हुई हैं। इनमे सर्वश्रेष्ठ अखण्ड, निर्मलतम, निर्विकारतम एवं अविनाशी एवं सदा एक-स्वरूप मे रहने वाला प्रकार परमात्मा का है, इससे कम निर्मल व उत्तम प्रकार अन्तरात्मा का है और सबसे निकृष्टतम अधिक विकारी प्रकार बहिरात्मा का है। अथवा 'अविच्छेद' शब्द का अर्थ यों भी कर सकते है कि आत्मद्रव्य की दृष्टि से सर्वत्र अविच्छिन्न एक आत्मद्रव्य ही है। ये तीन भेद तो आत्मा के सम्बन्ध मे विभिन्न बुद्धि को ले कर किये गये हैं।

आत्मा के ये तीन प्रकार किस कारण से किये है, तीनो के लक्षण क्या-क्या है? यह बात अगली दो गाथाओ मे बताते है–

आतमबुद्धे कायादिक ग्रह्यो, बहिरातम अघरूप, सुज्ञानी।
कायादिकनो साखीधर रह्यो, अन्तर आतमरूप, सुज्ञानी।।3।।

ज्ञानान्दे हो पूरण पावनो , वर्जित सकल, उपाध, सुज्ञानी।
अतीन्द्रिय गुणगणमणि-आगरू, इम परमातम साध, सुज्ञानी ।।4।।

_अर्थ_–जो शरीर, या शरीर से सम्बन्धित पदार्थो आदि को आत्म-बुद्धि से ग्रहण करता-मानता है, उसे प्रथम पाप रूप बहिरात्मा का प्रकार समझना। शरीर तथा सर्वपदार्थो या समस्त प्रवृत्तियों में अपनेपन (ममत्व) की बुद्धि हटा कर सर्वत्र उन सबका साक्षी (ज्ञाता-द्रष्टा) बन कर रहता है, वह अन्तरात्मा कहलाता है।

जो ज्ञान के आनन्द से परिपूर्ण हो, जो परम पवित्र हो, कर्म, कषाय, रागद्वेष आदि सब उपाधियों से दूर हो, जो इन्द्रियों से आगम्य- अगोचर हो, जो अनन्तगुणरूपी-मणियों का भण्डार या खान हो, इस प्रकार के स्वरूप वाले को परमात्मा समझो अथवा इस प्रकार के परमात्मपद को सिद्ध करो–प्राप्त करो।

_भाष्य_–आत्मा का प्रथम प्रकार : बहिरात्मा

आत्मा के तीनो प्रकारो मे बहिरात्मा सबसे निकृष्ट प्रकार है। बहिरात्मा शरीर को ही आत्मा समझता है। वह यही तर्क करता है कि जैसे पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि (तेज) और आकाश, इन पॉचभूतो के सयोग से एक चीज बन जाती है, अथवा गोबर (मिट्टी) के साथ गोमूत्र (पानी) वायु, सूर्य की धूप व आकाश के मिलने से गोबर मे बिच्छू पैदा हो जाते है, वैसे ही उक्त पॉच भूतो के संयोग से ही यह शरीर बना है, यही आत्मा है। इस प्रकार वह आत्मा नाम की कोई चीज न मान कर शरीर को ही सब कुछ समझता है। शरीर की राख होने पर आत्मा की समाप्ति मानता है, उसक कथन इसी प्रकार का होता है कि[1] जब तक जीओ, सुख से जीओ, कर्ज करके घी पीओ, खूब मौज उडाओ, शरीर के भस्म होते ही सब कुछ ही खत्म हो जाता है, आत्मा नाम की कोई अलग चीज नही है, न कोई शरीर के राख होने के बाद लौट कर आता है।

---

1 यावज्जीवेत् सुखं जीवेत्, ऋणं कृत्वा घृतं पिवेत्।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः।।–चार्वाक

ऐसा शरीर व्यक्ति को अपना मान कर यह समझता है कि यह सदा शाश्वत रहेगा, कभी जीर्ण-शीर्ण नही होगा, यह शरीर मेरा है, मै इसका हूँ, इसी को पुष्ट करने और शरीर के लिए दुनियाभर के उखाड–पछाड करने मे वह लगा रहता है। शरीर के लिए जरा-सा भोजन चाहिए, वह बढिया-से-बढिया स्वादिष्ट पदार्थो को जुटायेगा और ममत्व करके रखेगा; शरीर को सुन्दर बनाने के लिए तेल-फूलेल, क्रीम पाउडर आदि लगाएगा। शरीर को ढकने के लिए साधारण वस्त्र चाहिए; पर शरीरमोही दुनियाभर के बढिया और बारीक वस्त्रो को जुटायेगा, सग्रह करके रखेगा। शरीर को रहने के लिए एक मकान चाहिए, कई मकान मनाएगा, आलीशान बंगले सजा-सवार कर रखेगा। इन और ऐसे ही शरीर से सम्बन्धित तमाम पदार्थो पर उसकी मै आर मेरेपन की बुद्धि होगी, जिसके कारण राग-द्वेष, घृणा, मोह, आसक्ति, ईर्ष्या, वैर-विरोध, कलह आदि अनेक उत्पात खडे होगे, जिनसे पाप कर्मो का बहुत बडा पुज तैयार हो जाएगा। मतलब यह है कि बहिरात्मा जीव अपनी समस्त प्रवृत्तियो मे मै और मेरेपन के कारण इतना तद्रूप हो जाता है कि उसे आत्मा के पृथक-अस्तित्त्व का भान ही नहीं रहता। शरीर ही मै हूँ, ये सब चीजें या ये सब सगे-सम्बन्धी, रिश्तेदार मेरे है, यह सब धन, मकान, दुकान, जमीन, जायदाद सब मेरी है, ये सब सत्कार्य मेरे ही किये हुए है, मेरी इज्जत बढे, मुझे ही यश मिले, मेरा नाम रोशन हो, मै ही सर्वेसर्वा बन जाऊं, मेरी ही यह सब कमाई है; इस प्रकार रात–दिन ममत्व के जाल मे जो फ़ंसा रहता है, आत्मा को बिलकुल भूल जाता है, जो शरीरादि पर द्रव्यो को आत्मबुद्धि से पकड कर अनात्मभूत तत्त्वो को स्व–स्वरूप मानता है, उन्ही मे तदाकार हो जाता है, जिसे नाशवान शरीर के लिए दुनियाभर के प्रपच पापकर्म व उधेड-बुन करते हुए कोई संकोच या विचार ही नही होता, एकक्षण भर के लिए भी जो आत्मा के विषय मे सोच नही सकता। आत्मा के लिए कुछ भी नही करता। उसकी समग्र चेतना मोह से आवृत्त होने के कारण उलटी और जडीभूत हो जाती है। वह अहर्निश पुत्रैषणा, वित्तैषणा, और लोकैषणा मे रचा-पचा रहता है। इसी कारण बहिरात्मा को पापरूप, अनेक दोषो से युक्त और अनेक आधि-व्याधि-उपाधियो से युक्त कहा है।

आत्मा का दूसरा प्रकार : अन्तरात्मा

अन्तरात्मा बहिरात्मा से बिलकुल भिन्न होता है। यह शरीर और शरीर से सम्बन्धित वस्तुओ (धन, मकान, दूकान, जमीन, जायदाद) तथा परिवार

आत्मा के ये तीन प्रकार किस कारण से किये है, तीनो के लक्षण क्या-क्या है? यह बात अगली दो गाथाओ मे बताते है–

आतमबुद्धे कायादिक ग्रह्यो, बहिरातम अघरूप, सुज्ञानी।
कायादिकनो साखीधर रह्यो, अन्तर आतमरूप, सुज्ञानी।।3।।

ज्ञानान्दे हो पूरण पावनो , वर्जित सकल, उपाध, सुज्ञानी।
अतीन्द्रिय गुणगणमणि-आगरू, इम परमातम साध, सुज्ञानी ।।4।।

***अर्थ*–जो शरीर, या शरीर से सम्बन्धित पदार्थो आदि को आत्म-बुद्धि से ग्रहण करता-मानता है, उसे प्रथम पाप रूप बहिरात्मा का प्रकार समझना। शरीर तथा सर्वपदार्थो या समस्त प्रवृत्तियों में अपनेपन (ममत्व) की बुद्धि हटा कर सर्वत्र उन सबका साक्षी (ज्ञाता-द्रष्टा) बन कर रहता है, वह अन्तरात्मा कहलाता है।**

जो ज्ञान के आनन्द से परिपूर्ण हो, जो परम पवित्र हो, कर्म, कषाय, रागद्वेष आदि सब उपाधियों से दूर हो, जो इन्द्रियों से आगम्य- अगोचर हो, जो अनन्तगुणरूपी-मणियों का भण्डार या खान हो, इस प्रकार के स्वरूप वाले को परमात्मा समझो अथवा इस प्रकार के परमात्मपद को सिद्ध करो–प्राप्त करो।

***भाष्य*–आत्मा का प्रथम प्रकार : बहिरात्मा**

आत्मा के तीनो प्रकारो मे बहिरात्मा सबसे निकृष्ट प्रकार है। बहिरात्मा शरीर को ही आत्मा समझता है। वह यही तर्क करता है कि जैसे पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि (तेज) और आकाश, इन पॉचभूतो के सयोग से एक चीज बन जाती है, अथवा गोबर (मिट्टी) के साथ गोमूत्र (पानी) वायु, सूर्य की धूप व आकाश के मिलने से गोबर मे बिच्छू पैदा हो जाते है, वैसे ही उक्त पॉच भूतो के सयोग से ही यह शरीर बना है, यही आत्मा है। इस प्रकार वह आत्मा नाम की कोई चीज न मान कर शरीर को ही सब कुछ समझता है। शरीर की राख होने पर आत्मा की समाप्ति मानता है, उसक कथन इसी प्रकार का होता है कि[1] जब तक जीओ, सुख से जीओ, कर्ज करके घी पीओ, खूब मौज उडाओ, शरीर के भस्म होते ही सब कुछ ही खत्म हो जाता है; आत्मा नाम की कोई अलग चीज नही है, न कोई शरीर के राख होने के बाद लौट कर आता है।

---

1 यावज्जीवेत् सुखं जीवेत्, ऋणं कृत्वा घृतं पिवेत्।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः।।–चार्वाक

ऐसा शरीर व्यक्ति को अपना मान कर यह समझता है कि यह सदा शाश्वत रहेगा, कभी जीर्ण-शीर्ण नही होगा, यह शरीर मेरा है, मै इसका हूँ, इसी को पुष्ट करने और शरीर के लिए दुनियाभर के उखाड–पछाड करने मे वह लगा रहता है। शरीर के लिए जरा-सा भोजन चाहिए, वह बढिया-से-बढिया स्वादिष्ट पदार्थो को जुटायेगा और ममत्व करके रखेगा; शरीर को सुन्दर बनाने के लिए तेल-फूलेल, क्रीम पाउडर आदि लगाएगा। शरीर को ढकने के लिए साधारण वस्त्र चाहिए, पर शरीरमोही दुनियाभर के बढिया और बारीक वस्त्रो को जुटायेगा, सग्रह करके रखेगा। शरीर को रहने के लिए एक मकान चाहिए, कई मकान मनाएगा, आलीशान बगले सजा-सवार कर रखेगा। इन और ऐसे ही शरीर से सम्बन्धित तमाम पदार्थो पर उसकी मै आर मेरेपन की बुद्धि होगी, जिसके कारण राग-द्वेष, घृणा, मोह, आसक्ति, ईर्ष्या, वैर-विरोध, कलह आदि अनेक उत्पात खडे होगे, जिनसे पाप कर्मो का बहुत बडा पुज तैयार हो जाएगा। मतलब यह है कि बहिरात्मा जीव अपनी समस्त प्रवृत्तियो मे मै और मेरेपन के कारण इतना तद्रूप हो जाता है कि उसे आत्मा के पृथक-अस्तित्त्व का भान ही नही रहता। शरीर ही मै हूँ, ये सब चीजे या ये सब सगे-सम्बन्धी, रिश्तेदार मेरे है, यह सब धन, मकान, दुकान, जमीन, जायदाद सब मेरी है, ये सब सत्कार्य मेरे ही किये हुए है, मेरी इज्जत बढे, मुझे ही यश मिले, मेरा नाम रोशन हो, मै ही सर्वेसर्वा बन जाऊ, मेरी ही यह सब कमाई है, इस प्रकार रात–दिन ममत्व के जाल मे जो फ़सा रहता है, आत्मा को बिलकुल भूल जाता है, जो शरीरादि पर द्रव्यो को आत्मबुद्धि से पकड कर अनात्मभूत तत्त्वो को स्व–स्वरूप मानता है, उन्ही मे तदाकार हो जाता है, जिसे नाशवान शरीर के लिए दुनियाभर के प्रपंच पापकर्म व उधेड-बुन करते हुए कोई सकोच या विचार ही नही होता, एकक्षण भर के लिए भी जो आत्मा के विषय मे सोच नहीं सकता। आत्मा के लिए कुछ भी नही करता। उसकी समग्र चेतना मोह से आवृत्त होने के कारण उलटी और जडीभूत हो जाती है। वह अहर्निश पुत्रैषणा, वित्तैषणा, और लोकैषणा मे रचा-पचा रहता है। इसी कारण बहिरात्मा को पापरूप, अनेक दोषो से युक्त और अनेक आधि-व्याधि-उपाधियो से युक्त कहा है।

आत्मा का दूसरा प्रकार : अन्तरात्मा

अन्तरात्मा बहिरात्मा से बिलकुल भिन्न होता है। यह शरीर और शरीर से सम्बन्धित वस्तुओ (धन, मकान, दूकान, जमीन, जायदाद) तथा परिवार

व सगे-सम्बन्धी आदि में, या शरीर से सम्बन्धित प्रवृत्तियों मे ज्ञाता, द्रष्टा और मेरेपन की बुद्धि नहीं रखता, जो शरीर तथा शरीर से सम्बन्धित वस्तुओं एवं प्रवृत्तियो का ज्ञाता-द्रष्टा-साक्षीरूप बन कर रहता है, उनके ममत्व मे नही फॅसता, उन्हें अपने नही मानता, यथाचित प्रवृत्तियॉ करते हुए भी वह उन्हे अपनी नहीं मानता, निर्लिप्त रहता है। परभावो को आत्मा के नहीं मानता तो शरीरादि बाह्यभावो मे आत्मबुद्धि छोड कर शुद्ध ज्ञानरूप आत्मस्वरूप का निश्चय करता है, जो विषयादि मे आत्मबुद्धि नहीं करता; विषयो और शरीर आत्मा को आत्मा से अलग मानता है। जो शरीर से आत्मा को भिन्न मान कर अपनी आत्मा को शरीर की क्रिया का साक्षी मानता है, उसे परद्रव्य मान कर उससे सम्बन्धित ममत्व में नही फॅसता; इस कारण अहकारवश अपने को उसका कर्त्ता नही मानता, पूर्वोपार्जित कर्मो को भोगते हुए अपने आपको तटस्थ साक्षीरूप मानता है, वह अन्तरात्मा है। रस्सी में साप का भ्रम दूर हो जाने पर जैसे व्यक्ति भ्रममुक्त हो जाता है, वैसे ही अन्तरात्मा भ्रममुक्त हो जाता है। अन्तरात्मा यो विचार करता है कि आत्मस्वरूप से अलग हो कर मैने इन्द्रियों के द्वारा विषयों मे मग्न हो कर अहभाव के कारण आत्मा को यथार्थरूप से जाना-समझा नहीं। जो-जो रूप मै जगत् में देख रहा हूॅ, वह तो पराया है, अपना (आत्मा का) रूप तो ज्ञानमय है। वही मेरा असली रूप है, वह इन बाह्य रूपों से भिन्न है, वह इन्द्रियो से अगोचर है। संसार मे सुनाई देने वाले विविध शब्द भी (चाहे वे निन्दा के हो या प्रशसा के हो या और कोई हों) पराये हैं, आत्मा के नहीं है, आत्मा तो इन शब्दो से रहित है। इसी प्रकार रस, गन्ध और स्पर्श के विषय मे वह समझता है कि ये सब पराये हैं, आत्मा के नहीं है। शरीर वगैरह में मैने आत्मबुद्धि के भ्रम के पहले अनेक क्रियाए कर ली, अब तो मुझे परभावरूप मन, वचन, और काया से आत्मा को भिन्न करना है; ज्ञान से नही। ज्ञान से तो आत्मा का ही अभ्यास करना है। मुझे आत्मा ज्योतिर्मय ज्ञानरूप दिख रही है। मैने भेदज्ञान होने से आत्मा का स्वरूप देख लिया है। शरीर वगैरह को परद्रव्य मान लिया, तब मेरे लिए अब न तो कोई स्त्री है, न पुरुष है, न नपुसक है, न बालक, या वृद्ध है। लिग, संख्या, वर्ग आदि के विकल्पों से मैं मुक्त हूॅ। अब न मेरा कोई शत्रु है, न मित्र। सब प्रकार की शरीरचेष्टाऍ स्वप्न या इन्द्रजालवत् है। मै अभी तक संसार में इसी कारण दुःख पाता रहा कि मैंने आत्मा-अनात्मा का स्वभाव-परभाव का भेद नहीं समझा। अज्ञानी पुरुष

विषयो को अपने मानकर उनसे प्रीति करता है, मेरे लिए वह विषयप्रीति आपत्ति का स्थान है। काया पर अज्ञानी आदमी ही आसक्त होते है, वे अपने शरीर का सुन्दर रूप, बल, आयु आदि चाहते है, पर मुझे अपने को चिदानंद मे लगाना है, काया की आसक्ति छोडनी है। आत्मविज्ञान से रहित पुरुष अपना दुःख नहीं मिटा सकता। मै अपने स्वरूप मे रमण करने मे ही आनन्द मानूंगा; अज्ञानी प्राणी अपनी अन्तज्योति रुद्ध हो जाने के कारण अपनी आत्मा से भिन्न वस्तु पर मुग्ध-सतुष्ट हो जाते है, पर मुझे तो अपनी आत्मा मे ही संतुष्ट व मुग्ध होना चाहिए।

इस प्रकार अन्तरात्मा यह मानता है कि वस्त्र के लाल, जीर्ण, मोटे, दृढ, लम्बे या नष्ट हो जाने से शरीर लाल, जीर्ण, दृढ, मोटा, लम्बा या नष्ट नही होता, वैसे ही शरीर के लाल, जीर्ण, मोटे, दृढ, लम्बे या नष्ट होने से आत्मा लाल मोटी, लंबी, दृढ जीर्ण या नष्ट नही होती। इस प्रकार के भेदविज्ञान के सतत् अभ्यास से अन्तरात्मा अपने भवभ्रमण को नाश कर देता है। जो आत्मा को नही जानता, वह पर्वत, गॉव, उपाश्रय, आश्रम आदि को अपने रहने का स्थान मानता है, परन्तु जो अन्तरात्मा (ज्ञानी) है, वह सभी अवस्थाओ मे अपनी आत्मा मे ही अपना निवास-स्थान मानता है। अपनी आत्मा ही अपना आत्मीय बन्धु, शत्रु, या मित्र है, शरीरादि दूसरे कोई अपने नही है, इस दृष्टि से आत्मा अपना ससार भी स्वय बनाती है और मोक्ष भी स्वयं ही अपने लिए रचती है। अन्तरात्मा शरीर को आत्मा से अलग मानता है, इसलिए जीर्ण वस्त्र की तरह वह शरीर का भी बिना हिचकिचाहट के त्याग कर देता है। अन्ततोगत्वा वह ज्ञानी होता है, वह आत्मा को अन्तरग रूप से और शरीर को बाह्यरूप से जान-देख कर दोनों के अन्तर का पक्का ज्ञाता-द्रष्टा बन कर आत्मा के निश्चय से डिगता नहीं। ऐसा व्यक्ति निरन्तर भेद-विज्ञान के अभ्यास से आत्मनिष्ठ बन जाता है, आत्मा द्वारा आत्मा में आत्मा का विचार करता है, और आत्मा शरीर से भिन्न है, इस प्रकार के भेदाभ्यास से पक्की निष्ठा हो जाने पर शरीर पर से उसका ममत्व छूट जाता है, देहाध्यास या देहासक्ति छूटने पर वही शरीर के बार-बार जन्म-मरण से छुटकारा पा जाता है। ऐसा आत्मनिष्ठ व्यक्ति स्वप्न मे भी खुद शरीर मे है, या शरीर खुद का है, इस प्रकार शरीर के प्रति आसक्ति या अभ्यास नहीं करता। इसलिए स्वप्न में भी [illegible] हो जाय तो भी उसे रज नहीं होता। ऐसे आत्मनिष्ठ को शरीर के आश्रित

लिंग, वेष, वर्ण, प्रान्त, देश आदि का अभिमान (मद) नही होता। इस प्रकार का अन्तरात्मा जो कुछ भी प्रवृत्ति या क्रिया सोते या जागते करेगा, उसमे उसे पाप–कर्म का बन्ध नहीं होगा। शुभ और अशुभ दोनों भावो को वह कर्मबन्ध का कारण जानकर जहॉ तक हो सके, आत्मा शुद्ध भाव मे ही रमण करेगा, जहॉ अशक्य होगा, वहॉ बिना मन से शुभ भाव को अपनाएगा, किन्तु अशुभभाव को तो हर्गिज नही अपनाएगा। इस प्रकार अन्तरात्मा आत्मा को सिद्धस्वरूप अनुभव करके आत्माराधन द्वारा परमात्मत्व को प्राप्त कर लेता है।

आत्मा का तृतीय प्रकार : परमात्मा

जो आत्मा अनन्तज्ञान के आनन्द से परिपूर्ण है, अठारह दोषो से रहित परम पवित्र है, शरीर के अध्यास के कारण होने वाली समस्त उपाधियो से रहित है, जो इन्द्रियातीत ज्ञानादि अनन्तगुणो का भंडार है, वही परमात्मा है। उसका नाम चाहे जो कुछ हो। जैनदर्शन इतना उदार है कि वह किसी जाति, देश, वेष, वर्ण, लिग आदि के साथ परमात्मपद को नहीं बांधता। किसी भी जाति, देश, वर्ण, संघ, या लिंग आदि का स्त्री-पुरुष आत्माराधन करके परमात्मा बन सकता है। ऐसा परमात्मा इन्द्रियातीत इसलिए है कि वह इन्द्रियो से परे है, इन्द्रियो का विषय नही है, जहॉ इन्द्रियो का विषय और बल काम नही कर सकते, जहॉ विकल्पात्मक बुद्धि कुठित हो जाती है, वहॉ अनन्त केवलज्ञान, केवलदर्शन, अनन्तवीर्य आदि गुणो की परिपूर्णता से ही परमात्मा परिलक्षित हो सकता है।

चूकि पूर्वोक्त गाथा मे समस्त देहधारी आत्माओ के ही ये तीन प्रकार बताए थे, इसलिए यहॉ समस्तकर्म, काया, आदि से मुक्त, सिद्ध निरजन, अशरीरी परमात्मा का उल्लेख न कर देह मे रहते हुए जो देहाध्यास से सर्वथा मुक्त हो कर चार प्रकार के घातीकर्मो से भी मुक्त हो चुके है, ऐसा परमात्मा ही विवक्षित है। ऐसे परमात्मा वीतराग अतीतदोष हो कर स्वय तरते हैं, और दूसरो को ससार-सागर से तरने का मार्ग बताते है।

ऐसा परमात्मभाव किसी के दे देने से नहीं मिलता, और न किसी की कृपा का फल है, यह तो अन्तरात्मा के स्वयं पुरुषार्थ से, स्वतः प्रेरित आत्मसाधना से प्राप्त होता है। इसी परमात्मभाव की सिद्धि प्राप्त करना अध्यात्मस[illegible]क के जीवन का लक्ष्य है।

श्री आनन्दघनजी ने **'इम परमात्म साध'** कह कर प्रत्येक आत्मनिष्ठ साधक के द्वारा वीतराग परमात्मा के चरणो मे आत्मसमर्पण एव तदनुसार आत्म-साधना के स्वय पुरुषार्थ से परमात्मत्व को सिद्ध करने का निर्देश किया है। साथ ही इससे अन्य दर्शनो की आत्मविज्ञान से विपरीत इस मान्यता का निराकरण भी द्योतित कर दिया है कि परब्रह्म परमात्मा कोई एक ही व्यक्ति हो सकता है, या परब्रह्म परमात्मा को आत्मसमर्पण करने के बाद सदा के लिए उसी की गुलामी, जी-हुजूरी या उसके सामने स्वय की लघुता प्रदर्शित करते रहना है और स्वय मे परमात्मपदप्राप्त करने की असमर्थता प्रगट करना है। वास्तव मे निश्चयदृष्टि से तो परमशुद्ध आत्मा मे सतत रमणता ही आत्मा की परमात्म-समर्पणता है, और उससे आत्मा स्वयमेव परमात्मा हो जाता है।

साराश यह है कि इन तीनो गाथाओ मे बताए हुए तीन प्रकार की आत्मा की अवस्थाओ का ज्ञान परमात्म-समर्पण के लिए आवश्यक है। 'मै' और 'मेरे' की ममता से जब तक आत्मा घिरा हुआ रहता है, तब तक वह जीव आत्मा तो है, परन्तु बहिरात्मा समझा जाता है। जब आत्मा अपने को देह से भिन्न मान कर देहाध्यास छोड देता है, परभावो या आत्म-भिन्न सर्व वैभाविक भावो या पदार्थो में अहता-ममता की मान्यता का त्याग करके शान्त, सयमी, व आत्मनिष्ठ बनता है, तब वह अन्तरात्मा कहलाता है, और जब वह पूर्ण अध्यात्मयोगी बनकर अपनी आत्मा मे सर्वथा लीन हो जाता है, तब उसमे 18 दोष मिट जाते है, वह परम पवित्र अनन्त गुणो की खान, और ज्ञानानन्द बन जाता है, तब परमात्मा बनता है।

किन्तु यथार्थ आत्मसमर्पण किस आत्मा की स्थिति मे और कैसे होता है? इस बात को बताने के लिए श्रीआनन्दघनजी अगली गाथा में कहते हैं—

> **बहिरातम तजी अन्तर-आतमा-रूप थई थिर भाव, सुज्ञानी !**
> **परमातमनु[1] हो आतम भाववुं, आतम-अर्पण-दाव, सुज्ञानी ।।5।।**

_अर्थ_—हे सुज्ञानी! बहिरात्मभाव को छोड़ कर अन्तरात्मा के रूप में भावपूर्वक स्थिर हो कर अपनी आत्मा में परमात्मत्व-अवस्था की भावना करना ही आत्मसमर्पण कर सच्चा दावा या उपाय है।

भाष्य—आत्मसमर्पण का सच्चा [illegible]

इस गाथा मे आत्मसमर्पण का सहज [illegible] और [illegible] बताया है। सर्वतोभावेन आत्मसमर्पण ही [illegible]

उपाय है। इसमें हठयोग की, जप-योग की, या आसन-प्राणायाम आदि यौगिक क्रियाओं आदि के जटिलतम उपायो की अपेक्षा नही है । कोई भी किसी भी जाति, कुल, धर्म-सम्प्रदाय, देश या वेष का आत्मनिष्ठ व्यक्ति इस उपाय के द्वारा आत्मसमर्पण करके परमात्मपद को प्राप्त कर सकता है। इसमे न कोई बाह्य अध्ययन की जरूरत है और न ही बाह्य भौतिक साधनो या यन्त्र-मन्त्र-तंत्रादि मे पारंगत होने की आवश्यकता है। इसमे सबसे बडी शर्त है– बहिरात्मभाव छोडने की; जो आत्मा के अपने हाथ मे है। यानी शरीर, शरीर के अवयव-हाथ, पैर, मस्तक, इन्द्रियॉ, मन, बुद्धि, आदि तथा शरीर से सम्बन्धित कुटुम्ब, परिवार, जाति, देश आदि एवं शरीर के आश्रित धन, धरा, धाम, जमीन, जायदाद, आदि में जो तेरी आत्म-बुद्धि है, मै और मेरापन है, आसक्ति है, तू यह मानता है कि ये मेरे है, मै इनसे भिन्न नहीं हूॅ, मै इन सब वस्तुओं के रूप मे हूॅ, इत्यादि प्रकार के अनात्मभाव की मान्यता को छोड दे और अन्तरात्मा मे हृदय और बुद्धि को एकाग्र कर दे; यानी शरीर, शरीर के अगोपाग, परिवार, धन, जमीन, जायदाद आदि स्थावर-जगम पदार्थ मेरे नही है, मै इनका नही हूॅ, मेरे गुण 'स्वभाव' कार्य आदि इनसे भिन्न है, ये सब पदार्थ या सयोग सम्बन्ध, क्षणिक है। नाशवान है, मै अपने स्वभावरूप अविनाशी हूॅ। शुभाशुभ कर्मो के संयोग के कारण मेरा और इनका मिलन (संयोग) हो गया है। मेरा स्वभाव इन सबको जानने-देखने (ज्ञाता-द्रष्टा) का है। इस प्रकार अन्तरात्मभाव मे अपने आपको स्थिर कर दे।

इस प्रकार अन्तरात्मभाव मे एकाग्र होने पर अपनी आत्मा मे अहर्निश परमात्मत्व का विचार करना चाहिए। अर्थात्– प्रतिदिन यह विचार करे कि मेरी आत्मा ही (शुद्ध होने पर) परमात्मा है। निश्चयदृष्टि से मेरी आत्मा शुद्ध है, बुद्ध है, ज्ञाता है, द्रष्टा है, अनन्त ज्ञान-दर्शन-वीर्य-सुखमय है। मै इन सब बाह्यभावो, अनात्मभावो से परे हूॅ, मेरे अंग स्वभावज या सहजात नही है, ये सब संयोगज है, तेरे से भिन्न है। इस प्रकार परमात्मत्व मे आत्मत्व को विलीन कर देना, तद्रूप-तन्मय-तदात्मभावो से भावित कर देना ही सच्चे माने में सर्वांगीण आत्म-समर्पण है। इसमे एकमात्र आत्मभाव ही रहता है, निखालिस आत्मनिष्ठा ही

---

1. वैदिक धर्म के मूर्धन्य ग्रन्थ भगवद्गीता में भी कहा है–

जिताऽत्मनः प्रशान्तस्य परमात्मा समाहितः।

शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः।। अ. 6 श्लो. 3

रहती है, तात्पर्य यह है कि परमात्मा मे अन्तरात्मा का समर्पण होने से परमात्मपद मिलता है, सर्वतोभावेन आत्मसमर्पण करने का यही सबसे उत्तम फल है। यही आत्मसमर्पण की सर्वोतम, सरलतम विधि है। इसी पर से परमात्मरूपी मैदान मे आत्मसमर्पण के खिलाडी का सच्चा दाव लग सकता है। यही परमात्मभाव-प्राप्ति का सच्चा उपाय है।

आत्मा को शरीरादि से भिन्न मान कर पृथक्-रूप से उसको वास्तविक रूप मे पहिचाने बिना केवल नाटकीय ढग से अथवा औपचारिकरूप से किसी भी वीतरागप्रभु के केवल नाम जप, जयकार, या नृत्यगीत-भजन के द्वारा उनके चरणो मे आत्मसमर्पण मानना बुद्धिभ्रम है, ऐसे कच्चे आत्मसमर्पण या कच्चे भक्ति का परिणाम यह आता है कि बाह्यरूप से आत्मार्पण कर देने पर भी उनमे पारिवारिक, सामाजिक, राष्ट्र–राष्ट्र के, जाति-जाति के, धर्मसम्प्रदायो के आपसी झगडे, रागद्वेष, मोह, स्वार्थ और वैरविरोध चलते रहते हैं; यानी वे अन्तर से पूरे बहिरात्मा बने रहते है और इस प्रकार से बहिरात्मभाव मे रहते हुए नाटकीय ढग से परमात्मा के चरणो मे समर्पण करने वाला व्यक्ति परमात्मभाव प्राप्त नही कर सकता।

अब अन्तिम गाथा मे परमात्मा के चरणों मे आत्मसमर्पण का वास्तविक लाभ बताते हुए श्री आनन्दघनजी कहते है–

आतम-अर्पण वस्तु विचारतां, भरम टले, मतिदोष, सुज्ञानी !
परमपदारथ संपति संपजे, 'आनन्दघन'-रसपोष, सुज्ञानी !
सुमतिचरण. ॥6॥

अर्थ–परमात्मा के चरणों में आत्मसमर्पण के वस्तुतत्त्व का विचार करने से भ्रान्तियां, बहम या आशंकाएँ टल जाती हैं, बुद्धि के दोष (छद्मस्थ अवस्था के कारणरूप) नष्ट हो जाते हैं और अन्त में, मोक्षरूप परम पदार्थ एवं अनन्त ज्ञानादि परम सम्पत्ति प्राप्त हो जाती है; जो अखण्ड शान्ति, शाश्वत एवं परिपूर्ण आनन्द के रस की पोषक होती है।

_भाष्य_–आत्मसमर्पण के वस्तुतत्त्व का विचार

वास्तव मे आत्मसमर्पण का सच्चा लाभ साधक तभी उठा सकता है, जब पूर्वोक्त प्रकार से आत्मार्पण का स्वरूप समझे, [illegible] मनन-चिन्तन करे आत्मा क्या है? क्या शरीर आत्मा [illegible] अहकार, क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष आदि आत्मा है या और

है? क्या शरीर के अंगोपाग आत्मा है? या शरीर से सम्बन्धित परिवार, जाति, धर्मसम्प्रदाय, राष्ट्र, प्रान्त आदि आत्मा है? अथवा धन, धाम, जमीन, जायदाद आदि आत्मरूप है? अथवा कर्म, राग, ममत्व आदि आत्मा है? इन सबका भलीभांति विश्लेषण–पृथक् करके भेदविज्ञान करना आत्मा के वस्तुतत्त्व का विचार है और बहिरात्मभाव को छोड कर अन्तरात्म-भाव मे स्थिर हो कर परमात्मतत्त्व मे लीन हो जाना तादाम्यभाव से भावित होना समर्पण के वस्तु तत्त्व का विचार है। इस प्रकार आत्मसमर्पण का यथार्थ तत्त्व सोचे, विचारे एव तद्रूप ध्यान करे।

यथार्थ चिन्तनपूर्वक आत्मसमर्पण से विविध लाभ

आत्मसमर्पण पर सागोपाग विचार करने से सब भ्रान्तियॉ अपने आप काफूर हो जाती है। जैसे प्रकाश होते ही अन्धकार मिट जाता है, वैसे ही आत्मसमर्पण के स्वरूपज्ञान का प्रकाश होते ही, भ्रम का सारा अधेरा दूर हो जाता है। वे भ्रम क्या है? शरीर और शरीर से सम्बद्ध सभी पदार्थो मे आत्मबुद्धि या मै और मेरेपन का जो भ्रम था, जैसे अधेरे मे रस्सी मे होने का भ्रम हो जाता है, दूर से सीप मे चादी का भ्रम हो जाता है उसी प्रकार अज्ञान एव मोह के कारण परपदार्थो मे अपनेपन के जो भ्रम पैदा हो गये है, वे सब तत्त्वविचारणा से मिट जाते है।

इसके अलावा आत्मसमर्पण पर गहराई से तात्त्विक चिन्तन करने पर बुद्धि पर कुहासे की तरह जमे हुए सब दोष दूर हो जाते है। ससारी व्यक्ति की बुद्धि पर अनादिकालीन सस्कारवश जो अज्ञान, मोह, मिथ्यात्व, दुर्ध्यान, दुश्चिन्तन, दुश्चेष्टा, सशय, विपर्यय, अनध्यवसाय, अनिश्चितता, चिन्ता, भय, आशंका आदि दोषो की परतो की परते जमी हुई थी, वे पूर्वोक्त सद्विचार से उखड जाती है, बुद्धि मे निश्चिन्तता व हलकापन महसूस होने लगता है। और श्रुतज्ञान से बढते-बढते जब केवलज्ञान प्रगट हो जाता है, तो छद्मस्थता के कारण ज्ञान पर पडा हुआ पर्दा भी हट जाता है,

इससे भी आगे चल कर आत्मसमर्पण के साधक को मोक्षरूप परमपदार्थ एवं अनन्तज्ञानादि आध्यात्मिक सम्पत्ति प्राप्त हो जाती है; उसे शाश्वत खजाना मिल जाता है, वह कृतकृत्य हो जाता है, जन्ममरण के चक्र से, रागद्वेषादि के चंगुल से छूट जाता है, कर्मो से सर्वथा मुक्त हो जाता है और ऐसे अक्षय शाश्वत आनन्द के धाम मे पहुच जाता है, जहॉ पहुंचने के बाद लौटना नही होता, वही

अखण्ड आनन्द के रस मे वह निमग्न हो जाता है। वहॉ किसी का झंझट, चिन्ता, फिक्र या किसी भी प्रकार की मोह-माया नहीं रहती है। वहॉ एकरस आनन्द रहता है।

सारांश–इस पचम तीर्थकर की स्तुति मे श्री आनन्दघनजी ने बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा–इन तीन आत्माओ का स्वरूप बता कर परमात्मा के चरणो मे आत्मसमर्पण का वास्तविक उपाय, महत्त्व और लाभ बताया है।

***

आत्मा और परमात्मा के बीच अंतर-भंग

(तर्ज-चॉदलिया, सन्देशों कहेजे मारा कान्त ने . राग मारु व सिन्धुडो)

पद्मप्रभु जिन तुझ मुझ आंत रे, किम भांजे भगवन्त?
कर्मविपाके कारण जोईने रे, कोई कहे मतिमन्त।।
पद्मप्रभजिन. ।।1।।

***अर्थ*-हे पद्मप्रभ, वीतराग परमात्मव देव! आपके और मेरे बीच में जो अन्तर (दूरी) पड़ गया है, हे भगवन्! वह अन्तर कैसे दूर (नष्ट) हो सकता है? कर्मफल का ज्ञाता कोई बुद्धिमान पुरुष (परमात्मा और आत्मा के बीच में दूरी का कारण कर्मों को जान कर) कहता है- कर्मो का परिपाक (कर्मफलभोग) होने पर ही यह अन्तर मिट सकता है।**

***भाष्य*-परमात्मा और आत्मा के बीच में दूरी का कारण : कर्म**

इससे पहले की स्तुति मे बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा का लक्षण बता कर बहिरात्मभाव को छोड कर अन्तरात्मा मे स्थिर होकर आत्मा में परमात्मत्व की भावना करने से परमात्मपद की प्राप्ति बताई गई थी, उससे स्पष्ट हो गया कि सामान्य जीव जब तक बहिरात्मा बना रहेगा, तब तक उसके और परमात्मा के बीच मे बहुत ही दूरी रहेगी। अतः अब इस स्तुति मे उसके सम्बन्ध मे दो प्रश्न उठाये गये है-पहला प्रश्न यह है कि परमात्मा और सामान्य आत्मा के बीच में जो दूरी है, वह किस कारण से है? और दूसरा यह कि वह अन्तर कैसे दूर हो सकता है?

निश्चयनय की दृष्टि से यह बात तो स्पष्ट है कि **'अप्पा सो परमप्पा'** 'आत्मा ही परमात्मा है।' और यह बात भी यथार्थ है कि जिस जीवात्मा के परिणाम बहिरात्म भाव से हट जाते है और जिसकी परिणति और स्थिरता अन्तरात्मा में हो जाती है, ऐसा अन्तरात्मभावरत जीवात्मा ही परमात्मा बनने के लिए उत्सुक और तत्पर होता है। परन्तु जब वह व्यवहारदृष्टि से देखता है कि निश्चयदृष्टि से आत्मा और परमात्मा में कोई अन्तर न होते हुए भी वर्तमान

में तो मेरे और परमात्मा के बीच में तो करोडो कोसों का अन्तर है। मै मध्यलोक मे हूँ और परमात्मा लोक के अग्रभाग पर है, मेरे से सात रज्जूप्रमाण लोकभूमि पार करने के तुरन्त बाद, ही लोक के शिखर पर है। इतना अधिक फासला (Distance) तो मेरे और परमात्मा के बीच मे क्षेत्रकृत है। कालकृत दूरी भी है, कि भगवान् पदमप्रभु अवसर्पिणी काल के चौथे आरे मे मुक्त (सिद्ध) परमात्मा बन चुके है और मै पचम आरे में हूँ; यानी काल का फासला भी काफी हो चुका है और आगे भी न जाने कितना काल अभी और लगेगा, आपके पास पहुँचने तक में। द्रव्यकृत अन्तर भी परमात्मा के और मेरे बीच में काफी है। परमात्मा वर्तमान मे सिद्ध है, मुक्त है, गति-जाति-शरीरादि से रहित है और मै वर्तमान मे सिद्ध–बुद्ध–मुक्त नही हूँ। गति-जाति-शरीरादि से सयुक्त हूँ, मै वर्तमान मे सिद्धत्व से रहित हूँ, पर्यायरूप से अशुद्ध हूँ। कहाँ वे शुद्धअनन्त ज्ञान-दर्शन-चारित्र-वीर्य से युक्त और कहाँ मै अल्पज्ञ, अल्पदर्शी, चारित्र और वीर्य मे भी बहुत पिछडा हुआ। कितना अन्तर है! और भावकृत अन्तर भी परमात्मा के और मेरे बीच मे काफी है। वे रागद्वेषरहित सहजानन्दी शुद्ध और निखालिस आत्मभावों से भरे हुए है, मै अभी रागद्वेष-काम-क्रोध-लोभ-मान-मोहादि कषाय भावो से सयुक्त हूँ। अतः मुझे आश्चर्य होता है कि परमात्मा के और मेरे बीच में द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की दृष्टि से जो इतना अन्तर (फासला) पड गया है वह क्यो पड गया है ? जबकि द्रव्यस्वभाव की दृष्टि से मेरी और परमात्मा की आत्मा मे ऐक्य है, समानता है। अतः श्रीआनन्दघनजी जिज्ञासाभाव से पूछते है कि आपके और मेरे बीच मे जो इतना अन्तर पड गया है, वह किस कारण से है? व्यवहारनय की दृष्टि से जब उन्होने सोचा तो उन्हें स्पष्ट ज्ञात हो गया कि परमात्मा के और मेरे बीच में जो इतना द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावकृत अन्तर पड गया है, उसका मूल कारण है–मेरे वैभाविक गुण का अशुद्ध परिणमन और निमित्त कारण है कर्म। क्योकि परमात्मा समस्त कर्मो से रहित होने के कारण क्षेत्र से भी हमसे बहुत दूर चले गये, काल से भी वे कर्म नष्ट हो ही काफी पहले पहुँच गए, हम बहुत पीछे रह गए। द्रव्य और भाव से भी कर्मो के सर्वथा नष्ट होते ही उनके और हमारे बीच मे इतना अन्तर हो गया कि वे सिद्ध, बुद्ध, मुक्त, अनन्तज्ञानदर्शनमय हो गए, और हम अभी कर्मो से घिरे होने के कारण ही बन्धन में जकडे हैं–संसारी हैं, ज्ञान-दर्शन भी हम मे अभी और अल्प है। राग-द्वेष-मोह आदि विकार भी कर्मो के ही कारण हैं, और

रहते और नये कर्म भी हम बाध लेते है।

परमात्मा और सामान्य आत्मा के बीच का अन्तर

जब यह निश्चय हो गया कि परमात्मा और सामान्य आत्मा के बीच में काफी अन्तर है, और वह कर्मो के कारण है, तब श्रीआनन्दघनजी इतने अन्तर को सहन न कर सके। वे परमात्मदर्शन के लिए तो जीवन-मरण की बाजी लगाने को तैयार हो गए और अन्तरात्मा की भूमिका तक आ पहुँचे, तब इस कर्म के अभाव और सद्भाव को ले कर रहे हुए अन्तर को दूर करने के लिए वे परमात्मा के सामने अन्तर्हृदय से पुकार उठे–"**पद्मप्रभ जिन तुझ मुझ आंतरू रे; किम भांजे भगवंत?**"

परन्तु परमात्मा तो अशरीरी, निरजन, निराकार, सिद्ध (मुक्त) होने के कारण उनकी यह आवाज सुन नहीं सकते, किन्तु अपने ज्ञान मे इसे जान तो सकते है, मगर ज्ञान मे जान लेने के बावजूद भी वे निराकार, अशरीरी, वाणी रहित होने के कारण उत्तर तो दे नहीं सकते। अतः श्रीआनन्दघनजी की हार्दिक जिज्ञासा को शुद्धबुद्धि वाले गुरुदेव सुन कर बोले– 'परमात्मा मे कर्म नहीं है, कर्मविपाक नही है, कर्मबन्धन का कारण ही नहीं रहा; इसलिए वे परम शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, सहजानदी शुद्धस्वरूपी सिद्ध परम-आत्मा (परमात्मा) है, तुम मे अभी कर्म है, मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय, योग आदि है, जिनसे तुम मे कर्मबन्धन का कारण है। तुम मे कर्म-उपार्जन की क्रिया होती है, कर्म क्रिया से बनते है। इसलिए कर्मफलयोग (कर्मविपाक) तुम मे होला है। क्योकि कर्म ही बन्धनरूप बन कर शुभाशुभ फल चखाते है। जब तक ये कर्म फल दे कर (कर्म भोग कर) क्षय नही हो जाते, झड नहीं जाते, तब परमात्मा और आत्मा के बीच में अन्तर रहेगा। जीवात्मा कर्म के फल भोगने (विपाक) के समय मे अगर समताभाव मे या आत्मभावो मे स्थिर रह नहीं सकता, प्रत्युत राग, द्वेष, मोह, लोभ आदि करता रहता है इसी कारण आत्मा और परमात्मा के बीच मे अन्तर पडा हुआ है। अगर यह अन्तर नष्ट करना हो तो सर्वप्रथम कर्मबन्ध के कारणो–मिथ्यात्वादि को पहले सर्वथा नष्ट कर दो। जब कर्मबन्ध के कारण नष्ट हो जायेंगे तो नये कर्मो का बन्ध नही होगा, तथापि पुराने कर्म, जो सत्ता मे पडे है, वे एक न एक दिन अपने-अपने विपाक (परिपाक) का फल दे कर अवश्य नष्ट हो जाएगे। अतः अगर तुमने इतनी सावधानी रखी कि जब कर्म फल देने आवे तब (फलोपभोग के समय) समत्व-भाव-आत्मभाव मे स्थिर रहोगे तो

तुम्हारे पुराने कृतकर्म नष्ट हो जायेगे और नये सिरे से नये कर्म आते हुए पहले से ही रुक जायेगे। इस प्रकार कर्मो के समभावपूर्वक फलभोग होने से ही तुम्हारी आत्मा और परमात्मा के बीच मे जो अन्तर है, वह नहीं रहेगा। तुम और परमात्मा एकमेक हो जाओगे। तुम्हारी आत्मा ही शुद्ध हो कर परमात्मा बन जायेगी। फिर परमात्मा और तुम्हारी आत्मा के बीच में न क्षेत्रकृत दूरी रहेगी, न कालकृत, और न ही द्रव्यकृत अन्तर रहेगा, न भावकृत कोई अन्तर रहेगा। तात्पर्य यह है कि कर्मो को काट देने पर जीवात्मा और परमात्मा के बीच किसी प्रकार का अन्तर नहीं रहेगा।[1]

कई ईश्वरकर्तृत्ववादी धर्म-सम्प्रदाय ऐसा मानते है कि परमात्मा की कृपा होगी तो कर्म स्वयमेव कट जायेगे अथवा कर्मफल देने वाले तो भगवान् है, उनसे माफी मांग लो, उनकी सेवाभाक्ति (केवल गुणगान, चापलूसी आदि) करके उन्हे रिझा लो। वे प्रसन्न होकर पाप माफ कर देगे, तुम्हारे पापकर्म धो देगे, उन सबका खण्डन इस गाथा से हो जाता है।

जब शुद्धबुद्धियुक्त गुरुदेव या ज्ञानी पुरुष से यह स्पष्ट उत्तर मिल गया कि परमात्मा के और तुम्हारी आत्मा के बीच का अन्तर मिटाने का अचूक उपाय कर्मो को समभाव से भोग कर काटना है! तब श्रीआनन्दघनजी के मन मे सहसा प्रश्न उठता है कि वे कर्म कितनी किस्म के है? वे कैसे-कैसे बधते है? कितने-कितने काल तक वे ज्यादा से ज्यादा आत्मा के साथ ठहर सकते हैं? उन कर्मो मे तीव्रतामन्दता आदि कैसी होती है? जिससे उन्हे भोगते समय अधिक या कम दुःख महसूस हो? ये और ऐसे अन्तर्मानस मे उठे हुए प्रश्नो का वे अगली गाथा द्वारा संक्षेप मे समाधान करते है–

पयई-ठिई अणु भाग-प्रदेशथी रे, मूल-उत्तर बहुभेद।
धाती-अघाती हो, बन्धोदय- उदीरणा रे, सत्ता कर्मविच्छेद।।

पदमप्रभजिन.।।2।।

अर्थ–**प्रकृति (निश्चित स्वरूप के फल देने के कर्मो का स्वभावरूप बन्ध), स्थिति (कर्मों का आत्मा के साथ कर्मत्वरूप में रहने का कालसीमारूप बंध) अनुभाग (कर्मों की फल देने की न्यूनाधिक शक्ति) (रसरूप) बंध और प्रदेश**

1 देखिए उन्ही के धर्मग्रन्थ भगवद्गीता में–

न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः।
न कर्मफलसंयोगं, स्वभावस्तु प्रवर्तते।।

(कार्माणवर्गणानुसार कर्मपुद्गलों के न्यूनाधिक तत्थों का नियमनरूप बंध) इन चारों प्रकार के बन्धों से, फिर कर्मों की मूल (मुख्य) तथा उत्तर (अवान्तर) प्रकृतियाँ अनेक भेदों वाली हैं, फिर कर्म भी दो प्रकार के हैं–घातीकर्म और अघातीकर्म तथा कर्मों के बन्ध, उदय, उदीरणा और सत्ता–इन चारों को समझ कर इन सभी का विच्छेद (विनाश) कर देना ही परमात्मा के और आत्मा के बीच का अन्तर मिटाने का उपाय है।

***भाष्य*–चार प्रकार से कर्मों के बन्ध**

आत्मा के साथ कर्मो के लगने का सारा तत्त्वज्ञान जब तक न समझ लिया जाय, तब तक साधक न तो कर्म-सयोगो को आत्मा से अलग करने की बात सोच सकता है और न ही वह परमात्मा और अपने बीच के अन्तर को तोडने का सही पुरुषार्थ कर सकता है। इस दृष्टि से सर्वप्रथम कर्म के लगने के 5 मुख्य कारण बताए है–मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग। इनके आवन्तर भेद 57 है, इन सबको बन्धहेतु कहते है। आत्मा के साथ कर्मो का सयोग इन 57 बन्धहेतुओ में से एक या अनेक हेतुओं की उपस्थिति होने पर होता है। सर्वप्रथम तो बन्ध के हेतुओ पर विजय प्राप्त करना चाहिए। जब किसी कर्म का बन्धन होने लगता है, तब प्रकृति, स्थिति अनुभाग और प्रदेश, ये चार बाते मुकर्रर हो जाती है। आइए, शास्त्र-प्रसिद्ध मोदक के दृष्टान्त पर से इसे समझ ले–

प्रकृतिबन्ध–जैसे कोई मोदक वातरोगहर्ता होता है, कोई पित्तनाशक तो कोई कफविनाशक होता है, और वे उन–उन द्रव्यो से बनाये जाते है, उसी प्रकार कर्म भी विभिन्न स्वभाव के होते है, वे विभिन्न कारणो से अलग-अलग प्रकृति के होते है, कई कर्म आत्मा की ज्ञानशक्ति को रोकते है, कई दर्शन की शक्ति को, कई सुख या दुःख पैदा करने वाले है, कई मोहमाया मे फंसाने वाले होते है, कई शरीर की आयु प्रदर्शित करने वाले, कई शरीर की आकृति बनाने वाले, कई जाति में न्यूनाधिकता करने वाले है, कई लाभ, शक्ति आदि को रोकने वाले होते है। इस प्रकार प्रत्येक कर्म के प्रकृति (स्वभाव) नियत करने व बताने वाला बन्ध प्रकृतिबन्ध होता है।

स्थितिबन्ध– जैसे विभिन्न मादको के अच्छे रहने, बिगडने लगने या बिगड जाने की अवधि होती है, वैसे ही विभन्नि कर्मो की आत्मा के साथ स्थिति (टिके रहने की कालमर्यादा) को स्थितिबन्ध कहते हैं। कर्मो की

स्थिति भी शुभ-अशुभ आदि अनेक अध्यवसायो के अनुसार बधती है। स्थितिबन्ध मे यह मुकर्रर होता है कि अमुक कर्म कब फल देगा, फल देने लगने के बाद कितने समय तक वह फल देगा, अथवा कितने समय तक अमुक कर्म किसी प्रकार का फल दिये बिना आत्मा के साथ जुडा रहता है?

रस (अनुभाग) बन्ध–जिस प्रकार लड्डुओ के रसो मे भी कोई मीठा, कोई फीका, कोई तीखा, कोई कसेला या स्निग्ध होता है तथा कोई एक गुना मीठा, कोई दो गुना, कोई तीन गुना मीठा, चरपरा आदि होता है। इसी प्रकार कर्मो के रसो मे भी विभिन्नता होती है। रसबन्ध भी मन्द, मन्दतर, मन्दतम तीव्र, तीव्रतर, तीव्रतम आदि अनेकविध अध्यवसायपूर्वक की गई क्रिया के अनुसार नियत होता है। किस कर्म की मन्दता या गाढता कितनी है, यह रस (अनुभाग) बन्ध मे ही मुकर्रर होता है।

प्रदेशबन्ध–जिस प्रकार लड्डू बांधते समय कोई आधा पाव का, कोई पावभर का, कोई आधा सेर और कोई सेरभर का भी बाधा जाता है, कई कई लड्डू छोटे होते है, कई बडे होते है। इसी प्रकार कर्मो की वर्गणा (सख्या) जिसमे नियत होती है, कि अमुक कर्म कितनी कर्मवर्गणा का बना हुआ है। तदनुसार एक-दो हजार-लाख वगैरह की सख्या नियत की जाती है। तथा अमुक–अमुक (कर्मप्रदेशो) कर्मवर्गणा के पुद्गलस्कन्धों के जत्थों का नियमन भी प्रदेशबन्ध मे होता है।[1]

उक्त दृष्टि से प्रत्येक कर्मबन्ध चार-चार प्रकार का समझना चाहिए। **प्रकृति**–कर्मो की मूल प्रकृतियॉ 8 हैं– 1 ज्ञानावरणीय, 2. दर्शनावरणीय, 3. वेदनीय, 4 मोहनीय, 5 आयुष्य, 6 नाम, 7. गौत्र, 8. अन्तराय। इन आठों की उत्तर-प्रकृतियॉ 158 है [2]– ज्ञानावरणीय की 5, दर्शनावरणीय की 9 वेदनीय की 2, मोहनीय की 28, आयुष्य की 4, नामकर्म की 103, गोत्रकर्म की 2, और अन्तरायकर्म की 5।

---

1 चारो बन्धों का लक्षण श्लोक में देखिए–

प्रकृतिः समुदायः स्यात्, स्थितिः कालावधारणम्।
अनुभागी रसो ज्ञेयः, प्रदेशो दलसंचयः।

2 इसका विशेष विस्तार कर्मग्रन्थ आदि से समझ लेना चाहिए।

घाती-अघाती कर्म–इन आठो कर्मो और उनकी उत्तरप्रकृतियो मे से 4 घातीकर्म है और 4 अघाती कर्म है।

बन्ध–आत्मा के शुभाशुभ अध्यवसायो अर्थात् भावकर्मो के निमित्त से आत्म-प्रदेशो के साथ कर्मपुद्गलो का क्षीरनीर-न्यास से जुड जाने से द्रव्यकर्म-दल का ग्रहण होता है और प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेशरूप मे बन्धने यानी कर्मो के आत्मप्रदेश के साथ जुड जाने के कारण बन्ध (कर्मबन्ध) कहलाता है। 1 से ले कर 14 गुणस्थान तक प्रत्येक गुणस्थान मे कितने कर्मो का बन्ध होता है, इसका विचार भी बन्ध के अन्तर्गत किया जाता है।

उदय–जो शुभाशुभ कर्म आत्मा के साथ बन्धे (लगे) है, उनका काल जब परिपक्व हो कर कर्मफल देने को तैयार होता है, उस उदयकाल को उदय कहते है। किस गुणस्थान मे कितने-कितने कर्म उदय मे आते है, जब कर्म किसी योग्य समय पर फल देते है, तब समझा जाता है कि अमुक कार्यो का उदय हुआ। कर्मोदय के कारण कैसे-कैसे फल भोगने पडते है? इसका भी पता उदय से लगता है।

उदीरणा–जिन कर्मो का उदयकाल अभी तक नही आया, उन उदीरणायोग्य कर्मो को किसी अनुष्ठानविशेष या प्रसगविशेष के निमित्त से कर्मफल शीघ्र भोगे जाने की योग्यता पैदा हो जाना और फलाभिमुख होने पर उनका भोगा जाना तथा फल दे कर निवृत्त हो जाना कर्मो की उदीरणा कहलाती है। उदीरणा मे देर से फल देने वाले कर्म बहुत ही जल्दी फल देने योग्य बन जाते है। कौ।-से गुणस्थान मे कितने कर्मो की उदीरणा होती है, इसका विचार कर्मग्रन्थ आदि मे इसी के अन्तर्गत बताया गया है।[1]

सत्ता–उदयकाल से पहले जो कर्म आत्मा के साथ लगे रहते है, भोगे नही जाते, जो कर्मफल देने के लिए सम्मुख नहीं आए। फिर भी उनमे फल देने की शक्ति है। वे अभी स्टॉक मे पडे है, उन्हे सत्ता कहते है। किस गुणस्थान मे कितने कर्मो की सत्ता है, इसका भी विचार इसी के अन्तर्गत है।

इस प्रकार कर्मो के बन्ध, उदय, उदीरणा और सत्ता कब कौन से गुणस्थान मे, और कैसे होते है? इस विषय मे भलीभाति समझना चाहिए।

---

1 बन्ध, उदय, उदीरणा और सत्ता इन चारो के विषय में दूसरे कर्मग्रन्थ, प्रज्ञापनासूत्र, कम्मपयडी, गोमटसार आदि में विस्तृत चर्चा है। पाठक वही से देख ले।

प्रकृतिबन्ध आदि से ले कर सत्ता की जो बाते कर्म के सम्बन्ध में यहाँ बताई गई है, वे इसलिए कि साधक इस बात को भलीभाँति दिल मे बिठा ले कि इन कर्मो के कारण ही उसके और परमात्मा के बीच में जुदाई है, अलगाव है। अत· अब वह आत्मसाक्षी से सीधा पुरुषार्थ करने लग जाय, इसी से उसके उक्त कर्मबन्धो, मूल-उत्तर कर्मप्रकृतियो, घाती-अघाती कर्मो, बन्ध, उदय, उदीरणा और सत्तारूप कर्मो को काटने का पुरुषार्थ सफल होगा और तभी उसके कर्मो का विच्छेद होगा और परमात्मा के निकट पहुँचेगा। अब तक वह आत्मभाव की उपेक्षा करके विभाव-भाव मे मग्न हो कर उलटा पुरुषार्थ करता रहा, इसी से कर्मबन्ध हुआ, जिससे परमात्मा से उसका अन्तर पडा। कर्म बाँधने का पुरुषार्थ करने वाला भी तू है, तो कर्मो को क्षय करने का पुरुषार्थ करने वाला भी तू ही है।

पूर्वोक्त गाथा से यह स्पष्ट हो गया है कि जीव के साथ लगे हुए प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेशरूप से मूल प्रकृति और उत्तर प्रकृति तथा घाती व अघाती के रूप मे जो बन्ध, उदय, उदीरणा और सत्ता के रूप मे स्थित कर्म है उन्ही के कारण ही परमात्मा और जीवात्मा मे अन्तर है। अतः कर्मो का विच्छेद होने पर ही जीवात्मा-परमात्मा के बीच का अन्तर टूट सकता है। इतना स्पष्ट कर देने के बावजूद भी यह शंका होती है कि आत्मा तो शुद्ध, बुद्ध, निर्लेप है, उस पर कर्म आए ही क्यों? आए है तो कब से आए है? कर्मपुद्गलों के साथ आत्मा का सयोग कब से है? पहले कर्म था या पहले आत्मा? यहाँ आत्मा ससारी कब से बनी, कब तक रहेगी? आत्मा के साथ कर्मो का सम्बन्ध किस प्रकार का है? इन दोनो का सम्बन्ध कौन जोडता है? इन सब शंकाओं का समाधान श्रीआनन्दघनजी अगली गाथा मे करते है-

कनकोपलवत्, पयड़ी पुरुषतणी रे, जोड़ी अनादि स्वभाव।
अन्यसंजोगी जिहाँ लगी आतमा रे, संसारी कहेवाय।।

पद्म.।।3।।

अर्थ-**अनादिकाल से अपने स्वभाव से जैसे सोने का टुकड़ा और मिट्टी दोनों जुडे रहते हैं, वैसे ही सोने सरीखी आत्मा जब तक दूसरे (कर्मआदि) के साथ जुड़ी हुई है, तब तक वह संसारी कहलाती है।**

भाष्य-यहाँ मुख्यतया यह बताने का प्रयास किया है कि आत्मा अपने आप में शुद्धबुद्ध होते हुए भी जब तक शरीर के साथ सम्बद्ध है, तब तक उसका

परमात्मा के साथ मिलना दुष्कर है। दूसरी बात यह बताई गई है कि कर्म और आत्मा का यह सब सम्बन्ध ऐसा नहीं है कि आत्मा कर्मो के साथ तद्रूप बन गई हो, ऐसा होने पर तो कर्मो का आत्मा से अलग होना ही असम्भव हो जायगा। इसलिए श्रीआनन्दघनजी ने इन दोनो के सम्बन्ध को कनक और उपल यानी सोना और मिट्टी के सम्बन्ध की उपमा दी है। सोना मिट्टी मे मिला है, परन्तु वह कब से उसके साथ मिला हुआ है? इसे ठीक से कहा नही जा सकता। परन्तु यह निश्चित है कि मिट्टी मिला हुआ सोना मिट्टी से एक दिन अलग किया जा सकता है, भले ही वह अनादिकाल से हो–उसका काल निश्चित न हो। मिट्टी और सोना अलग होने पर ही वह अपने पूर्णशुद्ध रूप मे आता है इसलिए मिट्टी और सोने का सम्बन्ध सयोगसम्बन्ध है। किन्तु मिट्टी का सोने के साथ सयोग किसने किया? कब किया? मिट्टी पहले मिली थी या सोना पहले मिला था? इन प्रश्नों का जैसे कोई निश्चित उत्तर नही दिया जा सकता, वैसे ही जीवात्मा का कर्मो के साथ सयोग के सम्बन्ध मे जान लेना चाहिए। व्यवहारनय की दृष्टि से कर्मो के साथ आत्मा का सम्बन्ध स्वय आत्मा के द्वारा कृत होता है, दूसरा कोई जीव या ईश्वर आत्मा के साथ कर्मो का सयोग मिलाता है, यह बात असगत प्रतीत होती है, क्योकि यदि ईश्वर ही कर्म का सयोग कराता है, तो ईश्वर ही कर्म से वियोग (मुक्ति) करा सकता है। यदि ईश्वर के हाथ मे ही जीवो के कर्मो की मुक्ति हो तो किसी भी जीव को कर्मक्षय करने और कर्मो से मुक्त होने के लिए कोई पुरुषार्थ करने की जरूरत नही रहेगी, न व्रत या महाव्रतादि धारण करने की आवश्यकता रहेगी। परन्तु यह बात मानने पर ईश्वर प्रपची, रागी, द्वेषी, अन्यायी आदि ठहरेगा, जैसे कि उसका स्वरूप कतई नहीं है। अतः आत्मा का कर्मो के साथ सयोग-सम्बन्ध स्वयकृत है। परन्तु यह संयोग कब से है? एक आत्मा की दृष्टि से प्रवाहरूप से आत्मा और कर्मो का सयोग सम्बन्ध अनादि है। आत्मा पहले कर्मो से मिली थी या कर्म आत्मा से मिले थे? यह अतिप्रश्न है, जिसका समाधान बीजवृक्षन्याय से दिया जाता है कि बीज पहले था या वृक्ष पहले था? मुर्गी पहले थी या अंडा पहले था? दोनों की प्राथमिकता सापेक्ष है। इसलिए इस पर ज्यादा गौर न करके यही सोचा जाय कि आत्मा और कर्मो का सम्बन्ध प्रवाहरूप से भले ही अनादिकालीन हो, मगर एक न एक दिन उसका अन्त आ सकता है, जिन

कारणो से उसका संयोग हुआ है, उन कारणों के मिटा देने पर आत्मा स्वर्णवत् शुद्ध कर्ममलरहित बन सकती है। जैसे कर्मबन्ध का पुरुषार्थ व्यवहारदृष्टि से आत्मकृत है, वैसे ही कर्ममुक्ति का पुरुषार्थ भी आत्मकृत है। यहाँ कर्म के बदले 'अन्य' शब्द प्रयुक्त किया गया है, इसलिए कर्म के अतिरिक्त जो भी परभाव (आत्मा से भिन्न भाव) है, उनके साथ संयोग-विच्छेद का पुरुषार्थ होने पर एक दिन उनसे मुक्ति हो सकती है और आत्मा अपने आप में शुद्ध, बुद्ध, मुक्त हो जाएगी और तब आत्मा और परमात्मा के बीच का अन्तर खत्म हो जाएगा, वह परमात्मरूप बन जाएगी।

जैसे सोने को मिट्टी से अलग होने के लिए अमुक-अमुक प्रक्रियाओं से गुजरना पडता है, वैसे ही आत्मा को कर्मो या परभावों से अलग होने के लिए भी धर्मध्यान आदि प्रक्रियाओ में से उसे गुजरना आवश्यक है।

जब तक आत्मा का कर्मो या परभावों के साथ बदस्तूर सम्बन्ध न्यूनाधिकरूप मे चलता रहेगा, तब तक वह (जीवात्मा) संसारी कहलाएगा, वह परमात्मा-(शुद्ध) रूप तभी कहलाएगा, जब कर्मो (परभावों) से सर्वथा रहित हो कर शुद्ध, बुद्ध, निरंजन हो जाएगा।

जीव (आत्मा) के मुख्यतया दो भेद है-सिद्ध और संसारी। जब तक प्राणी संसारी होता है, तब तक एक गति से दूसरी गति में और एक योनी से दूसरी योनी मे बारबार भटकता रहता है। संसार मे भी चारगतियों और चौरासी लाख जीवयोनियो में से वह किस गति और किस योनि मे जाकर पैदा होगा, यह भी शुभाशुभ कर्मों के अधीन है। यद्यपि कर्मबन्ध मनुष्य द्वारा स्वयमेव होता है, जिसका कर्मफल भी स्वयमेव भोगना होता है। कई लोग यह कह देते हैं कि कोई भी प्राणी अपने कृत कर्मों का अशुभ फल स्वयं भोगना नहीं चाहता, इसलिए तथाकथित ईश्वर को बीच में कर्मफल भुगवाने के लिए माध्यम माना गया है। मगर जैनदर्शन शुद्ध-बुद्ध-मुक्त ईश्वर को बीच में नहीं डालता; वह कहता है कि कोई प्राणी चाहे या न चाहे, कर्मो में स्वत· तद्रूप परिणमन की तथा फल देने की शक्ति है। जैसे मिर्च खाने पर मुँह अपने आप जल जाता है, उसके लिए किसी दूसरे का माध्यम बनाने की जरूरत ही नहीं होती। स्वतः ही प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेशरूप में [illegible] हो [illegible] हैं [illegible] स्वयमेव फल दे देते हैं, जिसे प्राणी को भुगतना पड़ता।

अपना फल प्राप्त कराने देने में स्वतंत्र है। वे अन्य किसी फलदाता या माध्यम की अपेक्षा नहीं रखते। इसीलिए श्रीआनन्दघनजी ने कहा है- "जहाँ तक आत्मा कर्मों से लिप्त-कर्मों" से सयुक्त है, तब तक वह ससारी है, सिद्ध या मुक्त नही। अतः यदि आत्मा से परमात्मा तक का अन्तर दूर करना हो तो कर्मों से सर्वथा मुक्त, शुद्ध और स्वरूपनिष्ठ होना आवश्यक है। तभी वह संसारी मिट कर सिद्ध (मुक्त) कहलाएगा। फिर उसके जन्ममरण का चक्र भी मिट जाएगा। यहाँ फिर एक सवाल पैदा होता है कि यह तो समझ मे आ गया कि कर्म आदि अन्य के साथ जब तक आत्मा का सयोग है, तब तक वह बन्धन से मुक्त नहीं हो सकती, परन्तु पृथक्-पृथक् कर्मों के साथ सयोगसम्बन्ध से सम्बद्ध कराने वाला यानी कर्मो का वर्गीकरण (Classification) करने वाले कौन है? जिससे उसके फल मे अन्तर पड जाता है और क्या उन कर्मो के साथ सयोग होने से आत्मा को रोका जा सकता है? यदि रोका जा सकता है तो कैसे? और किसके द्वारा? इन सबसे समाधान-हेतु अगली गाथा प्रस्तुत है-

कारण जोगे हो बांधे बंधने रे, कारणे मुगति मुकाय।
आश्रव-संवर नाम अनुक्रमे रे, हेय-उपादेय गणाय।।
पद्मप्रभजिन. ।।4।।

***अर्थ*-अमुक-अमुक कारणों के मिलने पर अमुक-अमुक कर्मो का बन्ध होता है, अमुक-अमुक कारणों के मिलने पर कर्मो से मुक्त हो कर आत्मा मुक्त भी हो सकती है। आत्मा जब कर्मबन्धन करती है, तब कर्मों के उक्त प्रवाह के आगमन को आश्रव और नये कर्मों को निरोध (रोकने) को संवर कहते हैं, जो क्रमशः हेय और उपादेय कहलाते हैं।**

***भाष्य*-कारणों से बंध और कारणों से मोक्ष**

आत्मा और परमात्मा के बीच में दुई डालने वाले कर्म है, यह बात निश्चित हो जाने पर सवाल उठता है कि कर्म किन-किन कारणो से बधते है, और किन-किन कारणों से छूटते है? पहले सभवदेव परमात्मा की स्तुति मे स्पष्ट बताया जा चुका है कि कोई भी कर्म बिना कारण के कदापि सम्भव नही है। कर्ता द्वारा कार्य होगा तो उसके कारण होंगे ही। प्रत्येक कार्य में कई कारण होते हैं। यहाँ यह भी बताना अभीष्ट है कि कर्मबन्धनरूप कार्य भी किन्ही कारणों से होता है, और कर्ममोक्ष भी किन्हीं कारणो से। सामान्यरूप से

कर्मबन्धन के मुख्यतया 5 कारण शास्त्र में बताये है–[1] मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग इन्हीं पॉचों कारणो को आश्रव कहा गया है। और इन्हीं कारणो से मुक्त होने पर आत्मा कर्मो से मुक्त होती है। कर्मयुक्त होने के भी 6 कारण बताये है–5 समिति, 3 गुप्ति, 20 श्रमणधर्म, 22 परीषहजय तथा चारित्र-पालन एव 12 प्रकार के तप। इन्हे ही एक शब्द मे सवर कहा गया है।

आश्रव और संवर हेय-उपादेय क्यों?

इन दोनो मे आश्रव त्याग है यद्यपि कई लोक व्यवहारनय की दृष्टि से ऐसा मान लेते है कि शुभ-आश्रव (पुण्य) कथञ्चित उपादेय है, जब तक कर्मो से सर्वथा मुक्ति न हो, तब तक उसे छोडा नही जा सकता, छोडना नही चाहिए। परन्तु निश्चयनय की दृष्टि से यह बात वास्तविक नही जचती है। निश्चयनय की भाषा मे यो कहा जा सकता है कि शुभाश्रव (पुण्य) छोडने योग्य ही है। कर्मो से सर्वथा मुक्त होने पर उसे छोडना नहीं पडता, वह स्वय छूट जाता है। इसी प्रकार शुभकर्मो को ग्रहण करना नही पडता, और न ही आत्मा अपने गुणस्वभावो के सिवाय किसी को खींचता है। शुभकर्मो को लाचारी से छोड नही सके, यह अलग बात है। क्योकि अशुभ आश्रव (पाप) से तो सदैव बचना चाहिए। इसलिए अशुभकर्मो (आश्रवो) को छोडने या उनसे बचने के लिए मुख्यतया शुद्ध भावो (स्वगुणस्वभाव) में प्रवृत्ति हो, अगर शुद्धभावो में सतत प्रवृत न रह सके तो कम से कम शुभभावो (शुभाश्रवो) मे तो प्रवृत्त रहना उचित है। इसी दृष्टि को ले कर व्यवहारदृष्टि से शुभाश्रव कथञ्चित उपादेय माना जाता है, किन्तु मुमुक्षु के लिए है वह हेय ही। क्योंकि उससे कर्ममुक्ति तो होती नहीं, कर्मबन्धन ही होता है, जन्म-मरण की परम्परा ही बढती है।

इसी प्रकार कर्ममुक्ति के जो कारण बताये गए है, या सम्यग्दर्शन सम्यग् ज्ञान और सम्यक्चारित्र को जो मोक्ष के कारण बताये गए हैं, वे व्यवहारनय की दृष्टि से बताये गये हैं। निश्चयनय की दृष्टि से तो स्वभाव, स्वगुणो, या स्वस्वरूप मे रमणता ही कर्ममुक्ति का यथार्थ उपाय है। वही निश्चयदृष्टि से संवर और निर्जरा है, जो उपादेय है। आश्रव को इसलिए हेय

1. मिथ्यात्वाविरति-प्रमाद-कषाययोगाः बन्धहेतवः। सा आश्रवः।
2. स समिति-गुप्ति-धर्मानुपेक्षा-परिषहजय-चारित्रैः, तपसा निर्जरा च।

बतलाया गया कि इससे आत्मा कर्मो के बंधन मे जकड कर चिरकाल तक संसार के जन्ममरण के चक्र मे परिभ्रमण करती रहती है। संवर को इसलिए उपादेय बताया कि यह आत्मा को कर्मो के बन्धन मे पडने से रोक कर अपने स्वरूप में स्थिर करता है और चिरकालीन जन्ममरण के चक्र से मुक्त कराता है।

आश्रव और संवर के लक्षण

जिस कारण से प्राणी कर्मो के बन्धन में बंध जाता है, उसे बध कहते है। जीवरूपी तालाब मे कर्मरूपी जल का आना आश्रव है। आश्रव मे कर्मो के आगमन के स्रोत (द्वार) खुले होते है, जबकि सवर मे कर्मो के आगमन के स्रोत (द्वार) बंद होते है। जीवरूपी तालाब मे कर्मरूपी जल का आना बन्द हो (रुक) जाय, उसे सवर कहते है। निश्चयनय की दृष्टि से शुद्धभावो के सिवाय आत्मा का शुभ या अशुभ भावो मे बहना या प्रवृत्त होना, आश्रव कहलाता है और आत्मा का शुभ-अशुभ भावो से हट कर शुद्ध भावो-आत्मगुणो या स्वस्वरूप में प्रवृत्त होना या स्थिर होना, लीन होना सवर कहलाता है। जिसके सम्यग्दर्शन, विरति, अकषाय, अयोग, महाव्रत, अणुव्रत आदि अनेक भेद है।

अलग-अलग स्वभाव के कर्मों के अलग-अलग कारण

सामान्यतया कर्मबन्ध का कारण आश्रव और आश्रव के मुख्य 5 कारण बताये है, लेकिन शास्त्रो मे पूर्वोक्त 8 कर्मो की प्रकृति के रूप मे बन्धने वाले 8 कर्मो मे से प्रत्येक के बन्ध के पृथक्-पृथक् कारण भी बताये गये है। जैसे ज्ञानावरणीय कर्मबन्ध के 5 कारण मुख्य है—ज्ञान या ज्ञानी के दोष देखना, ज्ञान या ज्ञानी का नाम छिपाना, ज्ञान या ज्ञानी से डाह करना, ज्ञान ग्रहण करने में या ज्ञानी के ज्ञान-प्राप्ति मे विघ्न डालना, ज्ञान या ज्ञानी की आशातना-अविनय करना। इसी प्रकार 5 कारण दर्शनावरणीय कर्म के है तथा वेदनीय, मोहनीय आदि कमा के बन्ध के अलग-अलग शास्त्रो मे बता रख ह।

निष्कर्ष : प्रभुमय बनने के लिए संवर का स्वीकार

यहाँ आश्रव और संवर दोनो का स्वरूप बता कर दोनो को क्रमशः हेय और उपादेय (ग्रहण करने योग्य) बताने का प्रयोजन यह है कि अगर तुम्हे वीतराग परमात्मा और तुम्हारे बीच का अन्तर मिटाना हो तो कर्मबन्ध के कारणभूत आश्रव को हेय समझ कर छोडना चाहिए और संवर को उपादेय समझ कर स्वीकारना चाहिए। तभी तुम्हारा मानवदेह सफल होगा और तुम्हारा परमात्म-मिलन का शुभ मनोरथ पूर्ण होगा। यही मुक्ति प्राप्त करने का सचा

उपाय है, यही सिद्धत्व का मार्ग है और यही परमात्ममिलन का सत्पथ है और कर्मबन्धन के कारणो का स्वीकार और इन्कार तुम्हारे ही हाथ मे है। यदि हाथ में आई हुई इस बाजी को हार गए तो फिर चिरकाल तक संसार मे परिभ्रमण करना पडेगा।

'कर्मो के बन्ध और मोक्ष का स्वरूप जानते हुए भी आत्मा बार–बार कर्मो से जुड जाता है, उससे न जुडने का क्या कोई उपाय है?' इस जिज्ञासा के समाधान हेतु श्रीआनन्दघनजी अगली गाथा मे कहते है–

युंजनकरणे हो अन्तर तुझ पड्यो रे, गुणकरणे करी भंग।
ग्रन्थ उक्ते करी पंडितजन कह्यो रे, अन्तरभंग सुभंग ।।
पद्मप्रभ.।।5।।

अर्थ–**हे भव्य! युंजनकरण (कर्म के साथ जुड़ने की क्रिया) के कारण तेरा परमात्मा से अन्तर (फासला) पड़ा है, जो गुणकरण (आत्मगुणों में रमण करने की क्रिया) के द्वारा भंग हो (छूट) सकता है। आगमादि धर्मग्रन्थों के कथन से आगम के अनुभवी पण्डितों ने परमात्मा से आत्मा के बीच की दूरी मिटाने का यही सर्वश्रेष्ठ उपाय बताया है।**[1]

भाष्य–**तीन करण और उनका स्वरूप**

पूर्वगाथा मे कर्मबन्ध और कर्ममुक्ति के कारण क्रमशः आश्रव और सवर को हेय और उपादेय बताया, किन्तु केवल कारणो के बताने मात्र से हेय त्यागा नही जा सकता और उपादेय को ग्रहण नही किया जा सकता। मतलब यह है कि जब तक किसी चीज को छोडने और ग्रहण करने की प्रक्रिया मालूम न हो, तब तक छोडने योग्य को छोडने और ग्रहण करने योग्य को ग्रहण करने का पुरुषार्थ नही हो सकता। इसी कारण इस गाथा मे परमात्मा और आत्मा के बीच मे पडे हुए अंतर के कारण रूप युजनकरण की प्रक्रिया को बताया है, जबकि उस अन्तर के दूर करने के कारणरूप गुणकरण की प्रक्रिया को बताया है।

सवाल यह होता है कि युंजनकरण और गुणकरण की प्रक्रिया कोई हठयोग की प्रक्रिया है या सहजयोग की? कठिनतम क्रिया है या सरलतम? इसके समाधान मे इतना ही कहा जा सकता है कि योगीश्वर श्रीआनन्दघनजी

1. 'तत्प्रदोष-निह्नव-मात्सर्यान्तरायाशादनोपघाताः ज्ञानदर्शनावरणयोः'

स्वयं जैनधर्म और जैनयोग के पुरस्कर्ता है, इसलिए उन्होने जैनधर्ममान्य सहजयोग की ही प्रक्रिया प्रस्तुत की है, हठयोग की नहीं। ये करण-प्रक्रियाएँ उन्होंने अपनी मनः कल्पित नही बताई है परन्तु आगमो और धर्म-ग्रथो के आधार पर अनुभवी विद्वानो द्वारा बताई गई प्रक्रियाएँ है। जैन-आगमो के अनुसार आत्मा की यह सहज प्रक्रिया तीन करणो मे वर्गीकृत की गई है- युंजनकरण, गुणकरण और ज्ञानकरण। आत्मा की कर्मो के साथ जुडने (सयोग) की प्रक्रिया को युंजनकरण कहते है। यह क्रिया आश्रवरूप है। इस क्रिया का कर्त्ता संसारी जीव है। सिद्ध परमात्मा के साथ ससारी जीव के मिलने मे अन्तराय का कारण युजनकरण की क्रिया है। दूसरा कारण, जो ठीक इसके विपरीत है, गुणकरण है। जिसमे आत्मा अपने वास्तविक गुणो ज्ञान-दर्शन-चारित्र में रत या स्थिर हो कर क्रिया करता है, उस क्रिया को गुणकरण कहते है। इसी आत्मक्रिया को संवर कहते है। तात्पर्य यह है कि आत्मा मे रहे हुए कर्मबन्ध के कारणभूत ससार-योग्यता नामक स्वभाव का प्रगट होना युजनकरण है, यही भाव-आश्रव है और आत्मा को मोक्ष की ओर ले जाने वाले मुक्ति योग्य स्वभाव का प्रकट होना गुणकरण है। यही भाव सवर, निर्जरा और अन्त मे मोक्ष है। ये दोनो स्वभाव[1] जीव मे होते है, इनमे से एक स्वभाव जब प्रगट होता है तो दूसरा स्वभाव छिप जाता है। इस प्रकार आविर्भाव–तिरोभाव, के रूप मे ये दोनो पर्यायें जीव में पाई जाती है। अभव्य जीव मे सिर्फ एक ही ससार योग्यता–स्वभाव होता है। संसारी भव्यजीवो में दोनो स्वभाव मुख्य-गौणरूप से होते है।

तीसरा करण ज्ञानकरण है, जिसका अर्थ है–वस्तु को वस्तुस्वरूप से जानने-पहिचानने की क्रिया। वस्तुतः इसका समावेश गुणकरण मे ही हो जाता है।

गुण-करण में प्रवृत्त होना ही अंतर-भंग का श्रेष्ठ उपाय

पूर्वोक्त दोनों करणो को भलीभांति जान कर गुणकरण मे प्रवृत्त होना ही आत्मा और परमात्मा के बीच मे पडे हुए अन्तर (दूरी) को भग करने का सुअग-श्रेष्ठ उपाय है; रामबाण इलाज है। आत्मा और परमात्मा के बीच की दूरी

---

1. हरिभद्रसूरीय योगबिन्दु ग्रन्थ में कहा है–

आत्मा तदन्यसंयोगात् संसारो, तद्वियोगतः।
स एव मुक्तः एतौ च स्वाभाव्यात् तयोस्तथा।।6।।
अन्यतोऽनुहोऽप्यत्र तत्स्वाभाव्य–निबन्धनः।।

मिटाने का उपाय आत्मा के सिवाय अन्य किसी का अनुग्रह नहीं है। क्योकि कर्मबन्धन के सयोग और वियोग दोनो आत्मा के स्वभाव के अनुसार होते है। यदि थोडी देर के लिए ईश्वरकृपा आदि को कारण मान भी लिया जाय, तब भी दोनो स्वगुण-स्वभाव के अनुसार ही होते है। मतलब यह है कि जब आत्मा सवर मे प्रवर्तमान होती है, यानी व्यवहारिक दृष्टि से वह अष्ट-प्रवचन माता (समितिगुप्ति) का पालन करती हो, बारह अनुप्रेक्षा, क्षमा आदि दशविध श्रमणधर्म से उद्युक्त हो, परिषह पर विजय प्राप्त करने मे प्रयत्नशील हो, पचमहाव्रत या पचाणुव्रत, नियम आदि मे पुरुषार्थ कर रहा हो, तब वह आश्रवरहित हो जाता है। इससे नवीन कर्मो को आते हुए रोक देता है। यह गुणकरण की प्रक्रिया है, जो आत्मा के स्वपुरुषार्थ से होती है, इस प्रक्रिया से ईश्वरादि का अनुग्रह स्वतः प्राप्त हो जाता है। युंजनकरण को रोकने से ही ऐसा गुणकरण होता है, जो पूर्वोक्त अन्तर को मिटाने का सरलतम उपाय है।

योगबिन्दु, योगशास्त्र, योगद्वात्रिशिका अथवा योगदृष्टि-समुच्चय आदि किसी भी ग्रथ को उठाकर देखे तो उसमे आत्मा और परमात्मा के बीच की दूरी मिटाने का सर्वोत्तम उपाय युजनकरण को रोक कर गुणकरण को अपनाने का बताया गया है।

अनादिकाल से ससारभ्रमण करते हुए जीव के द्वारा अगर यह प्रयोग सफल हो जावे तो परमात्मा और उसकी आत्मा के बीच मे पडा हुआ अन्तर मिट सकता है। अन्तिम गाथा मे इसी आशा को लेकर उत्साहपूर्वक श्रीआनन्दघनजी आनन्द-रस-विभोर हो कर झूम उठते है–

तुझ मुझ अतंर-अतंर भांजशे रे, बाजशे मंगलतूर।
जीवसरोवर अतिशय वाधशे रे, 'आनन्दघन' रसपूर।।

पद्मप्रभजिन.।।6।।

_अर्थ_–मेरे और आपके अन्दर का (आन्तरिक) जो अन्तर है, वह अन्त में अवश्य मिटेगा अथवा मेरा अन्तर (गुणकरण द्वारा) उक्त अन्तर को तोड़ कर रहेगा। तब मंगलवाद्य बज उठेंगे और मेरा जीवसरोवर प्रफुल्लित हो कर अत्यन्त वृद्धिगत हो जायेगा एवं वह उस आनन्द-समूह के रस से लबालब भर जायगा अथवा यह जीव परम-आनन्दरूपी घन (बादल) बन कर रस की वर्षा करता रहेगा।

भाष्य–अन्तरभंग होने

श्रीआनन्दघनजी पूर्वोक्त गाथाओं में प्रतिपादित बातो

को भलीभांति हृदयभंग कर चुके हैं कि परमात्मा और मेरी आत्मा के बीच मे जो अन्तर है, वह कर्मो के कारण है और कर्मबन्धन से छुटकारा पाना तथा आश्रवत्याग व संवरग्रहण करना भी मेरी आत्मा के ही हाथ में है। मेरी आत्मा जब यह कतई नहीं चाहेगी कि वह कर्मबन्धन में पडे, तब वह प्रतिक्षण सावधान और जाग्रत हो कर कर्मबन्धन के कारणों को मिटायेगी, नये कर्मो को आने से रोकेगी, उदय मे आए हुए पुराने कर्मो का फल समभाव से भोग कर अथवा उदयाभिमुख न हुए हों, उन्हें उदीरणा करके उनको क्षीण करने का पुरुषार्थ करेगी। इस प्रकार गुणकरण द्वारा यानी प्रतिक्षण आत्मा के ज्ञानादि निजगुणो मे स्थिर रह कर युजनकरण के कारण से परमात्मा और मेरी आत्मा के बीच बढते जाने वाले अन्तर को मै एकदम काट दूँगा। इस युजनकरण के कारण मै ससारी कहलाता था, लेकिन जैसे आप युंजनकरण का त्याग करके गुणकरण अपना कर ससारी से सिद्ध-बुद्ध-शुद्ध-मुक्त बने, वैसे मै भी युजनकरण का त्याग करके गुणकरण को अपनाऊंगा, जिससे मै भी एक दिन शुद्ध, बुद्ध, मुक्त परमात्मा बना जाऊगा। मेरी यह आशा अवश्य ही फलित हो कर रहेगी। जिस दिन यह अन्तर टूटेगा, उस दिन मेरा वर्षो का संजोया हुआ स्वप्न साकार होगा। और तब ध्यान करने वाला ध्याता, उसका ध्येय-आप परमात्मा और उसका परमात्मसम बनने का ध्यान तीनों एकाकार हो जायेगे। इन तीनो मे जिस दिन ऐक्य-अभिन्नत्व सम्पन्न होगा, उस दिन आपके और मेरे बीच मे पडा हुआ द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावगत सारा अन्तर दूर हो जाएगा,मै प्रभुमय हो जाऊगा।

जैनतत्त्वज्ञान में यह विशेषता है कि उसके अनुसार योग्य प्रयत्न करने से बहिरात्मा अन्तरात्मा बन कर एक दिन परमात्मस्वरूप प्राप्त कर सकते है। उसके जन्म-मरण के चक्कर मिट जाते है, स्वय उसमे परमात्मरूप बन जाने की शक्ति आ जाती है। इसीलिए श्रीआनन्दघनजी उत्साह मे आ कर प्रसन्नता से कह उठते है–'प्रभो! मुझे उस गुणकरण के प्रयोग द्वारा अपनी आत्मिक शक्ति आजमा कर मेरा अनादिकालीन संसारीपन मिटाना है। जिस दिन यह संसारीपन मिट जायगा, उस दिन मै और आप एकमेक हो जायेगे, मैं परमात्ममय हो जाऊँगा और आपके और मेरे बीच मे रही हुई भेद की दीवार ढह जाएगी।'

जिस दिन ध्याता, ध्येय और ध्यान की इस प्रकार की एकता हो जाए उस दिन उक्त ऐक्य के फलस्वरूप अन्तर मे अनहद मगलवाद्य बज उठेगे जिनसे उस आनन्द को द्योतित करने वाले अनाहत-निनाद (शब्द-ध्वनि)

सतत् सुनाई देगा। जैसे दुनियादार लोग अपनी इच्छितवस्तु की प्राप्ति की खुशी मे मगल बाजे बजाते है, वैसे ही साधक को भी जब अपने ईष्ट साध्य की प्राप्ति हो जाती है तो उस खुशी को प्रगट करने के लिए आनन्द के अनाहत मगल-ध्वनिमय वाद्य उसके अन्तर में बज उठते है। परमात्मा और आत्मा की एकता के उस रूप की महिमा गाने मे तीनो लोक में कोई समर्थ नही है और न उसे शब्दो में प्रकट करने मे कोई समर्थ है।

नेति-नेति' (इसके आगे कुछ नहीं कहा जा सकता) कह कर वाणी भी उस अभूतपूर्व आनन्द का वर्णन करने मे असमर्थ हो जाती है। इसीलिए श्रीआनन्दघनजी जीवात्मा-परमात्मा के ऐक्य के उस नजारे को अपने शब्दो मे सकेत के रूप मे अभिव्यक्त करते है कि परमात्मा और आत्मा के बीच मे दूरी डालने वाले कर्मरज का जब एक कण–भी नहीं रहेगा तब यह आनन्दमय आत्मा-सरोवर परमशान्त सुधारस से लबालब भर जायेगा। क्योंकि अब तक आत्मा को अतृप्ति थी, वह सदा के लिए समाप्त हो कर शाश्वत परमतृप्ति प्राप्त हो जायगी। उसके आनन्द का क्या ठिकाना!

जब जीव गुणकरण की प्रक्रिया द्वारा सवरधर्म के कारण क्रमशः घाती कर्मो का क्षय कर देता है, तब केवलज्ञान, केवलदर्शन, केवलसुख और आत्मानन्द का बल प्राप्त कर ही लेता है। तब उसके केवल नाम-गोत्रादि चार कर्म बाकी रह जाते है, अगर आयुकर्म से नाम-गोत्र के कर्मदल अधिक हो तो उन्हे आयुष्य के बराबर करने के लिए वह केवली समुदघात करता है, जिससे जो जीव एक समय अंगुल के असंख्यातवे भाग के शरीर मे कैद था, वह अब लोकव्याप्त हो जाता है। इसी कारण श्रीआनन्दघनजी को कहना पडा–'**जीव-सरोवर अतिशय वाधशे रे आनन्दघनरसपूर।**'

सरोवर मे कमल खिले हुए होते है, उनका स्वभाव जल की सतह से ऊपर रहने का होता है। जब सरोवर मे पानी बढ जाता है तो कमल भी बढ जाते है, फूल जाते है। यह प्राकृतिक नियम है कि ज्यो-ज्यो सरोवर मे पानी बढता जाता है, त्यो-त्यो कमल अपने रूप, रस और रंग को न बिगडने दे कर बढता जाता है। इसी प्रकार ज्यो-ज्यों गुणकरण द्वारा सवरधर्म-सेवन से परमात्मा और आत्मा के बीच का अन्तर टूटता जाता है, त्यो-त्यो मे आत्मज्ञानरूपी जल बढता जाता है और आत्मज्ञानरूपी जल होने के साथ–साथ आत्मानन्द-कमल में भी वृद्धि होती जाती है।

अधिकता से वही जीवात्मा अपने ज्ञान को लोकालोक मे व्याप्त कर देता है और वह आत्मा परमात्मा में लीन हो कर सदा के लिए लोक के अग्रभाग पर जा कर विराजमान हो जाती है और तब वह आत्मा सदैव निजानन्दसमूह के रस से परिपूर्ण हो कर परम तृप्त हो जाती है।

सारांश-इस स्तुति के आरम्भ में श्रीआनन्घनजी ने दो प्रश्न उठाए थे- परमात्मा और मेरी आत्मा के बीच में अन्तर क्यो पड़ा? उस अन्तर को मिटाने का क्या उपाय है? इसके समाधान के रूप में उन्हें ज्ञात हुआ कि अपनी आत्मा पर (कर्म आदि) के साथ युंजनकरण के कारण जो संयोगसम्बन्ध है अथवा हो रहा है, उसे गुणकरण द्वारा मिटाना ही परमात्मा और आत्मा के बीच अनादि कर्मों के संयोग के कारण पड़े हुए अन्तर को मिटाना है। अतः वे उक्त उपाय को अजमाने के लिए उद्यत हो गए और उसके शुभपरिणामों का दिग्दर्शन करा कर परमात्मा से अपनी आत्मा की एकता स्थापित करने की आशा में प्रतीक्षारत है।

वास्तव में, परमात्मा से आत्मा की इस प्रकार की एकता होगी, तभी सच्ची भक्ति, यथार्थ प्रीति, यथार्थ सेवा-उपासना, सत्यदर्शन आदि सिद्ध होंगे।

***

7. श्री सुपार्श्वजिन-स्तुति–

अनेक नामों से परमात्मा की वन्दना

(तर्ज- राग सारग, मल्हार, ललना की देशी)

श्री सुपार्श्वजिन, वंदिए सुखसम्पत्तिनो हेतु, ललना।
शान्त-सुधारस- जलनिधि, भवसागरमां सेतु, ललना।।1।।

अर्थ–हे अन्तरात्मारूपी ललना! (सखी)! आओ, हम श्रीयुत् ! सुपार्श्वनाथ जिन (सातवें तीर्थंकर) परमात्मा को वन्दन करें, क्योंकि वे समस्त प्रकार के सुख और सम्पत्ति के कारण हैं; अपने स्वरूप में स्थिर शान्त अमृतरस के समुद्र हैं और संसारसागर को पार करने में हमारे लिए पुल के समान हैं।

भाष्य–परमात्मा की वन्दना क्यों?

पूर्वोक्त स्तुति में श्रीआनन्दघनजी ने परमात्मा और आत्मा के बीच अन्तर के कारण और उनको मिटाने के लिए निवारणोपाय बताए थे। कर्मबन्धनरूप उन कारणो को मिटाने के लिए तथा परमात्मा और आत्मा के बीच सामीप्य स्थापित करने के लिए इस स्तुति से परमात्म-वन्दना आवश्यक बताई है। श्री सुपार्श्वनाथ वीतराग परमात्मा के माध्यम से इसमे परमात्म-वन्दना का रहस्य बताते हुए तीन बाते उन्होने अभिव्यक्त की है–परमात्मवन्दना क्या है? और किस नाम से, किस स्वरूप वाले परमात्मा को वन्दना की जाय?

सर्वप्रथम परमात्मवन्दना क्यो की जाय? इसका रहस्योद्घाटन श्रीआनन्दघनजी अन्तरात्मारूपी ललना (स्त्री-सखी) को सम्बोधित करते हुए कहते है–हे अन्तरात्मा-सखी, परमात्मा के पास तो अनन्तज्ञान-दर्शन, अनन्त अव्याबाध सुख और अनन्तवीर्य सुरक्षित है, परन्तु मोह, अज्ञान और अशुभकर्मो के कारण मेरा ज्ञानधन अभी तक लुट रहा है। मै मोहवश एवं असातावेदनीय के परिणामस्वरूप जगत् के तथा जन्ममरण के अनेक दुःखो से ओत-प्रोत रहा, अभी तक मैने इतने-इतने भयंकर दुःख सहे, फिर भी संसार-समुद्र के किनारे का पता नही लग रहा है और नये-नये अनेको दुःख और आ रहे हैं तथा मैंने मोहकर्मवश तथा वीर्यान्तरायकर्म के फलस्वरूप अपनी शक्ति आत्मा के शुद्धस्वरूप को देखने, जानने और उसमे रमण करने में नहीं लगाई, यानी ज्ञान-दर्शन-चारित्र की आराधना मे अपनी शक्ति न लगा सका और प्राय

विषयों के पोषण बढाने में और राग-द्वेष-मोह आदि की लीलाएँ करने मे ही लगाई। अतः सुबुद्धिरूपी सखी! अब तू इन सबसे हट कर वीतराग परमात्मा के वन्दन करने में लग जा।

क्योंकि प्रथम तो परमात्मा का नाम सुपार्श्व है। लौकिक लोक लोहे से सोना बनाने के लिए पारसमणि का उपयोग करते है, परन्तु हमे तो अपनी आत्मा, जो विषय-कषायो मे, रागद्वेष मे रत हो कर वर्तमान मे जग लगे हुए लोहे के समान बन रही है, उसे सोना बनाना है, इसके लिए सुपार्श्व नामक चेतनपार्श्वमणि का अवलम्बन लेना चाहिए। वन्दना के रूप मे इनके पास आने से यानी इनके अभिमुख होने से आत्मा मे खोई हुई या सोई हुई ज्ञानशक्ति एव दर्शनशक्ति प्रकट हो सकती है। वह पारस तो लोहे के साथ स्पर्श होने पर केवल सोना बनाता है, परन्तु ये सुपार्श्व आत्मा को सोने के समान शुद्ध ही नहीं, अपने समान बुद्ध और मुक्त (सिद्ध) भी बना देते है।

मतलब यह है, हमारी आत्मा मे सोई हुई ज्ञान-दर्शन की विपुलशक्ति को अभिव्यक्त करने के लिए हमे वीतराग परमात्मा की वन्दना करके उनका सामीप्य प्राप्त करना चाहिए। क्योकि वन्दना करने वाले को वन्दनीय पुरुष के अभिमुख=सम्मुख होना आवश्यक होता है। जब वन्दक आत्मा वन्दनीय परमात्मा के सम्मुख होगी तो स्वभावतः उसमे निहित ज्ञान-दर्शन की शक्ति के रोधक कर्मो का पलायन होने लगेगा, ज्ञानदर्शन को शक्ति को रोकने वाले राग-द्वेष-मोहादि विकारो की भगदड शुरू हो जायगी और आत्मा की ज्ञान-दर्शन शक्ति निर्मलतर और निर्विकार होती जायेगी। परमात्म-वन्दना का सबसे बडा लाभ यह है कि वन्दना मे चित्त एकाग्र होने पर साधक विषयविकारो से हट कर स्वस्वरूप के दर्शन एव ज्ञान मे लीन हो जाएगा। वन्दना से सर्वोत्तम उपलब्धि आत्मऋद्धि की प्राप्ति होगी। भौतिक ऋद्धि की उपलब्धि के लिए दुनियादार लोग अनेक व्यक्तियो के पास भटकते फिरते है, जो ऋद्धि नाशवान है, तब फिर आत्मिक ऋद्धि के उपदेष्टा, निर्देशक, दाता परमात्मा को वन्दना करने मे आपत्ति ही क्या है? क्योकि अगर यह आत्मऋद्धि एक बार भी प्राप्त हो गई तो साधक सदा के लिए अनन्तज्ञान-दर्शन-सुख-वीर्य को प्राप्त कर आत्मसमाधि मे लीन हो जायगा।

दूसरी बात यह है कि परमात्मा अनन्तसुख और अनन्त-अक्षयज्ञानादि सम्पत्ति (लक्ष्मी) की उपलब्धि के कारण हैं, इसलिए इनको वन्दन करने से

साधक अपने आपका अन्तर्दर्शन कर सकेगा। अपनी आत्मा पर मनन-चिन्तन कर सकेगा कि वह जिनको वन्दन कर रहा है, वे परमात्मा तो उस अनन्तअव्याबाध सुख के धनी बने हुए है, और वह अभी तक वैषयिक सुखो को अथवा वस्तुनिष्ठ सुख को ही सुख मानता रहा। परिणामस्वरूप उस क्षणिक सुखाभास के चक्कर मे पड कर उसने अनन्त-अनन्त जन्म खो दिए, अनेक जन्ममरण के दुःख और उन जन्मो मे होने वाले अनेकानेक दुःख लाचारी से सहे, अब संभल जा, और अनन्तसुखी परमात्मा की वन्दना के माध्यम से उसे अपनी आत्मा में निहित उस अनन्त स्वाधीन-सुख के खजाने को प्राप्त करना है। उसके लिए तुझे ज्ञान-दर्शन-चारित्ररूप रत्नत्रय की (अथवा) निश्चय दृष्टि से स्वरूपरमणरूप चारित्र की आराधना करनी लाजिमी है, उसके लिए जो सुखबीजरूप दुःख-क्षणिक 'दुःख' पूर्वकर्मो के फलस्वरूप सहने पडे, उन्हे समभाव से सह करअसातावेदनीय कर्म के जाल को काट दे, और परमात्मवन्दना के द्वारा ज्ञानादि अक्षय सम्पत्ति को प्राप्त करना है। इसीलिए परमात्मवन्दना का दूसरा कारण श्रीआनन्दघनजी बतलाते हैं- **'सुख-सम्पत्तिनो हेतु।'**

परमात्म-वन्दना का एक तीसरा कारण और है, वह है—आत्मस्वरूपमय शान्त सुधारस को प्राप्त करना। अब तक आत्मा अपने को भूल कर नदी, पर्वत, गुफा, जगल, तीर्थस्थान या परिवार, संतान, स्त्री, विषयवासना, या भौतिक पदार्थो की प्राप्ति मे शांति मान रहा था, वह अपने शुद्धस्वरूप के आसपास जलती हुई क्रोध, मान, माया, लोभ, मद, मोह, मत्सर आदि कषायाग्नि को नही देख रहा था

पुल के समान है।

किसी नदी या समुद्र को पार करने के लिए पुल का सहारा लिया जाता है। पुल के सहारे से व्यक्ति अनायास ही उससे पार हो जाता है। परन्तु ससार समुद्र इतना लम्बा-चौडा है कि इस पर पुल बनाने वाले बहुत ही विरले लोग होते है। हर एक के वश की बात नहीं है यह। परन्तु वीतराग परमात्मा ने तीर्थकर-अवस्था मे ससारी जीवों के तिरने और ससार समुद्र पार होने के लिए तीर्थ (चतुर्विध संघ-साधु-साध्वी-श्रावक-श्राविकारूप) की स्थापना की थी। उस तीर्थरूपी पुल के सहारे से अनेक भव्य जीव इस ससार समुद्र को पार कर गए और अब भी कर सकते है। इसलिए परमात्मवन्दना करने से भव्यजीव सहसा परमात्मा के अभिमुख होगा ही और उनके द्वारा किये हुए कार्यकलापो पर—उनके चारित्राराधन पर तथा तीर्थस्थापन पर अवश्य विचार करेगा। वन्दना के माध्यम से यह स्मरण ही उसे तीर्थ का सहारा लेकर ससारसमुद्र को पार करने में सहायक होगा। अथवा परमात्मवन्दना ही एक प्रकार से ससारसागर को पार करने मे पुल का काम करती है। क्योकि परमात्मवदना करते समय सहसा विचार होगा कि परमात्मा ससार सागर से कैसे पार हो गए और मै क्यो पीछे रह गया? इस प्रकार ऊहापोह करने से वह ससारसमुद्र को पार करने के लिए परमात्मा द्वारा तीर्थकर अवस्था मे स्थापित तीर्थ का सहारा ले कर ज्ञानदर्शनचारित्र की आराधना करने मे प्रवृत्त होना सम्भव है। इसीलिए श्रीआनन्दघनजी परमात्मवदना का अन्तिम कारण बताते है—'**भवसागरमां सेतु**'।

कोई कह सकता है कि यह तो अपनी स्वार्थपूर्ति के लिए उन्हे वदना करना हुआ, वदना निःस्वार्थ होनी चाहिए। परन्तु यह बात तो माननी होगी कि उच्च से उच्च स्वार्थ अंत मे परमार्थ बन जाता है। उत्तम मार्ग पर चढने के लिए किसी उत्तम मार्गदर्शक से मालूम करने में एक प्रकार का परमार्थ ही है। स्वर्गादि सुख या इहलौकिक भौतिक सुखो को पाने की अभिलाषा वन्दना का कारण होती तो अवश्य कहा जाता कि यह स्वार्थयुक्त वन्दना है।

परमात्म-वन्दना क्या है?

सस्कृतव्याकरण के अनुसार 'वदि अभिवादन-स्तुत्योः' वन्दनक्रिया अभिवादन-अभिमुख हो कर नमन करने तथा स्तुति करने के अर्थ मे प्रयुक्त होती है। वंदना मे अपने आराध्य या वन्दनीय प्रभु के प्रति हृदय (मन) से गुणाकर्षण हो कर प्रसन्नता की उर्मियाँ उछलने लगती है, यानी हृदय और

बुद्धि वन्दनीय प्रभु के प्रति झुक जाते है। वाणी अन्यप्रशसा या अन्यो के गुणगान से हट कर परमात्मा की स्तुति, प्रशसा अथवा गुणगान मे एकाग्र हो जाती है तथा काया अन्यविषयो से सर्वथा हट कर वन्दनीय परमात्मा के अभिमुख होकर सभी अगो-सहित सर्वथा झुक जाती है, उन्ही के ध्यान, नामजप या स्वरूपचिन्तन मे इन्द्रियो सहित वह एकाग्र हो जाती है। सामान्यतया वन्दना करने वाला जब वन्दनीय पुरुष के सम्मुख होता है तो अपना नाम भी प्रगट करता है कि मै (अमुक नाम वाला) आपको वन्दन कर रहा हूँ। इसी प्रकार परमात्मा को वन्दना करने वाला भी जब अपना नाम पुकार कर प्रभु के प्रति वन्दन नमन करेगा, तब सहसा ही उसे अपने स्वरूप का भान होगा।

निष्कर्ष यह है कि परमात्मवन्दना वह है, जिसमे मन, बुद्धि, हृदय, वाणी, शरीर, इन्द्रियाँ तथा समस्त अगोपांग वन्दनीय प्रभु के प्रति झुक जाय, उन्ही के गुणचितन, गुणगान, गुणाराधन और गुणो मे तन्मयतापूर्वक लग जाय। निश्चयदृष्टि से परमात्मवन्दना का अर्थ है—आत्मा का अपने शुद्ध स्वरूप मे सर्वतोभावेन झुक जाना, नम जाना, उसी की स्तुति, गुणगान, गुणध्यान एव गुणचितन में लीन हो जाना। वास्तव में वन्दना वन्दनकर्ता को वन्दनीय पुरुष के पास ला कर बिठा देती है, उसे वन्द्य के निकटवर्ती बना देती है।

वन्दना किस परमात्मा को?

वन्दना किसे की जाय? वन्दनीय परमात्मा कौन हो सकते है? इसका रहस्योद्घाटन इस स्तुति की प्रथम गाथा मे तो किया ही है। बाकी की सभी गाथाओ मे वन्दनीय परमात्मा का स्वरूप ही बताया है। प्रथम गाथा मे श्रीसुपार्श्वजिन, सुख सम्पत्ति का हेतु, शान्तसुधारस-जलनिधि और भवसागर मे सेतु (पुल) ये चार विशेषताएँ वन्दनीय, परमात्मा की बताई है। ये चारो विशेषताए वीतरागता, अनन्त सुख प्राप्ति, अनन्तज्ञानादिसम्पत्ति, परमशांति के अमृतसागर (निर्वाणप्राप्त) इन परमात्मा के चार गुणो से अभिव्यक्त की जा सकती है। वास्तव मे वन्दनीय आदर्श भी जब उक्त परमगुणो से सम्पन्न हो, तभी उससे लाभ उठाया जा सकता है, अन्यथा हीनगुणो वाले एवं रागी-द्वेषी सांसारिक सुखसम्पत्ति या पारसमणि वाले व्यक्तियो को वदना करने से गुणवृद्धि नही हो सकती। हीन आदर्श के प्रति वंदना हीन गुणो को प्रगट कर सकती है, सर्वोच्च परमगुणों को नही।

यों तो वीतराग परमात्मा के नामो और गुणो का कोई पार नही है, किन्तु फिर भी संकेत के लिए श्रीआनन्दघनजी अगली गाथाओ मे वदनीय परमात्मा के कुछ विशिष्ट गुणो और नामो का निर्देश करते है–

सात महाभय टालतो, सप्तम जिनवर देव, ललना!
सावधान मनसा करी, धारो जिनपद-सेव, ललना।।
श्रीसुपार्श्व. ।।2।।

शिव, शंकर, जगदीश्वरु, चिदानन्द, भगवान, ललना!
जिन, अरिहा, तीर्थकरू, ज्योतिस्वरूप असमान, ललना।।
श्री सुपार्श्व. ।।3।।

अलख, निरंजन, वच्छलु, सकलजन्तु-विसराम, ललना!
अभयदानदाता सदा, पूरण आतमराम, ललना।।
श्री सुपार्श्व.।।4।।

वीतराग-मदकल्पना-रति-अरति-भय-सोग; ललना!
निद्रातन्द्रा-दुरंदशा-रहित अबाधित योग; ललना।।
श्री सुपार्श्व.।।5।।

परमपुरुष, परमातमा, परमेश्वर, परधान; ललना!
परमपदारथ, परमेष्ठी, परमदेव, परमान; ललना।।
श्री सुपार्श्व.।।6।।

विधि, विरंचि, विश्वम्भरू, हृषीकेश, जगनाथ, ललना!
अघहर, अघमोचन, धणी, मुक्ति-परमपद- साथ; ललना।।
श्री सुपार्श्व.।।7।।

एम अनेक अभिधा धरे, अनुभवगम्य विचार; ललना!
जे जाणे तेहने करे, 'आनन्दघन' अवतार; ललना।।
श्री सुपार्श्व.।।8।।

अर्थ–यह सप्तम तीर्थकर सात महाभयों का निवारण करने वाले हैं, इसलिए हे अन्तरात्मारूपीसखी! अप्रमत्तमन से वीतराग परमात्मा के चरणकमल की सेवा करो; अथवा चित्त को एकाग्र करके सावधान हो कर उसमें वीतराग परमात्मपद का ध्यान करो। वीतरागपरमात्मा के नाम शिव (कल्याणकारी या उपद्रवरहित), शंकर (सुखकर्ता), जगदीश्वर (जगत के ईश्वर=पति); चिदानंद (अनंतज्ञान और आंनद से युक्त), भगवान् (समग्र ज्ञान, ऐश्वर्य, धर्म, यश, श्री, वैराग्य

आदि से युक्त), जिन (राग-द्वेषादि के विजेता), अरिहा (कर्मशत्रुओं का विनाश करने वाले), तीर्थंकर (धर्मतीर्थ- संघ की स्थापना करने वाले), ज्योतिस्वरूप (आत्मज्योतिर्मय) एवं असमान (संसार में अद्धितीय-अप्रतिम हैं।)

आप अलक्ष (बहिरात्मा द्वारा अगम्य), निरंजन (कर्मों के लेप से रहित), वत्सल (प्राणिमात्र के प्रति निष्काम वात्सल्य रखने वाले), समस्त जीवों के लिए विश्रामरूप, अभयदानदाता, समग्ररूप से पूर्णता को प्राप्त, और एकमात्र आत्मा में ही रमण करने वाले हैं।

आप राग, द्वेष समस्त मदों, विकल्पों, प्रीति-अप्रीति (रुचि-अरुचि), भय, शोक, निद्रा, तन्द्रा, (एक प्रकार के आलस्य) दुर्दशा (दुष्ट अवस्था) से बिलकुल रहित हैं।

आप पुरुषों में उत्कृष्ट पुरुष हैं, उत्कृष्ट आत्मा हैं, परम ईश्वर हैं, सर्वोत्कृष्ट हैं, संसार के समस्त पदार्थों में उत्तम पदार्थ हैं, परमेष्ठी (सर्वोच्च पद पर अधिष्ठित) हैं, देवों में उत्कृष्ट देव (देवाधिदेव) हैं, उच्च से उच्च सम्मान के योग्य है अथवा समस्त साधकों के लिए प्रमाण स्वरूप हैं।

आप विधि (मोक्षमार्ग के विधाता) हैं, ब्रह्मा (आत्मगुणों की रचना करने वाले) हैं, विश्व में आत्मगुणपोषक अथवा विश्व में व्याप्त विष्णु हैं, इन्द्रियों के वशीकर्ता हैं; तीनों लोकों के रक्षक होने से नाथ हैं, पापनाशक हैं, पाप से मुक्त कराने वाले हैं, स्वामी (अपने आपके मालिक अथवा विश्व के स्वामी) हैं, मुक्तिरूपी परमपद को प्राप्त कराने में सार्थवाह (सार्थ) हैं।

इस प्रकार आप अनेक नामों के धारक हैं, आपके गुणनिष्पन्न अनेक नाम हैं; जो स्वानुभव-स्वज्ञान से विचार करके जाने जा सकते हैं। इस तथ्य को जो जान लेता है (जो भव्यात्मा इस तरह से स्वरूप समझबूझ कर परमात्मवंदन करता है) उन्हें वे आनन्द के समूह का अवतार (सच्चिदानन्दघनमय) बना देते हैं । इसलिए ऐसे परमात्मा की हम वन्दना-प्रणति-स्तुति-भक्ति करे।

भाष्य–वन्दनीय परमात्मा के अनेक गुणनिष्पन्न नाम

इन गाथाओ मे श्रीआनन्दघनजी ने सप्तम जिनवर श्रीसुपार्श्वनाथ तीर्थंकर की स्तुति के माध्यम से परमात्म-वन्दना के सिलसिले मे कौन-से, किन-किन मुख्य गुणो वाले परमात्मा वन्दनीय हैं, इस सम्बन्ध मे उनके सार्थक नामों का उल्लेख किया है। ये सभी नाम गुणनिष्पन्न हैं। इन कुछ परिगणित नामों के अतिरिक्त और भी अनेक नाम हो सकते हैं, यह भी उन्होने

'एम अनेक अभिधा धरे' कह कर बता दिया है। जिनसहस्रनाम में परमात्मा के हजारों नामों का उल्लेख किया है; इसलिए कलिकालसर्वज्ञ आचार्य हेमचन्द्र ने वन्दनीय परमात्मा की पहिचान के लिए एक श्लोक में निर्देश कर दिया–"जिस जिस समय (युग) मे, जो-जो, जिस किसी भी नाम से पुकारे जाते हो, वे एक ही है, उन महापुरुष वीतराग भगवान् को नमन्-वन्दन हो, बशर्ते कि वे समस्त दोषों से रहित हो।"[1]

जैनधर्म किसी विशेष नाम का पक्षपात नही करता और न अपने ही माने हुए किसी नाम को वन्दनीय मानने का आग्रह रखता है। उसकी किसी भी महान् आत्मा को वन्दनीय मानने की गुणनिष्पन्न एक ही कसौटी है और वह है–"राग-द्वेषादि भवभ्रमणकारक दोषो का जिसमे अस्तित्व न हो। इसी दृष्टिकोण को ले कर श्रीआनन्दघनजी इस स्तुति मे वन्दनीय परमात्मा के गुणनिष्पन्न नामो का क्रमशः उल्लेख करते है।"

सात महाभय के निवारक

जगत् के समस्त प्राणी अपने शरीर, इन्द्रियो, मन और प्राणो की तथा शरीर से सम्बन्धित सजीव-निर्जीव पदार्थों की रक्षा की चिन्ता मे लगे रहते है, वे मुख्यतया सात महाभय है। वे सात महाभय इस प्रकार है–**1. इह लोकभय–** इस लोक मे मेरा क्या होगा ? कौन मुझे संकटो से बचाएगा? कौन खाने-पीने को देगा? अथवा इस लोक मे मेरी इच्छाओ की पूर्ति होगी या नही? मुकद्दमे, व्यापार-धधे, परीक्षा आदि मे मुझे सफलता मिलेगी या नहीं? इस प्रकार की अहर्निश चिन्ता। **2. परलोकभय**–पता नही, अगले जन्म मे मुझे नरक लोक मिलेगा या तिर्यंचलोक मिलेगा? अथवा मनुष्यलोक मिलेगा? और परलोक मे पता नही, कितनी यातनाएँ सहनी पडेगी? मनुष्य लोक मिल जाने पर भी शायद मुझे खराब वातावरण व अनेक सकटो से घिरा रहना पडे, इस प्रकार की नाना चिन्ताएँ। **3. आदानभय (अत्राणभय)**–अपनी धन-सम्पत्ति, या अन्य किसी ममत्वग्रस्त वस्तु के छीन जाने का डर, अथवा आदान यानी किसी से कोई वस्तु लेने जाने पर मिलेगी या नही? इस प्रकार की फिक्र, या किसी भी प्रकार का सकट अथवा पीडा से बचने की चिन्ता, अथवा किसी सकट के आ

---

1. यत्र तत्र समये योऽसि सोऽस्यभिधया यया तया।
वीतदोष-कलुषःस चेत्, एक एव भगवन् नमोऽस्तु ते।।

पडने पर अपनी या अपनी मानी हुई वस्तु की रक्षा का भय। **4. अकस्मात्भय**–आकस्मिक सकट या दुर्घटना के उपस्थित हो जाने की भीति, **5. आजीविकाभय**–अपनी जीविका या रोजी छूट जाने का डर अथवा मेरा रोजगार-धधा चलेगा या नही, अथवा व्यवसाय नही चला तो क्या होगा? इस प्रकार की रात-दिन चिन्ता करना, **6. अपयशभय**–अपनी या अपनो की अपकीर्ति, अपयश, बदनामी, बेइज्जती या अप्रतिष्ठा होने का डर। फलां जगह लोग मेरा अपमान करेगे या मेरे पर झूठा कलक लगा देगे तो क्या होगा? इस प्रकार की चिन्ता। और **7. मरणभय**–अपने अथवा अपने माने हुए लोगो के प्राणो का वियोग हो जाने का डर। उसके मर जाने पर मेरा क्या हाल होगा? अथवा मेरे मर जाने पर मेरे परिवार आदि का क्या हाल होगा? हाय! मैं इतनी जल्दी मर जाऊँगा? मुझे मौत न आ जाय? इस प्रकार मृत्यु का नाम सुनते ही काप उठना। एक और प्रकार से भय तीन प्रकार के है–आध्यात्मिकभय कर्मजन्यभय, और भौतिक (पौद्गलिक) भय। निम्नलिखित सातो भय **आध्यात्मिकभय** के अन्तर्गत है–काम, क्रोध, मद, हर्ष, राग, द्वेष और मिथ्यात्व। ये आत्मा के साथ रह कर आत्मगुणो की हानि करने वाले है। **कर्मजन्यभय** शुभाशुभ कर्मो से उत्पन्न होते है। उपर्युक्त (इहलोकभय आदि) सातो मे कर्मजन्यभय के अन्तर्गत है। **भौतिकभय**–ये भय पुद्गलो की विकृति के कारण जीवात्मा को होते है। ये भौतिक भय सात प्रकार के है–रोग, महामारी, वैर, अनावृष्टि, अतिवृष्टि, स्वचक्रभय और परचक्रभय। ये भी मोहनीयकर्म के उदय वालो को अत्यन्त भयभीत करते रहते है और उन्हे वास्तविक सुखो से वचित कर देते है। इनके निवारण के लिए वे विविध उपाय करते है, इन्द्र, चन्द्र, नरेन्द्र आदि की सेवा करते है, फिर भी ये उपाय उन्हे भयरहित नही बना सकते।

वीतराग-परमात्मा इन सभी भयो से रहित निर्भय होते है। उन्हें बडे-से-बडा भय भी विचलित नही कर सकता और न किसी प्रकार का भय उन्हे अपने स्वरूप से च्युत कर सकता है। बडे से बडे सकटो का सामना करने मे वे जरा भी नही घबराए। अपनी साधना के दौरान बडे से बडे विघ्न, परिषह या उपसर्ग आए, फिर भी वे तनिक भी नही डिगे।

इसलिए श्रीआनन्दघनजी कहते हैं–भयाकुल आत्मा को पूर्ण निर्भ सुपार्श्वनाथ (वीतराग) परमात्मा की वन्दना और शरण ले कर भयरहित हो आवश्यक है। केवल शरीर और मस्तक को झुका लेना ही वन्दना नही

किन्तु सावधान मन से अप्रमत्त हो कर मन-वचन-काया को एकाग्र करके वीतरागपरमात्मा की चरणसेवा (अथवा परमात्मपद का आराधन) करना ही सच्चे माने में वन्दना है।

इससे आगे की गाथाओं में वन्दनीय परमात्मा के गुणनिष्पन्न नामो का उल्लेख करते हुए श्रीआनन्दघनजी कहते है–**'शिवशंकर जगदीश्वरू.........।'** परमात्मा शिव है। यानी वे किसी प्रकार का उपद्रव मचाने वाले या ससार मे प्रलय का ताण्डव करने वाले नही है। वे सच्चे अर्थो मे शिव-निरूपद्रव है। अथवा कल्याणरूप है, या विश्वहित करने वाले है अथवा वे कर्मो के उपद्रव के निवारक है। वे किसी का सहार करने वाले नही है, अपितु सहार को रोक कर कल्याण करने वाले है। परमात्मा शकर है, यानी प्रतिदिन सुख को करने वाले आत्मसुखरूप है। परमात्मा स्वर्गलोक, मर्त्यलोक और पाताललोक तीनो लोको से ऊपर होने के कारण अथवा तीनो लोको मे उनका आध्यात्मिक आदेश प्रचलित होने से वे जगदीश्वर है। उनका ऐश्वर्य भी ईश्वर के समान होने से वे सच्चे अर्थ मे जगदीश्वर है। वे ज्ञानानन्दमय होने से चिदानन्द है। समग्र ऐश्वर्य, धर्म, वैराग्य, यश, श्री, मोक्ष, इन छह बातो से परिपूर्ण होने के कारण वे भगवान् है। अथवा भय (जन्ममरणरूप ससार) का अन्त दिया है, इसलिए भगवान है। राग, द्वेष, काम, क्रोध, मोह, लोभ, आदि पर विजय प्राप्त कर लेने के कारण वे जिन (विजेता) है, आपने कर्मशत्रुओ को दबा दिये है, यानी उन्हे जीत लिये है। इसलिए अरिहा (अरिहत) कहलाते है। धर्मतीर्थ (श्रमण-श्रमणी, श्रावक-श्राविका रूप चतुर्विध सघ) की स्थापना करने के कारण आप तीर्थकर है। इसी प्रकार आप मुक्त (सिद्ध) हो जाने पर केवल शुद्ध चैतन्य (आत्मा) से सदा ज्योतिर्मय (प्रकाशित) होने से ज्योतिस्वरूप है। आत्मा-परमात्मा की तुलना धर्मास्तिकायादि पॉच द्रव्य नहीं कर सकते, इसलिए आप असमान है, अथवा दुनिया में परमात्मा के सिवाय कोई भी प्राणी ऐसा नही है, जिसके साथ आपकी समानता की जा सके, इसलिए आप (परमात्मा) असमान है, अनन्य है, अथवा फारसी भाषा मे असमान आकाश को कहते है, अतः आकाश की तरह परमात्मा ज्ञानरूप से व्यापक या अव्यक्त है।

इसी तरह आप अलक्ष्य है, अर्थात् मन या बुद्धि से अगम्य हैं, वाणी से अनिर्वचनीय है, अक्षर से लिखे नही जा सकते, कोई भी अल्पज्ञ प्राणी आपको जान-देख या समझ नहीं सका। आप ससार की मोहमाया से, कर्म,

काया, आदि से बिलकुल निर्लेप होने के कारण निरंजन है। जो लोग यह मानते हैं कि ईश्वर निराकार होते हुए भी जगत् के दुःखों को देख कर दुनिया मे पुनः आ कर जन्म धारण करते है, इस मत का इससे खण्डन हो जाता है क्योंकि परमात्मा को निरंजन-निराकार, अजर-अमर हो जाने के बाद पुनः जन्म धारण करने या ससार के प्रपचो मे पडने की क्या आवश्यकता है? और जब उनके शरीर ही नही है, तब वे कैसे तो जन्म लेगे, कैसे वाणी बोलेगे, कैसे कोई कार्य करेगे? अतः मुक्त अशरीरी परमात्मा निरंजन होने से किसी भी सांसारिक मोहमाया मे पडते नहीं।

वे विश्ववत्सल भी है। इसका मतलब यह नही है कि वे जगत् के प्रति किसी कामना, राग या मोह से प्रेरित है। समभावपूर्वक समस्तप्राणियो का निष्कारण, परमहित, उनसे होता रहता है। वे जगत के एकान्त निष्कारण परमहितैषी है, आत्मीय है, विश्वमित्र है, इसलिए जगत्वत्सल है। जगत के माता-पिता समान है।

साथ ही वे चार गतियो व चौरासी लक्ष जीवयोनियो में बारबार भटकने के कारण थके हुए जीवो के लिए विश्रामस्थान है, आश्रयस्थान है, पापी से पापी जीव को भी उनके पास बैठने मे कोई भय या खतरा नहीं है, बल्कि उनके पास बैठने से क्रूर प्राणी भी शान्त और सौम्य बन जाता है। इसलिए प्रभु समस्त जन्तुओ के लिए विश्रामरूप है तथा क्रूरातिक्रूर प्राणी परमात्मा के पास निर्भयतापूर्वक आ-जा व बैठ सकते है। इसलिए उनका सदा अभयदानदाता नाम भी सार्थ है। ज्ञान, दर्शन, चारित्र, बलवीर्य, सुख आदि आत्मा के अनुजीवी गुणो से परिपूर्ण होने के कारण परमात्मा पूरण है तथा प्रभु स्वयं आत्मा मे ही स्थिर रहते हैं, आत्मा मे ही रमण करते हैं, इसलिए आत्माराम भी हैं।

इसके अतिरिक्त परमात्मा के और भी अनेको गुणनिष्पन्न नाम हैं। वे राग (मोह), मद (अष्टमद,), संकल्प-विकल्प, रति (रुचि), अरति (अरुचि) भय, शोक, निन्द्रा, तन्द्रा (आलस्य), दुरवस्था आदि दोषो (जो कि छद्मस्थ मे होते है) से रहित है। उन्हे मन-वचन-काया के योग कोई बाधा (कष्ट) सदेह वीतराग-अवस्था में नहीं पहुंचाते। विदेह (देहमुक्त) अवस्था मे तो उनके उक्त योग होते ही नही, मतलब यह है कि ससारी जीवो को अपने और अपनो के लिए बात-बात में राग (मोह) ममता हो जाती है। धन, बल, जाति, कुल, प्रभुत्व (सत्ता, पद आदि) रूप, किसी वस्तु का लाभ आदि पा कर

अभिमान (गर्व) हो जाता है, जरा-जरा सी बात मे वे सकल्प-विकल्प मे डूबते-उतराते रहते है, ईष्ट वस्तु के वियोग और अनिष्ट वस्तु के सयोग मे अरति (अरुचिघृणा) हो जाती है तथा अनिष्ट वस्तु के वियोग और ईष्ट के सयोग मे रति (रुचि-हर्ष) पैदा हो जाती है। बात-बात मे आर्त्त-रौद्रध्यान के विकल्पजाल गूंथने लग जाते है। थोडी-थोडी सी बात को ले कर या जरा सी अप्रिय घटना का सुराग मिलते ही भय पैदा हो जाते है, प्रियजन या प्रियवस्तु के वियोग और अप्रियजन या अप्रियवस्तु के सयोग मे शोक पैदा हो जाता है, वे हाहाकार या हायतोबा मचा उठते है, अथवा रोने-पीटना या विलाप करने लगते है। दुनियादार लोगो को चिन्ता के कारण भले ही नीद न आती हो, वैसे वे द्रव्यनिद्रा मे भी बेसुध पडे रहते है, भावनिद्रा मे तो प्रायः मग्न रहते ही है, क्योकि वे आत्मस्वरूप मे जागृत नही रहते है। साथ ही वे आत्मस्वरूप मे रमण करने मे आलसी (तन्द्रापरायण) होते है, उन्हे योगो की चपलता प्रतिक्षण खिन्न-क्षुब्ध बना देती है। उन्हें सांसारिक विषयवासनाओ मे प्रवृत्त करती है।

इसके विपरीत पूर्वोक्त कथनानुसार परमात्मा इन सब दोषो से बिलकुल रहित हैं। वे दुनियादारी के इन दोषो से बिलकुल अछूते है क्योकि वे इन तमाम दोषो को नष्ट करके ही वीतराग बने है। राग, द्वेष, मद, कल्पना, रति, अरति, भय, शोक और दुर्दशा, ये सब मानसिक योग हैं और निद्रा तथा तन्द्रा ये दोनो शारीरिक योग है, ये सब योग प्रभु मे न होने से उनका अबाधित-योगी नाम सार्थक है।

इन सब दोषों से रहित होने से वे स्वय पुरुषो मे सर्वथा उत्कृष्ट (Superman) है; आत्मिकदृष्टि से महापराक्रमी होने से वे परम पुरुष कहलाने योग्य है। उनकी आत्मा परमात्मत्वपद को प्राप्त होने से वे परम आत्मा-परमात्मा है तथा सुमतिनाथ तीर्थकर की स्तुति मे परमात्मा के बताये हुए लक्षण के अनुसार वे बहिरात्मा और अन्तरात्मा से आगे बढे हुए परमात्मा है। तथा प्रभु का परमेश्वर नाम भी सार्थ है। क्योंकि तीर्थकर अवस्था मे थे, तब वे सर्वोच्च ऐश्वर्य सम्पन्न थे, सब पर आध्यात्मिक दृष्टि से धर्मशासन करते थे। इसके अतिरिक्त प्रभु पुरुषो मे प्रधान मुख्य भी है; क्योकि आपके नाम की सर्वत्र महिमा है। दुनिया के सर्वोत्कृष्ट पदार्थ होने से अथवा मोक्षरूप उच्चपद ही आपका अर्थ (साध्य) होने से आप परमपदार्थ रूप है। इसी तरह आप सबके लिए मनोज्ञ=ईष्ट वस्तु को प्राप्त किये हुए होने से परमेष्ठी है, अथवा आप परम-

उत्कृष्ट ईष्ट ज्ञान (केवलज्ञान) को प्राप्त है, इसलिए परमेष्ठी है। आपका एक नाम परमदेव भी है। आप परमदेव या महादेव इसलिए है, कि दूसरे देव तो रागी-द्वेषी आदि भी हो सकते है परन्तु आप तो वीतराग है, राग-द्वेषरूपी महामल्लो को आपने जीत लिया है। इसलिए आपका परमदेव नाम सार्थक है। आप संसार के समस्त साधको के लिए प्रमाणरूप है अथवा प्रभु स्वय प्रमाणभूत है, उनके साथ किसी की तुलना नहीं हो सकती?

इसके अतिरिक्त परमात्मा विधि है—मुमुक्षु (मोक्षार्थी) के लिए विधिमार्ग कौन सा है, निषेधमार्ग कौन सा है? इसका यथार्थ विधान करने वाले हैं अथवा अपनी आत्मा को शुद्धरूप मे स्थापन करने मे विधाता है। द्वादशागी आगमों की अर्थरूप से रचना (निर्माण) करते है—प्ररूपणा करते है, इसलिए आप विरचि-ब्रह्मा है। अथवा अपने आत्मगुणो की स्वय रचना करने वाले होने से विरचि-ब्रह्मा है। आपका आदेश-उपदेश संसार के लिए आत्मगुण पोषक होने से आप विश्वभर है। अथवा आपकी आत्मा मे सारे जगत् की रक्षा बसी हुई होने से भी विश्वम्भर है—विश्व परिपूर्ण है। प्रभु इन्द्रियो के ईश-स्वामी होने से अथवा प्रभु के किसी प्रकार की इच्छा नहीं है, वे समस्त इच्छाओ के स्वामी होने से हृषीकेश कहलाते है। ज्ञान द्वारा प्राणिमात्र की रक्षा करने मे कारणभूत होने से आप जगत् के नाथ (रक्षक) है। आप अघ यानी पाप के हरने वाले है अथवा आपको वन्दन करने से पाप पलायित हो जाते है, इसलिए आप अघहर है। आपमे एकाग्र होने वाले तथा आपका नाम स्मरण करने वाले पाप से छूट जाते है, अथवा पापी से पापी व्यक्ति के पाप आपके पास आते ही छूट जाते है, इसलिए आप अघमोचन भी है। अथवा स्व-आत्मा को शुभाशुभ अध-आश्रव से मुक्त करते-कराते है इसलिए आप अघहर एव अघमोचन हैं। आप अपने अनन्त आत्मगुणो के धनी है, अथवा जगत् के धणी=स्वामी हैं। मालिक हैं। तीर्थंकरों को सभी लोग स्वामी मानते है। आप मुक्तिरूप परमपद के सार्थवाह हैं। संसार के समस्त ताप का शमन करने वाला, एकान्तमुख का धाम मोक्ष है, जहा जन्म-जरा-मरण नहीं, आधि-व्याधि-उपाधि नहीं हैं, उस परमसुखरूप मोक्ष को प्राप्त करने में आप सार्थवाह की तरह साथ देने वाले सहायक हैं। इस प्रकार पूर्वोक्त गाथाओं में वीतराग परमात्मा के शिव से लेकर, मुक्तिपरमपदसाथ, तक कुल 45 मुख्य-मुख्य सार्थक नाम बताए हैं और भी अनेको नाम उनके हो सकते हैं। इसलिए श्री आनन्दघनजी अन्तिम गाथा में कहते हैं—'एम अनेक

अभिधा धरे'। *यानी हम परमात्मा के नाम कहाँ तक गिनाए है? उनके अनेको* नाम हो सकते हैं। जो साधक जिस गुण का अपनी आत्मा मे अनुभव करना चाहता है, वह उस गुण से युक्त नाम को ले कर प्रभु का स्मरण करता है—उस गुण पर विचार करता है तो उसके लिए वह नाम अनुभवगम्य हो जाता है। अथवा परमात्मा का रूप विचारपूर्वक अनुभव से ही जाना जा सकता है। जिस गुण का अनुभव जिसे हो गया है, वह यदि उसे अपना ध्येय बना कर विचारपूर्वक ध्यान करता है तो वह ध्याता आनन्दघनरूप हो जाता है, वह अपने जीवन का अवतरण आनन्दमय बना लेता है, अथवा अपनी आत्मा को आनन्दघनरूप सांचे में ढाल लेता है। मतलब यह है कि उपर्युक्त गुणों से परिपूर्ण प्रभु को जो भलीभांति जानता है, उनका ध्यान करता है, वह तद्रूप हो जाता है, सच्चिदानन्दमय बन जाता है।

सारांश—इस प्रकार इस स्तुति मे वन्दनीय परमात्मा के गुणनिष्पन्न नाम बताने के साथ-साथ अन्त में परमात्म-वन्दना का फल भी बतला दिया है; जिसे भलीभांति जान कर प्रभु की वन्दना-नमन-स्तुति-भक्ति-सेवा करके अपना जीवन सफल करना चाहिए।

***

8. श्री चन्द्रप्रभजिन-स्तुति–

परमात्मा का मुखदर्शन

(तर्ज-कुमारी रोवे, आक्रन्द करे, मुने कोई मुकावे, राग–केदारो या गौडी)

देखण दे रे, सखी मुने देखण दे! चन्द्रप्रभु मुखचन्द; सखी।
उपशमरसनो कंद, सखी; गतकलिमल-दु:खद्वन्द्व; सखी.।।1।।

अर्थ–आत्मा की शुद्ध (ज्ञान) चेतना अशुद्ध चेतना-सखी से कह रही है–हे सखी! मुझे इस अवसर्पिणीकाल के आठवें तीर्थंकर श्रीचन्द्रप्रभु (वीतराग-परमात्मा) के मुखरूपीचन्द्र के दर्शन कर लेने दे; क्योंकि परमात्मा का मुखचन्द्र शान्त (उपशम) रस का मूल है; और वह क्लेश, रागद्वेषरूपी मैल (विकार) व समस्त दु:ख; से दूर है।

भाष्य–परमात्मा के मुखचन्द्र का दर्शन क्यों?

पिछली स्तुति मे श्रीआनन्दघनजी ने परमात्म-वन्दना के सम्बन्ध में सांगोपांगरूप से बताया था, परन्तु वन्दना मे जो अभिमुखता होनी चाहिये, वह तो केवल अमुक गुणनिष्पन्न नाम ले लेने या तदनुसार जप कर लेने से नहीं हो सकती, वह तो प्रभु को शान्त-अमृतरसपूर्ण समस्त कलंकों व मलिनताओ से रहित पूर्णचन्द्र की तरह मुखचन्द्र के दिखाई देने पर ही भलीभाति हो सकती है, इसलिए श्री आनन्दघनजी श्रीचन्द्रप्रभु तीर्थंकर की स्तुति के माध्यम से परमात्मा के शान्त, निर्मल मुखचन्द्र का दर्शन करने को उत्कण्ठित-परमउत्सुक हो कर आत्मा की एकान्तहितैषी शुद्धचेतना द्वारा अपनी अज्ञानचेतनारूपी सखी से कहलाते हैं कि 'तू प्रभु के मुखचन्द्र को देखने दे।'

यहाँ श्रीआनन्दघनजी ने सखी को सम्बोधन करते हुए प्रभुमुख के दर्शन की जो बात कही, उस पर से प्रश्न होता है कि क्या अब तक आत्मा की ज्ञान-चेतना (शक्ति) प्रभु का मुखचन्द्र देखने मे रुकावट डाल रही थी कि उसे सम्बोधित करके कहना पडा–'सखी मुने देखण दे।'

इसके उत्तर मे यही कहा जा सकता है कि आत्मा अब तक अनेक गतियो और योनियों मे अनन्तवार परिभ्रमण कर आई, पर कहीं तो आत्मा की शुद्ध (ज्ञान) चेतना पर इतना गाढ आवरण आ गया था कि प्रभु के मुखचन्द्र

का दर्शन तो दूर रहा, उसकी कल्पना भी नहीं हो सकती थी, कही कल्पना तो हो सकती थी, पर उस पर भी आवरण था। कहीं थोडा आवरण था, तो भी मिथ्यात्व के गाढ तिमिर के कारण आत्मा दर्शन नही कर सकी। यही कारण है कि अब तक आत्मा की चेतना ही प्रभुमुख के दर्शन करने मे साधक बनी रही। अब मनुष्यजन्म मे सम्यग्दर्शन प्राप्त होने पर बहुत-अशो में वह अनुकूल बनी है, इसीलिए श्रीआनन्दघनजी आत्मा की हितैषिणी शुद्ध (ज्ञान) चेतना रूपी सखी द्वारा अशुद्ध-चेतनासखी से कहलाते है—अब तो मुझे चन्द्र-प्रभु (परमात्मा) के मुखचन्द्र का दर्शन कर लेने दे। अब तो दर्शन के अन्तराय मत डाल! बहुत जन्मो तक तूने मेरी आत्मा को अधेरे मे रखा, उसके ज्ञान नेत्रों पर पर्दा डाल दिया, जिससे वह परमात्मा के उज्ज्वल–मुखचन्द्र को देख न सकी। अब वीतराग परमात्मा के मुखचन्द्र को देखने की मेरी इच्छा तीव्र बनी है और प्रभु के वास्तविक मुखचन्द्र का भलीभाति दर्शन करने मे तू ही बाधक हो रही है। तेरी बाधकता के कारण इन बाह्यनेत्रो से मै अब तक प्रभुमुख देखने का प्रयत्न करती रही, परन्तु परमात्मा के असली मुखचन्द्र के दर्शन नही कर सकी। अगर मै इस मनुष्य जन्म मे और इतने उत्तमधर्म, सम्यग्दर्शन एव समस्त उत्तम निमित्त एव अवसर को पाकर भी परमात्मा के यथार्थ मुखचन्द्र को नही देख सकी, तो मेरा जन्म वृथा हो जायगा। पता नहीं, फिर ऐसा शुभ अवसर मिलेगा या नही! अतः तू मुझे परमात्मा के मुखचन्द्र के दर्शन इस जन्म मे तो अवश्य करने दे।'

यहाँ बार-बार **'देखण दे'** शब्द का प्रयोग करना पुनरुक्तिदोष न होकर कविता का गुण है, यहाँ बार-बार 'देखण दे' शब्द का प्रयोग परमात्मा के मुखचन्द्र के दर्शन की आतुरता, या तीव्रच्छा को सूचित करता है।

परमात्म-मुखदर्शन की आतुरता क्यों?

सवाल यह होता है कि जगत् मे माता-पिता, भाई, परिवार मे अपने से ज्येष्ठ, अथवा अध्यापक, राष्ट्रनेता या समाजमान्य पुरुष अथवा अन्य किसी बडे माने जाने वाले व्यक्ति के मुखदर्शन की आतुरता न हो कर परमात्मा के मुखदर्शन की ही आतुरता क्यो है? इसका समाधान श्री आनन्दघनजी प्रभुमुख की दो विशेषताओ द्वारा प्रगट करते है—**'उपशमरसनो कंद' तथा 'गतकलिमल-दुःख द्वन्द्व'**। तात्पर्य यह है कि सांसारिक व्यक्ति, फिर वे चाहे कितने ही महान् क्यो न हो, जब तक छदमस्थ है, तब तक रागद्वेष आदि विकारो या कर्म रूपी

कीचड से मलिन बने हुए हैं, उनके जीवन में कषायों की आग सुलगती रहती है, चाहे वह धीमी आंच से ही हो। इसलिए उनका मुखचन्द अनेक कषायों से सतप्त होने से अशांत बना हुआ, कामादि अनेक विकारों या कर्मों व रागद्वेषादि से मलिन व दुःखो से युक्त बना हुआ है, इसलिए उनका मुखचन्द्र भौतिक दृष्टि से भले ही सुन्दर या दर्शनीय हो, आध्यात्मिक दृष्टि से या आत्म-विकास की दृष्टि से उनका मुख दर्शनीय नहीं कहा जा सकता; जबकि परमात्मा का मुख पूर्णिमा के चन्द्रमा की तरह निष्कलक एव परिपूर्ण है, वह कषायों से रहित होने के कारण शान्तरस का मूल है, उसमे से शान्तसुधाररा टपक रहा है और उसमें रागद्वेष, कामक्रोध, आदि विकारो या कर्मो का मैल बिलकुल न होने से वह सभी प्रकार के कलक, क्लेश के मैल, या विकारो की मलिनता से सर्वथा रहित है। चन्द्रमा मे तो फिर भी कलंक रह सकता है या उसकी कला में घट-बढ़ हो सकती है, लेकिन प्रभु-मुखचन्द्र मे न तो कोई कलंक रह सकता है और न ही उनके गुणो मे कोई घट-बढ हो सकती है। यही कारण है कि अन्य सांसारिक मुखचन्द्रो को छोड कर यहाँ परमात्मा के शान्त, निर्मल, निर्विकार, मुखचन्द्र के दर्शन की तीव्र उत्कठा प्रदर्शित की है।

के दर्शन कैसे किये जा सकते है? यह एक सवाल है। इसलिए यहाँ भी सयोगीकेवली शरीरधारी वीतराग परमात्मा के मुखचन्द्र के दर्शन से ज्ञानरूप मुखचन्द्र अथवा शुद्ध आत्मभावरूपी मुखचन्द्र के दर्शन ही अभीष्ट है, ऐसा प्रतीत होता है। क्योकि वही मुखचन्द्र उपशमरस का कद एव समस्त, क्लेश, मालिन्य एव दुःख-द्वन्द्वों से रहित है।

साथ ही ऐसे परमात्म-मुखचन्द्र के दर्शन करने का अधिकारी भी ज्ञान-चेतनायुक्त सम्यग्दृष्टि आत्मा होना चाहिए, तभी वह परमात्मा के मुखचन्द्र पर छिटकती हुई उपशमरस की चॉदनी देख सकेगा तथा रागद्वेषादि कलिमल और दुःख-द्वन्द्व से रहित निर्मलता का निरीक्षण कर सकेगा।

इस प्रकार से दर्शन करने वाले को ही सवर-निर्जरारूप महान् धर्म का लाभ मिल सकता है। अन्यथा, शुद्ध आत्मभावरूपी मुखचन्द्र या शुद्धज्ञानमय मुखचन्द्र की उपेक्षा करने केवल मुखचन्द्र के सम्यग्भावनाहीन दर्शन से इस महान् धर्म का लाभ नही हो सकता।

इसी दृष्टिकोण से अगली कुछ गाथाओ मे किस-किस गति और जीवयोनि मे कहॉ-कहॉ परमात्मा के उक्त मुखचन्द्र के दर्शन नहीं हो सके, इसका वर्णन श्रीआनन्दघनजी मार्मिक शब्दो मे करते है—

सुहुम निगोदे न देखियो, सखि! बादर अति हि विशेष ।।स.।।
पुढवी आऊ न लेखियो सखि! तेऊ वाऊ न लेश।। सखी. 2।।

वनस्पति, अतिघणदिहा, स.; दीठो नहिं दीदार ।।स.।।
बि-ति-चउरिंदिय-जललीहा, स.; गतसन्निपण धार।।स. 3।।

सुर-तिरि-निरय-निवासमां, स.; मनुज-अनारज साथ ।स.।
अपज्जत्ता प्रतिभासमां, सखि!, चतुर न चढ़ियो हाथ।। सखी. 4।।

इम अनेक थल जाणीए, स.; दर्शन-विणु जिनदेव। स.।
आममथी मत जाणीए, स.; कीजे निर्मल-सेव।। स.।।5।।

अर्थ—हे सखी! मैंने सूक्ष्म निगोद (साधारण वनस्पतिकाय) में परमात्मा के मुखचन्द्र को नहीं देखा, और बादरनिगोद (साधारण वनस्पतिकाय के बादर निगोद) में भी खासतौर से उनका मुख नहीं देखा। तथा पृथ्वीकाय और अप्काय नामक एकेन्द्रियजीव के रूप में भी प्रभुमुख के दर्शन नहीं किये; और तेजस्काय (अग्निकाय) और वायुकाय में भव में भी मुझे लेशमात्र दर्शन नहीं हुए।।2।।

प्रत्येक वनस्पतिकाय (वृक्ष आदि) के रूप में बहुत लम्बे काल (दीर्घकाल) तक रहा, लेकिन हे ज्ञानचेतनारूपी सखी! मैंने प्रभु का दीदार नहीं देखा। इसी प्रकार द्वीन्द्रिय (दो इन्द्रियों वाले जीव), त्रीन्द्रिय (तीन इन्द्रियों वाले जीव) और चतुरिन्द्रिय (चार इन्द्रियों वाले जीव), में भी रहा, लेकिन वहाँ भी पानी पर खींची हुई लकीर की तरह (दर्शन के बिना) वृथा समय खोया; कुछ भी दर्शन पल्ले नहीं पड़ा। असंज्ञी (द्रव्यमय से रहित) पंचेन्द्रिय जीव के रूप में जन्म धारण करने पर भी यही हाल रहा।।3।।

संज्ञी-पंचेन्द्रिय-अवस्था में भी मैं सुरगति (भवनपति, वाणव्यन्तर, ज्योतिषी और वैमानिक; इन चार प्रकार के देवों की योनि) में रहा, तिर्यचगति (कुत्ते, बिल्ली, हाथी, घोड़े आदि संज्ञी, तिर्यचपंचेन्द्रिय जीवयोनि) में रहा था तथा नित्य (नरक) गति (सातों ही नरकों की नारक-भूमियों) में निवास किया; इसी प्रकार मनुष्यगति, प्रभुमुखदर्शन के योग्य संज्ञीपंचेन्द्रिय मनुष्ययोनि) में आया, लेकिन यहाँ अनार्यमनुष्यों का सहवास (सम्पर्क) मिला, तथा अपर्याप्त (सातों पर्याप्तियों की पूर्णता से हीन) अवस्था में एवं प्रतिभासरूप पर्याप्त-अवस्था में भी रहा, लेकिन चतुर परमात्मा मेरे हाथ नहीं आए, यानी संज्ञीपंचेन्द्रिय की इन जीव-योनियों में भी प्रभु-मुख के दर्शन से मैं वंचित ही रहा।।4।।

इस प्रकार समझ लो कि मैं पूर्वोक्त अनेक स्थानों में श्री वीतराग परमात्मदेव के (मुख) दर्शन के बिना ही रहा। यह समस्त (पूर्वोक्त) अभिप्राय (विचार) वीतरागप्ररूपित आगमों (शास्त्रों) से हम जान सकते हैं। अतः हे ज्ञानचेतनारूपी सखी! अब तो मुझे (जबकि मैं प्रभुमुखदर्शन की योग्यता के लिए सम्यग्दृष्टि पा गया हूँ) प्रभु के मुखचन्द्र का दर्शन करने दे; और आगमों के वर्णन से समझ कर निर्मल (निर्बन्ध हो कर) मन-वचन-काया को एकाग्र करके प्रभु की सेवा-भक्ति कर लेने दे।।5।।

भाष्य–विविध गतियों और योनियों में प्रभु-मुखदर्शन से वंचित रहा

इस स्तुति की प्रथम गाथा में परमात्मा के मुखचन्द्र का स्वरूप, उसके दर्शन का महत्त्व और दर्शन की तीव्रता बतलाई। परन्तु प्रभुमुख के दर्शन इतने समय तक साधक की आत्मा क्यो नहीं कर सकी? क्या कारण था दर्शन के लाभ से वंचित रहने का? यह बात नहीं बताई गई थी। अतः इसी बात को चार गाथाओं द्वारा श्रीआनन्दघनजी अभिव्यक्त करते हैं।

वास्तव में पूर्वोक्त विवेचन के अनुसार सही माने मे वीतराग परमात्मा के मुखचन्द्र का दर्शन सम्यग्दृष्टि आत्मा ही कर सकता है। इसके सिवाय जितनी भी गतियों और योनियो में जीव जाता है, वहाँ प्रभुमुख का दर्शन तो दूर रहा, उसकी जरा-सी कल्पना भी नहीं होती, ऐसा विचार ही नहीं उठता। इसी बात को श्रीआनन्दघनजी क्रमशः कहते है–

मेरी आत्मा सूक्ष्मनिगोद नामक साधारण वनस्पतिकाय मे रही, जहाँ अगुल के असख्यातवे भाग जितने एक ही शरीर मे (अनन्तजीवो के लिए एक ही शरीर में, एक ही साथ श्वासोच्छ्‌वास और जन्म-मरण करते हुए) अनन्त-काल तक रही, परन्तु वहाँ तो अपने ही अस्तित्व का भान न था, बेसुध चेतना थी; वहाँ भला प्रभुमुखदर्शन कहाँ हो सकता था? और बादर निगोद वनस्पतिकाय मे भी अनन्तकाल तक रहा, मगर वहाँ भी सूक्ष्मज्ञानचेतना न होने से दर्शन न हो सका। यही हाल पृथ्वीकायिक, जलकायिक, वायुकायिक, अग्निकायिक आदि एकेन्द्रियजीवो के रूप मे रहते हुए रहा। वहाँ स्पर्शेन्द्रिय ही थी, द्रव्यमन था नही, जिससे मै चिन्तन कर सकता और प्रभुमुखदर्शन कर सकता। प्रत्येक वनस्पतिकायिक जीव के रूप मे बहुत दीर्घकाल तक (उसकी स्थिति बहुत लम्बी होने के कारण) रहा, लेकिन वहाँ भी प्रभु के मनोरम शान्त दीदार को व सूक्ष्मज्ञानचेतना और विचार करने के लिए द्रव्यमय न होने के कारण नहीं देख सका।

इसी प्रकार वहाँ से आगे बढ कर मेरा जीव दो इन्द्रियो (स्पर्शन एव रसना) वाले जीवो मे गया, जहाँ मै स्वाद तो लेने लगा परन्तु आँख के अभाव मे प्रभु को देख कैसे सकता था, यही हाल तीन इन्द्रियो (स्पर्शन, रसना एव घ्राण इन्द्रिय) वाले जीवो मे उत्पन्न होने पर हुआ। उसके आगे प्रगति करके मेरा जीव चतुरिन्द्रिय (स्पर्शन, रसना, घ्राण और चक्षु इन चार इन्द्रियो वाले) जीवो मे पैदा हुआ, वहाँ भी प्रभुदर्शन के लिए आँख तो मिली, परन्तु अन्तर की आँख न मिलने से वहाँ भी दर्शन न हो सके। यहाँ तक आ कर भी मैने पानी पर लकीर खीचने की तरह व्यर्थ ही जन्म खोए। मुझे स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और कर्ण ये पाँचो इन्द्रियाँ भी मिली, लेकिन द्रव्यमय नही मिलने के कारण वीतरागप्रभु को प्रभु के रूप मे जाना-समझा भी नही, विचार भी न कर सका। इसलिए असज्ञी-पचेन्द्रिय जीव के रूप मे जन्म लेना भी व्यर्थ गया।

इसके बाद जीव मेरा पर्वतीय नदी मे इधर-उधर लुढकने से चमकीले बने हुए गोल-मटोल पत्थर की तरह विविध योनियो मे भटकता-भटकता

किसी तरह चार प्रकार के देवनिकायों में से अनेक देवयोनियों में पहुँचा, वहाँ पाँचों इन्द्रियाँ, मन आदि मिले, भोगसामग्री भी पर्याप्त मिली, वैषयिक सुख भी पर्याप्त मिला, वैक्रिय शरीर मिला; लेकिन वहाँ भी मैंने अपना समय प्रभुमुखदर्शन मे न बिता कर राग-रंग, भोगविलास और वैषयिक सुखों और कषायों में ही बिताया। अतः वहाँ वीतरागप्रभु को प्रभु के रूप में जानने-समझने का प्रयास भी न किया। कई बार मैं तिर्यंच-पंचेन्द्रिय की विविध योनियों में गया। वहाँ मैं जलचर, स्थलचर, खेचर, उरपरिसर्प और भुजपरिसर्प के रूप में विविध स्थानों में पैदा हुआ, वहाँ मुझे मन भी मिला, लेकिन विवेक-विकल होने से उसका उपयोग अन्यान्य विषय-कषायों में ही हुआ, परमात्मा के मुख को देखने का विचार तक मेरे मन में नहीं आया। हालांकि चाहता तो मैं वैसा विचार कर सकता था। इसके अतिरिक्त सातों नरकों में मैं अनेक बार जन्मा, बहुत लम्बे समय तक वहाँ रहा। वहाँ वैक्रिय शरीर, पाँचों इन्द्रियाँ और मन भी मिले; विभंगज्ञान भी जन्म से ही मिला। लेकिन नरकों में अनेक दुःखो और यातनाओं को सहते-सहते मैं इतना अधीर और बेचैन हो गया कि दुःखो और भयो से आक्रान्त मेरे दिमाग मे कभी यह विचार भी नहीं आता था कि मैं परमात्मा के मुखचन्द्र का दर्शन करूँ।

इन सब घाटियों को पार करके मैं विशेष पुण्य के कारण संज्ञी-पचेन्द्रिय मनुष्य बना। पाँचो इन्द्रियाँ, उन्नत विचारशील मन तथा विविध साधन भी मिले; यहाँ प्रभुमुखदर्शन करने के योग्य शरीर, मन, इन्द्रिय, बुद्धि, साधन आदि भी मिले; लेकिन अनार्यक्षेत्र, अनार्य कुल, अनार्यजाति, अनार्यकर्म एवं अनार्यवातावरण मिला। अनार्य मनुष्यो के सहवास में रात-दिन रहने वाले व्यक्ति के मन मे आर्यकर्म की प्रेरणा कैसे हो सकती थी? और आर्यकर्म की प्रेरणा अन्तर्मन मे जागे बिना वीतरागमुखदर्शन की लगन कैसे पैदा हो सकती थी? यही कारण है कि इतना उत्तम मनुष्य जन्म पा कर भी मैंने व्यर्थ खो दिया। यहाँ भी सूक्ष्मज्ञानचेतना-शून्य होने से मै प्रभुमुखदर्शन से वंचित ही रहा। यहाँ मुझे कभी छहो पर्याप्तिया पूरी नही मिली, कभी छहो पर्याप्तियाँ पूरी मिली तो भी शुद्धज्ञानचेतना न होने से चतुर प्रभु मेरे हाथ में आए ही नहीं। मैं टुकुर टुकुर देखता ही रह गया, मगर प्रभुमुखदर्शन न हो सका।

इस प्रकार श्रीआनन्दघनजी अपनी इसी आत्मकथा को कहते-कहते उपसहार करते हैं—मैं एकेन्द्रिय से [illegible]

स्थानों में भटका और दीर्घकाल तक रहा। चार गतियो मे से कोई भी ऐसी गति, 84 लाख योनियों में से कोई भी ऐसी योनि तथा पॉच जातियो में से कोई भी ऐसी जाति, संक्षेप में संसारी जीव के सभी प्रकारो मे से कोई भी ऐसा प्रकार नही छोडा जहॉ जन्म न लिया हो,[1] मगर किसी भी जगह मैने प्रभुमुखदर्शन नहीं किये। मै इन सब जगहो में मारा-मारा भटकता फिरा, लेकिन प्रभु-मुख-दर्शन से विहीन ही रहा।

कोई कह सकता है कि श्रीआनन्दघनजी अवधिज्ञानी या केवलज्ञानी अथवा जातिस्मरणज्ञानी तो थे नही, उन्हें यह सब कैसे मालूम हुआ कि ''मै अमुक-अमुक जगह एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक मे गया; लेकिन कही भी प्रभु-मुख-दर्शन नही कर सका?'' इसी शंका का समाधान करने हेतु श्री आनन्दघनजी नम्रतापूर्वक कहते है–**'आगमथी मत जाणीए....'** यह बात मै अपने किसी प्रत्यक्षज्ञान या जातिस्मरणज्ञान के बल पर या कपोलकल्पित व मनगढत नहीं कह रहा हूँ। अपितु आगम (आप्त वीतरागपुरुषो के वचन) के आधार पर कह रहा हूॅ। कोई भी सुविहित सुदृष्टि पुरुष जिनप्ररूपित आगमो से इस (उक्त) मान्यता का मिलान कर सकता है; क्योकि साधु के लिए [2] आगम ही नेत्र है।

परमात्ममुखदर्शन की तीव्रता

श्रीआनन्दघनजी अपनी अन्तर्व्यथा के साथ परमात्ममुखदर्शन की तीव्रता व्यक्त करते हुए कहते है–इस प्रकार मै अनन्तकाल तक विविध गतियो और योनियो मे यात्रा करता रहा, लेकिन प्रभुमुखदर्शन नहीं कर सका। मुझे पुनः मनुष्यशरीर, उत्तमकुल, आर्यक्षेत्र-जाति-कुल-कर्मादि मिले है, शुभकर्मो के फलस्वरूप अच्छा वातावरण और उत्तम सत्सग भी मिला, और सम्यग्दर्शनरूपी रत्न भी मिला है, अतः अब इसे व्यर्थ ही नही खोना चाहिए। अगर इस जन्म में प्रभुमुखदर्शन का अवसर चूक गया और शुद्धात्मा के दर्शन नहीं कर सका तो पहले की तरह फिर विभिन्न गतियो और योनियो मे भटकने के सिवाय कोई चारा नहीं है। इतना सारा काता पींजा पुनः कपास हो जायगा। इसीलिए

---

1. **न सा जाई, न सा जोणी, न तं ठाणं, न तं कुलं।**
   न जाया, न मुआ जत्थ, सव्वे जीवा अणंतसो।। –उत्तराध्ययन-सूत्र
2. **'आगमचक्खू साहू'–प्रवचनसार**

शुद्धचेतनारूपी आत्मा अपनी अशुद्धचेतनरूपी सखी से पुनः-पुनः कहती है—
'देखण दे, सखी! मुने देखण दे।'

अतः परमात्मा के मुखचन्द्र का दर्शन करके अपना मनुष्य-जन्म सार्थक कर लेना चाहिए। पर परमात्म-मुखदर्शन कैसे किया जाय? इसकी विधि क्या है ? इसके लिए श्री आनन्दघनजी कहते है—जिनभाषित आगमो से प्रभु का सच्चा स्वरूप समझ कर शुद्ध निर्मल (निःस्वार्थ, निष्काम, निर्बन्ध) चित्त से परमात्मा की सेवा करो, उनमे ओत-प्रोत हो जाओ, यानी तुम्हारी आत्मा को निर्मल बना कर परमात्मा मे लीन करो अथवा परमात्मभाव मे रमण करो, जिससे परमात्मा के यथार्थ मुखचन्द्र का दर्शन हो जाएगा। जो लोग परमात्मदेव का सच्चा स्वरूप नहीं समझ कर संसार में प्रचलित विविध नामों वाले रागी, द्वेषी, कामी, क्रोधी या विकारी किसी देवी, देव को या भौतिक शक्तिसम्पन्न व्यक्ति को भगवान् प्रभु या परमात्मा मान कर उसके मुखदर्शन को ही यथार्थ मुखदर्शन मानते है, उनके उक्त मत का खण्डन भी प्रकारान्तर से इसके द्वारा हो गया।

इसी दृष्टि से श्रीआनन्दघनजी परमात्मा के मुखचन्द्र के दर्शन यानी परमात्मा-शुद्धात्मा के सत्स्वरूप के साक्षात्कार का उपाय अगली गाथा में बताते हैं—

निर्मल साधुभगति लही, स.; योग-अवंचक होय। सखी.!
क्रिया-अवंचक तिम सही, स.; फल-अवंचक जोय।। स.।।6।।

अर्थ—**आत्मा निर्मल साधु-साध्वियों की भक्ति प्राप्त करके जब योग-अवंचक बनती है, उसके बाद वह क्रिया-अवंचक हो जाती है और अन्त में फल अवंचक बनती है, यानी जब योग, क्रिया और फल तीनों में आत्मा अवंचक हो जाती है, तब परमात्मा के मुखचन्द्र का दर्शन वह बेखटके कर सकती है।**

भाष्य—परमात्म मुखदर्शन का यथार्थ उपाय

यथार्थ परमात्ममुखदर्शन के हेतु इस गाथा मे साधक के लिए तीन बाते बताई गई हैं—योगाऽवचकता, क्रियाऽवंचकता और फलाऽवंचकता। इन तीनो के होने पर ही साधक परमात्मा का सच्चे माने मे दर्शन कर सकता है। वस्तुतः आत्मस्वभावरूप मोक्ष—(परमात्म-पद) के साथ अनुबन्ध होना योग कहलाता है।

पूर्वगाथा मे योगावञ्चकता के लिए सच्चे देव की निर्मलसेवा की बात कही थी, उसी सन्दर्भ मे श्रीआनन्दघनजी इस गाथा मे सच्चे गुरु (न

साधुसाध्वी) की भक्ति की बात कहते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि सच्चे देव, सच्चे गुरु, और सद्धर्म के योग (निमित्त) के कदापि वचित न हो, ऐसे अमोघ, या अचूक अवसरों को कदापि न चूके, साथ ही सम्यग्ज्ञानपूर्वक मोक्ष के अनुकूल धर्मक्रिया करने मे जरा भी गफलत न करे तथा मोक्षरूपी फल प्राप्त करने से न चूके। (रागद्वेष, कषाय, कर्म आदि से मुक्ति के जब-जब प्रसंग आएँ, उन्हें न चूके, उन अवसरो से आत्मा को कदापि वचित न करे।) यानी योग, क्रिया और फल के अवसरों से वंचित न हो। दूसरे शब्दो मे यो भी कहा जा सकता है, अपनी आत्मा के प्रति वफादार रह कर परमात्मा की साक्षी से अपनी पूरी ताकत लगा कर (भरसक) योग, क्रिया और फल की आराधना से वचित न होने का प्रयत्न करें। अपनी आत्मा को ठगे नही। योग के नाम पर मिथ्यायोगों से न ठगा जाय, आत्मगुण या स्वरूप का लक्ष्य चूके नही। क्रिया के नाम पर झूठी, दभवर्द्धक, विकासघातक, परवचक क्रियाओ से ठगा न जाय, इसी प्रकार मोक्षरूपी फल के नाम पर अपने ध्येय को छोटा बना कर इहलौकिक या परलौकिक सुख-साधनादि-प्राप्तिरूप फल से प्रभावित हो कर ठगा न जाय। मोक्ष के नाम पर विविध आडम्बरो या जन्ममरणवर्द्धक फलो से लुभा कर आत्मवंचना न कर बैठे।[1] योगदृष्टिसमुच्चय मे इन तीनो योगो का स्वरूप इस प्रकार बताया है—"दर्शनमात्र से पवित्र हो जाय, ऐसी कल्याणकारिणी सम्पत्ति से युक्त सतपुरुषो के सत्सग से तथा दर्शन से योग (मिलन) होना योगाऽवंचक योग कहलाता है। ऐसे सद्गुरुओ, सद्देवो, आदि को प्रणाम करना तथा अन्य मोक्षदायक अनेक सद्धर्म क्रियाओ या नियमो मे भरसक शक्ति लगाना क्रियावंचक योग है, जो महापापो के क्षय से जागता है तथा सद्गुरुओ के निमित्त (सहयोग) से निर्वाणात्मक धर्म की प्राप्ति करता है। संतो द्वारा सम्मत

---

1. सद्भिः कल्याणसम्पन्नैर्दर्शनादपि पावनैः।
तथा दर्शनतो योग आद्याऽवंचक उच्यते।।
तेषामेव प्रणामादि-क्रिया-नियम इत्यलम्।
क्रियावंचकयोगः स्यान्महापापक्षयोदयः।।
फलावञ्चकयोगस्तु सद्भ्य एव नियोगतः।
साऽनुबन्धफलावाप्तिर्धर्मसिद्धौ सतां मता।।

—योगदृष्टिसमुच्चय 217,218,219

इस प्रकार के मोक्षानुबन्धी फल की प्राप्ति होते रहना फलावंचकयोग है। निष्कर्ष यह है कि इन तीनो के खोटे योगों से बच कर प्रलोभन, भय, स्वार्थ या कामना के भावो को छोड कर सद्‌देव, सद्‌गुरु एव सद्‌धर्म की कपट रहित हो कर त्रिकरणशुद्ध सेवाभक्ति करने से परमात्मा के यथार्थस्वरूपदर्शन की प्रतीति हो जाती है, जो वास्तव मे प्रभु-मुख-दर्शन है तथा पूर्वोक्त विधि से निष्कामभाव से सम्यग्ज्ञान पूर्वक मन-वचन-काया की एकाग्रतापूर्वक मोक्षदायिनी धर्मक्रिया की जाती है तो वह क्रिया अवंचक हो जाती है और उसका फल भी शुद्ध मिलता है, कर्ममुक्तिरूप फल को छोड कर जो किसी सांसारिक प्रतिष्ठा, नामबरी, दम्भ, ईर्ष्या, स्वार्थ या प्रलोभन को लेकर क्रिया करता है, उसका फल भी सासारिक एषणा से लिप्त होने के कारण वंचक है, अवंचक नहीं। अतः अवचकभाव से अवचक क्रिया करके अवंचकफल के रूप में वीतराग-परमात्मा का साक्षात्कार सम्यग्दृष्टि आत्मा कर सकती है।

निश्चयनय की दृष्टि से देखा जाय तो जब निमित्तो को गौण मान कर अपने समक्ष शुद्ध-आत्मभाव मे रमण के योगो के उपस्थित होने पर जब आत्मा से उनका यही शुद्धाभव मे उपयोग, आत्मगुण या स्वरूप का लक्ष्य होता है, तदनुसार शुद्ध स्वाभावरमणरूप क्रिया होती है तथा शुद्धस्वभाव मे आत्मा स्थिर होने के योगो को नही चूकती, तभी वह परमात्मा के शुद्धात्मचेतनरूपी मुखचन्द्र के दर्शन कर सकती है। अन्यथा शुभ-अशुभभावो मे या परभावो मे रमणता और स्थिरता तो अनेक जन्मो और गतियो मे की, मगर उससे जरा भी कार्य सिद्ध नहीं हुआ।

किन्तु उक्त तीनो योगो की अवंचकता यानी तीनो योगो का अवसर न चूकने की बात प्रमादी व्यक्ति या प्रमत्त साधक से कैसे निभ सकती है? इसके लिए प्रबल आशावान श्रीआनन्दघनजी अन्तिम गाथा मे कहते हैं—

प्रेरक अवसर जिनवरु,स.; मोहनीय क्षय जाय । सखी.।
कामितपूरण सुरतरु, स.; आनन्दघन -प्रभु पाय। सखी.।।7।।

अर्थ—जब प्रेरक (उक्त तीनों योगों में प्रवृत्त करने का) अवसर, आएगा, तब श्रीजिनवर (वीतराग-परमात्मा) ही प्रेरणा करेंगे, और साधक क्रमशः अप्रमत्त-गुणस्थान से आगे बढ़ कर निवृत्तिबादर, अनिवृत्ति बादर और सूक्ष्मसंपराय आदि गुणस्थानों को लांघ कर 12वें क्षीणमोहगुणस्थान पर पहुँच जाएगा, जहाँ उसका सबसे बडा घातीकर्म- मोहनीय सर्वथा नष्ट हो जायगा और अपने (परमात्मदर्शन

के) मनोरथ को पूर्ण करने वाले कल्पवृक्ष के समान सच्चिदानन्दमय प्रभु को पा जायगा। यानी उसका परमात्मदर्शन का मनोरथ पूर्ण हो जायगा। अथवा उस आनन्दमय परमात्मपद को साधक स्वयं पा जायगा।

***भाष्य*–परमात्ममुखदर्शन के मनोरथ में सफलता**

इस अन्तिम गाथा मे श्रीआनन्दघनजी पूर्वोक्त तीनों अवचक-योगो की प्राप्ति के अवसरों को प्रमत्तसाधक न चूक सके, इसके लिए अवसर-प्रेरक वीतराग परमात्मा को ही बता कर उनके चरण-शरण मे जाने की बात पर जोर देते है। सचमुच साधक की आत्मा परमात्मा के प्रति पूर्ण वफादार रह कर प्रवृत्ति करे तो उसकी शुद्ध आत्मा ही प्रेरणादायक अवसरो को न चूकने की प्रेरणा दे देती है। *शुद्ध आत्मा की आवाज ही परमात्मा की सच्ची प्रेरणा है।* परन्तु बहुत-से साधक श्रेयमार्ग को कठिन और दुःखमय समझ कर उससे अपने आपको वंचित कर देते है, प्रेममार्ग को ही सर्वस्व समझ लेते है, क्योकि उसमे प्रायः तात्कालिक फल मिलता है। निश्चयनय की भाषा मे कहे तो शुद्ध आत्मा की आत्मभाव में रमण की अथवा स्वभाव की प्रेरणा को ऊबा देने या थका देने वाली समझ कर साधक की आत्मा भय-प्रलोभनपूर्ण परभावों या भौतिक भावो अथवा वैभाविक भावो मे रमण की ओर मुड जाती है और स्वभावरमण मै प्रमाद कर बैठती है। अतः शुद्ध आत्मभावो मे रमण के अवसरो की सतत् प्रेरणा देने वाले परमात्मा-शुद्धात्मा है। उसी प्रेरणा को मजबूती से पकड लेने पर तीनो योगो में अवचकता से साधक क्रमशः उत्तरोत्तर गुणस्थानो को पार करके बारहवे गुणस्थान पर पहुॅच जाता है, जहॉ समस्त कर्मो के मूल मोहनीय कर्म का सर्वथा क्षय हो जाता है। यही प्रभुदर्शन की सर्वोत्तम उपलब्धि है, साधक के जीवन मे श्रीआनन्दघनजी इसी आशा से परमात्मा के विशुद्ध मुखचन्द्र का दर्शन करने के लिए उत्सुक है। उनकी अन्तरात्मा पुकार उठती है कि मोहनीय कर्म के क्षय होते ही साधक मनोवाछित (मोक्षरूपी फल पाने का) पूर्ण मनोरथ करने वाले, कल्पवृक्षस्वरूप आनन्दघनमय परमात्मपद को प्राप्त कर लेता है। अथवा प्रभुदर्शन का मनोरथ पूर्णरूप से सफल करने वाले वीतराग-परमात्मा के चरण ही मनोरथपूरक हैं, वे ही कल्पवृक्षरूप है, सच्चिदानन्दमय है।

मतलब यह है कि परमात्ममुखचन्द्र का दर्शन करने की तमन्ना जिस साधक मे होगी, वह तीनो योगों की पूर्ण भरसक आराधना करने मे वीतराग परमात्मा की प्रेरणा उस-उस अवसर पर पा ही लेगा, और आगे बढते-बढते

क्षीणमोह-गुणस्थान पर जा पहुँचेगा, जहाँ उसके उक्त मनोरथ के सफल होने मे कोई सन्देह नही है। क्योकि इतनी उच्च-भूमिका पर पहुँचने के बाद तो वह स्वयमेव पूर्ण शुद्धात्मा बन कर परमात्ममय हो जाता है, स्वयं कामनापूरक कल्पवृक्षरूप व आनन्दघनमय परमात्मपद को प्राप्त कर लेता है।

सारांश—इस स्तुति मे श्रीआनन्दघनजी ने परमात्मा के मुखचन्द्र का स्वरूप एवं उसके दर्शन की तीव्रता बता कर अब तक विभिन्न गतियो और योनियो मे प्रभुदर्शन न मिलने का इतिहास बता कर अन्त मे प्रभुमुखदर्शन पाने के लिए आत्मा की अवंचक त्रय-साधना बताई तथा अवचकता के अवसर के लिए वीतराग प्रभु को ही प्रेरक मान कर क्षीणमोह-गुणस्थान श्रेणी तक पहुँच कर पूर्ण सच्चिदानन्दमय परमात्मपद को प्राप्त करने की आशा व्यक्त की है।

***

9. श्री सुविधिनाथ-जिन-स्तुति–

परमात्मा की भावपूजानुलक्षी द्रव्यपूजा

(तर्ज- राग केदारो, एम धन्नो धणीने परचावे)

सुविधिजिनेसर पाय नमी ने, शुभकरणी एम कीजे रे।
अतिघणो उलट अंग धरी ने, प्रह उठी पूजीजे रे।। सुविधि.।1।।

***अर्थ*–इस अवसर्पिणीकाल के नौवें तीर्थकर रागद्वेषविजेता श्रीसुविधिनाथ (परमात्मा) के चरणों में नमन करके पुण्य-उपार्जनरूप शुभक्रिया आगे बताई हुई विधि से करनी चाहिये। वह शुभ-क्रिया यह है कि हृदय में अत्यन्त उमंग (उत्साह) धारण करके सुबह उठ कर परमात्मा पूजा करनी चाहिए।**

***भाष्य*–परमात्मा की पूजा का रहस्य**

पूर्वस्तुति में जैसे परमात्मा के मुखचन्द्र के दर्शन का रहस्य बताया गया था कि सच्चे माने में अपनी आत्मा मे परमात्मभाव देखना ही परमात्ममुखदर्शन है, वैसे ही परमात्मा की पूजा भी सच्चे माने मे तो अपनी आत्मा को शुद्ध स्वभाव मे स्थिर रखना है।

परन्तु यह आत्मा जब तक छद्मस्थ है, प्रमादी है, प्रमत्तसाधक-अवस्था मे है, तब तक वह निरतर शुद्धस्वभाव मे स्थिर रह नही सकती, वह किसी न किसी बाह्य निमित्त का अवलम्बन ले कर शुद्धात्मभाव मे सदा के लिए स्थिर परमात्मा का स्मरण करना चाहती है और उनके आश्रय से अपने आत्मगुणो का स्मरण करती है। परन्तु यह ध्यान रहे कि आत्मजागृति या आत्मलक्ष्य के बिना केवल बाह्यनिमित्त सुखप्रद नहीं होते। इसलिए परमात्मा की पूजा का अवलम्बन भी आत्मजागृति की दृष्टि से लेना आवश्यक बताया गया है।

वीतराग-परमात्मा की भावपूजा या द्रव्यपूजा करने से उन्हें तो कोई लाभ (भौतिक या आध्यात्मिक) नहीं होता, पूजा करने वाला अपने आत्मिक लाभ की दृष्टि से ही उनकी पूजा के माध्यम से अपने आत्मगुणो का स्मरण करके अपनी आत्मा को जगाता है। इस दृष्टि से देखा जाय तो परमात्मा की द्रव्य-पूजा भी भावानुलक्षी या भावपूर्वक हो, तभी फलदायिनी होती है। अगर

भावना न हो तो वह उक्त उद्देश्य को सिद्ध नहीं करती। दूसरे शब्दों मे कहें तो अकेली द्रव्यपूजा भावपूजा के बिना मुक्ति-फलदायक अथवा आत्मभावो या आत्मगुणो मे स्थिरताप्रदायक नही होती।

अगर परमात्मा की पूजा भी किसी लौकिक स्वार्थ, भौतिक, पदार्थ-प्राप्ति की लालसा, या यशकीर्ति की इच्छा से की जाती है तो उपर्युक्त उद्देश्य आत्मजागृति का प्रयोजन-पूरा नहीं होता। वह तभी पूरा हो सकता है, जब परमात्म-पूजा के साथ आत्मजागृति की दृष्टि से निम्नोक्त बातों का विवेक हो—1. जिसकी पूजा की जा रही है, वह सच्चे माने में वीतराग-परमात्मा के रूप मे पूजायोग्य या पूज्य है या नहीं? 2 परमात्मा की पूजा किसी भौतिक लालसा, कामना, प्रसिद्धि, स्वार्थ या पदलिप्सा अथवा किसी पौद्गलिक लाभ की दृष्टि से की जा रही है या सिर्फ आत्मविकास अथवा आत्मगुणो की प्रेरणा या आत्मजागृति की दृष्टि से की जा रही है? 3 परमात्मपूजा का रहस्य या उसका खास प्रयोजन क्या है? 4 परमात्मा की भावपूर्वक पूजा या भावना से ही पूजा हो सकती है या दुर्बल आत्मा के लिए और भी कोई पूजा का प्रकार है? अगर है तो वह कौन-सा है? उसकी पूजा के साथ भावशुद्धि कैसे रह सकती है? परमात्मपूजा के सम्बन्ध मे इन और ऐसी ही कुछ बातो पर विचार किये बिना परमात्मा की केवल स्थूलपूजा (जो कि वर्तमानकाल में अन्यधर्मो की भक्तिमार्गीय शाखाओं में अपनाई जाती है) को अपना लेना, अथवा अविवेकपूर्वक पडौसी सम्प्रदायो की बाह्यपूजा व बाह्यभक्ति का अन्धानुकरण करना आत्मगुणविकास की दृष्टि के लाभदायक नहीं हो सकता।

उपर्युक्त बातो के सम्बन्ध मे हम यहाँ कुछ प्रकाश डालेगे। यह तो पहले भी कई बार कहा जा चुका है कि पूजनीय व्यक्ति का नाम चाहे जो कुछ हो, अगर उसमे वीतरागता, समता, आत्मस्वरूप मे सतत् स्थिरता व अनन्तज्ञानादि गुण हो तो वह परमात्मा है, वन्दनीय, दर्शनीय, सेवनीय और पूजनीय है। परन्तु इसके विपरीत जिसमे वीतरागता आदि गुण न हों, सिर्फ बाह्य आडम्बर, जनता की भीड, बाह्य रागरंग तथा आकर्षक आभूषण, पोशाक आदि पहनने वाले, बाह्य भोगों व वैभवों की चकाचौंध में डूबे हुए व्यक्ति को वन्दनीय, दर्शनीय, सेवनीय और पूजनीय (आध्यात्मिक दृष्टि से) नहीं माना जा सकता। परन्तु अगर सच्चे अर्थो मे यथोक्तगुणसम्पन्न परमात्मा की पूजा भी अगर स्वार्थ आदि किसी दृष्टि से भी की जायगी तो वह भी सच्चे माने में ५२

नहीं होगी। सच्चे अर्थों में परमात्मपूजा वही होगी, जहाँ उसे आत्मगुणो के विकास या स्वस्वरूप में स्थिरता की दृष्टि से आत्मजागृति पूर्वक अपनाया जायगा। वास्तव में परमात्मा (वीतराग है, इसलिए उन) को हमारे द्वारा की गई पूजा से कोई मतलब या लाभ नही, लेकिन हमे अपनी आत्मा को आत्मगुणो के विकास की पूर्णता की ओर ले जाने के लिए परिपूर्णता से प्रतीक परमात्मा की पूजा करना है। मनुष्य जैसा बनना चाहता है, वैसा आदर्श उसे अपनाना जरूरी होता है। अगर साधक को अपने आत्म-विकास के अन्तिम शिखर तक पहुँचना हो तो उसे आत्मविकास की पराकाष्ठा पर पहुँचे हुए आदर्शपुरुष परमात्मा की पूजा—आदर्शरूप की पूजा करना नितांत आवश्यक है। परमात्मा के तुल्य बनने के लिए उसे परमात्मा के आदर्श अपनाने तथा अपने उस निर्णय पर दृढ रहने के लिए परमात्मपूजा अनिवार्य है। परमात्मपूजा का रहस्य भी यही है कि आत्मा-परमात्मा की पूजा द्वारा अपने आपको परमात्मा बनने के पथ पर टिकाए रखे, जहाँ आत्मगुणो या आत्मविकास के विपरीत अथवा स्वरूप या स्वभाव के विपरीत पथ या बात हो यानी परमात्मपूजा के विपरीत भौतिक या आत्मगुणातिरिक्त विकारों, या विभावो की पूजा का प्रश्न सामने आए, फिर वह सिर्फ धन, यश, बल, रूप, वैभव, कुल, जाति, आदि की पूजा का ही प्रश्न क्यों न हो; सम्यग्दृष्टि साधक उसमे नही फसेगा, परमात्मपूजा के असली पथ से विचलित नही होगा। परमात्मपूजा से विपरीत स्वार्थपूजा या भौतिकपूजा के चक्कर मे वह नही आएगा। परमात्मपूजा परमात्मा को खुश करने के लिए या पापो से माफी के लिए अथवा पापो पर पर्दा डाल कर धर्मात्मा या भक्त कहलाने के लिए नही, अपितु अपनी आत्मा को सर्वांगपूर्ण सर्वगुणसम्पन्न बनाने के लिए है। इस प्रयोजन या उद्‌देश्य को न समझ कर जो लोग परमात्मा के प्रतीक (मूर्ति) के सामने नाच-गा कर केवल उनको रिझाने का प्रयत्न करते है, उनके प्रतीक के सामने चढावा चढा कर अथवा अमुक लौकिक स्वार्थ की पूर्ति के लिए उनकी मनौती करते है, अथवा उनके बिम्ब के आगे बकरे आदि पशु-पक्षी की बलि चढाते है, शराब, मास आदि अपेय या अभक्ष्य द्रव्य चढाते है, वे भी परमात्मपूजा के वास्तविक प्रयोजन से अनभिज्ञ है।

वास्तव में परमात्मा की पूजा भावो से ही हो सकती है, उनकी स्तुति या गुणगान के पीछे भी परमात्ममय बनने या आत्म-गुणविकास की पराकाष्ठा पर पहुंचने का लक्ष्य होता है। वह भी एक प्रकार की भावपूजा ही है। अथवा

पूर्णत्यागी परमात्मा के समझ हिसादि-त्याग की पुष्पांजलि चढाना ही। उनकी पूजा है, जो भावमय है। परन्तु कुछ दुर्बल आत्माओ को ज्ञानयोग का यह मार्ग बहुत कठिन प्रतीत होता है। साधारणतया लोग कठोरमार्ग को छोड कर आसान मार्ग पकडते है; क्योकि परमात्मा की केवल भावपूजा करने में ज्ञान, बुद्धि, वैभव, या मानसिक चिन्तन, ध्यान आदि की आवश्यकता होती है, जो प्रत्येक व्यक्ति के वश की बात नहीं है। आम आदमी सतत स्वरूप लक्ष्य या आत्मगुणो के विकास या स्वभाव मे स्थिर नही रह सकता। इसलिए श्री आनन्दघनजी ने सम्भव है, उस युग मे आम आदमियो के [1] द्रव्यपूजा की ओर बढते हुए लोक-प्रवाह को नया मोड देने अथवा उसमे भावपूजानुलक्षिता का नया दौर लाने अथवा भावपूजा के साथ उस समय के लोक मानस मे प्रचलित द्रव्यपूजा का समन्वय करने की दृष्टि से कह दिया है—**'शुभकरणी एम कीजे रे'**। तात्पर्य यह है कि या तो अशुभ प्रवृत्ति की ओर बढते हुए लोकमानस को कम से कम शुभ प्रवृत्ति मे टिके रहने के लिए परमात्मपूजा के स्थूलरूप का श्रीआनन्दघनजी ने समर्थन किया है, अथवा उन्होने भक्तिमार्गीय धर्म-सम्प्रदायो मे उस युग मे प्रचलित लक्ष्यहीन, भावहीन, बाह्यचमत्कारपरक, स्वार्थलक्ष्यी, आडम्बरयुक्त भक्तिवाद के रूप मे प्रचलित तथाकथित भगवत्पूजा को देख कर या परमात्मपूजा के नाम पर विकृतियॉ, आडम्बर, अन्धविश्वास, चमत्कार, या रूढिवाद आदि घुसे हुए देख कर उन्हे हटा कर जैनत्व की दृष्टि से अनेकान्तसिद्धान्त के जरिये भावपूजानुलक्ष्यी द्रव्यपूजा का समर्थन किया हो। यही कारण है कि उन्होने इस स्तुति की प्रथम गाथा मे इस बात को स्पष्ट कर दिया है-**'अतिघणो उलट अंग**

---

1 ऐतिहासिक दृष्टि से निर्विवाद है कि भगवान महावीर ने निर्वाण के वाद लगभग 270 वर्ष मे आचार्य भद्रबाहु स्वामी हुए। उन्होने चन्द्रगुप्त राजा को उसके 23 स्वप्नो का अर्थबोध देते हुए 5वे स्वप्न मे चैत्यस्थापना तथा उससे होने वाली हानि का संकेत किया है। देखिये व्यवहारसूत्र की चूलिका–

''पंचमए दुवालसफर्णि संजुतो कण्ह अहि दिट्ठो, तस्स फलं दुवालसवासपरि-माणो दुवकालो भविस्सई। तथ्य कालियससूयप्पमुहाणि सुत्ताणि वोच्छिज्झिसंति। चेइयं ठवावेइ .लोभेण। मालारोहण-देवल-उवहारण-जिणबिंबपइट्ठावणविहिं पगासिस्संति, अविहे पंथे पडिस्सई।..

श्रीआनन्दघनजी की, उस समय की भावना समझी जा सकती

धरी ने, प्रह उठी पूजीजे रे' अर्थात् परमात्मपूजा करो, पर कब और कैसे? इस बात का पूर्ण विवेक करके करो। **'उलट अंग धरी ने'** का मतलब है—मन-वचन-काया में पूर्णउत्साह, उत्कट भावना, शरीर के अग-अंग मे पूर्ण स्फूर्ति धारण करके तथा **'प्रह उठी पूजीजे रे'** कहने का यह मतलब है कि प्रातःकाल उठते ही या सवेरे उठ कर सर्वप्रथम और सब कामो को गौण करके परमात्मपूजा करो। यद्यपि परमात्मा की भावपूजा के लिए कोई विशेष समय नियत नही होता, जिस समय साधक की इच्छा हो, उस समय वह की जा सकती है। फिर भी प्रातःकाल का समय ब्रह्ममुहूर्त या अमृतवेला कहलाता है, उस समय तन, मन, वातावरण सब शान्त रहता है, चित्त एकाग्र रहता है, मन अन्यमनस्क नही रहता, दिमाग भी ऊलजलूल विचारों से रहित होता है, तन-मन मे स्फूर्ति रहती है। एक लौकिक स्वर्णसूत्र भी है—

"Early to bed, early to rise,
Makes man healthy, wealthy and wise "

जो व्यक्ति जल्दी सो जाता है और प्रातः जल्दी उठता है, वह मनुष्य स्वस्थ धनाढ्य और बुद्धिमान बनता है। इसलिए आत्मिक दृष्टि से भी प्रातःकाल परमात्मा की पर्युपासना के लिएं बहुत उत्तम है। परमात्मा के नामजप, भजन, गुणगान, वन्दना, स्तुति, आदि के द्वारा परमात्मपूजा के लिए भी प्रभातकाल सर्वोत्तम रहता है। किन्तु इसके पूर्व एक बात प्रभातकाल मे सर्वप्रथम करणीय और बता दी है—**'सुविधि जिनेसर पायस नमीने'** सुविधि (जिन्होने मोक्षमार्ग का स्पष्ट विधान किया है ऐसे) वीतरागपरमात्मा के चरणो को नमन करके। इसके दो अर्थ प्रतीत होते हैं—एक तो यह है कि वीतराग-परमात्मा के चरण मे नमन करके उनकी पूजा करना। दूसरा अर्थ यह है कि परमात्मा के पद (चरण या चारित्र) को नमन करके अथवा जिस चारित्र से सुविधिनाथ प्रभु मोक्ष गए हैं, उस चारित्रवान आत्मा के शुद्ध पद को नमन करके।

निष्कर्ष यह है कि तीर्थंकर भगवान् के स्थूल प्रतीक के रूप मे स्थापित उनकी 'मूर्ति का आलम्बन ले कर उसमे परमात्मा का आरोपण करके मूर्ति की नहीं, मूर्तिमान-परमात्मा की पूजा कर रहा हूँ' इस भावना से उस युग मे जोर-शोर से प्रचलित मूर्तिपूजा मे आए हुए विकारो को दूर करने और भावपूजा के लक्ष्य से द्रव्यपूजा करने का श्रीआनन्दघनजी जैसे आध्यात्मिक और निःस्पृह संत ने विवेक किया हो, ऐसा प्रतीत होता है।

इसी आशय को ले कर वे अगली गाथा मे कहते हैं–

द्रव्यभाव शुचिभाव धरी ने, हरखे देहरे जइए रे।
दह-तिग-पण अहिगम साचवतां, एकमना धुरि थइए रे।।
सुविधि.।।2।।

_अर्थ_–द्रव्य से यानी बाह्यरूप से और भाव से यानी आन्तरिकरूप से शुद्ध (पवित्र-दोषरहित) भव धारण करके (रख कर) हर्षपूर्वक देवालय (मन्दिर) में जाएं और द्रव्य-भाव दोनों प्रकार की पूजा करें। मन्दिर में दश त्रिकों और 5 अभिगमों का विधिपूर्वक पालन करते हुए सर्वप्रथम एकाग्रचित हो जाएं।

_भाष्य_–द्रव्य और भाव से शुचितापूर्वक द्रव्य पूजा और भावपूजा

इस गाथा मे श्री आनन्दघनजी द्रव्यपूजा[1] और भावपूजा दोनो मे शुचिभाव, शुद्धभाव, दोषरहित भाव की अनिवार्यता बताते है। इस गाथा के दो अर्थ निकलते है। एक तो यह है कि द्रव्यपूजा मे द्रव्य से और भाव से दोनो प्रकार से शुचिता-शुद्धता रखी जाय। दूसरा अर्थ यह है कि द्रव्यपूजा और भावपूजा दोनो मे शुद्धभाव, दोषरहित भाव रखे जॉय।

द्रव्यपूजा की दृष्टि से द्रव्यतः शुचिभव का अर्थ है–[2]शरीर और शरीर के अगोपाग स्वच्छ करके परमात्मपूजा के योग्य बिना मैले शुद्ध साफ वस्त्र पहिन कर तथा परमात्मपूजा के योग्य जो शुद्ध द्रव्य हैं, उन्हे भी शुद्ध रूप मे लेना। मतलब यह है कि ऐसे द्रव्य न लिए जांय, जो वीतरागप्रभु की पूजा के योग्य न हो। जैसे शराब, मांस आदि घिनौने द्रव्य या बलि चढाने के लिए कोई पशु या पक्षी आदि जीव ले कर न जाय। अथवा वीतराग एवं त्यागी महापुरुषों की पूजा के लिए भोग-विलास की सामग्री ले कर कोई जाय तो वास्तव मे वीतरागपूजा के लिए वे चीजें उचित द्रव्य नहीं है। जो भी द्रव्य ले कर जाय, वह

---

1 श्रीआनन्दघनजी स्वय नि स्पृह होते हुए भी मूर्तिपूजक–परम्परा के सत थे। इसलिए उन्होने अपनी परम्परा और धारणा के अनुसार द्रव्यपूजा का समर्थन किया है। यह उनका अपना मत है। उनके द्रव्यपूजा के इस मत से भाष्यकार का सहमत होना अनिवार्य नही है।

2 ण्हाए सुद्धपावेसाइं वत्थाइं पवर -परिहिए... उपासकदशांग सूत्र
भगवान महावीर के पास आनन्द श्रमणोपासक के जाने के समय का वर्णन। आनन्द श्रमणोपासक ने स्नान किया, शुद्ध और सभा मे प्रवेश के योग्य वस्त्रो को ठीक रूप से पहने।

भी ठीक तरह से उचितरूप में ले कर जाय। जैसे कई लोग पूजा की सामग्री इधर-उधर बिखरते हुए, या बारबार जमीन पर या गदे स्थान पर गिराते हुए अथवा कपडे आदि अस्त-व्यस्त रूप मे पहन कर या शरीर मे शौचक्रिया (मलमूत्र आदि की क्रिया) की हाजत रख कर जाते है या शराब आदि नशीली चीजे पी कर अथवा मांसादि अभक्ष्य वस्तुएँ खाकर अथवा किसी व्यक्ति से लड-झगड कर किसी की हत्या, मारपीट, आदि करके, किसी पर अत्याचार-अन्याय करके, प्रभु-पूजा के लिए खून से रगे हाथो, अथवा गदे शरीर को ले कर जाना भी द्रव्यतः अशुचिभाव है। इसी तरह वीतराग-परमात्मा की द्रव्यपूजा करने के लिए बाह्य आडंबर रचना, या लोकदिखावा करना, जोर-जोर से चिल्ला कर दूसरे व्यक्तियों द्वारा की जाने वाली पूजा मे खलल डालना, आदि सब द्रव्यतः अशुचिभाव है। क्योकि परमात्मपूजा दिखावे या प्रदर्शन की चीज नही है। वह तो आत्मगुणविकास या स्वस्वरूप मे स्थिर रहने के लिए होती है। इसी तरह द्रव्यपूजा की दृष्टि से भावतः शुचिभाव का अर्थ है- चित्त मे किसी प्रकार का कालुष्यभाव, किसी के साथ वैरविरोध, होड (प्रतियोगिता), सघर्ष अथवा जयपराजय का भाव ले कर परमात्मपूजा के लिए नही पहुँचना, अथवा पुत्र, धन, यश, प्रतिष्ठा, पद, मुकद्दमे मे जीत, प्रसिद्धि, आदि किसी सासारिक कामना से परमात्मपूजा के लिए नही जाना। लोकप्रवाह की दृष्टि से पूजा या पूज्यव्यक्ति का स्वरूप या यथार्थ पूजाविधि समझे बिना अथवा शरीर और कही हो, मन और कही भटक रहा हो, ऐसी स्थिति मे द्रव्यपूजा के लिए प्रवृत्त होना भी भावतः अशुचिभाव है। वास्तव मे परमात्मपूजा का अर्थ, उद्देश्य, स्वरूप, विधि आदि समझ कर निष्काम एव दोषरहित भावो से तन-मन की एकाग्रतापूर्वक उत्साहपूर्वक परमात्मपूजा के लिए जाना परमात्मा की द्रव्यपूजा मे भावतः शुचिभाव धारण करना है।

क्योकि आचार्य नमि और आचार्य अमितगति ने द्रव्यभाव-संकोच को परमात्मपूजा और वचनसयम को व हाथ-पैर को, मस्तक आदि अंगो के सम्यक्विधिपूर्वक रखने को द्रव्यसकोच तथा विशुद्ध मन प्रभु मे जोडने को भावसकोच कहा है। यही क्रमशः द्रव्यपूजा और भावपूजा है।

अब आइए परमात्मा की भावपूजा करते समय द्रव्यतः एव भावतः शुचिभाव की ओर भावपूजा के कुछ प्रकार आगे इसी स्तुति मे बताए जायेगे। तदनुसार भावपूजा मे प्रवृत्त होते समय अपने शरीर, अगोपाग तथा बैठने के

आसन, पहनने के वस्त्रो आदि का शुद्ध होना आवश्यक है। उस समय की जाने वाली शारीरिक चेष्टाएँ भी ठीक हो, उनमे चचलता या अभिमान न हो, व्यग्रता न हो।[1] उस समय गदे स्थान मे या अत्यन्त कोलाहल भरी भीड-भडक्के वाली अशान्त जगह मे बैठना अथवा गदे वातावरण मे, शारीरिक हाजतो को रख कर या उग्र बीमारी या घर में कोई बीमार या अशक्त की सेवा की जिम्मेदारी के समय उसी हालत मे परमात्मा की भाव-पूजा के लिए बैठना ठीक नही होता। क्योकि उस समय शरीर और कही होगा, मन और कही। दोनो का तार जुडेगा नही, परमात्म-पूजा से। इसी तरह माला के मनके फिराने के साथ शरीर और मन को भी एकाग्र करना द्रव्य शुचि मे शुमार है। यह तो हुई द्रव्यशुद्धि की बात। भावपूजा में भावशुद्धि के लिए पूर्वोक्त प्रकार से लक्ष्यपूर्वक चित्त की प्रसन्नता, उत्साह और आत्मसमर्पणता रखना है। उस समय चित्त मे किसी प्रकार का शोक, विषाद, घृणा या चपलता नही होनी चाहिए। तभी भावपूजा मे भावतः शुचिभाव आ सकता है। अगर भावपूजा भी किसी सौदेबाजी, स्वार्थसिद्धि या लौकिक कामना के अशुद्धभावो को लेकर की जाय, तो वह दूषित हो जाती है, वह पवित्र, निष्काम, निष्कलुष एव विशुद्ध निर्जरालक्षी या, आत्मगुणविकास-लक्षी नही रहती।

द्रव्यपूजा और भावपूजा कहाँ की जाय?

यद्यपि परमात्मा की पूजा के लिए कोई स्थानविशेष नियत नही होता, तथापि सामाजिक दृष्टिकोण से समाज के आम आदमी को वीतरागपूजा की ओर प्रवृत्त करने के लिए श्रीभद्रबाहु स्वामी के बाद के आचार्यगण तात्कालिक परिस्थितियो को मद्देनजर रख कर शुभ उद्देश्य से जैनमन्दिर, चैत्यालय या जिनालय के लिए प्रेरणा देने लगे। इसी परम्परा के सन्दर्भ मे श्रीआनन्दघन जी कहते है—'**हरखे देहरे जइए रे।**' अर्थात् परमात्मा-पूजा के लिए हर्षपूर्वक देवालय

1. वचोनिग्रह-संकोचो द्रव्यपूजा निगद्यते।
तत्र मानससंकोचो भावपूजा हि पुरातनैः।

—अमितगति-श्रावकाचार

पूजा च द्रव्यभावसकोचः। च करशिर.पादादिसंन्यासो द्रव्यसंकोचः। भावसकोचस्तु विशुद्धमनसो नियोगः।

—षडावश्यकवृत्ति, प्रणिपातदण्डक

में जाना चाहिए। देहरा या देरासर–शब्द देवग्रह, देवाश्रय आदि शब्दों का अपभ्रश है। जहाँ वीतरागपरमात्मा की मूर्ति (प्रतिमा या बिम्ब) की स्थापना की जाती है और जिनभगवान का आरोपण करके द्रव्यपूजा भावपूजानुलक्ष्यी की जाती है। द्रव्यपूजा की दृष्टि से यह अवलम्बन है। परन्तु जिसे द्रव्यपूजा न करके परमात्मा की सीधी भावपूजा ही करनी हो, उसके लिए देवालय देह या हृदय हो सकता है; वही आत्मदेव विराजमान है। उसमें परमात्मदेव का आरोपण करके परमात्मा की भावपूजा करनी चाहिए। एक आचार्य ने तो स्पष्ट कहा है कि यह[1] देह की देहरासर (देवालय) है। इसी मे विराजमान शुद्ध आत्मदेव को परमात्मदेव मानो और अज्ञानरूपी मैल दूर करके सोऽहभाव से उसकी पूजा करो।

अथवा दहराश्रय का मतलब हृदय-मन्दिर भी है। क्योकि परमात्मदेव को भी स्वदेहस्थित हृदयमन्दिर मे स्थापित करके ही भावना से उनकी पूजा की जाती है। वेदान्त-ग्रन्थो में दहराकाश का वर्णन आता है कि आत्मा हृदय मे स्थित दहराकाश मे विराजमान है। जो भी हो, भावपूजा के लिए हृदय-मन्दिर परमात्मदेव का आलय हो सकता है।

परमात्मपूजा के लिए विधि

परमात्मपूजा के लिए चैत्यवन्दन भाष्य, प्रवचनसारोद्धार आदि ग्रन्थो में परम्परागत कुछ विधियाँ, मर्यादाएँ बताई गई है। श्रीआनन्दघनजी ने मूर्तिपूजा की उसी चालू परिपाटी के अनुसार [2] दश प्रकार के त्रिक एव पाँच अभिगमो के पालन का उल्लेख यहाँ किया है, वह द्रव्यपूजा की दृष्टि से इस प्रकार है–

(1) **निसीहित्रिक**–देवालय (देहरासर) मे प्रवेश करते समय तीन बार नैषेधिकी क्रिया करनी चाहिए। यानी मै सब प्रकार के गृहकार्यसम्बन्धी या व्यापारसंबन्धी खटपट या चिन्ताएँ छोड (निषेध) करके प्रवेश कर रहा हूँ, मै हिंसादि समस्त मानसिक विचारो, असत्यादि सब वचनो एव अशुभकायादि चेष्टाओ को देवालय के बाहर छोड कर इसमें प्रवेश कर रहा हूँ, पूजा मे प्रवृत्त

1 देहो देवालय प्रोक्त. जीवो देव सनातन।
त्येजेदज्ञाननिर्माल्यं, सोऽहंभावेन पूजयेत्॥

2 मूर्ति में परमात्मभाव का आरोपण करते समय लोगो की अश्रद्धा न हो, पूज्यभाव बना रहे, लोगो के लिए वह हसी का पात्र न हो, इस दृष्टि से सभव है, यह विधान हो।

हो रहा हूँ, वन्दन कर रहा हूँ। इस प्रकार तीन बार निसीहि, निसीहि, निसीहि शब्द का उच्चारण करे।

(2) **प्रदक्षिणात्रिक**—पूज्य को दाहिनी ओर रख कर उनके चारों ओर प्रदक्षिणा-परिक्रमा देना। यह पूज्यपुरुष के प्रति बहुमान का सूचक है।

(3) **प्रणामत्रिक**—तीन प्रकार का तीन बार नमन प्रणामत्रिक कहलाता है। (1) अंजलिबद्धप्रणाम—दो हाथ जोड़ कर झुकना, (2) अर्धविनत प्रणाम—जिस प्रणाम के समय आधा झुका जाय, (3) पंचांग प्रणाम—दो हाथ, दो घुटने और मस्तक ये पाँचों अंग नमा कर झुकना।

(4) **पूजात्रिक**—अंगपूजा (जल, चंदन, पुष्प आदि से पूजा) अग्रपूजा (धूप, दीप, अक्षत, फल व नैवेद्य आदि से पूजा) और भावपूजा (गीत, संगीत, भजन, स्तवन आदि के द्वारा चित्त एकाग्र करके परमात्मा का ध्यान करना) अथवा प्रकारान्तर से विघ्न-उपशामिनी, निवृत्तिदायिनी और अभ्युदयकारिणी ये तीन पूजाएँ भी हैं, जो पूजात्रिक कहलाती हैं।

प्रतिमालम्बन है, इस प्रकार के तीन आलम्बन हैं।

(9) **मुद्रात्रिक**—परमात्मपूजा करते समय तीन प्रकार की मुद्राएँ धारण की जाती है—(1) **योगमुद्रा**—हाथ की दसों उँगलियो को परस्पर एक दूसरे मे संलग्न करके कमल के डोडे की तरह दोनो हाथ रख कर दोनों हाथ की कुहनियों को पेट पर रखना। (2) **जिनमुद्रा**—पैरो के दोनो आगे के भागो में 4 अंगुल का फासला तथा पिछले भागों मे दस से कुछ कम फासला रख कर खडा होना। (3) **मुक्ताशुक्तिमुद्रा**—हाथ की अंगुलियों को एक दूसरे मे सलग्न किये बिना ही दोनो हाथ चौडे करके ललाट पर रखना।

(10) **प्रणिधानत्रिक**—मन, वचन, काया इन तीनो योगो का प्रणिधान (एकाग्रता) करना, अथवा **'जावंत चेइयाई, जयंति के वि साहू'** व **जय वीयराय** ('आभवमखडा' तक) इन तीनों पाठो के उच्चारण के समय सावधान रहना भी प्रणिधानत्रिक कहलाता है।

इन दसों त्रिको का द्रव्यपूजा के समय पालन करने का अर्थ तो स्पष्ट है। भावपूजा के समय प्रभुमूर्ति के बजाय प्रभु की छवि की अन्तर्मन मे कल्पना करके स्थापित करना तथा पूजात्रिक मे अंगपूजा और अग्रपूजा की भी भावरूप ही कल्पना करना अभीष्ट है। जैसे कि आचार्य हरिभद्रसूरि ने पूजाष्टक में अहिंसा, सत्य, अस्तेय, मैथुनत्याग, मोह (ममत्व) वर्जन, गुरुपूजा, तप और ज्ञान, इन्हे सत्पुष्प कहे है। इसी प्रकार धूप, दीप आदि के विषय में समझ लेना चाहिए।

इसके अतिरिक्त पूजाविधि मे देवगुरु के पास जाते समय 5 अभिगम (Rules of decent approach) (वीतराग-परमात्मा के अनुरूप विशिष्ट मर्यादा) का पालन भी अवश्यक है। वे 5 अभिगम[1] इस प्रकार है—(1) पूजा करने जाते समय पूजा करने वाले के पास फूल, फल या वनस्पति आदि सजीव (सचित) वस्तुओ का त्याग करना, (2) छत्र, जूते, तलवार, मुकुट या कोई शस्त्र-लाठी आदि अभिमान या[2] वैभव की सूचक या वैभव या मानव (जात्यादि)

---

1 **पंचविहेणं अभिगमेणं अभिगच्छति, तं जहा—"सचिताणं दव्वाणं विउसरणायाए, अचित्ताणं दव्वाणं अविउसरणयाए, उत्तरासंग-करणेणं, चक्खुफासे अंजलिपग्गहेणं, मणसो एगतीकरणेणं।"** —भगवतीसूत्र

2 श्री ज्ञानविमलसूरि ने भी कहा है —देरासरजीमा प्रवेश करता जोडा,(जूते) छत्र, चामर, मुकुट अने फूलहार बिगेरे बाहर मूकवा।

भेदभावसूचक चीजो का त्याग करना। वस्त्रालकार आदि उचित वस्तुएँ पहनी हो तो वे साफ व सादी हो, (3) बिना सिले हुए एक अखंड उत्तरीय वस्त्र (चादर) को मुख से संयुक्त करना यानी उसे मुख पर लगाना, ताकि मुख का उच्छिष्ट पूज्य पर न पडे। (4) चाहे जितनी दूर से इष्टदेव या गुरु पर दृष्टि पडते ही तुरत दोनो हाथो का अंजलिबद्ध (जोड) करके नमस्कार करना और (5) मन को इन्द्रियो के बाह्य विषयो से हटा कर परमात्म देव या गुरु के प्रति एकाग्र करना।

इस पॉचो अभिगमो का पालन द्रव्यपूजा की दृष्टि से तो मन्दिर मे प्रवेश करते समय करना आवश्यक है ही, भावपूजा की दृष्टि से हृदयमन्दिर मे प्रभुपूजा के लिए प्रवृत्त होते समय भी ये पालनीय है। यानी प्रभुपूजा के लिए शुद्ध आसन पर बैठते समय भी पूर्वोक्त पॉचो अभिगमो का आचरण करना आवश्यक है। [1]

सबसे मूल बात तो यह है कि परमात्मपूजा के समय मन एकाग्र होना चाहिए। इसी बात को श्रीआनन्दघनजी प्रकट करते है–"**एकमना धुरि थइए रे।**" सौ बात की एक बात है कि पूजा के समय सबसे पहले यह अवश्यकरणीय है कि मन को तमाम सांसारिक बातो, चिताओ, व्यापारो व ऊल-जलूल विचारो से हटा कर प्रभु के स्वरूप मे, उनके गुणों के चिन्तन मे जोड देना चाहिए। अगर मन कही और घूम रहा है और शरीर व वचन में प्रभुपूजा हो रही है, तो उसमे आनन्द नही आएगा। वह एक प्रकार की बेगार होगी। उसमे आनन्द व मस्ती नही आएगी। जैसे-तैसे पूजाविधि पूरी कर लेना तो भाडेत लोगो का काम है, अथवा एक प्रकार का दिखावा है, उसमें दंभ भी आ सकता है। इस प्रकार की अन्यमनस्क पूजाविधि मे यथार्थ लाभ, या शुभकरणी का सम्पादन नही हो सकता! प्रभुभक्ति की मस्ती मे मन इतना तन्मय हो जाय कि बाहर की हलचलो का, यहाँ तक कि अपने शरीर, खानपान, नीद आदि का भान भी न रहे, दुनियादारी की चीजो का मन मे विचार ही न आए, तभी परमात्मपूजा में एकाग्रता कही जा सकती है। परमात्मा के शुद्ध आत्मभावों, विशिष्ट गुणो आदि के चिन्तन मे मस्त न होने से, वाणी से 'तूही तूही' के रूप मे एकाग्रता न साधने से एवं शरीर की कर्म चेष्टाओं को न रोकने से परमात्म पूजा प्रायः नाटकीय रूप ले लेती है। ऐसी मानसिक एकाग्रतारहित केवल द्रव्यपूजा पूजा

1 सनातन या वैदिकादि धर्मों मे भी सन्ध्यावन्दन या उपासना के समय कुछ मर्यादाओं का पालन अनिवार्य होता है।

के अटपटे विधिविधानो या क्रियाकाण्डों मे ही अटक कर रह जाती है। पूजक का ध्यान उस समय प्रायः क्रियाकाण्ड को जैसे-तैसे पूरा करने की ओर ही रह जाता है।

इसलिए श्रीआनन्दघनजी परमात्मपूजा के सम्बन्ध मे अनेक खतरो से सावधान करने और इतनी बारीकी से द्रव्यपूजार्थी का मुख भावपूजा की ओर मोडने के बाद अगली गाथाओ मे द्रव्यपूजा की प्रचलित परम्पराओ का उल्लेख करते है–

'कुसुम, अक्षत, वरवास-सुगन्धी, धूप, दीप मनसाखी रे।
अंगपूजा पण भेद सुणी इम, गुरुमुख आगम भाखी रे।।'
सुविधि. ।।3।।

_अर्थ_–पुष्प, अक्षत (अखण्डित चावल के दाने), उत्तम सुवास वाले सुगन्धित द्रव्य, धूप, दीपक, यो इन पॉच द्रव्यों से मन की साक्षीपूर्वक या मन के भावों के साथ वीतराग-परामत्मा की प्रतिमा की अंगस्पर्शी पूजा के पॉच प्रकार हैं। ऐसी पंचप्रकारी पूजा मैंने अपनी परम्परा के आदरणीय गुरुओं के मुखारविंद से सुनी है तथा आगम (अर्थागम) में कही है।

_भाष्य_–परमात्मा की पंचप्रकारी द्रव्यतः अंगपूजा

यद्यपि पूर्वोक्त गाथाओ के अनुसार द्रव्यपूजा भी भावो को उदबुद्ध करने के लिए है, इसलिए अन्ततोगत्वा वह वर्तमान नैगमनय की दृष्टि से भावपूजा मे ही परिनिष्ठित होती है, फिर भी उस युग मे भक्तिमार्गीय शाखाओ मे प्रचलित परम्पराओ के अनुसार श्रीआनन्दघनजी ने द्रव्यपूजा का उल्लेख इस गाथा मे किया है।

द्रव्यपूजा की दृष्टि से वीतराग-प्रतिमा की अंगपूजा के पॉच प्रकार है– फूल, [1]अक्षत, (अखण्डित चावल) श्रेष्ठ, सुगन्धित पदार्थ, धूप, और दीप। परन्तु

---

1 यद्यपि जिनेन्द्रभगवान सचित्त पुष्प के त्यागी होते है, द्रव्यपूजा के समय कुछ मूर्तिपूजक सम्प्रदाय को उन्हे सचित्त पुष्प चढाना असगत–सा लगता है, तथा सचितपुष्प की हिसा होने की तर्क भी दी जाती है, परन्तु लाभालाभ की दृष्टि से सोच कर शुभभावो का पलडा भारी होने से तथा गृहस्थ सचित्त पुष्पो का त्यागी नही होता, इस कारण से थोडे से सचित्त पुष्पो की हिसा की क्रिया से पृथक मानी जाने सो मूर्तिपूजकपरम्परा के कुछ आचार्यो ने द्रव्यपूजा के लिए इसे तथा धूप–दीप आदि को क्षम्य मान है।

इस अंगपूजा के पॉचो प्रकारो के साथ श्रीआनन्दघनजी ने **मन-साखी रे** [1] पद जोडा है। इसका मतलब यह है कि वीतराग-प्रतिमा में वीतरागप्रभु का आरोपण करके उसके आगे फूल चढाते समय मन मे विचार करना चाहिए कि मै फूल की तरह कोमल और जीवन मे सुगन्ध भर कर प्रभु के चरणो मे अपने को न्यौछावर करूगा। अक्षतो की तरह बुराइयो, वासनाओ एवं व्यसनो के सामने क्षत-ध्वस्त-पराजित नही होऊगा। मै उनसे दबूगा नही। श्रेष्ठ सुगन्धित पदार्थो की तरह जीवन को सचारित्र से सौरभमय बनाऊगा, धूप की तरह अपने आसपास के वातावरण को अपने बुरे विचारो से गदा न बना कर अच्छे विचारो, सम्यग्-दर्शन के प्रचार से सुगन्धित बनाऊगा और दीपक की तरह अपनी आत्मा को ज्ञानज्योति से आलोकित करूगा। हे भगवन्! मै अपने इन पॉचो अगो द्वारा आपकी परम शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, श्रेष्ठ, आत्मा की पूजा करके अपनी आत्मा को राग-द्वेष, काम, क्रोध, ममत्व आदि बुराइयों या तज्जनित कर्मो से मुक्त, निष्कलक, अखण्डशुद्धतायुक्त, स्वरूपरमणरूप सच्चारित्र से सुगन्धित, सम्यग्दर्शन की निष्ठा से सुवासित और सम्यग्ज्ञान से प्रकाशित कर रहा हूँ।

श्रीआनन्दघनजी इस पचप्रकारी अंगपूजा के सम्बन्ध में स्वमतप्रतिपादन मे तटस्थ रहे है। यही कारण है कि वे अपने अन्तर की बात स्पष्ट कह देते है— **'अंगपूजा पण भेद सुणी इम, गुरुमुख, आगम-भाखी रे'** अर्थात् मैंने ऐसी पचप्रकारी अगपूजा अपनी परम्परा के महान् गुरुओ के मुख से और चैत्यवन्दन भाष्य, प्रवचन सारोद्धार आदि अर्थागमो मे कही हुई सुनी है।

पूर्वोक्त अगपूजा का यह वर्णन व्यवहारनय की अपेक्षा से द्रव्यदृष्टि से हुआ।

अब निश्चयनय की अपेक्षा से भावपूजा की दृष्टि से जब हम अग-पूजा पर विचार करते है तो ऐसा मालूम होता है कि वीतराग-परमात्मा की अगपूजा के लिए निश्चयनय की दृष्टि से ये वस्तुएँ गौण हैं। ये पॉचों चीजे जड है, उनसे चेतना के महाप्रकाश की पूजा करना विशेष महत्त्वपूर्ण नहीं लगता। क्योंकि प्रत्येक द्रव्य स्वतन्त्र है। एक द्रव्य से दूसरे द्रव्य का कुछ भला-बुरा (निश्चय से) नहीं हो सकता। निश्चयनय की दृष्टि से पुष्प, अक्षत, धूप आदि जडद्रव्य

परमात्मपूजा के लिए न भी लिये जाये तो भी मानसिक चिन्तन के द्वारा प्रकारान्तर से भावपुष्प-ज्ञानदीप आदि द्वारा भावपूजा की जा सकती है। अतः शुभभावो के उद्बोधन के लिए इन्हे प्रतीक मान कर अपनाये जाय तो भावपूजा की दृष्टि से अगपूजा सफल हो सकती है। जैसे पुष्प के सम्बन्ध मे जैनजगत् के उद्भट् विद्वान आचार्य हरिभद्रसूरि ने अष्टक मे आठ सत्पुष्प बताए है–[1] अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, असगता, गुरुभक्ति, तपस्या और ज्ञान। भगवान् के चरणों मे ये फूल चढाइए। इसी तरह वीतराग-परमात्मा की अगपूजा के लिए आत्मा के अखण्ड शुद्धस्वरूपमय शुक्लध्यान मे मस्त हो जाइए। सुगन्धित पदार्थो से परमात्मा की पूजा करनी हो तो आत्मा के अनुजीवी गुणो रूपी सुगन्धित पदार्थो से कीजिए।

धर्मध्यान की धूप दे कर अपने और आसपास के जीवन और जगत् के वातावरण को सुवासित कर दीजिए।

धर्मध्यान मे वृद्धि कीजिए, शास्त्रज्ञान, श्रुतज्ञान एव मतिज्ञान बढाइए। आत्मा को ज्ञानदीप से आलोकित कीजिए। यही दीपकपूजा का तात्पर्य है। आत्मा को स्वरूपज्ञान मे स्थिर करने, स्वभाव मे रमण कराने एव अपने शुद्धस्वरूप मे श्रद्धा करने का प्रयत्न कीजिए, यही निश्चयदृष्टि से पचप्रकारी अंगपूजा है। श्रीआनन्दघनजी ने अगली गाथा में पूर्वोक्त पंच प्रकारी अगपूजा का फल बताया है–

एहनुं फल दोय भेद सुणी जे, अनन्तर ने परस्पर रे।
आणापालन, चित्तप्रसन्नी, मुगति सुगति सुरमन्दिर रे।।
सुविधि.।।4।।

अर्थ–**इसके दो फल सुनने में आते हैं, एक अनन्तर (तात्कालिक सीधा Direct) फल और दूसरा पारस्परिक फल। अनन्तर फल तो वीतराग परमात्मा का सालम्बन ध्यान (साकार उपासना) करके क्रमशः परमात्मभाव प्राप्त करने रूप परमात्मा की आज्ञा का पालन और परमात्मा की प्रतिमा को देख कर चित्त की प्रसन्नता-शुद्धात्मभाव के चित्त की स्थिरता है। इसका परम्पराफल है–मनुष्यभवरूप सद्गति**

1. अहिंसा–सत्यमस्तेय–ब्रह्मचर्यमसगता।
गुरुभक्तिस्तपो ज्ञानं सत्पुष्पाणि प्रचक्षते।। –हरिभद्रीय अष्टक

अथवा देवलोक की प्राप्ति और अन्त में मुक्ति की प्राप्ति।

_भाष्य_—परमात्मपूजा का फल

वीतराग-परमात्मा की उपासना किसी लौकिक फलाकाक्षा से करना उचित नही। उनकी सेवा, पूजा, भक्ति और उपासना अपनी आत्मा को जगाने, अपनी आत्मा को अपने अनुजीवी गुणो की ओर मोडने और वासना, कामना, प्रसिद्धि, आसक्ति, ममता आदि बुराइयो से दूर रखने के लिए, सत् असत् का विवेक करने और स्वस्वरूप मे निष्ठा बढाने के लिए है। इसी दृष्टि से श्रीआनन्दघनजी पूर्वोक्त परमात्मपूजा के दोनो प्रकार के फल बताते हैं— अनन्तरफल और पारम्परिक फल। अनन्तरफल तो तात्कालिक कहलाता है, जो कार्य सम्पन्न होते ही व्यक्ति को मिलता है, जबकि परम्परागत फल दूरगामी होता है, वह कई बार तो इसी एक जन्म मे ही मिल जाता है, कई बार भवान्तर (दूसरे-तीसरे आदि जन्म) मे मिलता है।

यह तो निश्चित है कि[1] किसी भी क्रिया का फल तो अवश्य मिलता है। साथ ही यह भी निश्चित है कि प्रत्येक क्रिया का फल कर्ता के भावो पर आश्रित है। एक समान क्रिया होने पर भी कर्ता के भाव अशुभ हो तो उसका फल भी अशुभ मिलेगा, और शुभ होगे तो शुभ मिलेगा। तथा यदि उस क्रिया के करते समय निष्काम और निष्कांक्ष भाव है, शुद्ध आत्मस्वरूप को ही प्राप्त करने का लक्ष्य है तो उन शुद्धभावो के फलस्वरूप उनके कर्ता को शुद्ध फल= कर्मो से मुक्ति (मोक्षफल) की प्राप्ति होगी। परमात्मपूजा के सम्बन्ध मे भी यही बात समझनी चाहिए। यद्यपि आध्यात्मिक साधक को फल की इच्छा नहीं होती, तथापि **'प्रयोजनमनुद्दिश्य मन्दोऽपि न प्रवर्तते'** इस न्याय के अनुसार बिना प्रयोजन के परमात्मपूजा की प्रवृत्ति भी कोई विचारवान साधक कैसे कर सकता है? इस दृष्टि से परमात्मपूजा के प्रयोजन और उद्देश्य का कथन फल के रूप मे श्रीआनन्दघनजी ने किया है। अतः इस प्रवृत्ति के प्रयोजन और उद्देश्य के रूप मे ये दो फल स्पष्ट हैं।

यदि पूजाकर्ता परमात्मपूजा जैसी शुभप्रवृत्ति के साथ सौदे-बाजी करता है, दूसरों को धोखा दे कर, चकमे मे डाल कर अपने को भक्त व परमात्मपूजक कहलाने का दिखावा करता है, या दम्भ करता है, तो वह

1 या या क्रिया सा सा फलवती।

भी अशुभभावो के कारण अशुभफलदायिनी बनती है। यदि पूजाकर्ता शुभभावो के साथ परमात्मपूजा करता है तो उसका अनन्तरफल पुण्य प्राप्ति के परिणामस्वरूप चित्तप्रसन्नता, और परम्परा से मनुष्यगति या देवगति प्राप्त होती है। परन्तु यदि वह निष्काम एव निष्कांक्ष भाव से अपनी आत्मशुद्धि, आत्महित, या शुद्धात्मभाव या वीतरागभाव मे रमणता की दृष्टि से परमात्मपूजा करता है तो उसका अन्तर फल आज्ञापालन और चित्त की शुद्धि (प्रसन्नता) है, तथा परम्पराफल कर्मो से मुक्ति (मोक्ष) है।

वास्तव मे, शास्त्रीय दृष्टि से भगवान् की आज्ञा आश्रव मे प्रवृत्ति करने की नही है। उनकी आज्ञा आश्रव से रहित सवर मे या शुद्ध स्वरूप मे रमण करने—एकात निर्जरा (आत्मशुद्धि) या आर्हत्पदप्राप्ति की दृष्टि से कोई भी प्रवृत्ति करने की है। कलिकालसर्वज्ञ आचार्य हेमचन्द्र ने वीतरागस्तुति मे कहा है—[1] आपकी आज्ञा का परिपालन ही आपकी पूजा है। यही बात श्री आचारागसूत्र मे भी कही है—[2]"श्रीतीर्थकर देव ने मोक्षसाधना के लिए मनुष्यो को कहा है कि मेरा धर्म आज्ञापालन मे है।" तीर्थकरदेव ने दो प्रकार के धर्मो की आचरण करने की आज्ञा दी है—आगारधर्म और अनगारधर्म।[3] इस विनयमूलक धर्म के आचरण से क्रमशः ज्ञानावरणीयादि आठ कर्मो की प्रकृति का क्षय करके मनुष्य लोकाग्र-प्रतिष्ठित सिद्धि (मुक्ति) स्थान को प्राप्त कर लेता है। परन्तु यह धर्माचरण न इस लोक के किसी स्वार्थ या वासना की दृष्टि से धर्म करे, न परलोक के किसी प्रयोजन से धर्माचरण करे, न कीर्ति, वाहवाही या प्रतिष्ठा की दृष्टि से धर्माचरण करे, किन्तु वीतरागप्राप्ति (शुद्धात्मभाव मे स्थिरता) के उद्देश्य से धर्माचरण करे।[4]

---

1 तव सपर्यास्तवाज्ञापरिपालनम्'— अयोगव्यवच्छेदिका।

2 आणाउ मामग धम्मं, एस उत्तर वादे इह माणवाणं वियाहिए।

—आचा श्रु 1 अ 6 उ. 2

3 इच्चेएणं विणयमूलएणं धम्मेण अणुपुव्वेणं अट्ठकम्मपयडीओ खवेत्ता लोयग्गपइट्ठाणा भवंति। —ज्ञातासूत्र अ 5

4. न इहलोगट्ठयाए आयारमहिट्ठिज्जा, न परलोगट्ठयाए आयारमहिट्ठिज्जा न कित्तिवन्नसिलोगट्ठयाए आयारमहिट्ठिज्जा; नन्नत्थ आरहंतेहिं हेऊहिं आयारमहिट्ठिज्जा।

—दशवैकालिक अ. 8 उ. 6

निष्कर्ष यह है कि यदि कोई मुमुक्षु साधक वीतरागता-प्राप्ति की दृष्टि से धर्माचरणरूप आज्ञा का पालन करता है, तो वह वीतराग परमात्मा की पूजा ही है ओर उसका अनन्तर फल वीतराग की आज्ञा का परिपालन और चित्त की प्रसन्नता (निर्मलता) है। जबकि परम्परागत फल (अन्त मे) सिद्धि (मुक्ति)-स्थान की प्राप्ति है।

जब साधक परमात्मा (पदमासनस्थ जिनप्रतिमा) के सान्निध्य मे पद्मासन से बैठ कर वीतरागपरमात्मा के ज्ञानादि अनन्तचतुष्टय गुणो का ध्यान करता है तो उसके हृदयपटल मे विकारभावो या वैभाविक गुणो का जाल हट कर परमात्मभाव या शुद्धात्मभाव का आन्दोलन होता है। धीरे-धीरे परमात्मभाव संस्कारो मे जम जाता है। यही परमात्मपूजा का फल है। सचमुच ऐसी परमात्मपूजा आज्ञापालन से शुरू हो कर चित्तप्रसन्नता तक पहुँच कर शुभगति और अन्ततोगत्वा मुक्ति तक पहुँचा देती है। शुद्ध का विवेक करने के लिए ही श्रीआनन्दघनजी ने प्रभु पूजा के द्रव्य और भाव दोनो प्रकार के अनन्तर और परम्परागत फल बताये है, फलाकांक्षा करके पूजा करने की दृष्टि से नही।

अगली गाथा मे श्रीआनन्दघनजी उस युग मे प्रचलित अष्टप्रकारी अग्रपूजा के सम्बन्ध मे भी भावो का तार प्रभु से जोडने के लिए कहते हैं—

फूल अक्षत वर धूप पईवो, गंध नैवेद्य फल जल भरी रे।
अंग-अग्रपूजा मली अड़विध, भावे भविक शुभगति वरी रे।।
सविधि. ।।5।।

अर्थ—**फूल, जल ओर गंध (केसर आदि सुगंधित पदार्थ) इन तीनों मे पूजा करना अंगपूज़ा है, तथा अक्षत, श्रेष्ठ धूप, दीपक, नैवेद्य व फल इन पाँचों मे पूजा करना अग्रपूज़ा करना है; दोनों मिल कर आठ प्रकार की पूजा है। भव्यजीव शुभ हार्दिक भावों मे उसकी आराधना करके सुगति प्राप्त करते हैं।**

भाष्य—अंगपूजा और अग्रपूजा के साथ भी भावों का तार

पूर्वोक्त पंचप्रकारी पूजा का वर्णन करते हुए श्रीआनन्दघनजी ने जैसे 'मन साखी रे' कह कर मन के साक्षित्व मे—मानसिक भावो के तार जोड़ कर परमात्मा की पूजा मे ओत-प्रोत होने का विधान किया था, उसी प्रकार यह भी अष्टप्रकारी पूजा मे भी शुभभावो का तार जोडने की बात कही गई है। [illegible] यह है कि यहाँ भी पहले की तरह आठ द्रव्यो से पूजा करने [illegible] द्रव्यों [illegible] शुद्ध आत्मस्वरूप या आत्मगुण की [illegible]

भी अशुभभावों के कारण अशुभफलदायिनी बनती है। यदि पूजाकर्ता शुभभावो के साथ परमात्मपूजा करता है तो उसका अनन्तरफल पुण्य प्राप्ति के परिणामस्वरूप चित्तप्रसन्नता, और परम्परा से मनुष्यगति या देवगति प्राप्त होती है। परन्तु यदि वह निष्काम एव निष्काक्ष भाव से अपनी आत्मशुद्धि, आत्महित, या शुद्धात्मभाव या वीतरागभाव मे रमणता की दृष्टि से परमात्मपूजा करता है तो उसका अन्तर फल आज्ञापालन और चित्त की शुद्धि (प्रसन्नता) है, तथा परम्पराफल कर्मो से मुक्ति (मोक्ष) है।

वास्तव मे, शास्त्रीय दृष्टि से भगवान् की आज्ञा आश्रव मे प्रवृत्ति करने की नही है। उनकी आज्ञा आश्रव से रहित सवर मे या शुद्ध स्वरूप मे रमण करने—एकात निर्जरा (आत्मशुद्धि) या आर्हत्पदप्राप्ति की दृष्टि से कोई भी प्रवृत्ति करने की है। कलिकालसर्वज्ञ आचार्य हेमचन्द्र ने वीतरागस्तुति मे कहा है—[1] आपकी आज्ञा का परिपालन ही आपकी पूजा है। यही बात श्री आचारागसूत्र मे भी कही है—[2]"श्रीतीर्थकर देव ने मोक्षसाधना के लिए मनुष्यो को कहा है कि मेरा धर्म आज्ञापालन में है।" तीर्थकरदेव ने दो प्रकार के धर्मो की आचरण करने की आज्ञा दी है—आगारधर्म और अनगारधर्म।[3] इस विनयमूलक धर्म के आचरण से क्रमशः ज्ञानावरणीयादि आठ कर्मो की प्रकृति का क्षय करके मनुष्य लोकाग्र-प्रतिष्ठित सिद्धि (मुक्ति) स्थान को प्राप्त कर लेता है। परन्तु यह धर्माचरण न इस लोक के किसी स्वार्थ या वासना की दृष्टि से धर्म करे, न परलोक के किसी प्रयोजन से धर्माचरण करे, न कीर्ति, वाहवाही या प्रतिष्ठा की दृष्टि से धर्माचरण करे, किन्तु वीतरागप्राप्ति (शुद्धात्मभाव मे स्थिरता) के उद्देश्य से धर्माचरण करे।[4]

---

1. तव सपर्यास्तवाज्ञापरिपालनम्'— अयोगव्यवच्छेदिका।
2 आणाउ मामग धम्मं, एस उत्तर वादे इह माणवाण वियाहिए।
—आचा श्रु 1 अ. 6 उ 2
3 इच्चेएणं विणयमूलएणं धम्मेणं अणुपुव्वेणं अट्ठकम्मपयडीओ खवेत्ता लोयग्गपइट्ठाणा भवंति। —ज्ञातासूत्र अ 5
4 न इहलोगट्ठयाए आयारमहिट्ठिज्ञा, न परलोगट्ठयाए आयारमहिट्ठिज्ञा न कित्तिवन्नसिलोगट्ठयाए आयारमहिट्ठिज्ञा, नन्नत्थ आरहंतेहिं हेऊहिं आयारमहिट्ठिज्ञा।
—दशवैकालिक अ. 8 उ. 6

निष्कर्ष यह है कि यदि कोई मुमुक्षु साधक वीतरागता-प्राप्ति की दृष्टि से धर्माचरणरूप आज्ञा का पालन करता है, तो वह वीतराग परमात्मा की पूजा ही है ओर उसका अनन्तर फल वीतराग की आज्ञा का परिपालन और चित्त की प्रसन्नता (निर्मलता) है। जबकि परम्परागत फल (अन्त मे) सिद्धि (मुक्ति)-स्थान की प्राप्ति है।

जब साधक परमात्मा (पदमासनस्थ जिनप्रतिमा) के सान्निध्य मे पद्मासन से बैठ कर वीतरागपरमात्मा के ज्ञानादि अनन्तचतुष्टय गुणो का ध्यान करता है तो उसके हृदयपटल मे विकारभावो या वैभाविक गुणो का जाल हट कर परमात्मभाव या शुद्धात्मभाव का आन्दोलन होता है। धीरे-धीरे परमात्मभाव सस्कारो मे जम जाता है। यही परमात्मपूजा का फल है। सचमुच ऐसी परमात्मपूजा आज्ञापालन से शुरू हो कर चित्तप्रसन्नता तक पहुॅच कर शुभगति और अन्ततोगत्वा मुक्ति तक पहुॅचा देती है। शुद्ध का विवेक करने के लिए ही श्रीआनन्दघनजी ने प्रभु पूजा के द्रव्य और भाव दोनो प्रकार के अनन्तर और परम्परागत फल बताये है, फलाकांक्षा करके पूजा करने की दृष्टि से नही।

अगली गाथा मे श्रीआनन्दघनजी उस युग मे प्रचलित अष्टप्रकारी अग्रपूजा के सम्बन्ध मे भी भावो का तार प्रभु से जोडने के लिए कहते है—

फूल अक्षत वर धूप पईवो, गंध नैवेद्य फल जल भरी रे।
अंग-अग्रपूजा मली अड़विध, भावे भविक शुभगति वरी रे।।
सविधि. ।।5।।

अर्थ—**फूल, जल और गंध (केसर आदि सुगंधित पदार्थ) इन तीनों से पूजा करना अंगपूजा है, तथा अक्षत, श्रेष्ठ धूप, दीपक, नैवेद्य व फल इन पॉचों से पूजा करना अग्रपूजा करना है; दोनों मिल कर आठ प्रकार की पूजा है। भव्यजीव शुभ हार्दिक भावों से उसकी आराधना करके सुगति प्राप्त करते हैं।**

भाष्य—**अंगपूजा और अग्रपूजा के साथ भी भावों का तार**

पूर्वोक्त पचप्रकारी पूजा का वर्णन करते हुए श्रीआनन्दघनजी ने जैसे 'मन साखी रे' कह कर मन के साक्षित्व मे—मानसिक भावो के तार जोड कर परमात्मा की पूजा मे ओत-प्रोत होने का विधान किया था, उसी प्रकार यह भी अष्टप्रकारी पूजा मे भी शुभभावो का तार जोडने की बात कही गई है। मतलब यह है कि यहॉ भी पहले की तरह आठ द्रव्यो से पूजा करते समय मन मे उन द्रव्यो को शुद्ध आत्मस्वरूप या आत्मगुण की प्रेरणा के प्रतीक मान कर

अंगपूजा और अग्रपूजा करने से शुभगति की प्राप्ति बताई है।

अंगपूजा का मतलब है—ऐसे द्रव्यो से पूजा करना, जिनका स्पर्श परमात्मप्रतिमा से हो तथा अग्रपूजा का मतलब है—उन द्रव्यो से पूजा करना, जिनका स्पर्श परमात्मा की प्रतिमा से नही होता, सिर्फ प्रभु की प्रतिमा के समक्ष खडे रह कर उन्हें चढाना होता है। इसीलिए कहा है—**'अंग-अग्रपूजा मली अडविध'** यानी फूल, जल, और केसर आदि गन्ध, ये तीन अगपूजायोग्य द्रव्य है; धूप, अक्षत, दीप, फल और नैवेद्य ये पॉच अग्रपूजायोग्य द्रव्य है। वर्तमान मे प्रचलित पूजा मे द्रव्यो का क्रम यह है- सर्वप्रथम जल का अभिषेक, उसके बाद केसर व अन्य सुगन्धित द्रव्यो के चढाने का रिवाज है। तत्पश्चात् पुष्प चढाना, चौथी पूजा दशाग, धूप की, पॉचवी दीपक की, छठी पूजा चावल की सातवीं फलो की और आठवी पकवान आदि नैवेद्य चढाने की प्रथा है।

परन्तु इन दोनो प्रकार की पूजा के साथ भावहीनता[1] हो तो उसका यथेष्ट और यथोचित फल नही मिलता। इसलिए श्रीआनन्दघनजी ने इस गाथा में स्पष्ट कह दिया है- **'भावे भविक शुभगति वरी रे'।** भविकजीव इस अष्टप्रकारी पूजा को भावों से ओतप्रोत हो कर करेगा, तभी सुगति प्राप्त करेगा।

पूजायोग्य द्रव्यों को भावों के धागे में कैसे पिरोएँ?

यद्यपि यह अष्टप्रकारी पूजा भी द्रव्यो का आलम्बन ले कर की जाती है; तथापि इन सबको भावो के धागे मे पिरोने का अभ्यास करना चाहिए। अन्यथा, न तो चित्त मे प्रसन्नता होगी, न पूज्यदेव के साथ आत्मीयता होगी और न ही पूजा का उद्देश्य सिद्ध होगा, ऐसी भाववाहिनी पूजा के अतिरिक्त कोरी द्रव्यपूजा यात्रिक, रूढिग्रस्त एव कभी-कभी प्रदर्शन होनी सभव है। इसलिए प्रत्येक द्रव्य के साथ-साथ हृदय के भावो का तार जुडना चाहिये।

जैसे पूर्वोक्त अष्टप्रकारी पूजा मे क्रमशः जल से प्रभुप्रतिमा का अभिषेक करने या जल चढाने का रिवाज है। वैष्णवपूजाविधि मे पाद्य, अर्घ्य, आचमन और स्नान (अभिषेक) के लिए 4 चम्मच इसलिए चढाए जाते है कि हम अपना श्रम, मनोयोग, प्रभाव एव धन इन चारो उपलब्धियो का यथासम्भव अधिकाधिक भाग वीतराग-परमात्मीय प्रयोजन के लिए समर्पित करे। चूकि जल शीतलता, शान्ति, नम्रता, विनय, एवं सज्जनता का प्रतीक है, अतः

1. यस्मात् क्रिया. प्रतिफलन्ति न भावशून्या.

सत्प्रयोजनो के लिए मै समय लगाऊँगा, श्रमबिन्दुओ का समर्पण करूँगा।

यह तो हुई व्यवहारनय की दृष्टि से बात। निश्चयनय की दृष्टि से जल चढाते समय यह भाव आने चाहिए कि प्रभो! मै अब तक यह नही अनुभव कर पाया कि मै शुद्ध, बुद्ध, चैतन्यधन हूँ, ये इन्द्रियो के मधुर विषय विषसम है, यह लावण्यमयी काचनकाया भी क्षणभगुर है, यह सब कुछ जड की क्रीडा है, चैतन्य का इससे क्या वास्ता? इस बात को और स्वय के आत्मवैभव को भूल कर मै अहत्व-ममत्व मे फस गया था। परन्तु अब मै आपके सान्निध्य मे सम्यक्-जल ले कर उस मिथ्यामल को धोने आया हूँ। इसके पश्चात चन्दन, केसर या अन्य सुगन्धित द्रव्य चढाए जाते है। चन्दन की यह विशेषता है कि इस वृक्ष के कण-कण मे सुगन्ध होती है, यह समीपवर्ती वृक्षो या झाड-झखाडो को भी सुगन्धित करता है। अपनी शीतलता से साप, बिच्छू जैसे विषदश वाले प्राणियो तक को शान्ति प्रदान करता है। उसकी छाया मे बैठने वाले भी सुगन्धभरी शीतलता प्राप्त करते है। उसकी लकडी काट कर बेचने या पत्थर पर घिसने वाले अपकारी भी बदले मे प्रतिशोध नही, उपकार ही पाते है। नष्ट होते-होते भी चन्दन अपनी लकडी से भजन या जप करने की माला, हवन-सामग्री का चूरा वगैरह दे जाता है। इसी प्रकार पूजाकर्ता भी यह भावना रखे कि मेरी शक्ति या सामर्थ्य का उपयोग भी जीवन के अन्त तक इसी प्रकार हो। निश्चयनयदृष्टि से चन्दन चढाते समय यह भावना करे कि प्रभो! जड और चेतन की सभी परिणतियाँ अपने-अपने मे होती है। आत्मा के वास्तविक स्वरूप से अनभिज्ञ बहुत से व्यक्ति चैतन्य के लिए जड को अनुकूल या प्रतिकूल बताते है, पर यह सब मन की झूठी कल्पना है। मैने चन्दन के गुणो के विपरीत प्रतिकूल संयोगो मे भी मन को क्रोधी, चिन्तित, व्यग्र, या आर्तध्यानी बना कर जन्ममरण के चक्र को बढाया है। अतः उक्त विकारो से सतप्त हृदय को चन्दन के समान शीतल बनाने के लिए आपके पास आया हूँ चन्दन के बदले कई जगह केसर या कुकुम वगैरह चढाया जाता है। उस समय भी ऐसी भावना की जा सकती है

इसी प्रकार अक्षत उपार्जित अन्न, धन, वैभव, बल आदि का प्रतीक है। उपार्जन को दूसरो मे सविभाग न करके अपने आप ही खाते रहने वाले को 'चोर' कहा गया है। अतः उपार्जन को अपने एवं अपने परिवार तक के उपयोग मे सीमित न रख कर उसमे देश, धर्म, समाज, सस्कृति आदि का भी भाग

स्वीकार करना चाहिए। तदनुसार अपनी कमाई का एक बडा अश नियमित रूप से निकाला जाय, यह व्यवहारनय की दृष्टि से अक्षत-समर्पण की प्रेरणा है।

निश्चयनय की दृष्टि से अक्षत-समर्पण के साथ यह भावना हो कि प्रभो! मेरी आत्मा अक्षत है, उज्वल है, धवल है, परद्रव्य के साथ किंचित् भी नही लगी हुई है, फिर भी मै अनुकूल मनोज्ञ पदार्थो पर ममत्व और अभिमान निरन्तर करता रहता हू। मेरा चैतन्य जड के सामने झुक जाता है, दब जाता है, वह अखण्डित नही रह पाता, अतः अपने शाश्वत और अविनाशी (अक्षत्) आत्मनिधि को पाने के लिए मै आप (परमात्मा) के चरण-शरण मे आया हूँ।

इसके पश्चात पुष्प-समर्पण के समय यह भावना करनी है कि जैसे पुष्प कोमल होता है, खिलता-खिलाता है, हलका-फुलका होता है, नम्रतापूर्वक समर्पित हो जाता है, वैसे ही हम भी कोमल (निरभिमान, मदरहित) हो कर खिले-खिलाए (आत्मविकास करे-कराएँ), बाह्य चिन्ताओ के बोझ से रहित हो कर अपनी जिन्दगी हलकी-फुलकी बिताएँ, विश्वोद्यान को शोभायमान बनाने के लिए अपना जीवन नम्रतापूर्वक कपटरहित हो कर समर्पित कर दे। फूल की तरह गर्दन नुचवा कर तथा मर्म भेदी सुई का-सा छेदन समभावपूर्वक स्वीकार करके परमात्मा के चरणो मे समर्पित हो जाय।

निश्चयदृष्टि से पुष्प-समर्पण के समय यह भावना करे कि हमारी आत्मा कुटिलता, (माया मिथ्यादर्शन) से रहित हो कर पुष्प की तरह सुकोमल हो, स्वरूप की सुवास मे रमण करे। स्वस्वरूप का चिन्तन हो, वैसा ही सम्भाषण हो, वृत्ति मे भेद न हो। निज गुणो मे स्थिरता हो।

दीपक के समय भावोद्‌बोधन इस प्रकार करे कि दीपक स्नेह से—चिकनाई से भरा-पूरा है, वह स्वय जल कर दूसरो को प्रकाश देता है। इन्ही विशेषताओ के कारण उसे पूजा मे स्थान मिला है। इसी प्रकार हम भी अपने अन्तःकरण मे असीम स्नेह, सद्‌भाव भर कर परमार्थ के लिए बढ-चढ कर त्याग, बलिदान करे, कष्ट सहे, स्वय ज्ञान से जाज्वल्यमान हो कर दूसरो को ज्ञान का प्रकाश दे। जिनकी दृष्टि उत्कृष्ट, आदर्शवादी, ऊर्द्धवगामी है, वे ही जीवन्त की ज्योति कहे जा सकते है। हम भी परमात्मा के आदर्श पथ पर चल कर उनके कृपाभाजन बने। धूपबत्ती मे अग्नि स्थापना भी प्रकारान्तर से दीपक की आवश्यकता-पूर्ति करती है, उसकी भी यही प्रेरणा है।

निश्चयदृष्टि से दीपक-समर्पण के समय यह चिन्तन हो कि प्रभो! अब

तक मैने जग के जड-दीपक को ही उजाला समझा था, किन्तु वह तो आधी के एक ही झौके मे घोर अधकार बन जाता है। अतः प्रभो! इस नश्वरदीप को समर्पित करके, आपके केवल ज्ञानरूपी दीपक की लौ से अपने आत्मदीप को जलाने के लिए आया हूँ।

धूप देते समय अन्तर मे यह भावना हो कि प्रभो! मै धूप (या अगरबती) की तरह स्वय जल कर दूसरो को सौरभ दू। उनके चरणो मे अपनी सुकृतियो की यशःसौरभ चढा दू। धूप की तरह निरभिमानभाव से परोपकार मे अपने आपको लगा दू। निश्चयदृष्टि से धूप देते समय विचार करे कि मेरी यह मिथ्या भ्रान्ति रही कि जडकर्म मुझे घूमाता है, मै जड की परिणति के अनुरूप हो कर अपने को रागी-द्वेषी बना लेता हूँ। इस प्रकार मै सदियो से भावकर्म या भावमरण करता आया लेकिन अब आपके चरणो मे आ कर इस धूप से यह सीख रहा हूँ कि अपनी आत्मा की स्वस्वरूपाचरणरूपी गन्ध को अपनाऊ एव परगन्ध (वैभाविक परिणति) को जला दूँ।

फल-समर्पण के समय विचार करे कि प्रभो! मै आपके प्रत्येक सत्कार्य का फल आपके चरणो मे न्यौछावर कर रहा हूँ। मेरा अपना कुछ नही है, सब आपका ही है। मै स्वय-कर्तृत्व के अभिमान से रहित हो कर फल की तरह समर्पित हो रहा हूँ। अथवा मुझे जो भी शुभ फल विश्व-उद्यान से मिले है, उन्हे मै विश्व को बाट दूँ।

निश्चयदृष्टि से यह सोचे कि प्रभो! जिसे मै अपना कहता हूँ, वह मुझे छोड कर चल देता है। मै इससे व्यथित और व्याकुल हो जाता हूँ, जिसका फल व्याकुलता है। अतः प्रभो! मै शान्त, निराकुल, चेतन हूँ, मुक्ति मेरी सहचरी है। यह जो मोह-ममत्व है, वह फल की तरह पक कर आत्मवृक्ष से टूट पडे और आपके चरणो मे समर्पित हो जाय। इसी मे मेरी सार्थकता है।

नैवेद्य (मिष्ठान्न आदि पदार्थ) चढाते समय सोचे कि प्रभो! मै ससार की समस्त वस्तुओ को अपनी मान कर उनमे आसक्त रहता हूँ, पर अब पदार्थ के प्रति वह ममता और अहता आप के चरणो मे नैवेद्य के रूप मे समर्पित कर रहा हूँ।

निश्चयदृष्टि से यह सोचे कि प्रभो! अब तक अगणित जड द्रव्यो (परभावो) से मेरी भूख नही मिटी, तृष्णा की खाई खाली की खाली रही, युग-युग से मै इच्छा सागर मे गोते खाता आया, आत्मगुणो का अनुपम रस छोड कर

पंचेन्द्रिय विषयों का रस पीता रहा, अतः आपके चरणो मे आत्मकथा निवेदन करके इन सब परद्रव्यो का नैवेद्य चढाता हूॅ।

इस प्रकार पूर्वोक्त अष्टद्रव्यो के साथ शुभ और शुद्ध भावो का पुट देकर परमात्मा के गुणो मे तन्मय हो कर भक्तिपूर्वक परमात्मपूजा करके भव्यजीव शुभगति प्राप्त करते है। परम्परा से वे मुक्ति भी प्राप्त कर सकते है।

उपर्युक्त भावनाओ से अनुप्राणित विधि को छोड कर जो प्रभुपूजा के बहाने सिर्फ शब्द, रूप, रस, गन्ध और स्पर्श (गद्य-गीत के शब्दो, नर्तक-नर्तकी) के रूपो, मिठाइयो, फलो या अन्य प्रसाद के रूप मे प्राप्त खाद्य-पेय वस्तु के रसो, इत्र आदि सुगन्धित पदार्थो की सुगन्धो एव कोमल वस्तुओ के सस्पर्शो मे आसक्त और मुग्ध हो कर इन्द्रियो और मन को उच्छृखल बना कर भोगो मे तन्मय होते है, विलासिता और रागरग मे मशगूल हो कर महफिल का मजा लूटने आते है; वे प्रभुपूजा से कोसो दूर है। वे ऐसी प्रभुपूजा से आत्मशुद्धि चित्त प्रसन्नता और आत्मगुणो मे लीनता के बदले सासारिक विषयवासनाओ मे उलझ कर कभी-कभी आत्मपतन एवं आत्मवचना कर लेते है क्योकि[1] शाब्दिक-विषय कामगुण है, और ससार के मूल कारण है। जन्ममरण के चक्र को गति देने वाले है। इसी कारण उस समय के लोकप्रवाह को उलटी दिशा मे बहते देख कर आनन्दघनजी को कहना पडा—**भावे भविक शुभगति वरी रे।**

पूजा के और भी अनेक प्रकार उस युग मे प्रचलित थे, जिनका जिक्र श्रीआनन्दघनजी छठी और सातवी गाथाओ मे करते है—

सत्तरभेद, एकवीस प्रकारे, अष्टौत्तरशत भेदे रे।
भावपूजा बहुविध निरधारी, दोहगदुर्गतिछेदे रे।। सुविधि.6।।

***अर्थ*-परमात्मा की द्रव्यपूजा 17 प्रकार की है, 21 प्रकार की है और 108 प्रकार की है और भावपूजा अनेक प्रकार की निर्धारित (निर्दिष्ट) है। जो दुर्भाग्य और दुर्गति को मिटाती है।**

***भाष्य*—परमात्मपूजा के विविध प्रकार**

परमात्मापूजा से अपनी आत्मा को जगाने के लिए और भी अनेको प्रकार है। श्रीआनन्दघनजी ने उस युग मे प्रचलित द्रव्यपूजा या साकार पूजा के 17, 21 और 108 इन तीन प्रकारो का उल्लेख किया है। परन्तु यह द्रव्यपूजा

---

1 'जे गुणे से मूलठाणेजे, मूलठाणे से गुणे।'– आचाराग अ 2 उ 1

भी तभी सही अर्थ मे सार्थक हो सकती है, जब पूर्वोक्त विधि से इन सबके साथ तदनुकूल शुभ या शुद्ध भावो का तार जुडा हो। अन्यथा वह पूजा केवल स्थूलपूजा या यान्त्रिक क्रिया बन कर रह जायगी। सतरह प्रकार की पूजा उस परम्परा के आचार्यो ने इस प्रकार बताई है—1 स्नान (अभिषेक या स्नान), 2 चदनादि का विलेपन, 3 वस्त्रयुगल-परिधान[1], 4 वासपूजा (वासक्षेप या सुगन्धित वस्तु), 5 पूष्पपूजा (खुल्ले फूल चढाना) 6 पुष्पमाला, 7 पुष्पो की आगी-रचना, 8 चूर्णपूजा (बरास का चूर्ण), 9 ध्वज पूजा, 10 आभूषणपूजा, 11 पुष्पगृहपूजा, 12 कुसुममेघ (पुष्पवृष्टि करना), 13 अष्टमगलपूजा (तश्तरी या हाथ मे अष्ट मागलिक को थाम कर खडे रहना), 14 धूप-दीप-पूजा, 15 गीतपूजा (काललयसहित प्रभु गुणगान करना), 16 नृत्यपूजा (प्रभु की प्रतिमा के आगे नृत्य करना) 17 सर्ववाद्यपूजा।

इसी प्रकार 21 प्रकारी द्रव्यपूजा भी उस युग मे प्रचलित थी। वह इस प्रकार है—1 जलपूजा, 2. वस्त्रपूजा, 3 चन्दन पूजा, 4 पुष्पपूजा, 5 वासपूजा, 6 चूर्णाचूर्णपूजा (बरास के चूर्ण मे चन्दन डालना), 7 पुष्पमाला 8 अष्टमांगलिक पूजा, 9 दीपकपूजा, 10 धूपपूजा, 11 अक्षतपूजा, 12 ध्वजपूजा, 13 चामरपूजा, 14 छत्रपूजा, 15 मुकुट पूजा, 16 दर्पणपूजा, 17 नैवेद्यपूजा, 18 फूलपूजा, 19 गीतपूजा, 20 नाटकपूजा, 21 वाद्यपूजा।

इसी प्रकार प्रभुप्रतिमा के आगे सुन्दर फल व नैवेद्य चढा कर 108 प्रकार से द्रव्यपूजा करने की परम्परा भी उस परम्परा से प्रचलित है। इसी तरह अष्टोत्तरी, चौसठ प्रकारी या 99 प्रकारी द्रव्यपूजा भी कही-कहीं प्रचलित है।

परन्तु इन सबके साथ पूर्वोक्त प्रकार से तदनुकूल भावनाओ को जोडना आवश्यक है। क्योकि इन सब द्रव्य पूजाओ का उपयोग इतना ही है कि ये सब भावपूजा का निमित्त बने। अकेली द्रव्यपूजा दुर्भाग्य और दुर्गति का नाश करने वाली नहीं है। इसी कारण आरम्भ-परिग्रह के त्यागी, अनगार (मुनि) या साधु-साध्विगण द्रव्यपूजा नही करते, वे सिर्फ भावपूजा ही करते हैं। इसलिए श्रीआनन्दघनजी ने भावपूजा पर जोर देते हुए कहा है—'**भावपूजा बहुविध निरधारी, दोहग्गदुर्गतिछेदे रे।**'

---

1 वस्त्रयुगल के बदले कही-कही चक्षुयुगल मिलता है।

भावपूजा क्या, कैसे और किसलिए?

वास्तव मे द्रव्यपूजा तो भावपूजा तक पहुॅचाने हेतु गृहस्थसाधको (देशचारित्री) के लिए एक साधन हो सकती है। जैसे—नन्हे शिशु को खिलौने दे कर या चित्र बता कर उनके जरिये विविध पदार्थो का बोध कराया जाता है परन्तु आगे की कक्षाओ में पहुॅचने पर उसे चित्रो या खिलौनो की जरूरत नहीं पडती, वह उन्हें छोड देता है और अपनी भावना और चिन्तनशक्ति के जरिये विविध अनुभव प्राप्त कर लेता है। सभव है, इसी प्रकार आचार्यो ने स्थूलबुद्धि प्राथमिक भूमिका के लोगो के लिए मूर्ति या किसी प्रतीक मे परमात्मा की छवि की कल्पना करके या उसमे परमात्मा का आरोपण करके विविध द्रव्यो से स्थूल पूजा करने का विधान किया हो, परन्तु उनका मूल लक्ष्य और मुख्य प्रयोजन तो भावपूजा तक प्रत्येक जिज्ञासु को पहुॅचाने का रहा है। श्रीआनन्दघनजी ने भी इसलिए बारबार भावपूजा की ओर इगित किया है।

भावपूजा मे किसी बाह्य वस्तु का आलम्बन नही लिया जाता। उसमे अपने हृदय के तारो को भगवान के गुणो से जोडा जाता है। जहॉ किसी बाह्य द्रव्य का आश्रय न ले कर सिर्फ अपने मनोभावो द्वारा ही पूज्य की पूजा-भक्ति की जाती है, उनके चरणो मे त्याग, बलिदान एव सयम का नैवेद्य चढाया जाता है, उनके समक्ष प्रार्थना के रूप मे अपनी आलोचना, गर्हा, आत्म-निवेदन, आत्मनिन्दना (पश्चात्ताप) व्यक्त की जाती है, स्तोत्रो, भजनो, स्तवनो और स्तुतियो के माध्यम से या ध्यान, चिन्तन, मनन आदि से परमात्मा का सान्निध्य प्राप्त करने का प्रयास किया जाता है, वहॉ भावपूजा है।

इसलिए भावपूजा का कोई एक ही प्रकार न बता कर बहुविध प्रकार बताए है। चूकि वीतराग परमात्मा मे अनन्तगुण है, उन समस्त गुणो की प्राप्ति के लिए विविध रूप से अध्यवसाय करना होता है। इसलिए भावपूजा भी असख्य प्रकार की है। भव्यात्मा जब भी किसी गुण की प्राप्ति के लिए पूज्यचरणो मे किसी भी प्रकार से निवेदन करता है, और तदनुसार सक्रिय होने का प्रयत्न करता है, तब उस भावपूजा से उसके दुर्भाग्य, दुःख और दुर्गति नष्ट हो जाते है।

जैसे कि एक जैनाचार्य ने कहा है—

[1] वीतराग-परमात्मा की पूजा करने से उपसर्गो का क्षय हो जाता है,

---

1 उपसर्गा क्षय यान्ति, छिद्यन्ते विघ्नवल्लय ।
मन प्रसन्नतामेति पूज्यमाने जिनेश्वरे।।

विघ्नरूपी बेले कट जाती है, मन प्रसन्नता से भर जाता है।

यह एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि जब मनुष्य किसी चिन्ता, विपत्ति, कष्ट या अनिष्ट वातावरण से घिरा होता है, तब यदि किसी समर्थ व्यक्ति का उसे आश्वासन मिल जाता है, या वह किसी समर्थ व्यक्ति की सेवा मे सलग्न हो जाता है अथवा किसी उच्चगुणी पर विश्वास रख कर उसकी आराधना करने मे लग जाता है अथवा किसी विशिष्ट गुणी से गुणो को प्राप्त करने की उसे प्रेरणा मिल जाती है और उस पर विश्वास रख कर उसके आदेश निर्देश मे वह साधना करता है, तो स्वाभाविक ही उसकी वह चिन्ता, विपत्ति, कष्ट या अनिष्ट, परिस्थिति समाप्त हो जाती है, उसको व्यथित करने वाले ऊल-जलूल विचार समाप्त हो जाते है और उसका मन आश्वस्त, विश्वस्त और समाहित एव समाधिस्त हो जाता है। साथ ही परमविश्वस्त पुरुषो पर विश्वास रख कर अपने पापकर्मो का त्याग करने और अहिसा-सत्यादि धर्मो का आचरण करने से उसके दुर्गति के द्वार बद हो जाते है, सद्गति और मुक्ति के द्वार खुल जाते है। यही बात परमआराध्य वीतराग परमात्मा की सेवा, भक्ति, उपासना और भावपूजा के सम्बन्ध मे समझनी चाहिए। इसी दृष्टि से परमात्मा की भावपूजा से दुर्भाग्य और दुर्गति के नष्ट हो जाने की बात कही गई है। क्योकि कपटरहित हो कर परमात्मा के सम्मुख आत्मसमर्पण करने से ही परमात्मा की अखण्ड भावपूजा होती है, जिसका तात्कालिक फल चित्त की प्रसन्नता है, यह प्रथम तीर्थकर की स्तुति मे कही गई है। अतः भावपूजा से चित्त के समस्त विकार, दुश्चिन्ता, दुर्ध्यान, आदि काफूर हो कर उसमे प्रसन्नता, स्वच्छता, निर्मलता और पवित्रता पैदा हो जाती है, जिससे दुर्भाग्य दूर हो कर सद्भाग्य मे परिणत हो जाता है; दुःस्थिति, दुश्चिन्ता और दुर्गति मिट जाती है और सुस्थिति, निश्चिन्ता और सुगति प्राप्त हो जाती है, परम्परा से कर्मक्षय होने से मुक्ति प्राप्त हो सकती है।

उपर्युक्त तथ्यो के प्रकाश मे सत्तरह प्रकार की भावपूजा का अर्थ है– 17 प्रकार का असयम छोड कर आत्मा के शुद्ध सयमगुणो को अपनाना। इक्कीस प्रकार की भावपूजा का अर्थ है–21 प्रकार के सबलदोषो का त्याग करके आत्मा के अनुजीवी गुणो की आराधना करना। इसी प्रकार 108 प्रकारी भावपूजा भी पचपरमेष्ठी के 108 गुणो की आराधना करने से होती है। अथवा 17 प्रकार का सयम-पालन करने का पुरुषार्थ करना तथा बारह प्रकार के तप

और नौ प्रकार की ब्रह्मचर्यसमाधि मिल कर 21 गुणों की आराधना करने का पुरुषार्थ करना भी भावपूजा है।

पूर्वोक्त गाथाओ मे अगपूजा और अग्रपूजा, यो तो दो प्रकार की द्रव्यपूजा और अनेक प्रकार की भावपूजा, इस तरह पूजा के तीन प्रकारो का वर्णन किया गया, अब अगली गाथा मे चौथी प्रतिपत्तिपूजा का वर्णन करते है—

तुरियभेद पडिवत्तिपूजा, उपशम-क्षीण-सयोगी रे।
चउहा पूजा इम उत्तरज्झयणे, भाखी केवलभोगी रे।।

सुविधि.।।7।।

अर्थ—**परमात्म पूजा का चौथा प्रकार प्रतिपत्तिपूजा है। जो उपशान्तमोह, क्षीणमोह, और सयोगीकेवली नामक 11वें, 12वें और 13वें गुणस्थान में होती है। यों चतुर्थ प्रकार की पूजा श्रीकेवलज्ञानी ने उत्तराध्ययनसूत्र में बताई है।**

भाष्य—**परमात्मपूजा का चौथा प्रकार : प्रतिपत्तिपूजा**

परमात्मपूजा के तीन प्रकारो का वर्णन पहले की गाथाओ मे कर चुके है। यहाँ श्रीआनन्दघनजी ने चौथे प्रकार की पूजा-प्रतिपत्तिपूजा बताई है।

यहाँ '**चउहा पूजा**' का अर्थ चौथी (चतुर्थ) पूजा है; क्योकि उत्तराध्ययनसूत्र की वृत्ति मे प्रतिपत्ति का उल्लेख है। वहाँ अनाशतनाविनय को प्रतिपत्ति कहा गया है।

प्रतिपत्तिपूजा की व्याख्या इस प्रकार है—

उत्तराध्ययनसूत्र की वृत्ति मे विनय के प्रसग मे प्रतिपत्ति का अर्थ अनाशतनाविनय बताया है।

ललितविस्तरा वृत्ति आदि मे प्रतिपत्ति का अर्थ '**प्रतिपत्तिः अविकलाऽऽप्तोपदेशपालना**' किया है। यानी आप्तपुरुषो के उपदेश का अखण्ड (अविकल) रूप में पालन करना प्रतिपत्ति है। यह अर्थ व्यवहारनय की दृष्टि से सगत है। किन्तु निश्चयनय की दृष्टि से प्रतिपत्ति का अर्थ होता है—परमात्मा को आत्मभाव से अंगीकार करना अथवा आत्मा के गुणो का समग्ररूप से अनुभव करना, परमात्मा मे स्वस्वरूप का संवेदन करना प्रतिपत्ति पूजा है।

प्रतिपत्तिपूजा के अधिकारी

प्रतिपत्तिपूजा भी भावपूजा का विशिष्ट अंग है, किन्तु उसके अधिकारी 11वें गुणस्थान मे स्थित उपशान्तमोही होते है, जिनके तमाम कषायभाव उपशान्त हो जाते हैं, अथवा 12वे गुणस्थान मे स्थित क्षीणमोही हैं, जिनके

तमाम कषायभाव क्षीण हो चुके होते है, अथवा तेरहवे गुणस्थान मे स्थित सयोगी-केवली भगवान् है, प्रथम दो कोटि के महान् आत्मा आत्मगुणो का यथार्थरूप से अनुभव कर लेते है, अथवा यथाख्यात-चारित्री होने के कारण वीतरागपरमात्मा के उपदेश का वे अविकलरूप से पालन करते है, अथवा वे पूर्णता के पथ पर होने से वीतरागपरमात्मा की जरा भी आशातना या आज्ञा की अवहेलना नही करते। अन्तिम संयोगी-केवली तो सदेहमुक्त वीतराग हो जाते है और वे आत्मा-परमात्मा के गुणो का साक्षात् अनुभव करते है और यथाख्यातचारित्री होने से वे अविकलरूप से आज्ञा पालन करते है।

इस प्रकार परमात्मपूजा के चार प्रकार श्री आनन्दघनजी ने इस स्तुति मे बताए है–अगपूजा, अग्रपूजा, भावपूजा और प्रतिपत्तिपूजा। किन्तु जैसा कि पूर्वोक्त गाथाओ मे वर्णन मे बताया गया है, दो प्रकार की द्रव्यपूजा प्राथमिक भूमिका वालो के लिए है और बाद की दो प्रकार की भावपूजा उत्तरोत्तर उच्च भूमिका वालो के लिए है। इसी बात को ललितविस्तरावृत्ति से स्पष्टरूप मे बताया गया है कि पुष्पपूजा (अगपूजा), आमीषपूजा (अग्रपूजा), स्तुति पूजा (वन्दना, कायोत्सर्ग, स्तुति, स्तव, नामस्मरण, जप, गुणकीर्तन, प्रार्थना एव भावना आदि के जरिये भावपूजा) और प्रतिपत्तिपूजा। इन चारो पूजाओ मे क्रमशः उत्तर-उत्तर (आगे-आगे) की पूजा अधिक महत्त्वपूर्ण है। देशविरति मे उक्त चारो पूजाएँ होती है[1], सराग-सर्वविरति आदि मे स्तुति और प्रतिपत्तिरूप दो पूजाएँ होती है, उपशान्त मोहादि-पूजाकर्ता मे प्रतिपत्तिपूजा ही होती है।

निष्कर्ष यह है कि द्रव्यपूजा श्रेष्ठ है, और वही उपादेय है। परमात्मपूजा का मुख्य प्रयोजन आत्मस्वरूप मे रमण करना और आत्मशुद्धि करके आत्मा के अनुजीवी गुणो को विकसित करना है, जो भावपूजा के द्वारा ही सिद्ध हो सकता है।

इसी कारण श्रीआनन्दघनजी परमात्मपूजा के उद्देश्य एव फल के सम्बन्ध मे सकेत करते हुए अन्तिम गाथा मे कहते है–

---

1. पुष्पाऽमीष- स्तुति- प्रतिपतिपूजानां यथोत्तरं प्राधान्यम्।
देवविरतौ चतुर्विधा।
सराग-सर्वविरत्यादौ स्तोत्र- प्रतिपत्तिरूपे द्वे।
उपशान्तमोहाऽऽदौ पूजाकारके प्रतिपत्तिः।।
– ललितवि॰

इम पूजा बहुभेद सुणीने, सुखदायक शुभकरणी रे।
भविकजीव करशे ते लेशे, 'आनन्दघन' पद-धरणी रे।।
सुविधि. ।।8।।

_अर्थ_–इस प्रकार परमात्मपूजा के बहुत-से भेदों की सुन-समझ कर जो भव्यजीव लौकिक और लोकोत्तर सुखदायक शुभकरणी=(उत्तम) अनुष्ठान (जिनाज्ञाबाह्य क्रियाओं का त्याग करके जिनाज्ञायुक्त शुभक्रिया) करेगा, यानी उसे क्रियान्वित करेगा; वह आनन्द के समूहरूप परमपद (मोक्ष) भूमि (मोक्षभूमि सिद्धशिला) प्राप्त करेगा; अथवा मोक्षपद की भूमिका प्राप्त करेगा।

_भाष्य_–परमात्मपूजा का रहस्य जान कर उसे क्रियान्वित करना है

इस गाथा मे श्रीआनन्दघनजी ने परमात्मपूजा के बहुत से प्रकार और उसके रहस्य के ज्ञान पर बहुत जोर दिया है। साथ ही उन लोगो को चेतावनी भी दी है कि केवल पूजा के रहस्य को जान लेना ही पर्याप्त नही है, उसमे लौकिक और लोकोत्तर दोनो प्रकार के सुख को देने वाली जिनाज्ञायुक्त शुभक्रियाएँ है, उन्हे अवश्य करना है। जिन क्रियाओ से आत्मा अपने शुद्ध स्वरूप मे रमण कर सके, जो क्रियाएँ आत्मा को स्वगुणो की ओर ले जाने वाली है, आत्मा का विकास करने वाली है, वे ही क्रियाएँ लौकिक और लोकोत्तर सुख देने वाली है। जिनसे आत्मा काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि विकारो की ओर जाती हो, जिनमे अपना और दूसरो का अहित होता हो, जो क्रियाएँ मनुष्यजीवन मे वैर-विरोधवर्द्धक, हिंसा असत्य आदि बढाने वाली हो, वे लोक-परलोक दोनो जगह दुःखदायिनी है, लोकोत्तर सुख तो उनसे मिलता ही कैसे? परन्तु जिस करणी से दूसरो को क्षणिक सुख मिलता हो, मगर अपने आप को जन्ममरण के चक्र मे पड कर दुःख पाना पडता हो, अथवा अपने को क्षणिक सुख प्राप्त होते हुए भी दूसरो को दुःख मे पडना पडता हो, (जैसे पूजा के लिए पशुबलि या शराब आदि चढाना) वह करणी उभयसुखदायक नही है, इसलिए उसे शुभकरणी नही कहा जा सकता। अथवा जिस क्रिया से इहलोक मे तो नाशवान ऐन्द्रियक सुखों की प्राप्ति हो जाय, परन्तु परलोक का अथवा लोकोत्तर सुख का मार्ग उससे अवरुद्ध हो जाय, उसे भी सर्वसुखदायक शुभकरणी नही कहा जा सकता। जिस करणी से त्रैकालिक और त्रैलौकिक सुख की प्राप्ति हो, उसे हम सर्वसुखदायिनी शुभकरणी कह सकते है। ऐसी शुभकरणी से भव्य भक्तजन अवश्य ही सच्चिदानन्दमय पद की भूमिका या भूमि (स्थान) प्राप्त कर सकेगा।

इस गाथा से यह भी ध्वनित होता है कि प्रभुपूजा के ज्ञाता को केवल जान कर ही नहीं रह जाना चाहिए। अगर वह केवल जान-समझ कर भी चुपचाप बैठ जाता है, अवश्यकरणीय शुभक्रिया मे प्रवृत्त नहीं होता; तो वह इस हाथ मे आई हुई बाजी या अमूल्य अवसर को खो देगा, इस जिदगी से प्राप्तव्य अलभ्यलाभ को गंवा कर बाद मे हाथ मल-मल कर पछताएगा। अथवा परमात्मपूजा का यह अवसर बार-बार नही मिलेगा। अगर इसे चूक गए तो परमानन्दपद-प्राप्ति के बदले दुःखद्वन्द्ववर्द्धक जन्ममरण के चक्र मे भटकना पडेगा। बार-बार जन्ममरण के दुःख से बचना हो तो भावपूजा का आलम्बन लेना ही उत्तम है।

सारांश—इस स्तुति मे श्रीआनन्दघनजी ने परमात्मा की भावपूजानुलक्षी द्रव्यपूजा के विविध प्रकार बता कर अन्त मे भावपूजा और प्रतिपत्तिपूजा पर जोर दिया है, साथ ही पूजा का रहस्य बताकर इसे शुद्ध आत्मस्वरूप के लक्ष्य से करके आनन्दघनमय पद प्राप्त करने का सकेत किया है। इस प्रकार की समझपूर्वक की गई परमात्मपूजा से अन्त मे प्राप्तव्य जो लोकोत्तर लाभ-सच्चिदानन्दमय परमात्मपद अथवा उक्त पद का जो स्थान है, वह मिलता है।

अब आगामी स्तुति मे श्रीआनन्दघनजी परमात्मपूजा में पहले के परस्परविरोधी गुणो से युक्त परमात्मा के यथार्थ स्वरूप का रहस्योद्घाटन करते है।

***

10. श्रीशीतलनाथ-जिन-स्तुति–

परस्परविरोधी गुणों से युक्त परमात्मा

(तर्ज- गुणह विशाला मगलिक माला, राग धन्याश्री गौडी)

शीतल जिनपति ललित त्रिभंगी, विविध भंगी मन मोहे रे।
करुणा, कोमलता, तीक्ष्णता, उदासीनता सोहे रे।।
शीतल.।।1।।

***अर्थ*–दसवें तीर्थकर श्रीशीतलनाथ जिनेन्द्र परमात्मा की विविध सुन्दरभंगियों पर चिंतन करने पर वे मन को मुग्ध कर देती हैं। वीतराग-परमात्मा में एक ओर अहिंसकभाव होने के कारण करुणा और कोमलता (नम्रता) है; तो दूसरी ओर इनसे विरोधी तीक्ष्णता (क्रूरता) और उदासीनता (उपेक्षाभाव) से वे सुशोभित हैं।**

***भाष्य*–परमात्मा के जीवन के विविध पहलू**

पूर्वस्तुति मे परमात्मपूजा के सम्बन्ध मे विस्तृतरूप से कहा गया, लेकिन सवाल यह होता है कि परमात्मा का वास्तविक स्वरूप क्या है? उनमे कई बार परस्परविरोधी गुणो का निवास भी होता है, जिन्हे देख कर पूजक (भक्त) चक्कर मे पड जाता है कि किस गुण वाले प्रभु को आदर्श व पूज्य माना जाय?

जैनधर्म परमात्मा के बाह्यरूप की अपेक्षा आन्तरिक रूप को ही पूज्यता या उसकी पूजा का आधार मानता है। अन्य सम्प्रदायो मे जहॉ आत्मिक गुणो के वैभव की ओर ध्यान न दे कर शारीरिक बाह्य वैभव, आभूषण एव पोशाक आदि बाह्य रूपो से ही, स्थूलप्रभुता से ही अपने माने हुए तथाकथित प्रभुओ या भगवानो को पूज्य मान कर उनकी पूजा-भक्ति पर जोर दिया जाता है, वहॉ जैनधर्म बाह्यरूपो वैभव, पोशाक, आभूषणादि ठाठ-बाठ व बाह्य चमत्कारो पर से ही किसी की पूज्यता का मापदड नही मानता, न उसे पूज्य मानता है, और न उसकी पूजा का विधान करता है, उसे अमुक नामो से कोई पक्षपात नही है, किन्तु वह आन्तरिक गुणो आत्मिक वैभव, रागद्वेष-रहितता आदि अन्तरंग रूप को ही महत्त्व देता है। इसी कारण आप्त मीमासा

मे जैनाचार्य समन्तभद्र ने स्पष्ट कहा है–[1] "प्रभो! आपके पास देव आते है, आप आकाश में उडते है, आपके पास छत्र, चामर आदि विभूतियॉ है, इनसे आप हमारे लिए महान् (विश्वपूजनीय) नहीं है, क्योंकि ये सब बाह्य वैभव या चमत्कार आदि तो एक जादूगर में भी पाये जा सकते है।"

जैनधर्म तो गुणो का पुजारी है। 'जिसमे वीतरागता के गुण हो, यानी ससार के बीज को अकुरित करने वाले राग-द्वेषादि दोष जिसके नष्ट हो गए हो, फिर वह चाहे ब्रह्मा हो, विष्णु हो, हर हो, बुद्ध हो, या जिन हो, उसे नमस्कार है।'

इस दृष्टि से परमात्मा की परीक्षा बाह्य रूप, वैभव, विलास व ठाठबाठ या चमत्कार से न करके वीतरागता आदि अन्तरग गुणों की परिपूर्णता से करनी चाहिए। परन्तु कई बार वीतराग-परमात्मा मे विरोधी गुण देख कर उनसे घबराना नही चाहिए; अपितु अनेकात व सापेक्षदृष्टि से विचार करके विरोधी प्रतीत होने वाले अतरंग गुणो का परस्पर सामजस्य बिठा लेना चाहिए।

प्रथम गाथा मे श्री वीतराग प्रभु (10वे तीर्थकर श्रीशीतलनाथजी) के माध्यम से उनके जीवन मे विविध भागभगियो (दृष्टियो) वाली मनोरम त्रिभगियो का उल्लेख करते है। यानी वीतरागप्रभु हमारी पूजा के आदर्श है (फिर भले ही वे चाहे जिस नाम के हो), हमारे लिए पूजनीय है। एक ओर उनमे अतरग गुण है–करुणा और कोमलता, जबकि दूसरी ओर ठीक इससे विरोधी गुण- तीक्ष्णता और उदासीनता भी है।

प्रश्न होता है कि जब प्रभु राग से रहित है, तो उनमे करुणा और कोमलता (हृदयद्रावकता) कैसे है? क्योकि करुणा और कोमलता दोनो ही प्रायः रागजनित होती है, फिर भले ही ये दोनो प्रशस्तरागजनित हो तथा उनमे ठीक इन दोनो गुणो से विपरीत तीक्ष्णता और उदासीनता कैसे है? क्योकि ये दोनो प्रायः द्वेषजनित होती है। फिर भले ही वह प्रशस्तद्वेष ही क्यो न हो !

मतलब यह है कि ये परस्परविरोधी गुण वीतरागपरमात्मा में सुशोभित

---

1 देवागम-नभोयन-चामरदि-विभूतय·।
मायाविष्वपि दृश्यन्ते, नातस्त्वमसि नो महान्।। -देवागमस्तोत्र

2 भवबीजाकुरजनना रागाद्या क्षयतुमपागता यस्य।
ब्रह्मा वा विष्णुर्वा हरो, जिनो वा नमस्तस्मै।। -आचार्य ९

हो रहे है, इसका क्या कारण है?

इसी शंका का समाधान तथा परस्परविरोधी गुणो के निवास की संगति अनेकान्तसिद्धात द्वारा अगली गाथा मे इस प्रकार बिठाई गई है–

सर्वजन्तुहितकरणी करुणा, कर्मविदारण तीक्ष्ण रे।
हानादानरहित परिणामी, उदासीनता-वीक्षण रे।।
शीतल.।।2।।

_अर्थ_–प्रभु में जो करुणा है, वह सर्वजीवहितकारिणी है, वही कोमलता है; तथा उनमें तीक्ष्णता (कठोरता) इसलिए है कि वे कर्मशत्रुओं का समूल छेदन करने में कठोर है। किसी ईष्ट व मनोज्ञ वस्तु को देख कर उसे रागवश ग्रहण करने के तथा अनिष्ट व अनमोज्ञ वस्तु को देख कर उसे छोड़ने के द्वेषयुक्त परिणामों से रहित हैं, तथा संसार के समस्त पदार्थो या जीवों को समभाव से देखते हैं, इसलिए उदासीनता का गुण भी उनमें दिखाई देता है।

_भाष्य_–विश्ववन्द्य परमात्मा के चरित्र में परस्परविरोधी गुणों की प्रथम संगति

परमात्मा का चरित्र विविध प्रकार से विचारणीय है। केवल विचारणीय ही नहीं, आदरणीय पूजनीय और उपासनीय भी है, आनन्दजनक भी है। उपर्युक्त गाथा मे प्रभु के चरित्र मे तीन परस्परविरोधी गुणो के समावेश की सगति अनेकातवाद की दृष्टि से की गई है। वे गुण है–करुणा कोमलता, तीक्ष्णता और उदासीनता।

प्रायः देखा जाता है कि जिसका हृदय करुणा और कोमलता से परिपूर्ण होता है, उसके हृदय मे तीक्ष्णता-कठोरता प्रतीत नही होती, और तीक्ष्णता हो तो उदासीनता नही हो सकती, परन्तु वीतरागपरमात्मपद का सूक्ष्मता से अध्ययन करने पर उसमे ये तीनों परस्परविरोधी गुण एक साथ दिखाई देते है। वे कैसे? परमात्मा के उन-उन गुणो का स्वरूप समझे बिना झटपट निर्णय कर बैठे, यह उचित नही। अतः इसी का समाधान करते हुए श्रीआनन्दघनजी कहते है–**सर्वजन्तुहितकरणी करुणा** अर्थात् वीतराग तीर्थकर परमात्मा की वृत्ति जगत् के त्रस-स्थावर आदि समस्त प्राणियो का हित करने की होती है। प्रश्नव्याकरण-सूत्र मे तीर्थकर भगवान द्वारा की जाने वाली प्रवचनप्रवृत्ति का उद्देश्य बताया है कि[1] समस्त ससार के जीवो की रक्षारूप

1. 'सव्वजगजीवरक्खणदयट्ठयाए पावयणं भगवया सुकहियं।'– प्रश्नव्याकरणसूत्र

दया के लिए भगवान ने प्रवचन कहे है। **'सबै जीव करूं शासनरसी, ऐसी भावदया मन उल्लसी'** इस प्रकार सर्वप्राणियो का हित करने वाली करुणा और कोमलता उनमे है। किन्तु पहले अपनी आत्मा की करुणा किये बिना कोई परमात्मा करुणानिधि नहीं बन सकता। अतः कर्मशत्रुओ या रागद्वेषादिरिपुओ से दबी हुई, रक बनी हुई अपनी आत्मा पर करुणा करने के लिए वे इन शत्रुओ से जूझते है, इन पर करुणा नही करते, इसीलिए कहा है–**'कर्मविदारणतीक्षण रे'** कर्मो के नष्ट करने मे वे अत्यन्त कठोर बन जाते है। अथवा अपने कृतकर्मो का नाश करने हेतु अपनी वृत्तियो को तीक्ष्ण बना कर परमकरुणाशील प्रभु शुक्लध्यान उत्पन्न करते है। कृतकर्मो को काटने मे शुक्लध्यानवृत्ति ही सफल होती है, जिसे तीक्ष्ण गुण कहा गया है। इसलिए तीक्ष्णता भी वीतरागप्रभु की शोभा है। इसी कारण उनका एक नाम अरि (कर्मशत्रुओं) के हन्त (नाशक) भी है। उन्हे कर्मो पर दया नही आती कि ये बेचारे कहाँ जायेंगे? इनका क्या होगा? अतः जिस समय प्रभु मे पूर्वोक्त प्रकार का करुणाभाव होता है, उसी समय उनमे कर्मो को काटने की तीक्ष्णता (तीव्रता) भी होती है। परन्तु विचार करने पर यह विरोध नही रहता। क्योकि करुणा करने योग्य प्राणी अथवा आत्मा और कर्म बिलकुल अलग-अलग है। जब परमात्मा वीतराग कर्मरहित हो कर परमशुक्लध्यानी हो जाते है, तब उनमे साधकदशा मिट कर सिद्ध (मुक्त) दशा प्रगट हो जाती है और उन्हे जगत् के समस्त पदार्थ हस्तामलकवत् हो जाते है। उस समय वे समस्त पदार्थो को तटस्थरूप-उदासीनभाव से देखते है उनके लिए ग्राह्य-अग्राह्य भाव नही रहता। वे न तो किसी अनिष्ट वस्तु पर द्वेष करके उस पर त्याग करने की प्रवृत्ति करते है और न ईष्ट वस्तु पर राग करके उसे स्वीकार करने की। क्योकि वे रागद्वेष से सर्वथा रहित हैं। इसी त्याग-ग्रहणरहित परिणाम वाली दृष्टि को उदासीनता कहते है, जो प्रभु के परमपद की प्राप्ति की मुख्य हेतु है।

निश्चयदृष्टि से विचार करे तो वीतराग-परमात्मा मे करुणावृत्ति का गुण केवल परात्महितकर नही, अपितु वास्तव मे स्वात्महितकर होता हैं और स्वात्महित वे तभी मानते हैं, जब कर्मो के बन्धन से आत्मा को बचाएँ तथा कर्मबन्धन तभी नष्ट होता है, जब औदासीन्यभाव से युक्त आत्मा की [illegible] आत्मवीर्य की तीक्ष्णता हो। इस प्रकार ये तीनो परस्पर विरोधी गुण भी परमात्मा मे एक साथ पाये जाते हैं, जो प्रत्येक चेतनाशील जाग्रत [illegible]

प्रेरणा देते है।

अगली गाथा में इसी त्रिभंगी की अन्य प्रकार से सगति बताते है—

परदुःखछेदन- इच्छा करुणा, तीक्ष्ण पर दुःख रीझे रे।
उदासीनता उभय-विचक्षण, एक ठामें किंम सीझे रे?

शीतल.।।3।।

***अर्थ*—दूसरों के दुखों को मिटाने की इच्छा ही करुणा है। पर (परभावों या आत्मा से भिन्न जड़पुद्गलों) को दुःखी (आत्मा से हटते) देख कर वे प्रसन्न होते हैं, यह उनकी तीक्ष्णता है। तथा करुणा और तीक्ष्णता दोनों के लक्षणों से विलक्षण माध्यस्थ्यवृत्ति या तटस्थतपरिणाम उदासीनता है। आश्चर्य होता है कि ये तीनों गुण विलक्षण होने से एक जगह कैसे सिद्ध हो (रह) सकते हैं। परन्तु प्रभु में ये तीनों गुण एक साथ रहते हैं, यही उनकी प्रभुता है।**

***भाष्य*—दूसरी दृष्टि से त्रिभंगी की संगति**

पूर्वोक्त गाथा मे वीतराग-परमात्मा मे तीन परस्पर विरोधी गुणो की सगति एक दृष्टि से की गई थी। इस गाथा मे दूसरी दृष्टि से उन तीनो गुणो की सगति बिठाई गई है।

'अध्यात्मकल्पद्रुम' ग्रन्थ मे करुणा का लक्षण बताया गया है—परदुःख देख कर उसे दूर करने की अथवा दूसरो को किसी प्रकार का दुःख न हो, इसे देखने की इच्छा करुणा है। व्यवहारदृष्टि से वीतरागप्रभु को परम कारुणिक, निष्काम करुणाशील कहा जाता है। वे दूसरो को दुःखी देख कर उसे उस दुःख से छुडाने की इच्छा रखते हैं, उसे उक्त दुःख से छुटकारे का उपाय बताते है। दुःख क्यो होते है? उन्हे किसने पैदा किये है? उनके निवारण के क्या उपाय है? इत्यादि सब बाते वे जगत् के पीडित ससारी जीवो को बताते है। इसलिए करुणा तो उनमे है ही। परन्तु उनके साथ ही जब वे देखते है कि संसारी जीव राग, द्वेष, मोह और अज्ञान के कारण या परपदार्थ के सम्बन्ध के कारण दुःख पाते है तो अपनी आत्मा के साथ लगे उन परपदार्थो के सम्बन्धो को हटाने मे जबर्दस्त तीक्ष्ण वृत्ति भी प्रभु मे होती है, वे उन सजीव या निर्जीव परपदार्थो को मोहबन्धन बडी सख्ती से हटा कर खुश होते है। इसीलिए कहा गया—**'तीक्ष्ण पर दुःख रीझे रे'** यानी बन्धन मे डालने वाले परपदार्थो के अपनी या दूसरो की आत्मा से पृथक् होने से दुःख मे पडे देख कर राजी होते है। वे इन्द्रियदमन मे पुद्गलो को हटाने मे खुश होते है। तीसरी ओर वे उदासीन भी रहते है। जहाँ

भाष्य–इस गाथा में भी एक अन्य दृष्टि से प्रभु में तीनो विरोधी गुणो का अस्तित्व सिद्ध किया है। जीवमात्र को जन्म, जरा, मृत्यु, रोग, शोक आदि का भय रहता है। उस भय से छुटकारा दिला कर अभय करने का मूल हेतु है– ज्ञान। अभय का ज्ञान देना ही प्रभु की करुणा है। द्रव्य और भाव से प्रभु सासारिक जीवो को निर्भयता का दान देते है। वे कहते है–किसी सासारिक पदार्थ से डरो मत। तुम्हारी आत्मा स्वय भययुक्त निर्भय है, इस प्रकार सासारिक पदार्थो से भय न पाने देना–द्रव्य-अभयदान है, और ससार का भय मिटा देना भाव-अभयदान है, अथवा अपनी आत्मा को परपदार्थो से निर्भयता का दान देना प्रकट करना भी अभयदान है, यह निश्चयदृष्टि से अभयदान प्रभु मे करुणा का ही लक्षण है। व्यवहारदृष्टि से देखा जाय तो प्रभु के पास जो भी जीव आ जाता है, वह उनकी परम अहिसा के कारण निर्भय हो जाता है। उसे ऐसी प्रतीति हो जाती है कि मैं अभय हो गया हूँ। अर्हन्त परमात्मा का एक विशेषण नमोत्थुण के पाठ मे आता है–'**अभयदयाणं**' और अभयदान परमात्मा की करुणा का द्योतक चिह्न है।

ज्ञानादि गुणो पर आज्ञानादि के छाए हुए आवरणो–वैभाविक गुणो को दूर करने के लिए एक तरफ से आत्मा के स्वाभाविक गुणो को प्राप्त करते है, अज्ञानादि को कठोरता से हटाते है, दूसरी ओर परभावो (पुद्गलो) को पराया (शत्रु) मान कर बार-बार उन्हे त्याज्य समझ कर छोडने का विचार किया करते है, स्वभाव मे तीव्रता से रमण किया करते है। इसके कारण पुद्गलो (परभावो) के प्रति उनकी कडी आख है, जो उनकी तीक्ष्णता का लक्षण है। इसी प्रकार ससार के स्वरूप का विचार करते है तो मालूम होता है प्रायः सभी कार्य (व्यापार, धन्धा, नौकरी आदि) प्रेरणा पर आधारित है। वे इस स्वरूप को जानते है और कोई निन्दा करे या प्रशसा, भला कहे या बुरा; वन्दना करे, या निदा करे, सभी से निरपेक्ष हो कर किसी भी प्रेरणा के बिना सहजभाव से आत्मपरिणति रूप कृति-कर्त्तव्य मे निष्ठा रखते है। यह पदार्थ इष्ट, प्रिय या मनोज्ञ है, यह अनिष्ट, अप्रिय या अमनोज्ञ है। इस प्रकार की प्रेरणा प्रभु मे नही होती। इसलिए उनमे बिना किसी प्रेरणा के स्वरूपरमण क्रिया होती रहती है। यह उनकी उदासीनता का लक्षण है।

इस प्रकार वीतरागप्रभु मे पूर्वोक्त तीनो विरोधी गुण एक साथ रहते है, क्योकि उनके पात्र अलग-अलग है।

अगली गाथा मे वीतरागप्रभु मे अन्य गुणो की त्रिभगियो का अस्तित्व हुए कहते है–

शक्ति व्यक्ति त्रिभुवन-प्रभुता, निर्ग्रन्थता संयोगे रे।
योगी, भोगी, वक्ता, मौनी, अनुपयोगी उपयोगे रे।।
शीतल. ।।5।।

अर्थ–**प्रभुवीतराग में अनन्त आत्मवीर्य रूप शक्ति है, जो कि समस्त आत्माओं में सामान्यरूप में होती है, फिर भी ज्ञानादि गुणों की अभिव्यक्ति में प्रभु का अपना अलग व्यक्तित्व है। तथा एक ओर उनकी तीनों लोकों के समस्त प्राणियों पर स्वामित्व (त्रिलोकप्रभुता या त्रिभुवनपूज्यता) है; जबकि दूसरी ओर वे निर्ग्रन्थ (अंकिचन) हैं। इसी प्रकार प्रभु मोक्ष के साथ जोड़ने (योग कराने) वाले गुणों को अथवा मन वचन-कायारूप त्रियोग को धारण करते हैं, इसलिए वे योगी हैं, जबकि इसके विपरीत वे भोगी भी हैं। यानी वे आत्मगुणों का स्वयं भोग (अनुभव) करते हैं। एक ओर वे द्वादशांगीरूप प्रवचन करते हैं, इसलिए वक्ता हैं, जबकि दूसरी ओर मौनी भी हैं। सावद्य भाषा बोलने तथा पापकर्म का उपदेश देने मे वे मौन रहते है। वे केवल-दर्शनी हैं, इसलिए निराकार उपयोगी होने से उपयोग नहीं लगा सकते–निरूपयोगी हैं तथैव केवलज्ञानी होने से साकार उपयोग वाले होने से वे उपयोगी हैं। साथ ही इन पॉचों जोड़ों के साथ संयोग होने से एक-एक भंग और जुड़ जायगा, प्रत्येक की त्रिभंगी हो जायेगी।**

भाष्य–**परमात्मा में परस्पर विरोधी पॉच गुण-त्रिभंगियॉ**

साधारणतया परमात्मा के परस्पर विरोधी को आम आदमी समझ नही पाता, वह तो उन्हे उलझन भरे और परस्पर विरोधी समझ कर छोड देता है। साहित्यशास्त्र मे इसे विरोधाभास अलकार कहते है। जो विचार करने पर ठीक समझ मे आता है। परमात्मा मे निम्नलिखित तीन-तीन भग हो सकते हैं–

1 शक्ति, व्यक्ति और शक्ति-व्यक्ति रहित,
2 त्रिभुवनप्रभुता, निर्ग्रन्थता और त्रिभुवनप्रभुता-निर्ग्रन्थतारहित,
3 योगी, भोगी और योग भोग-रहित,
4 वक्ता, मौनी और वक्वृत्व-मौन रहित, और
5 उपयोगवान, अनुपयोगी और उपयोग-अनुपयोगरहित।

ये पॉचो गुणत्रिभंगियॉ परस्पर विरोधी हैं, लेकिन इन पर गहराई से विचार करने पर स्पष्ट हो जाता है कि प्रत्येक त्रिभगी वीतराग-परमात्मा मे

साथ रह सकती है। उदाहरण के तौर पर पहली त्रिभंगी मे तीन गुण है—शक्ति, व्यक्ति और शक्ति-व्यक्ति-रहित। वीतराग परमात्मा मे अनन्तशक्ति है, अनन्तवीर्य के धनी परमात्मा अपना अनन्तवीर्य बता सकते है। मेरु को उठाना हो तो वे उसे उठा सकते है, भुजाओ से अथाह समुद्र को पार कर सकते है। अपने शुद्धस्वभाव एव स्व-गुण मे लीन रहने की अद्‌भुत शक्ति प्रभु मे है, यह प्रभु का आत्मिक गुण है। वैसे तो प्रत्येक आत्मा मे अनन्त शक्ति है, यह उसका स्वभाव है। परन्तु सामान्य आत्मा उसकी अभिव्यक्ति नही कर सकती। परमात्मा मे शक्ति का पूर्ण व्यक्तिकरण होता है, परन्तु होता है, वह ज्ञान, दर्शन, चारित्र, आदि अलग-अलग गुणो का अलग-अलग। प्रभु मे वैसे तो ज्ञानादि सभी-शक्तियॉ पूर्ण रूप मे है, परन्तु वे चाहे तो एक-साथ उन सबकी अभिव्यक्ति कर सकते है। अथवा सासारिक लोगो की अपेक्षा परमात्मा का अलग व्यक्तित्व होने से परमात्मा उनसे विशिष्ट व्यक्ति है। परन्तु परमात्मा मे दोनो गुणो का एक साथ अस्तित्व होते हुए भी सिद्ध (मुक्त) दशा मे उनमे शक्ति होते हुए भी न होने जैसी है, क्योकि वह शक्ति कुछ कर नही सकती, वह अकरणवीर्य होती है और सिद्ध दशा मे अलग-अलग गुणो की अलग-अलग अभिव्यक्ति (व्यक्ति) नही होती। अथवा परमात्मा ने शक्तित्व या व्यक्तित्व किसी इरादे से बताने का प्रयत्न नही किया, इसलिए उनमे ये तीनो गुण एक साथ रहने मे कोई विरोध नही है।

दूसरी त्रिभगी मे भी तीनो गुण है—त्रिभुवनप्रभुता, निर्ग्रन्थता और त्रिभुवनप्रभुता—निर्ग्रन्थतारहित। यह बहुत ही आश्चर्यजनक लगता है कि परमात्मा वीतराग मे तीनो लोको की पूज्यता—उनमे 34 अतिशय और आठ महाप्रातिहार्यो के होने से तीनो भुवनो की प्रभुता (ऐश्वर्ययुक्तता) प्रत्यक्ष दिखाई देती है, तथापि स्वय निर्ग्रन्थ होने से उनमे निर्ग्रन्थता है। उन्होने ससार या सासारिक पदार्थो के साथ कोई लाग-लपेट या ममत्वादि की गाठ नही रखी, दुनिया से उन्हे कुछ भी लेना-देना नही है, उन्हे न कोई वस्तु ईष्ट है न अनिष्ट है। यही उनकी निर्ग्रन्थता है। यानी त्रिभुवन की वैभव-सम्पन्नता प्रभुता के होते हुए भी उनमे अकिचनता (अपरिग्रहवृत्ति) एव निर्लेपता (निर्ग्रन्थता) है। अथवा एक ओर इन्द्र, नरेन्द और चक्रवर्ती द्वारा पूजनीय होने से त्रिभुवनप्रभुता होते हुए भी स्वय निर्ग्रन्थता गुण से परिपूर्ण है।

निश्चयनय की दृष्टि से विचार करे तो परमात्मा मे आत्मा के समस्त

गुण विकसित होने से तीनो लोको के समस्त आत्मगुणो के स्वामी होने से उनमें त्रिभुवन-प्रभुता है, तथा पचमहाव्रत सहित सामायिक ग्रहण कर चुके, इसलिए परम त्यागी होने से उनमे निर्ग्रन्थता है, परभवो का स्वरूप या परभावो का कार्य उनके ज्ञान मे झलकते हुए भी वे उनका लेप आत्मा पर नही होने देते।

तीसरा भग प्रभु के त्रिभुवन-प्रभुता से एव निर्ग्रन्थता से रहित होने का है, जो बडा अटपटा है। फिर भी यह सगत है, क्योकि मिथ्यात्वी जीव प्रभु को पूज्य नही मानते। समवसरणादि तथा उनके अष्टमहाप्रातिहार्य आदि देख कर आपको त्यागी या निर्ग्रन्थ (अपरिग्रही) नहीं मानते, इसलिए वीतराग परमात्मा तीनो लोक के प्रभु नही रहे। तथा सिद्धि (मुक्ति) प्राप्त सभी जीव समान है, वहॉ न कोई प्रभु है और न ही कोई उसका दास! यहॉ पूज्य पूजक भाव बिलकुल नही है, इसलिए त्रिभुवनप्रभुता से परमात्मा रहित है तथा प्रभु केवल साधु का वेष धारण किए सदा नही फिरते अथवा प्रभु मे भी स्वगुण मे रमणता रूपी ममता है। इसलिए वे निर्ग्रन्थता से रहित भी है।

इस प्रकार पूर्वोक्त तीनो विरोधी गुणो का प्रभु मे अस्तित्व है। उनकी सगति भली-भॉति समझ लेने पर गुणो मे विरोध नही आता।

तीसरी गुणत्रिभगी है—योगी, भोगी और योग-भोग-रहित। लोक व्यवहार मे देखा जाता है कि जो योगी है, वह भोगी नही रह सकता। परमात्मा मे मन-वचन-काया को अपने वश मे रखने वाले योगी के समस्त गुण है। व्यवहारिकदृष्टि से वीतराग-अवस्था मे मन-वचन-काया के योगो से युक्त (सयोगी केवली) हैं। निश्चयदृष्टि से रत्नत्रयी की साधना रूप योग से मुक्त होने अथवा मोक्ष के साथ जुडे हुए होने से या परमात्मा के गुणो या शुद्ध स्वरूप के साथ युक्त होने से वे योगी है। तथापि दूसरी ओर वे भोगी भी है। इससे चौंकिये नही। परमात्मा विलासी जैसे भोगी नही है। वे स्वात्मगुणो के भोगी है, अनुभवी है, अनुभव करते है। अथवा व्यवहार दृष्टि से वे भोगान्तराय और उपभोगान्तराय कर्म का क्षय कर देने के कारण तीनो लोक के समस्त भोगो से भी उत्कृष्ट स्वात्मरमणता रूपी भोगो के भोगी है। जब समस्त कर्मो का क्षय होता है, तब अयोगी-केवली गुणस्थानक मे और मोक्ष जाने के बाद वे न तो योगी रहते हैं न भोगी। क्योकि वहॉ उनके समस्त योग दूर हो जाते हैं और अयोगी-गुणस्थानक मे पॉच ह्रस्व अक्षरो अ, इ, उ, ऋ, लृ के उच्चारण मे जितना समय लगता है, उस
तो वे योगी है और न भोगी है।

अब आइए चौथी गुणत्रिभंगी पर। इसमे भी तीन गुण है—वक्ता, मौनी और अवक्तामौनी। वक्ता तो प्रभु इसलिए है कि वे स्वय द्वादशागी का प्रवचन देते है और परमदेशना देते हैं तथा मोनी इसलिए हैं कि वे मुनियो के सघ के पति (स्वामी) है। अथवा वे सदा आत्मभाव मे निष्ठ होने से मौनी है। सावद्य या पापमय, आश्रवजनक उपदेश के सम्बन्ध मे वे वक्ता नही है तथा वक्ता और मौनी होते हुए भी उस वक्त के द्वादशागी के सिवाय कुछ वचन नहीं बोलते, इसलिए वे उस समय न तो वक्ता है न मौनी है। अथवा वे अवक्ता मौनी यो है कि जो जगत् मे है उसी को वे कहते है, नया कुछ भी नही कहते, इसलिए वक्तृत्व से रहित है, तथापि देशना देते है, इसलिए वे मौन से भी रहित है। इस प्रकार यह चौथी गुणत्रिभगी भी प्रभु मे एक साथ अविरोधरूप से सगत हो जाती है।

अब पॉचवी गुणत्रिभगी का विचार करे। वह है—उपयोगी, अनुपयोगी और उपयोग-अनुपयोग-रहित।

सामान्य छद्मस्थ ज्ञानी को तो कोई बात कहनी या जाननी हो तो उसके लिए उपयोग लगाना पडता है; परन्तु वीतराग-परमात्मा तो केवलज्ञान के धनी होते है, इसलिए बिना ही उपयोग लगाए वे बात को जान-देख सकते है, इसलिए अनुपयोगी है क्योकि उनमे ज्ञान-दर्शन का उपयोग सदा प्रवर्तमान रहता है। किन्तु प्रभु ज्ञान-दर्शन के उपयोगमय होने से उपयोगी है। अथवा आत्मा और उपयोग का अभेद उपचार करने से परमात्मा स्वतः अनुपयोगी है। किन्तु योगरुन्धन होने के बाद उन्हे ज्ञान का या दर्शन का उपयोग लगाने का काई प्रयोजन नही रहता। उस समय वे न उपयोगी है, न अनुपयोगी ! उनमे ज्ञानदर्शन का उपयोग सदा प्रवर्त्तमान रहता है, इसलिए वे अनुपयोगी-रहित है और उपयोग तो उनमे स्वतः प्रवृत्त होता है, उन्हे उपयोग लगाना नहीं पडता, अतः वे उपयोगरहित भी है।

इस प्रकार पॉचवीं गुणत्रिभगी भी वीतरागप्रभु मे भलीभॉति घटित हो जाती है।[1]

इनके सिवाय और भी परस्परविरोधी गुणत्रिभगियॉ वीतरागप्रभु मे

---

1 इस प्रकार हमने अपनी बुद्धि से इन गुणत्रिभगियो के परस्परविरोधी भव को दूर करके एक साथ प्रभु मे होने की सगति बिठाई है। इनके सिवाय और भी किसी तरह से घटित हो सकती हो तो बहुश्रुतज्ञानी के सहयोग से घटित करने का पाठक प्रयत्न करे। – भाष्यकार

घटित हो सकती है, इस बात को बताने के लिए अन्तिम गाथा मे श्रीआनन्दघनजी कहते है–

> इत्यादिक बहुभंगत्रिभंगी, चमत्कार चित्त देती रे।
> अचरजकारी चित्रविचित्रा, आनन्दघनपद लेती रे।।
> शीतल. ।।6।।

अर्थ–ये और इस प्रकार की और भी बहुत-से भंगों (भेदों-विकल्पों) वाली त्रिभंगियाँ चित्त में चमत्कार पैदा करती हैं। सामान्य व विशेष दोनों तरह से विचित्र प्रकार की आश्चर्यकारी ये गुणत्रिभंगियाँ आत्मानन्द-समूहरूप पद (मोक्ष) को प्राप्त कर लेती हैं यानी इन आत्मस्वरूपमूलक त्रिभंगियों में मग्न हो जाने से केवलज्ञान प्राप्त हो कर अन्त में सच्चिदानन्दपद (परमात्मपद) प्राप्त हो जाता है।

_भाष्य_–परमात्मगुण चिन्तन से आनन्दघनमतपद की प्राप्ति

यहाँ एक सवाल उठता है कि आखिर परमात्मा मे इन अटपटी गुणत्रिपुटियो का चिंतन करने का लाभ क्या है? इसका कोई प्रयोजन भी तो होना चाहिए। इसके उत्तर मे श्रीआनन्दघनजी कहते हैं–सबसे पहला लाभ तो यह है कि इन गुणत्रिपुटियो का चिन्तन चित्त में शुद्ध आत्मा की गुणमयी शक्तियों का चमत्कार पैदा करता है। परमात्मभक्त परमात्मा के इन गुणों पर चिन्तन करते करते सानन्द आश्चर्य से भर जाता है कि एक ही आत्मा मे इतने गुण कहाँ से आ गए? छोटी-सी अव्यक्त, अमूर्त, अदृश्य आत्मा मे इतने गुणों के धारण करने की शक्ति कहाँ से आ गई? दूसरा महत्त्वपूर्ण लाभ समान्यतया और विशेषतया प्रभुगुणत्रिपुटियो के बार-बार के चिन्तन से आत्मा की अनन्त आश्चर्यकारी ज्ञान-सम्पदा विकसित हो जाती है, आत्मा अपनी सुपुप्त ज्ञान-शक्ति को प्रगट करके स्वयं स्वस्वरूप मे या शुद्धरूप मे अथवा आत्मगुणों [illegible] रमण करने मे एकाग्र हो जाता है और इस प्रकार के ऊहापोह मे एकाग्र [illegible] से उसे केवलज्ञान प्राप्त हो कर एक दिन आनन्दघनमय परमात्मपद या [illegible] प्राप्त हो जाता है। चूँकि स्याद्वाद-शैली के बिना जीवन और [illegible] आत्मा-परमात्मा का सम्यग्ज्ञान नहीं होता और सम्यग्ज्ञान [illegible] सम्यग्दर्शन है। सम्यग्दर्शन मोक्ष की प्राथमिक [illegible] गया, उसे मोक्ष प्राप्ति अवश्य हो जाती है। [illegible] विभिन्न पहलुओ से परमात्मा के गुणों का [illegible] आत्मा भी स्वतः स्वाभाविक [illegible]

वह आश्चर्यकारक विचित्र गुणत्रिभगी-चिन्तन से आनन्दघनमय प्रभुपद को प्राप्त कर लेगी।

इसी प्रकार की अन्यान्य गुणत्रिपुटियों का चिन्तन करो

यही कारण है कि श्रीआनन्दघनजी ने परमात्मा के जीवन मे उपर्युक्त गुणत्रिभगियो के सिवाय, ऐसी ही अन्य गुण-त्रिभगियो का चिन्तन करने का संकेत किया है। परमात्मपदप्राप्ति के इच्छुक को और भी गुणत्रिपुटियो का चिन्तन करना चाहिए। उदाहरण के तौर पर—वीतरागप्रभु कामी भी है, क्रोधी भी है और अकामी-अक्रोधी भी है। सर्वप्रथम दृष्टिपात में तो परमात्मा के लिए कामी शब्द सुनते ही व्यक्ति चौक उठता है, परन्तु गहराई से विचार करने पर उसका यह भ्रम दूर हो जाता है। प्रभु कामी इसलिए है कि वे स्व (आत्मा) स्वरूप की कामना वाले होते है। क्रोधी इसलिए है कि वे मोह, राग, द्वेष, काम आदि आत्मगुणनाशक अन्तःशत्रुओ को कठोरतापूर्वक खदेड देते है। किन्तु साथ ही वे अकामी इसलिए है कि वे आत्मा के प्रतिकूल परपदार्थ को ग्रहण करने की कामना नही रखते तथा वे अक्रोधी इसलिए है कि परिषह-उपसर्ग (कष्ट) देने वाले देव, मनुष्य या तिर्यंच आदि किसी पर जरा भी मन से भी क्रोध नही करते।

इस प्रकार के अनेक आश्चर्यजनक गुणत्रिपुटियॉ परमात्मा मे घटित हो सकती है। इन विचित्र—त्रिभगियो का रहस्य और अनुभव अनुभवी बाहुश्रुत गुरु से जान लेना चाहिए।

सारांश—श्रीआनन्दघनजी ने श्रीशीतलनाथ तीर्थंकर की स्तुति के जरिये परमात्मा मे उपलब्ध विविध, विचित्र एव आश्चर्यजनक गुण-त्रिभगियो की सगति बिठाई है, जिससे आत्मा इन और ऐसी ही अन्य गुणत्रिपुटियों के चिन्तन-मनन से परमात्मगुणो की ओर सतत् आकर्षित एव तन्मय हो कर अन्त मे आनन्दघनमय परमात्मपद या मोक्षपद की प्राप्ति कर लेता है। मानवजीवन की सर्वोत्तम उपलब्धि परमात्मा के गुणो के एकाग्रतापूर्वक चिन्तन से ही होती है।

***

11. श्री श्रेयांसनाथ-जिन-स्तुति–

अध्यात्म का आदर्श : आत्मरामी परमात्मा

(तर्ज–अहो मतवाले साजन, राग गौडी)

श्री श्रेयांसजिन अन्तरजामी, आतमरामी, नामी रे।
अध्यातम-पद[1] पूरण पामी, सहज मुगतिगतिगामी रे।।
श्री श्रेयांस. ।।1।।

अर्थ–श्री (ज्ञानलक्ष्मी) युत् श्रेयांसनाथ नामक ग्यारहवें तीर्थंकर (रागद्वेषविजेता) अन्तःकरण के भावों के ज्ञाता हैं, आत्मा में रमण करने वालों में श्रेष्ठ हैं, अथवा सार्थक नाम वाले हैं, या भावकर्मरूप शत्रुओं को नमाने-झुकाने वाले हैं। अध्यात्मपद (ज्ञान) की पूर्णता पहुँच कर अनायास ही मोक्षगतिगामी बन गये।

_भाष्य_–अध्यात्म की पूर्णता पर पहुँचे हुए : परमात्मा

पूर्वोक्त स्तुति में श्रीआनन्दघनजी ने परमात्मा के विभिन्न परस्पर विरोधी गुणो की त्रिपुटियाँ बता कर उक्त गुणों को प्राप्त करने की बात कही है, इस स्तुति मे परमात्मा के उक्त गुणों की पूर्णता तक पहुँचने के लिए अध्यात्म आत्मा के पूर्णविकास के हेतु परमात्मा का आदर्श अपनाना आवश्यक बताया है। जब तक आदर्श सामने न हो तब तक कोई भी साधक वहाँ तक पहुंचने के लिए उत्साहित नहीं होता। अध्यात्म के विषय में भी यही बात है। जगत् मे विभिन्न धर्मों, मतों, पथों और सम्प्रदायों के लोग अध्यात्म की रट लगाते हैं। वे आत्मा के बारे में जरा-सी जानकारी प्राप्त करके ही अपने को अध्यात्मवादी या अध्यात्मज्ञानी घोषित कर देते हैं। श्रीआनन्दघनजी इस स्तुति द्वारा अभिव्यक्त कर रहे हैं कि आत्मा के बारे में जरा सी जानकारी [illegible] मात्र से आत्मा और जड़ की [illegible] [illegible] अध्यात्म की बातें [illegible] [illegible]

आत्मविकास की परिपूर्णता पर पहुँचा हुआ नही कहा जा सकता। इसलिए एक साधक ने अध्यात्मभावो पर करारा व्यग किया है–**'कलावध्यात्मिनो भान्ति फाल्गुने बालका यथा'** इस कलियुग मे आध्यात्मिक होने का दावा करने वाले ऐसे प्रतीत होते हैं, जैसे फाल्गुन महीने मे होली पर अच्छा बालक हो तो भी अपशब्द बोलने का मजा लूटता है। जिन्हे अध्यात्म का क ख ग भी न आता हो, वे भी उच्चस्वर से अपने में आध्यात्मिकता होने का दावा करते है। इसलिए श्रीआनन्दघनजी इसी स्तुति मे आगे अध्यात्म क्या है? सच्चा आध्यात्मिक कौन है? इसका पुर्जा–पुर्जा खोल कर वास्तविक रहस्य बताते है।

सच्चा आध्यात्मिक बनने या अध्यात्म की पूर्णता तक पहुँचने के लिए वीतरागपरमात्मा के आदर्श को सामने रखना और वे जिस आत्मविकास के मार्ग पर चल कर अध्यात्म की पराकाष्ठा पर पहुचे है, उनके स्वरूप तथा मार्ग को जानना अत्यावश्यक है। क्योकि आत्मोत्थान या आत्मविकास के पथ पर चल कर वे आध्यात्मिक पूर्णता तक पहुँचे है, उन्होने आत्मविकास के सिद्धान्त को पूर्णतया जाना था। इसलिए वे इस मार्ग के पूर्ण विशेषज्ञ है। जो जिस मार्ग का पूर्ण विशेषज्ञ या अनुभवी होता है, वही उस मार्ग को बता सकता है अथवा उसी से उस मार्ग की जानकारी प्राप्त हो सकती है। परमात्मा आध्यात्मिक विकास का श्रीगणेश करते समय आत्मरामी रहे है, यानी वे परभावो, वैभाविक गुणो या परपदार्थो से लगाव छोड कर अपनी आत्मा के गुणो मे या स्वात्मस्वभाव मे सतत् रमण करते रहे है और सामान्य प्राणियो की आत्मा पर जो परभावरूप कर्म या रागद्वेषादि विकार हावी हो जाया करते है, परमात्मा उन कर्मो या विकारो को नमा देते है, अपने अधीन कर लेते है, उन इन्द्रियो एव मन को अनुशासित कर लेते है, उन्हे अपने पर हावी नही होने देते, इसीलिए वे अरिहन्त या जिन के नाम से ससार मे नामी (प्रसिद्ध) है। यही कारण है कि वे आत्मज्ञान की पराकाष्ठा पर पहुँच जाने से अन्तर्यामी बन गये है। जब ज्ञान इतना निर्मल हो जाता है कि उसमे कोई विकार या सशय-विपर्यय-अनध्यवसायरूप दोष नही होता, तब वह केवलज्ञान हो जाता है जिसके जरिये समस्त चराचर जगत् हस्तामलकवत् प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होने लगता है, उसके लिए कोई भी वस्तु परोक्ष नही रहती, उस ज्ञान मे कोई भी अन्तराय, बाधक तत्त्व या क्षेत्र काल की दूरी की अडचन नही रहती। इसलिए इस पूर्णज्ञान के धनी होने से परमात्मा घट-घट के भावो को जानते है, वे पारगामी है। साथ ही आध्यात्मिकता की पूर्णता

पर पहुँच जाने की उनकी निशानी यह है कि उनमें रागद्वेषादि नही रहे, उन पर उन्होने पूर्णतया विजय प्राप्त कर ली है। इसी आध्यात्मिक पूर्णता के फलस्वरूप वे अनायास ही मुक्तिपदगामी बने है, सिद्ध पद पर पहुँचे है।

जैसे फल पक जाने पर बिना ही प्रयास के वह पेड से टूट कर नीचे टपक पडता है, वैसे ही आध्यात्मिकता (आत्मस्वरूप में सततरमणता) परिपक्व हो जाने पर परमात्मा भी परभावो से अलग हो कर अथवा कर्मो से पृथक् हो कर स्वाभाविक रूप मे अनायास ही–मोक्ष मे जा पहुंचते है।

निष्कर्ष यह है कि विकास या आध्यात्मिकता के चरम शिखर (आदर्श) तक पहुँचने के लिए आत्मा आध्यात्मिकता के चरम शिखर पर पहुँचे हुए वीतराग अन्तर्यामी आत्मरामी नामी परमात्मा (उनका नाम चाहे श्रेयासनाथ या और कुछ हो) को आदर्शरूप मे सामने रखना आवश्यक है।

कोई कह सकता है कि क्या दुनिया मे श्रेयासनाथ जिन के सिवा और कोई पूर्ण आध्यात्मिक या आत्मरामी नही हुआ? **यह तो घर के देव, घ के पुजारी** वाली कहावत चरितार्थ हो रही है। इसका क्या सबूत है कि दुनिया मे और किसी धर्म मे आध्यात्मिक हुए ही नहीं? इसलिए श्रीआनन्दघनजी ने श्रेयासनाथ की स्तुति के बहाने से इस गाथा मे बताए आध्यात्मिक के विशिष्ट गुणो पर से सभी आध्यात्मिको की परीक्षा ले डाली है और आध्यात्मिकों की जॉच के लिए कुछ कसौटियां भी बता दी है। उन्होने 'जिन' शब्द से किसी व्यक्ति विशेष का नाम न लेकर जिस किसी नाम के जिन (रागद्वेष–विजेता) हो, उन्हे आत्मरामी, नामी, अध्यात्ममतपूर्णगामी एव अन्तर्यामी बता कर उनके आदर्श को स्वीकार करने की बात कही है। अगली गाथा मे वे आत्मरामी की कसौटी बता रहे है–

सयल संसारी इन्द्रियरामी, मुनिगण[1] आतमरामी रे।
मुख्यपणे जे आतमरामी, ते केवल निष्कामी रे।।
श्री श्रेयांस.।।2।।

अर्थ–संसार में रहे हुए अथवा संसार के कारणों को सेवन करने वाले (संसार को अपना मानने वाले) जीव पाँचों इन्द्रियो के 23 विषयों में रमण करने वाले (आसक्त) हैं। अगर कोई आत्मा (आत्मगुणों) में रमण करने वाले हैं तो क्षमादि-

1 'गण' के बदले अधिकांश प्रतियों मे 'गुण' शब्द है।

दशविध मुनिधर्म का पालन करने वाले मुनि हैं। मुख्यतया केवल वे ही आत्मा में रमण करने वाले हैं, जो कामना (लोभ, आसक्ति आदि) अथवा काम (विषयों में आसक्ति) से रहित है।

***भाष्य*–आत्मरामी का मुख्य लक्षण**

पहले यह बताया जा चुका है कि जो पूर्ण आध्यात्मिक होता है, वह सर्वप्रथम आत्मरामी होता है। परन्तु सवाल यह होता है कि आत्मरामी किसे समझा जाय? बहुत-से आत्मा-आत्मा की रट लगाने वाले जगह-जगह आश्रम बना कर या किसी कुटिया मे अपना डेरा जमा कर लोगो को भुलावे मे डाल देते है, बहुत–से चालाक लोग कुछ हाथ की सफाई या बाह्य चमत्कार बता कर अपने को आत्मरामी बताते है। बहुत से लोग आत्मरमणता का प्रदर्शन करने के लिए नृत्य, गीत, संगीत, धुन, कीर्तन या प्रवचन आदि के बडे-बडे आयोजन करते है, शाही ठाठ-बाठ से रचेपचे रह कर पॉचो इन्द्रियो का विषयास्वादन करते हुए अपने को आत्मरामी या पहुॅचे हुए महात्मा घोषित करते रहते है। बहुत से लोग शरीर में राख रमा कर, गाजे-सुलफे का दम लगा कर या शराब के नशे में मस्त हो कर अपने को आत्मरामी के रूप में प्रसिद्ध करते रहते है, अपने को अध्यात्मयोगी बता कर सभी प्रकार के इन्द्रिय-विषयो के सुख लूटते रहते है, ऐश-आराम से रात-दिन मशगूल रहते है। सुखसुविधाओ और भोगो के गुलाम बने हुए ऐसे नकली तथाकथित आत्मारामी लोगो से सावधान करते हुए श्रीआनन्दघनजी कहते है– **'सयल संसारी इन्द्रियरामी'** अर्थात् जिन-जिन लोगो को इन्द्रियविषयो के, भोगो के या सुख-सुविधाओं के गुलाम व आसक्त देखो, उन सबको आत्मरामी नही, इन्द्रियरामी समझो। जो सासारिक विषय सुखो को लात मार कर, इन्द्रिय विषयो के प्रति अनासक्त हो कर अदीनभाव से अपनी आत्मा मे या आत्मगुण मे मस्त रहते है, क्षमा, मार्दव आदि मुनिधर्म का पालन करते है, वे मुनिगण ही वास्तव में आत्मरामी है। यह बात श्रीआनन्दघनजी मुनियों के प्रति किसी पक्षपात के कारण नहीं कह रहे है। क्योकि मुनिधर्म किसी भी जाति, धर्म, सम्प्रदाय, देश, वेष, या पथ की बपौती नही है, उस पर किसी की मोनोपोली (एकाधिकार) नहीं है और न ही किसी एक व्यक्ति या जाति आदि का ठेका है। उसे कोई भी, किसी भी जाति, धर्म-सम्प्रदाय, देश, वेष या पंथ का व्यक्ति पालन कर सकता है, बशर्ते कि वह दशविध श्रमणधर्मो से युक्त हो और जो मुनि इस प्रकार से इन्द्रियविषयो मे रमणता (आसक्ति)

से दूर होगा, उसे ही आत्मरामी कहा जाएगा।

आत्मरामी का मुख्य लक्षण यह है कि वह कामना (स्वार्थ, लोभ, प्रसिद्धि आदि की लिप्सा, सुख-सुविधाओ की लालसा) तथा काम (पाँचों इन्द्रियों के विषयो की आसक्ति, गुलामी, मूर्च्छा) से रहित हो, दूर हो, उसे ही केवल आत्मरामी समझो, जो निष्काम व निःस्पृह हो।

जीवो के दो भेद है—सिद्ध और संसारी। जो सिद्ध, बुद्ध, मुक्त परमात्मा है, वे तो अध्यात्म के चरम शिखर पर पहुच चुके है। परन्तु जो संसारी है, वे संसार में ही सुख मानते है, उसी में मस्त रहते है, वे एक या अधिक इन्द्रियों के विषयो मे आनन्द मानते है। चाहे जिस उपाय से इन्द्रियसुखो को प्राप्त करने की लालसा रखते है। इन्द्रियसुख कम होने पर उससे सन्तोष न मान कर वे, येन-केन-प्रकारेण नैतिक-अनैतिक रूप से इन्द्रियों के विषयभोगो को भोगते हैं, रात-दिन उनके गुलाम बने रहते हैं, इसके फलस्वरूप वे संसार के जन्ममरण के चक्र मे फसे रहते है, उनके संसार-परिभ्रमण का अन्त आता ही नही। एक गति से निकल कर दूसरी मे, एक योनि से निकल कर दूसरी योनि मे जाते है। इस प्रकार वे ससार मे चक्कर लगाते रहते हैं, परन्तु कई लोग इस भूमिका से बहुत ऊंचे उठे हुए होते है, वे पर्याप्त सुख मिलते हुए भी उन्हे तिलांजलि दे उनसे बिलकुल उदासीन, अनासक्त या निरपेक्ष रहते हैं। जो वास्तविक मुनि या श्रमण है, वे अपने गुणो—क्षमादि दशविध श्रमणधर्मो अथवा ज्ञानादि आत्मगुणो मे रमण करते है। वे साधुगुणो में मस्त रह कर उनके अनुरूप ही सबको उपदेश देते हैं। यद्यपि मुनि भी अभी तक साधक हैं, वे सिद्ध या मुक्त नही हुए, तब तक संसारी हैं, तथापि वे अपने सर्वस्व ध्यान, चिन्तन, शक्ति, वाणी आदि का उपयोग आत्मिक गुणों—ज्ञान, दर्शन, चारित्र और वीर्य मे करते हैं, संसार मे रहते हुए भी आत्मिक गुणो (अथवा यतिधर्म) मे रमण करते हैं। उनमे और सामान्य संसारी जीव में यह अन्तर है।

इसके बावजूद भी मुनियों (अथवा साधु-सन्यासियों के वेष) मे भी बहुत-से पुद्गलानन्दी, इन्द्रियासक्त होते हैं, उन्हें आत्मरामी मानना यथार्थ नही है। जिनके मन-वचन-काया के योग इन्द्रियो के शब्दादिविषयों से निरपेक्ष, अनासक्त व निःस्पृह रह कर स्वस्वरूप अथवा ज्ञानादि गुणमय आत्मा में ही रमण करते हैं, उन्हे ही मुख्यतया आत्मरामी समझना चाहिए। अब अगली गाथा मे श्रीआनन्दघनजी परमात्मा मे जो सच्चे अध्यात्म का गुण पूर्णतया विक…

है, उस अध्यात्म की कसौटी बताते हैं–

निजस्वरूप जे किरिया साधे, ते अध्यातम लहीये रे।
जे किरिया करी चउगति साधे, ते न अध्यातम कहीये रे।।
श्री श्रेयांस.।।3।।

***अर्थ*–जिस क्रिया से सच्चे अर्थ में निजस्वरूप को प्राप्त करने या स्वरूप में स्थिर होने की साधना की जाती है, वह अध्यात्म-क्रिया है। परन्तु जिस क्रिया के करने से नरकादि चारों गतियों में से कोई एक गति मिलती हो, उसे अध्यात्म मत समझो।**

***भाष्य*–'अध्यात्म' की कसौटी**

बहुत-से लोग 'अध्यात्म' के नाम से अनेक प्रकार की कठोर क्रियाएँ करते है, उनकी उन क्रियाओ को देख कर साधारण लोग, यहाँ तक कि क्रियाकाण्ड प्रिय साधक भी वाह–वाह कर उठते है। वे उन्हे आध्यात्मिक या आत्मा के खटके वाले मॉगने लगते है और वे स्वय भी कई बार किसी के द्वारा पूछे जाने पर यही जबाव देते है कि 'हम ये सब क्रियाएँ अपनी आत्मा के लिए करते है। परन्तु उनके अन्तर की तह मे आत्मा के लिए वे क्रियाएँ होती नहीं, वे प्रायः की जाती है–अपनी प्रसिद्धि, किसी पद या प्रतिष्ठा की लिप्सा या किसी स्वार्थ लालसा से प्रेरित हो कर। कई साधको के हृदय मे अपनी कठोर क्रियाओ के फलस्वरूप देवलोक या स्वर्गसुख प्राप्त करने की कामना होती है अथवा कुछ तथाकथित अध्यात्मिक मनुष्यलोक मे ही लोगो को अपनी तरफ आकर्षित करने के लिए दूसरे साधको को अपने से हीन व निकृष्ट बता कर उनके प्रति लोकमानस मे घृणा फैलाने का काम करते है। अथवा फूक-फूक कर कदम रख कर, मैले-कुचैले फटे-से-कपडे गन्दगीभरा शरीर एव पैरो मे बिवाई फट जाने पर भी दवा न लगा कर अपने तथाकथित बाह्य त्याग और वैराग्य की छाप लोगो पर डाल कर आध्यात्मिक कहलाने का प्रयास करते है। अतः श्रीआनन्दघनजी ने 'अध्यात्म' के नाम से दुनिया मे प्रचलित बातो में खरी-खोटी की कसौटी बता दी कि जो लोग अपने अन्तर मे स्वस्वरूप के लक्ष्य को छोड कर सिर्फ स्वर्गादि लक्ष्य की दृष्टि से क्रिया करते है, उनकी वह क्रिया या प्रवृत्ति सचे माने में आध्यात्मिक नहीं कही जा सकती। स्वर्ग प्राप्ति दुनियादार लोगो को आकर्षक लगती है, वे अध्यात्म का सस्ता नुस्खा खोजते फिरते है, इसलिए कई ढोगी साधक उनको चक्कर मे फसा कर योगादि क्रियाएँ या अन्य

उटपटांग क्रियाएँ बता कर अपना उल्लू सीधा कर लेते है, मगर उनकी वह क्रिया कतई आध्यात्मिक नहीं होती। आध्यात्मिक या अध्यात्म उसे ही कहा जा सकता है, जिसमे तमाम क्रियाएं या प्रवृत्तियां स्वरूप के लक्ष्य से की जाती हों।

अन्य क्रियाएँ और स्वस्वरूपलक्ष्यी क्रिया

आध्यात्मिक जगत् में पाँच प्रकार की क्रियाएँ मानी जाती है– 1 विषक्रिया, 2. गरलक्रिया, 3 अननुष्ठानक्रिया, 4 तद्हेतुक्रिया, और 5 अमृतक्रिया। इन पाँचो क्रियाओ मे विष और गरलक्रिया मे किसी न किसी कामना के वशीभूत हो कर मनुष्य निदान करता है, अथवा किसी को मारने या नुकसान पहुँचाने की दृष्टि से। इसलिए बाहर से अध्यात्मलक्ष्यी दिखाई देने वाली क्रिया भी निदान-विष से दूषित होने के कारण अध्यात्म नहीं कही जा सकती। जो क्रिया करने योग्य है, उसे न करना अननुष्ठान क्रिया है, वह भी किसी अपेक्षा से त्याज्य है, किसी अपेक्षा से उपादेय है। तथा तद्हेतुक्रिया और अमृतक्रिया ये दोनों स्वरूपलक्ष्यी व आत्मगुणविकासलक्षी होने से सर्वथा उपादेय हैं, समादरणीय है, अध्यात्मरूप है। चाहे जैसी उटपटांग क्रिया को या अमुक ज्ञान की प्राप्ति को अध्यात्म नही कहा जा सकता।[1]

स्पष्ट शब्दो मे कहे तो जिस क्रिया से आरम्भ, परिग्रह (अनात्मपदार्थ पर ममता) आदि कार्य-कारण भावयुक्त क्रिया से अथवा इन्द्रियो के शब्दादि विषय, क्रोधादि कषायभाव से युक्त क्रिया से साधक को नरक, तिर्यंच, मनुष्य, देव आदि गतियो मे से कोई भी गति मिले, तद्रूप क्रियात्मक साधना आध्यात्मिक नही समझी जाती। परन्तु निश्चयदृष्टि से निजस्वरूप और व्यवहारदृष्टि से अहिंसा, सत्य, जप-तप आदि-सहित मन-वचन-काया की निर्बन्ध क्रिया है, जो निज-पद को साधने मे बहुत उपयोगी है। उसी क्रिया को आध्यात्मिक क्रिया मानी गई है, जो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की ही क्रिया है तथा अप्रमत्तभाव से विषयकषायादि से रहित या अनात्मपदार्थ पर ममता से दूर रह कर क्रिया की जाय, वह भी अध्यात्मक्रिया है।

---

1. मालूम होता है श्रीआनन्दघनजी के युग मे चैत्यवाद का बहुत जोर था, या भक्तिमार्गीय सम्प्रदायो में बाह्याडम्बर, चमत्कार एवं मंत्रादि का जोर था, इन सबकी ओट मे अध्यात्म का नारा लगाया जाता था। इसी कारण [illegible] को अध्यात्म का सच्चा अर्थ करना पड़ा।

अगली गाथा में अध्यात्म को चार निक्षेपों से समझा कर हेयोपादेय का विवेक बताते हुए श्रीआनन्दघनजी कहते हैं–

नाम अध्यातम, ठवण अध्यातम, द्रव्य अध्यातम छंडो रे।
भावअध्यातम निजगुण साधे, तो तेहशुं रढ़ मंडो रे।।
श्रीश्रेयांस. ।।4।।

अर्थ–**नाममात्र (कहने भर) का अध्यात्म, स्थापनाभर का अध्यात्म तथा अध्यात्म के ज्ञाता का मृत शरीर जहाँ छुटा है, वह स्थान-विशेष द्रव्य-अध्यात्म इन तीनों प्रकार के अध्यात्मों को छोड़ो, जिससे निज आत्मगुणों की साधना होती हो, ऐसा भाव-अध्यात्म हो तो उसमें जुट पड़ो, उसी की धुन में लग जाओ।**

***भाष्य*–अध्यात्म : कौन-सा हेय, कौन-सा उपादेय?**

श्रीआनन्दघनजी ने इसमे और अगली गाथाओ मे अध्यात्म का सागोपाग विश्लेषण करके हेय और उपादेय का विवेक बताया है।

जहॉ अध्यात्मशब्द की या आत्मा–आत्मा की केवल रटन हो, उसका कोई अर्थ समझ मे न आता हो, नाममात्र का अध्यात्म हो, यानी 'अध्यात्म' की भावना से रहित किसी जीव या पुद्गल का नाम 'अध्यात्म' रख दिया जाय तो ऐसे नाम–अध्यात्म से आत्मसिद्धि नहीं होती। अतः वह त्याज्य है। इसी प्रकार किसी कागज पर अध्यात्म शब्द लिख दिया जाय या अध्यात्म शब्द का कोई कल्पित चित्र या मूर्ति बना कर अध्यात्म की स्थापना कर दी जाय, उसमे अध्यात्म का कोई गुण नही होता। ऐसा स्थापना 'अध्यात्म' भी त्याज्य है। अध्यात्म के नाम से जहॉ हठयोग की रेचकपूरक आदि क्रियाएँ करके अध्यात्म का प्रदर्शन किया जाता हो, आत्मा की अन्तरवृत्ति जरा भी सुधरी न हो, वहॉ द्रव्य-अध्यात्म है, अथवा शुष्क आध्यात्मिक ग्रन्थ समझे बूझे बिना पढने-बोलने वाला उपयोगशून्य वक्ता भी द्रव्य अध्यात्म है, अथवा अध्यात्मज्ञाता के मृत शरीर को या जहॉ उसका शरीर छूटा है, उस स्थान को अध्यात्म कहना द्रव्य अध्यात्म है। यह भी आत्मस्वरूप की साधना मे उपयोगी न होने से त्याज्य है। नाम, स्थापना और द्रव्य–ये तीनो प्रकार के अध्यात्म जानने योग्य है, अपनाने योग्य नहीं, छोडने योग्य है। ये तीनो भाव अध्यात्म मे सहायक न हो तो त्याज्य है।

अध्यात्म का वास्तविक स्वरूप यह है कि जो अपने आत्मगुणो को प्रगट करे, साधे, वही भाव–अध्यात्म है। 'आत्मानमधिकृत्य वर्तते इत्यध्यात्मम्'

इस व्युत्पत्ति के अनुसार जो आत्मा के स्वरूप को ले कर प्रवृत्त हो, वह अध्यात्म है। ऐसा भाव अध्यात्म, जिससे निजगुणों की साधना हो, आत्मा की सिद्धि हो, उसे साधा जा सके, उसे देखते ही उसे अपना कर उसमें तत्काल जुट पडो। अपनी आत्मा को उसमे जोड दो।

चूँकि पूर्वोक्त नामादि तीन प्रकार के अध्यात्म को अपनाने से कोई आत्मिक लाभ नहीं हो सकता, ससार के जन्ममरण के चक्र से छूट कर निरजन-निराकार स्थिति उनसे प्राप्त नही हो सकती। हमारा लक्ष्य मोक्षगमन या परमात्मपद-प्राप्ति है, जो भाव-अध्यात्म के अपनाने से ही पूरा हो सकता है। भाव-अध्यात्म स्वाध्याय, ध्यान, तप, सयम तथा ज्ञानोपयोगसहित क्रिया है, जो मोक्षमार्ग के कारणभूत है। इसीलिए श्रीआनन्दघनजी नाम, स्थापना और द्रव्य-अध्यात्म को छोड कर सिर्फ भाव-अध्यात्म में डुबकी लगाने पर जोर दे रहे है, वास्तव मे भाव-अध्यात्म ही अन्दर-बाहर की स्थिति एक सरीखी रह कर अपने आत्मिकगुणो मे प्रवृत्ति करा कर अपने आत्मगुणो को प्रगट कराता है। उन्हीं मे रमण कराता है । इसीलिए भाव-अध्यात्म ही उपादेय है, उसी मे जीवन की सफलता है।

परन्तु यहाँ एक बात की चेतावनी परिलक्षित होती है कि जो बाहर से भाव-अध्यात्म प्रतीत होता हो, लेकिन जो निजगुण नहीं साध सके, उसे भाव-अध्यात्म मत समझो और उस अध्यात्माभास के पीछे मत पडो।

भाव-अध्यात्म की भी, ऊंची-नीची कई श्रेणियां होती ह। उच्च-उच्च श्रेणी पर पहुंचने के बाद नीचे-नीचे की श्रेणियां छोडनी आवश्यक है। जहाँ तक उच्च श्रेणी पर नहीं पहुँचे, वहाँ तक जिस श्रेणी (भूमिका) पर आत्मा स्थित हो, उस श्रेणी की साधना दृढतापूर्वक करनी चाहिए, जिससे उच्च श्रेणी प्राप्त हो जाय।

भाव-अध्यात्म की यथार्थ शुरूआत तो सम्यग्दर्शन की प्राप्ति से ही हो जाती है, परन्तु आत्मविकास का उद्देश्य सिद्ध करने के लिए **'पंचाऽऽचारचरिया'** यानी पाँच, आचारो के आचरण से इसकी शुरुआत मानी जाती है, जिसे एव भूतनय से **अध्यात्म** माना जा सकता है। मैत्री आदि भावनाओ से जब मन वासित होने लगे, तब ऋजुसूत्रनय से **अध्यात्म** समझना चाहिए। अन्तिम पुद्गलपरावर्तन मे प्रविष्ट आदि धार्मिक जीव मे अपुनर्बन्धक या सकृत्बन्धक भाव आने के बाद से नैगमनय से अध्यात्म माना जा सकता है। अप्रमत्त भाव से लेकर 14वें अयोगीकेवली गुणस्थान तक तो परमनिश्चयनय का भाव-अध्यात्म [illegible]

सकता है। उसी के उतार-चढाव के ये अनेक भेद है।

अब अगली गाथा में शब्द और अर्थ की दृष्टि से अध्यात्म का विश्लेषण करते हैं-

शब्द-अध्यातम अर्थ सुणी ने, निर्विकल्प आदरजो रे।
शब्द-अध्यातम भजना जाणी, हान-ग्रहण-मति धरजो रे।।
श्रीश्रेयांस।।5।।

अर्थ-**अध्यात्मशब्दमात्र जान कर उसका यथार्थ अर्थ सुनो और फिर समस्त विकल्प छोड़ कर भावार्थ का स्वीकार करो। शब्दमात्र-अध्यात्म में यथार्थता (सत्यता) हो भी सकती है, नहीं भी हो सकती है। यों समझ कर जिसमें आत्मसिद्धि होने में शंका हो, किसी प्रकार का कल्याण न होता हो, वैसे नामादि अध्यात्म का त्याग करो और जिस भाव-अध्यात्म से अपने निजात्म-गुणों में रमणता होने से स्वरूप सिद्धि होती हो, वहाँ उसे ग्रहण करो।**

भाष्य-**निर्विकल्प शब्द-अध्यात्म ही उपादेय है**

इस गाथा मे पुनः निर्विकल्प भाव-अध्यात्म को अच्छी तरह ठोक-बजा कर अपनाने की बात कही है कि अध्यात्मशब्द को सुनते ही एकदम चौक मत पडो। संभव है, तुम्हे लम्बे-चौडे अध्यात्मशास्त्र के पोथो की अपेक्षा एक छोटे-से वाक्य मे अध्यात्म का सार मिल जाय। परन्तु सुनने के बाद उस पर विचार करो, उसे जाचो-परखो और उसमे से शुद्ध आत्मा के अतिरिक्त विकल्पमात्र को दूर करके उसे निर्विकल्पक रूप में अपनाओ। यह जरूर देखो कि उस अध्यात्म के साथ कही आगे-पीछे कोई परपदार्थ का (स्वार्थ, अभिमान, दम्भ, द्रोह, मोह, कामना आदि का) विकल्प तो नहीं लगा है? जब तुम वास्तविक अध्यात्म का अर्थ समझ कर उसे अपनाओगे तो तुम्हें सच्चा आनन्द आएगा, जिसकी तुलना में दुनिया की कोई भी वस्तु नहीं है। परन्तु अध्यात्म शब्द के मोह मे मत फसना, क्योकि मोह तो जगत् मे फॅसाने वाला है। अतः अध्यात्म शब्द को सुन कर उसकी जो कसौटियॉ पहले बताई गई है- **'निजस्वरूप जे किरिया साधे तेह अध्यात्म लहिये रे'** आदि; उनके अनुसार तथा नाम, स्थापना और द्रव्य अध्यात्म का त्याग करके सिर्फ सच्चे माने मे भाव-अध्यात्म तुम्हारी बुद्धि को जचे, उसे अपनाओ। सभी अध्यात्मशास्त्रो मे उक्त शब्द-अध्यात्म में गुण भी हो सकता है, नहीं भी हो सकता है। नयों की

सहायता से जहाँ गुण न हो तो, वहाँ उसे छोडने की और जहाँ गुण हो वहाँ ग्रहण करने की बुद्धि रखना। कोरे अध्यात्मशास्त्र के नाम से प्रभावित मत हो जाना।[1] अध्यात्मशब्द का प्रतिपादन करने वाले तथाकथित आध्यात्मिक मे खुद में अध्यात्म है या नहीं? यह देखना। अन्यथा अध्यात्म की कोरी व्याख्या से तुम झूम उठोगे, पर आध्यात्मिक के जीवन मे पूर्वोक्त आध्यात्मिकता नही होगी, तो तुम्हे भी वह कैसे तार सकेगा, जब कि वह स्वय तर नही सका है?

अथवा इस गाथा का यह भी अर्थ हो सकता है कि आध्यात्मिक शास्त्ररूपी शब्द-अध्यात्म मे से उसका विस्तृत अर्थ सुन कर अन्त मे निर्विकल्पदशा ही अपनाना। चूंकि भाव-अध्यात्म निर्विकल्पदशा प्राप्त करने के लिए ही है। शास्त्र तो अमुक हद तक ही सहायक हो सकते है। अन्त मे तो निर्विकल्प दशा पर पहुँचना है, जहाँ पहुच जाने पर उदासीनभाव प्राप्त होने से कुछ भी लेना (ग्रहण) या छोडना (हान) नही होता। अथवा इस गाथा का एक अर्थ यह भी है कि शब्दनय की अपेक्षा से अध्यात्म की भावनाओ अलग-अलग कक्षाओ का भेद जान लेने के बाद त्याग या स्वीकार की बुद्धि नही रहती। विषयो के प्रति स्वतः ही तटस्थता-उदासीन हो जाती है। अध्यात्मसाधना किसलिए करनी चाहिए? तथा उसका प्रयोजन और उच्च ध्येय क्या है? यह बात श्रीआनन्दघनजी ने **'निर्विकल्प आदरजो रे'** कह कर सूचित की है।

अध्यात्म का स्वरूप भलीभाँति समझाने के बाद अब अन्तिम गाथा मे श्रीआनन्दघनजी आध्यात्मिक पुरुष का लक्षण बताते है–

[2]अध्यातमी जे वस्तुविचारी, बीजा जाण[3] लबासी रे।
वस्तुगते जे वस्तु प्रकाशे, आनन्दघन-मतवासी रे।।
श्री श्रेयांस।।6।।

अर्थ–जो अध्यात्म मार्ग में लीन हैं, वे वस्तुतत्त्व का विचार करने वाले होते हैं, बाकी के दूसरे लोग तो कोरे लबार हैं–अध्यात्म की बकवास करते है। वस्तु को

1 उत्तराध्ययन सूत्र मे स्पष्ट कहा है–

भणंता अकरंता य बंधमोक्खपइण्णिणो।
वायावीरियमेत्तेण समासासेंति अप्पयं।।

2 किसी-किसी प्रति मे **'अध्यातमी'** के बदले 'अध्यात्म' शब्द है, वहाँ अर्थ होता है– 'अध्यात्म' मे तो वस्तु का विचार ही होता है।

3 'जाण' के बदले कहीं-कही 'बधा' शब्द है।

जैसी है, उस रूप में जो (वस्तुतत्त्वरूप में) प्रकट करते हैं, यथार्थ रूप से उस पर प्रकाश डालते हैं, वे ही आनन्द के समूह रूप आत्मा के (अध्यात्म) के मत में निवास करने (स्थिर रहने) वाले हैं।

***भाष्य*–आध्यात्मिक कौन और कैसे?**

श्रीआनन्दघनजी इस स्तुति की अन्तिम गाथा में आध्यात्मिक की यथार्थ पहिचान बताते है और जो आध्यात्म के नाम से थोथी बकवास करते है, उन्हे लबार समझ कर उनका संग छोडने की बात सूचित करते है। वास्तव में अध्यात्म का विषय इतना गहन है, इतनी चिरकालीन साधना की अपेक्षा रखता है कि राह चलता व्यक्ति आत्मा की दो चार रटी-रटाई बाते कह देने मात्र से आध्यात्मिक नहीं माना जा सकता है। आध्यात्मिक की सच्ची पहिचान यही है कि जो किसी वस्तु पर विभिन्न नयो, पहलुओ एव दृष्टिबिन्दुओं से विचार करते है, उस पर भलीभांति श्रद्धा रखते है, समझते है, अध्यात्म के पूर्वोक्त लक्षण के अनुसार वस्तु को सत्य की कसौटी पर कसते है, जो वस्तु गुणों मे सही नहीं उतरती, उसे पकडे रखने का मोह नही रखते, उसे तुरन्त छोड देते है, गुणो मे सही उतरने वाली वस्तु को पकडते है, उसे ही यथार्थ रूप मे प्रकाशित (प्रगट) करते है।

वे झूठी प्रतिष्ठा के मोह मे पड कर झूठी वस्तु को पकडे रखते है और न ही झूठी सिद्ध होने वाली वस्तु को पूर्वाग्रहवश सच्ची सिद्ध करने की कोशिश करते है। सच्चे आध्यात्मिक पुरुष वे ही है, जो किसी शर्म-लिहाज या मुलाहिजे में न आ कर किसी से भयभीत न हो कर वस्तु का जैसा स्वरूप है उसे उसी रूप मे सोलह–आना प्रगट करते है। चाहे उनसे कोई एकान्त मे पूछ लो, चाहे मेरी सभा मे पूछ लो, वे सोये हो या जागते हो, वस्तु के सत्य-स्वरूप को प्रगट करने से कभी हिचकिचाएंगे नही, न उसे छिपाने का प्रयत्न करेगे। सच्चे आध्यात्मिक के इस लक्षण के सिवाय बाकी के जो भी लोग अध्यात्म का ढोल पीटने वाले है, या अध्यात्म की रट लगा कर भोली जनता को उलटी-सीधी बात समझा कर आध्यात्मिक होने का दावा करते है या आध्यात्मिक के नाम से प्रसिद्ध हो जाते है, उन्हें वाचाल समझना चाहिए।

किन्तु जो यथार्थरूप से वस्तुतत्त्व का प्रकाशन करते है, वे आनन्दमय आत्मा के मत (अध्यात्म) मे स्थायी रूप से टिक जाते है। वे आध्यात्मिकता से पतित या स्खलित नही होते, सदा के लिए स्थिर हो जाते है।

सारांश—श्रीश्रेयासनाथजिन (परमात्मा) की स्तुति के माध्यम से श्रीआनन्दघनजी ने परमात्मा को पूर्ण आध्यात्मिक और आत्मरामी, नामी, अन्तर्यामी व मोक्ष गामी बता कर परमात्मपद-प्राप्ति के लिए उक्त आदर्श सूचित करके तत्पश्चात् आत्मरामी एव अध्यात्म का लक्षण, अध्यात्म का विश्लेषण और अन्त मे सच्चे आध्यात्मिक की पहिचान बता कर अध्यात्मशास्त्र का नवनीत प्रस्तुत कर दिया है। वास्तव मे पूर्ण अध्यात्मदशा को प्राप्त करने के लिए सच्चा आध्यात्मिक बन कर आत्मोत्थान के शिखर तक क्रमशः पहुँचना आवश्यक है।

***

जैसी है, उस रूप में जो (वस्तुतत्त्वरूप में) प्रकट करते हैं, यथार्थ रूप से उस पर प्रकाश डालते हैं, वे ही आनन्द के समूह रूप आत्मा के (अध्यात्म) के मत में निवास करने (स्थिर रहने) वाले हैं।

_भाष्य_–आध्यात्मिक कौन और कैसे?

श्रीआनन्दघनजी इस स्तुति की अन्तिम गाथा मे आध्यात्मिक की यथार्थ पहिचान बताते है और जो आध्यात्म के नाम से थोथी बकवास करते है, उन्हे लबार समझ कर उनका सग छोडने की बात सूचित करते है। वास्तव में अध्यात्म का विषय इतना गहन है, इतनी चिरकालीन साधना की अपेक्षा रखता है कि राह चलता व्यक्ति आत्मा की दो चार रटी-रटाई बातें कह देने मात्र से आध्यात्मिक नही माना जा सकता है। आध्यात्मिक की सच्ची पहिचान यही है कि जो किसी वस्तु पर विभिन्न नयो, पहलुओ एव दृष्टिबिन्दुओ से विचार करते है, उस पर भलीभांति श्रद्धा रखते है, समझते है, अध्यात्म के पूर्वोक्त लक्षण के अनुसार वस्तु को सत्य की कसौटी पर कसते है, जो वस्तु गुणो मे सही नहीं उतरती, उसे पकडे रखने का मोह नहीं रखते, उसे तुरन्त छोड देते है, गुणों में सही उतरने वाली वस्तु को पकडते है, उसे ही यथार्थ रूप मे प्रकाशित (प्रगट) करते है।

वे झूठी प्रतिष्ठा के मोह मे पड कर झूठी वस्तु को पकडे रखते है और न ही झूठी सिद्ध होने वाली वस्तु को पूर्वाग्रहवश सच्ची सिद्ध करने की कोशिश करते है। सच्चे आध्यात्मिक पुरुष वे ही है, जो किसी शर्म-लिहाज या मुलाहिजे मे न आ कर किसी से भयभीत न हो कर वस्तु का जैसा स्वरूप है उसे उसी रूप मे सोलह–आना प्रगट करते है। चाहे उनसे कोई एकान्त मे पूछ लो, चाहे मेरी सभा मे पूछ लो, वे सोये हो या जागते हो, वस्तु के सत्य-स्वरूप को प्रगट करने से कभी हिचकिचाएगे नहीं, न उसे छिपाने का प्रयत्न करेगे। सच्चे आध्यात्मिक के इस लक्षण के सिवाय बाकी के जो भी लोग अध्यात्म का ढोल पीटने वाले है, या अध्यात्म की रट लगा कर भोली जनता को उलटी-सीधी बात समझा कर आध्यात्मिक होने का दावा करते है या आध्यात्मिक के नाम से प्रसिद्ध हो जाते है, उन्हे वाचाल समझना चाहिए।

किन्तु जो यथार्थरूप से वस्तुतत्त्व का प्रकाशन करते है, वे आनन्दमय आत्मा के मत (अध्यात्म) मे स्थायी रूप से टिक जाते है। वे आध्यात्मिकता से पतित या स्खलित नही होते, सदा के लिए स्थिर हो जाते है।

सारांश—श्रीश्रेयांसनाथजिन (परमात्मा) की स्तुति के माध्यम से श्रीआनन्दघनजी ने परमात्मा को पूर्ण आध्यात्मिक और आत्मरामी, नामी, अन्तर्यामी व मोक्ष गामी बता कर परमात्मपद-प्राप्ति के लिए उक्त आदर्श सूचित करके तत्पश्चात् आत्मरामी एवं अध्यात्म का लक्षण, अध्यात्म का विश्लेषण और अन्त मे सच्चे आध्यात्मिक की पहिचान बता कर अध्यात्मशास्त्र का नवनीत प्रस्तुत कर दिया है। वास्तव मे पूर्ण अध्यात्मदशा को प्राप्त करने के लिए सच्चा आध्यात्मिक बन कर आत्मोत्थान के शिखर तक क्रमशः पहुँचना आवश्यक है।

***

12. श्रीवासुपूज्य-जिन-स्तुति–

विविध चेतनाओं की दृष्टि से परम आत्मा का ज्ञान

(तर्ज–तुंगियागिरि शिखर सोहे, राग–गोडी तथा परज)

वासुपूज्य जिन त्रिभुवनस्वामी, घननामी,[1] परनामी रे।
निराकार साकार सचेतन, करम-करमफल-गामी रे।।

वासु.।।1।।

_अर्थ_–श्री वासुपूज्य नामक बारहवें तीर्थंकर वीतराग परमात्मा हैं। ऊर्द्धवलोक, अधोलोक और तिर्यग्लोक, इन तीनों लोकों के स्वामी हैं। वे शुद्ध चैतन्य धातुमय या अनेक नामवाले अथवा नित्य हैं; तथा आत्मगुणों के रागादिरूप शत्रुओं को नमाने वाले अथवा परिणामी (रूपान्तर होने वाले) भी हैं। वे प्रभु दर्शनोपयोग के कारण निराकार भी हैं और ज्ञानोपयोग के कारण साकार भी हैं एवं ज्ञानादिचतुष्टय से ज्ञानचेतनामय कर्म और कर्म के फल के कामी हैं।

_भाष्य_–विविध दृष्टियों से परमात्मा में निहित गुण

पूर्वस्तुति मे वीतराग-परमात्मा को अध्यात्म के चरमशिखर पर चढने के लिए आदर्शरूप मान कर अध्यात्म की एव आध्यात्मिक बनने की प्रेरणा है, किन्तु आध्यात्मिक बनने के लिए शुद्ध (परम) आत्मा मे निहित विविध आत्मगुणो का ज्ञान होना अनिवार्य है। ऐसा सोच कर श्रीआनन्दघनजी इस स्तुति मे परम (शुद्ध) आत्मा के गुणो का वर्णन विविध दृष्टियो से करते है।

चूकि भारत के बहुत-से दर्शन आत्मा को कूटस्थ नित्य मानते हैं। बौद्धदर्शन आत्मा को क्षणिक परिणामी मानता है। कोई दर्शन आत्मा को रागादिमय (प्रकृतिमय) मानते है और कोई दर्शन आत्मा को सदा-सर्वदा एकान्त ज्ञानमय मानता है, कोई कर्ममय और कोई कर्मफलचेतनामय मानता है। इन सब एकान्तवादी दार्शनिको की एकान्त मान्यता को अस्वीकार करते

---

1 कही कही 'परनामी' के बदले 'परिणामी' पाठ भी है।

हुए श्रीआनन्दघनजी अनेकान्तदृष्टि से सापेक्षरूप से शुद्ध आत्मा के विविध रूपों का वर्णन परमात्मा की स्तुति के बहाने करते है।

मतलब यह है कि साधारण भव्य आत्मा को अगर परमात्मा से मिलना हो तो उसे सर्वप्रथम यह सोचना होगा कि मै कौन हूॅ? आत्मा कौन है? परमात्मा कौन व कैसे है? मै नित्य, कूटस्थ(सदासर्वदा) नित्य हूॅ या परिणामी (परिवर्तन-रूपान्तरशील) भी हूॅ? मेरी आत्मा निराकार ही है या वह आकार भी धारण करती है? वह पंचभूतमय अचेतन ही है या शरीर के साथ रहते हुए सचेतन भी है? यदि आत्मा केवल ज्ञानचेतनामय है तो फिर शरीर के साथ उसका क्या लेना-देना है? और वह इस गति, योनि या देह मे कैसे आ गई? यदि कहे कि कर्मो के कारण आ गई; तब क्या आत्मा कर्मचेतनामय भी है? यदि कर्मचेतनामय है तो रहे, किन्तु वह तो सभी संसारी जीवो के साथ समानरूप से है। फिर एक को कम दुःख, एक को अधिक, एक मन्दबुद्धि, एक तीव्रबुद्धि, ऐसा संसार मे क्यो दिखाई देता है? ऐसी विविधता है, तब तो कहना चाहिए कि आत्मा कर्मफलचेतनामय भी है। इन सब बातो का रहस्य श्रीआनन्दघनजी ने परमात्मा की स्तुति के माध्यम से खोल कर रख दिया है। परमात्मा से निहित शुद्ध आत्मा के गुणो तथा आत्मा के विविध रूपो का ज्ञान हो जाना ही वास्तव मे अध्यात्मज्ञान है। ऐसा अध्यात्मज्ञान हो जाने पर साधक को परमात्मा से मिलने मे आसानी हो जाती है।

अतः इस गाथा में परमात्मा यानी शुद्ध आत्मा को त्रिभुवनस्वामी कहा गया है। आत्मा जब रागद्वेषादि विकारशत्रुओ को जीत कर शुद्धचैतन्य पर अपना आधिपत्य जमा लेती है; तो तीनो लोको में कोई ऐसी शक्ति नहीं, जो उसे हटा सके, दबा सके, जीत सके। तीनो लोकों मे वह आत्मा सबसे बढकर शक्तिमान व अनन्तवीर्यमय होने से वह तीनो भुवन से ऊपर उठ कर तीनो भुवनो की स्वामी बन जाती है। शुद्ध-बुद्ध-मुक्त बनी हुई आत्मा फिर कही जन्म-मरण नही करती, कोई कर्मबन्धन नही करती, परन्तु साथ ही वह ज्ञानादि मे परिणमन करती है, इसलिए परिवर्तन=(परिणाम) शील भी है। वह एकान्त कूटस्थ नित्य नही है। ससारी आत्माए भी निश्चयदृष्टि से नित्य एव अविनाशी होते हुए भी विविध गतियो मे भ्रमण करने के कारण परिणमन-परिवर्तनशील है, अथवा शरीर धारण करने के साथ-साथ आत्मा के अनेक नाम-रूप हो जाते है। परमात्मा की एक आत्मा के भी जिन, वीतराग आदि या ऋषभ

अजित आदि अथवा तीर्थंकर जगद्गुरु केवलज्ञानी, विश्ववत्सल आदि अनेकों नाम-रूप हो जाते हैं। साथ ही पर यानी शत्रु–(आध्यात्मिक दृष्टि से आत्मा के गुणो का घात करने वाले) कर्मो या रागद्वेषादिविकारो-परभावो रूपी शत्रुओ को परमात्मा नमा देते है। वे उन्हे अपने पर हावी नही होने देते। न अपनी आत्मा को दबाने देते है; इस दृष्टि से वे परनामी है। इसी प्रकार ससारी आत्मा भी परनामी बन सकती है; बशर्ते कि वह रागद्वेषादिविकारो या आत्मगुणघातक कर्मों, (जो कि परभाव हैं, आत्मा के शत्रु है) से दूर रह कर स्वभाव मे ही रमण करे।

परमात्मा की आत्मा जब शुद्ध, बुद्ध, सिद्ध (मुक्त) हो जाती है, तब वह सर्वथा निराकार हो जाती है अथवा निश्चयदृष्टि से समस्त आत्माएँ अपने आप में अरूपी, अमूर्त होने से निराकार है, इसलिए परमात्मा भी निराकार है। परन्तु व्यवहारदृष्टि से शरीर के साथ सयोग होता है, अथवा वीतरागप्रभु की आत्मा भी जब तीर्थंकर-अवस्था मे देह मे स्थित (शरीरव्यापी) रहती है, तब उनकी आत्मा और ससारी आत्माएँ भी साकार सचेतन कहलाती है। अथवा परमात्मा मे साकार (ज्ञान) उपयोग के कारण साकार ज्ञानचेतना और निराकार (दर्शन) उपयोग के कारण निराकार ज्ञानचेतना होती है। यही समस्त ससारी जीवो में भी होती है। अथवा वीतरागप्रभु (तीर्थंकररूप मे) जब देशना (उपदेश) देते है, तब वे शशरीरी होने से साकार होते है और जब मोक्ष मे चले जाते है तब निराकार हो जाते है। इस दृष्टिबिन्दु से आत्मा के दो प्रकार हुए–जो वीतराग प्रभु मे घटित होते है। प्रत्येक आत्मा को इन दो प्रकारो से समझना चाहिए। आत्मा की भिन्न-भिन्न अवस्थाओ के कारण उसे साकार और निराकार कहने में जरा भी विरोध नहीं है। क्योंकि व्यवहारदृष्टि से ये सब भेद अवस्थाभेद के कारण से है। निश्चयदृष्टि से आत्मा के कोई भेद नहीं होता।

इसी तरह व्यवहारनय की दृष्टि से आत्मा भावकर्म का कर्त्ता है और भावकर्मफल का कामी (भोक्ता या अभिलाषी) है। प्रत्येक आत्मा जब तक इस संसार मे रहता है। तब तक वह कर्म करता है। यदि वह शुभकर्म करता है, तो उसे शुभफल और अशुभकर्म करता है तो अशुभफल मिलता है। वीतराग परमात्मा भी जब तक साकार (सदेह) है, सयोगी केवली है, तब तक उनके भी योगो की चपलता के कारण कर्म होते है, चाहे वे शुभ ही हो और उन कर्मो का फल भी अवश्यमेव भोगना पडता है, चाहे वे समय मात्र भी भोगे। किन्तु

वीतराग-प्रभु जानते है कि जो मैने किये है, उनका फल स्वय मुझे ही अवश्यमेव भोगना है। कर्मफल भोगने के समय वे घबराते नही। वे कर्मफल भोग कर उनमे शीघ्र ही छुटकारा (मुक्ति) पा लेते है ! अतः वे शुद्धोपयोगी रह कर कर्मफल भोगने के औपचारिक रूप से कामी कहे जाते है। अथवा उन्होने केवलज्ञान प्राप्ति से पहले जो भी शुभाशुभ कर्म किये है, उनके फलस्वरूप तीर्थकर नामगोत्र आदि कर्मफल उन्हे ही भोगने है, क्योकि इस अकाट्य सिद्धान्त पर उनका भलीभांति विश्वास होता है कि जो भी कर्म किये है, उनके फल भोगे बिना कोई चारा नहीं है। क्योकि[1] कृतकर्मो का फलभोग अनिवार्य है। जब समस्त कर्मफल भोग लिये जायेगे, तभी मुक्ति होगी। मुक्ति मे गये बाद न तो कर्म करना होता है और न कर्मफल भोगना होता है। वहॉ तो कर्ममुक्त हो कर आत्मा निजगुणों मे प्रवृत्त रहता है; यानी अपने ज्ञान-दर्शन-चारित्रादि गुणो मे रमण करता रहता है। वहॉ सिद्ध, बुद्ध, मुक्त हो कर परमात्मा शुद्ध ज्ञानचेतना मे लीन रहते है।

मतलब यह है कि जैनदर्शन में चेतना के तीन भेद माने गये है– ज्ञानचेतना, कर्मचेतना और कर्मफलचेतना। चेतना यद्यपि अपने आप मे एक अखण्ड तत्त्व है, किन्तु विभिन्न दशाओ या अपेक्षाओ से उसके तीन रूप बन जाते है–ज्ञानरूप, कर्मरूप और कर्मफलरूप। यद्यपि तीनो चेतनाओ के क्रम मे पहले कर्मरूप चेतना, फिर कर्मफलस्वरूप चेतना, तदनन्तर ज्ञानरूप चेतना है, तथापि यहॉ पहले ज्ञानचेतना को प्रस्तुत किया है, तदनन्तर शेष दोनो चेतनाओ को। इन तीनो चेतनाओ के लक्षण क्रमशः आगे की गाथाओ मे श्रीआनन्दघनजी स्वय बतलायेगे।

यहॉ उपर्युक्त तीनो चेतनाओ को परमात्मा मे बताने का अभिप्राय यह है कि आध्यात्म-रसिक साधक कर्मचेतना और कर्मफलचेतना के समय सावधान रहे, समभावी हो कर चले और अप्रमत्त (जागृत) रहे, ताकि ससार से परागमुख हो कर निराकार परमात्मा की तरह अन्तर्मुखी बन कर एकमात्र शुद्ध ज्ञानचेतना की अखण्डधारा की साधना करे। स्वय मे स्व का उपयोग करे, अपने अन्दर अपने स्वरूप का ज्ञान करे। इस प्रकार ज्ञानचेतना की अविच्छिन्न धारा विकसित होते-होते सिद्ध (परमात्म) दशा तक पहुँच जाय।

1. कडाण कम्माण मोक्ख अत्थि।

इसी दृष्टि से सर्वप्रथम ज्ञानचेतना के विषय मे अगली गाथा में कहते हैं–

निराकार अभेदसंग्राहक, भेदग्राहक, साकारो रे।
दर्शन-ज्ञान दुभेद चेतना, वस्तुग्रहण व्यापारो रे।।

वासु.।।2।।

***अर्थ*–परमात्मा में अभेदस्वरूप को ग्रहण करने वाला निराकार (दर्शन=निर्विशेषसामान्य) उपयोग है; तथा भेदयुक्त स्वरूप को ग्रहण करने वाला साकार (ज्ञान-विशेष) उपयोग भी है। वस्तु को ग्रहण करने में आत्मा के इन दोनों उपयोगों (व्यापारों) को ले कर इनके क्रमशः दर्शनचेतना और ज्ञान चेतना ये दो भेद हो जाते ह अर्थात् ये दोनों चेतनाए् ही क्रमशः निराकार और साकार कहलाती ह, जो परमात्मा में केवलदर्शन और केवलज्ञान के रूप में रहती हैं।**

***भाष्य*–ज्ञानचेतना : स्वरूप और भेद**

परमात्मा में जिस विशुद्ध ज्ञानचेतना का विकास हुआ है, वह दो प्रकार की है–एक सामान्यग्राही है, दूसरा विशेषग्राही है। जीव-अजीव आदि समग्रपदार्थो की सामान्यरूप से या अभेदरूप से ग्राहक निराकार ज्ञानचेतना है, जिसे दर्शन कहते है और जीव-अजीव आदि समस्त पदार्थो की विशेषरूप से या भेदरूप से ग्राहक साकार ज्ञानचेतना है, जिसे ज्ञान कहते है। इस प्रकार परमात्मा मे निराकार उपयोग और साकार उपयोग की क्रिया (आत्मव्यापार) प्रतिक्षण होती रहती है। अर्थात् आत्मा परमात्मा के स्वरूप को जानने की जड (अजीव) से भिन्न चैतन्य (आत्मा) को पहिचानने की जो क्रिया होती है, वह इन दोनो प्रकारो के जरिये होती है।

प्रत्येक पदार्थ मे सामान्य और विशेष दो प्रकार के धर्म होते है, तो प्रत्येक आत्मा में भी पदार्थ के पूर्वोक्त दो धर्मो (सामान्य-विशेष) को जानने की शक्ति होती है; जिसे ज्ञानचेतना और दर्शनचेतना कहते है। आत्मा में अगर ज्ञानचेतना न होती तो वह यह कैसे जान सकती कि जीवन क्या है? जगत् क्या है? जगत मे कितने द्रव्य है? उनके क्या-क्या कारण है? जीव और अजीव मे क्या अन्तर है? और इनका आपस मे क्या सम्बन्ध है? आत्मा मे ज्ञानचेतना (ज्ञानशक्ति) होने से ही वह यह सब जान सकती है।

ज्ञानचेतना के दो भेद तो इसलिए किये है कि आत्मा पदार्थो को जान तो अवश्य सकती है, मगर वह किसी भी पदार्थ को सहसा विशेषरूप से उसके

असली स्वरूप को पहिचान नही सकती। वह क्रमशः ही जानती है। किसी चीज को देखते ही या स्पर्श आदि होते ही पहले क्षण मे, सामान्य रूप से एक ऐसा आभास होता है कि 'यह कुछ' है। उसके बाद दूसरे-तीसरे क्षणों मे वह वस्तु किस प्रकार की है? कैसी है? क्या है? आदि विशेष प्रकार से जानती है। इसी क्रम को निराकार उपयोग (दर्शन) और साकार उपयोग (ज्ञान) कहा जाता है सामान्य से विशेष तक पहुँचने का समय बहुत ही अल्प होता है।

यहाँ ज्ञानचेतना द्वारा शुद्ध आत्मा या परमात्मा के विषय मे जानकारी करने हेतु स्व का उपयोग स्व मे करना होता है। वस्तुतः इसी स्थिति का नाम ज्ञानचेतना है। ऐसी ज्ञानचेतना वीतरागभाव की या शुद्ध आत्मस्वरूप की एक पवित्र धारा है। ज्ञानचेतना मे साधक अन्य विकल्पो को छोड कर संसार से पराङ्मुख हो कर यानी बहिर्मुखी न रह कर अन्तर्मुखी बन जाता है और परमात्मभाव=मुक्तिपद की ओर अग्रसर होता है। ज्ञानचेतना की साधना मे स्वयं मे स्व का उपयोग को, स्व मे स्वस्वरूप का भान करना होता है। यही सबसे बडी साधना है, यही सबसे बडा धर्म है। ज्ञानचेतना की अखण्डधारा सम्यग्दर्शन से बढते-बढते परमात्मदशा तक पहुँच जाती है। यद्यपि शुद्ध ज्ञानचेतना के साथ भी छद्मस्थ की बीच-बीच मे शुभधारा अवश्य आती है। परन्तु शुद्ध ज्ञानचेतना का अत्यधिक बल होने से ये विकल्प अधिक देर तक नही टिक पाते। मन के शुभ या अशुभ विकल्पों को तोडने का एकमात्र साधन शुद्ध ज्ञानचेतना ही है।

निश्चयदृष्टि मे एकमात्र आत्मस्वरूप के अतिरिक्त अन्य कुछ भी अपना नही है और वह आत्मस्वरूप की अविच्छिन्न स्थिति ही ज्ञानचेतना है।

परन्तु ऐसी ज्ञानचेतना अधिक समय तक अविच्छिन्नरूप से सामान्य साधक में टिक नही पाती, बीच मे शुभ का विकल्प आ जाता है, इसलिए आगे की गाथा मे चेतना के द्वितीय प्रकार-कर्मचेतना के बारे मे कहते है-

कर्ता परिणामी, परिणामो, कर्म ते जीवे, करिए रे।
एक-अनेकरूप नयवादे, नियते नर अनुसरिए रे।।
वासु. ।।3।।

***अर्थ*—परमात्मा शुद्धनय से निजस्वभाव का तथा अशुद्धनय (पर्यायार्थिक नय) की मुख्यता की अपेक्षा से स्वपर्यायों, भावकर्मादि का उत्पादक और विनाशक है। वह स्वपर्यायों का उपादानकारण और परपर्यायों की उत्पत्ति और वि**

भी कारण (कर्त्ता) समझा जाता है। ऐसी आत्मा तथा प्रत्येक द्रव्य परिणमनशील (परिणामी) है। कर्म भी उसका एक परिणाम है। परन्तु वह कर्म तभी बन्धनकारक होता है, जब जीव के द्वारा किया जाता है; यानी जब चेतना के साथ उसका संयोग होता है। वास्तव में निश्चयनय की दृष्टि से आत्मा एकरूप है और व्यवहारनय की दृष्टि से अनेकरूप है। यह सब नयवाद की दृष्टि से है। इसलिए हे मुमुक्षु साधक! अन्त में तो तुम्हें निश्चयनय से निर्णीत आत्मा का ही अनुसरण करना चाहिए।

***भाष्य*–आत्मा का एक रूप : कर्मचेतना**

परमात्मा मे निश्चयदृष्टि से तो ज्ञानचेतना ही होती है, लेकिन जब तक वे चार घातीकर्मों से युक्त होते है, तब तक उनमे कर्मचेतना भी होती है। वीतराग एव सदेहमुक्त होने पर कर्मचेतना नहीं होती। समस्त ससारी जीवो के कर्मचेतना अवश्य होती है।

प्रश्न होता है कि चेतना तो आत्मा का गुण है और कर्म अपने आप मे जड है। इन दोनो का मेल कैसे हो सकता है? जब जड चेतन का मेल नही, तब इसे कर्मचेतना क्यों कहॉ गया ?

इसका समाधान यह है कि निश्चयदृष्टि से सिद्धो की आत्मा मे कर्मचेतना नही होती। व्यवहारदृष्टि से सासारिक रागद्वेषयुक्त आत्माओ के साथ ही कर्मचेतना का सम्बन्ध है। कर्म को, केवल कर्म मत समझो। क्योकि उसके साथ चेतना भी है। इसी कारण से बन्ध होता है। यदि कर्म के साथ चेतना न हो तो बन्ध नहीं हो सकता। जलती हुई अगरबत्ती के कारण सभी की नाक मे भीनी-भीनी सुगन्ध पहुॅची और उन्हे आनन्द आया। पखा टूट कर नीचे गिर पडा, इससे एक आदमी का सिर फट गया; यहॉ अगरबत्ती या पखा, इन दोनो मे से किसी को भी कर्म का बन्धन नही होता। क्योकि ये दोनो जड है। जड होते हुए भी उनमे कर्म (क्रिया) अवश्य सम्पन्न हुआ, मगर बन्धन नहीं हुआ। निष्कर्ष यह है कि जड पदार्थ मे कर्म होते हुए भी उसमे चेतना न होने के कारण बन्ध नही होता। बन्ध वहीं होता है, जहॉ चेतना होती है। पखे और अगरबत्ती मे कर्म (क्रिया या चेष्टा) तो है, परन्तु चेतना नही है, इसलिए न तो पखे को अशुभबन्ध हुआ और न अगरबत्ती को ही शुभबन्ध हुआ।

अतः कर्मचेतना का अर्थ यह है कि जहॉ चेतनापूर्वक कर्म किया जॉय, उसी से ही शुभ या अशुभ बन्ध होता है। चेतनापूर्वक कर्म चेतन मे ही सम्भव

है; इसलिए चेतन मे ही बन्ध होता है, और चेतन मे ही मोक्ष हो सकता है। चैतन्यशून्य पुद्गल मे कर्म होते हुए भी बन्ध नहीं हो सकता। यही कर्मचेतना का रहस्य है।

परन्तु प्रश्न होता है कि कर्मचेतना आत्मा मे होती किस कारण से है? जब हमारे अन्तर मे राग या द्वेष से किसी क्रिया की स्फुरणा होती है, तब भाववतीशक्ति से आत्मचेतना विविध विकल्प करती है। जैसे यह करूँ या वह करूँ? वह करूँ या न करूँ? क्या करू, क्या न करूँ? इस प्रकार के विकल्पो की जो ध्वनि आत्मा मे निरन्तर उठा करती है, वही कर्मचेतना का कारण है। ऐसी चेतना (विकल्पो की स्फुरणा) कही बाहर की नही, हमारे अन्दर की है। वह अन्तर की चेतना ही कर्मचेतना है। भले ही बाहर मे तदनुरूप कोई क्रिया न हो। अध्यात्मजगत् मे मूल प्रश्न कर्म (क्रिया) का नही है, अपितु कर्मबन्ध का है; जो कर्मचेतना के कारण होता है। इसलिए श्रीआनन्दघनजी ने स्पष्ट कह दिया कि कर्त्ता (चेतन या अचेतन) परिणामी=परिणमनशील है परन्तु उन्होने साथ मे यह भी बता दिया कि **'परिणामो कर्म जे जीवे करिए रे'** कोई भी कर्म जो जीव के परिणामो (चेतना मे उत्पन्न विधिनिषेध के विविध विकल्पों की लहरो) से किया जाता है, उसे ही कर्मचेतना कहते है। कर्मचेतना के समय चेतना के सागर मे विकल्पो का तूफान उठता है। तब आत्मा स्वरूप में स्थिर नही रह पाती। जब आत्मा स्वस्वरूप मे स्थिर नही रह पाती, तब कर्मबन्ध के चक्कर मे उलझी रहती है। विकल्पो की लहरे ही कर्मबन्ध का मूल कारण बनती है। यद्यपि आत्मा अपने सहजस्वरूप से शान्तसरोवर के समान स्थिर है, किन्तु जब उसमे कर्त्तव्यसम्बन्धी विविध विकल्पो की उर्मिया उठने लगती है, तब वह अशान्त बन जाती है। इस विराट् विश्व मे सर्वत्र लोकाकाश के प्रत्येक प्रदेश मे अनन्त-अनन्त कर्मवर्गणाओ का अक्षय भडार भरा पडा है। जब चेतना मे विविध विकल्पो का तूफान उठता है, तब ये ही कर्मवर्गणाएँ कर्म का रूप धारण करके आत्मा से बद्ध हो जाती है। अनन्त अतीतकाल मे ये कर्मवर्गणाएँ कर्म का रूप धारण करती और आत्मा से बद्ध होती आई है; भविष्य मे भी ये कर्म का रूप तब तक लेती रहेगी, जब तक भावकर्म का सर्वथा क्षय हो जाय। चूकि कर्म परमाणुओ के साथ आत्मप्रदेशो का सश्लेष (कर्म) बन्ध कहलाता है। यही कारण है कि जड कर्मो के साथ चेतन की परलक्ष्यी विकल्प शक्ति रहती है। कोई भी कार्य बिना कारण के हो नहीं सकता, भले ही ह

प्रत्यक्ष न दिखाई दे। लेकिन कार्य तो अवश्य ही दिखाई देता है। जड कर्मबन्धनरूप कार्य के प्रति चेतना का रागद्वेषात्मक विकल्प ही निमित्त कारण है। शास्त्र मे जड़ कर्मो को द्रव्यकर्म और चेतनकर्मो को भावकर्म कहा है। अतः भावकर्म से द्रव्यकर्म का और द्रव्यकर्म से भावकर्म का बन्ध होता रहता है। यह निमित्तनैमित्तिक-सम्बन्धरूप भावकर्म ही वास्तव मे कर्म चेतना है।

इस दृष्टि से जब हम विचार करते है तो कर्मचेतना के भी दो भेद हो जाते है–पुण्यकर्मचेतना और पापकर्म-चेतना । किसी दुःखी व्यक्ति को देख कर उसके दुःख दूर करने की भावना से जो दान दिया जाता है या गुरुभक्ति या सेवा की जाती है, वह पुण्यकर्म चेतना है। जब आत्मा मे शुभकार्य करने का विकल्प उठता है, तब पुण्यकर्मचेतना होती है। वह चेतना जिसमें पुण्य की धारा शुभ दान में प्रवाहित होती रहती है, वह पुण्यकर्मचेतना है। इसमे शुभयोग में स्थित आत्मा पुण्यकर्मबन्ध करती है। दूसरी कर्मचेतना पापकर्म चेतना है। जो पुण्यकर्मचेतना से विपरीत है, इसमे पाप की धारा प्रवाहित होती रहती है। उस समय आत्मा अशुभयोग मे स्थित हो कर पापप्रकृतियो का बन्ध करती है। किसी को कष्ट देने, दुःख देने का विचार काम, क्रोध आदि का अशुभ विकल्प पापकर्मचेतना है। किसी की वस्तु छीनना, किसी के साथ मारपीट करना, किसी को गाली देना आदि पापकर्मचेतना के उदाहरण है। मिथ्यादृष्टि आत्मा ही नही, सम्यग्दृष्टि आत्मा भी जब ऐसी अशुभयोग की क्रियाएँ करती है, तो उसे भी पापप्रकृतियो का बन्ध होता है।

आत्मा निश्चयनय की दृष्टि से चैतन्यरूप लक्षण के कारण एक[1] है। साथ ही व्यवहारनय[2] की दृष्टि से जीवात्माए अनन्त है। किसी अपेक्षा से ज्ञानात्मा आदि आठ आत्माएँ भी है। इसीलिए श्रीआनन्दघनजी ने कहा–'**एक-अनेकरूप नयवादे।**'

निष्कर्ष यह है कि आत्मा के साथ रागद्वेषादि विकल्पों के कारण कार्माणवर्गणाओ का संश्लेष-सयोगसम्बन्ध होता है। इस कारण वे कार्माण-वर्गणाएं ही आत्मा के साथ चिपकने के समय कर्म कहलाती है। आत्मा कार्माणवर्गणा को कर्मरूप से करता है। वह करने वाला आत्मा का एक परिणाम

---

1 कहा भी है– **'एगे आया'**–ठाणागसूत्र

2 **'अणंता जीवा'**– भगवतीसूत्र

है। वह भी भावकर्म है, जो आत्मा के रागद्वेषादि परिणाम रूप है। वही वास्तव मे कर्मचेतना है। अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनय से आत्मा द्रव्यकर्म का कर्ता कहलाता है। यद्यपि आत्मा चैतन्यरूप के कारण एक प्रतीत होती है, परन्तु कर्म के कारण उसके अनेक भेद हो जाते है। विविध गतियो और योनियो मे आत्मा के परिणमन के कारण उसके अनेक रूप दिखाई देते है।

परमात्मा मे कर्मचेतना व कर्मफलचेतना नहीं होती, क्योकि वे घाती कर्मो एवं रागद्वेष से रहित होते है। वे शुद्ध ज्ञानचेतना या ज्ञानदर्शन-चारित्ररूप मुक्तिमार्ग मे स्थिर होते है। इसीलिए श्रीआनन्दघनजी भव्य साधकों से कहते है–**'नियते नर! अनुसरिए रे'** अर्थात्–साधकपुरुष! कर्मचेतना का स्वरूप समझ कर तथा आत्मा के विविध रूप देख कर विकल्पो के जाल (भले ही वे शुभ हो) मे लुभा मत जाना। तू एकमात्र ध्रुव, शाश्वत आत्मतत्त्व मे या आत्मस्वरूप में स्थिर हो कर उसका अनुसरण करना।

चूकि द्रव्यार्थिक-निश्चयनय के अनुसार आत्मा स्वभावपरिणति से निजस्वरूप की अथवा स्वगुणो की ही क्रिया का कर्त्ता है। जैसे कि उत्तराध्ययन सूत्र मे कहा है–स्वज्ञान से आत्मा स्वपरपदार्थ को जानती है, दर्शन से श्रद्धा करती है, चारित्र से कर्म परमाणु रोकने की क्रिया (सवर) करती है और आत्मानन्द-परमानन्द स्वभाव को भोगती है, उसमे रमण करती है।[1]

अब अगली गाथा मे कर्मफलचेतना के सम्बन्ध मे श्रीआनन्दघनजी कहते है–

सुखदुःखरूप कर्मफल जाणो, निश्चै एक आनन्दो रे।
चेतनता परिणाम न चूके, चेतन कहे जिनचंदो रे।।

वासुपूज्य.।।4।।

_अर्थ_–कर्म के फल सुखरूप भी हैं और दुःखरूप भी हैं, इसे भलीभांति समझ लो। निश्चयदृष्टि से एकमात्र आत्मानन्द(स्वरूपरमणता का आनन्द) ही आत्मा का फलभोग है। श्रीजिनेश्वरों (वीतराग) में चन्द्र के समान तीर्थकरदेव कहते हैं चेतन की चेतनता ही उसके परिणाम हैं, जिन्हें वह कदापि नहीं छोड़ सकता।

---

1 कहा है– 'नाणेण जाणइ भावे; दंसणेण च सद्दहे।
चरित्तेण निगिण्हाई, तवेण परिसुज्झई।।'

भाष्य—कर्मफलचेतना : स्वरूप और कारण

जब आत्मा कर्मफलचेतनारूप होता है तो रागद्वेषजनित कर्मबन्ध का शुभाशुभ फल भी उसे मिलता है। प्राणी को जब दुःख का अनुभव हो, तो उसे भी कर्मफल जानना चाहिए और सुख का अनुभव हो, तब भी उसे कर्मफल समझना चाहिए। आत्मा के अनुकूल (मनोज्ञ) वेदन (अनुभव) होना सुख कहलाता है और आत्मा के प्रतिकूल अनमोज्ञ वेदन होता है—दुःख। जब कोई रोगी, कंगाल या कष्टपीडित होता है तो सहसा दुःख का अनुभव करता है और जब जीव स्वस्थ, धनिक, वैभवविलास से युक्त या आज्ञापालक परिवार से युक्त होकर मनोज्ञ वस्तुओं को पा जाता है तो सुख का अनुभव करता है। परन्तु वे सुख-दुःखरूप फल आते है—पूर्वकर्मो के फलस्वरूप ही। फिर चाहे वे शुभ हो या अशुभ, कर्म का फल अवश्य मिलता है। कर्म जब अपना फल देने लगता है तब उसके साथ अपनी चेतना को, अपनी चेतना की परिणति को जोड देना कर्मफलचेतना है। यानी जिसमे जीव अपने शुभ एव अशुभ कर्म के फल का अनुभव करते समय शुभ फल को पा कर प्रसन्न हो उठता है और अशुभ फल को पा कर खिन्न हो उठता है। उसकी दृष्टि प्रायः पुण्य, पाप और उसके फल मे ही उलझी रहती है। कर्मचेतना मे जीव को अपने स्वरूप का भान नही हो पाता। वह कर्मो के भार मे इतना दबा रहता है कि कर्म और कर्मफल के अतिरिक्त अविनाशी शुद्ध आत्मतत्त्व पर उसकी दृष्टि नही पहुँच पाती। यह सुख भोग लूँ, वह सुख भोग लूँ, यह दुःख न भोगूँ, वह दुःख भोगना न पडे, इस प्रकार भोगने, न भोगने के विकल्पो मे उलझे रहना ही कर्मफलचेतना है। कर्मफलचेतनायुक्त जीव अपने आध्यात्मिक आनन्द को, अपने आतरिक आत्मस्वरूपरमणजन्य शाश्वत अनन्त सुख को भूल जाता है। वह इन्द्रियजन्य भोगो मे सुख मान कर इतना आसक्त हो जाता है कि उसे कर्मफल के अतिरिक्त किसी वस्तु का, अपनी आत्मिक स्वरूपनिधि या स्वगुणनिधि का भान ही नही रहता कि वह जिस आनन्द या सुख की खोज मे है। वह शाश्वत सुख या आनन्द कही भौतिक पदार्थो या इन्द्रियो के विषयो मे नही, बल्कि अन्तरात्मा मे ही है। किन्तु वह बहिर्मुखी होने के कारण सुख और आनन्द की खोज बाहर मे ही करता है। इसीलिए श्रीआनन्दघनजी कहते है—'**निश्चै एक आनन्दो रे।**'

कर्मो के शुभ या अशुभ फल जैसे अज्ञानी को भोगने पडते है, वैसे

ज्ञानी को भी भोगने पडते है। लेकिन ज्ञानी (सम्यग्दृष्टि) आत्मा दुःखरूप कर्मफल से बेचैनी नही मानता और दुःखरूपफल भोगते समय उसकी दृष्टि मुख्यतया घृणायुक्त या द्वेषात्मक नही होती। इसी तरह सुखरूप कर्मफल हो तो भी वह हर्षित या आसक्त नही होता। वह दोनो स्थितियो को भोगते समय समभाव मे रहता है।

निष्कर्ष यह है कि वीतराग पुरुष या सम्यगदृष्टि आत्मा भी पूर्वकृत शुभाशुभ कर्मो के कारण कर्मफलचेतना से युक्त होते है, लेकिन जहॉ साधारण (अज्ञानी या मिथ्यादृष्टि) आत्मा दुःखरूप कर्मफल भोगते समय हायतोबा मचाता है, दूसरो (निमित्तो या मनःकल्पित निमित्तो) को कोसता है, अपने उपादान (आत्मा) को नहीं देखता, तथा इस जन्म या पूर्वजन्मो मे स्वय द्वारा कृत किन्ही अशुभकर्मो के ही ये फल है, इस बात को नही मानता। वह अन्तर्मुखी हो कर आत्मस्वरूप का चिन्तन नही करता।

अतः यह निश्चित समझो कि शुभाशुभकर्म का सुख-दुःखरूप फल निश्चयनय की दृष्टि से आत्मा का स्वरूप नही है, वह चैतन्य से भिन्न है। सुख और दुःख ये पुद्गल पर्याय की अवस्थाए है। मन-वचन-काया की योगजन्य क्रिया कर्म का फल है। कर्म या कर्मफल के साथ आत्मा का सम्बन्ध नही। बल्कि निश्चयनय की दृष्टि से आत्मा ज्ञानदर्शनचारित्रमय या अनन्त-आनन्दमय है और उसी निजस्वरूपानन्द मे मस्त रहती है। आत्मा की निर्गुण क्रिया से तो निश्चय एक आनन्द ही है, जो अनिवर्चनीय, अनन्त तथा अनुभवगम्य है। साधक को आत्मा की निश्चयनय की इस आनन्दमय दशा को ध्यान मे रखनी चाहिए। परन्तु साथ ही यह भी समझ लेना चाहिए कि त्रिकाल एकस्वभावी (क्षायिकभावी) आत्मा, चेतन को या चेतनता मे परिणमन को कभी भूलती नहीं। जिसने जैसे कर्म बाधे होगे, उसकी आत्मा तद्रूप हो जायगी, इसमे वह जरा भी नही चूकती, चाहे वह अनिष्ट दुःख के परमाणुओ से घिरी हो, चाहे जैसी विचित्र परिणमनदशा हो, चाहे केवल आत्मानन्द का ही अनुभव करती हो। सभी अवस्थाओ मे सर्वकाल मे एवं सर्वक्षेत्र मे आत्मा अपने चैतन्य को कभी छोड नही सकती। वास्तव मे चेतन तीनो काल मे चेतन ही रहता है। उसे जो सुखदुःखादि होते है, वे तो सिर्फ कर्म के परिणाम है। आत्मा के 8 रुचकप्रदेश तो हमेशा खुले रहते है। उन पर कर्मो का कोई असर नहीं होता। अतः निश्चयनय की दृष्टि से आत्मा कर्म का कर्त्ता नही है। पर उसे जो सुख-दुःख

भोगने पडते हैं, वे कर्म के फल है। यह बात वीतराग परमात्मा (जिनचन्द्र) कहते है। यह कह कर श्रीआनन्दघनजी अपनी नम्रता प्रदर्शित करते है और कहते हैं कि यह बात मै अपने मन से कल्पित नही कह रहा हूॅ, श्री वीतराग श्रेष्ठ परमात्मा इसे कहते है।

यहाॅ निश्चय और व्यवहार दोनो नयो की दृष्टि से आत्मा के विविधरूपो का प्रतिपादन किया है। अब आत्मा की उपर्युक्त तीन चेतनाओ का लक्षण संक्षेप में बताते है।

परिणामी चेतन परिणामो, ज्ञान-करम-फल भावी रे।
ज्ञानकर्मफल-चेतन कहीए, ले जो तेह मनावो रे।।
वासु.5।।

***अर्थ*–चेतन (आत्मा) विविध अवस्थाओं में अपनी चेतना परिणमन करता है इसलिए आत्मा अपने आप में परिणामी है। इसी कारण वह ज्ञानरूप में, कर्मरूप में या भविष्यकालिक कर्मफलरूप में परिणत होती है। इसी को क्रमशः ज्ञानचेतना, कर्मचेतना और कर्मफलचेतना कहते हैं। इन तीनों चेतनाओं को तुम मनाना दूसरों को मनाना अथवा तुम्हारी खुद को, आत्मा को, वीतराग परमात्मा की तरह ठीक उपयोग करने हेतु मना लेना।**

***भाष्य*–चेतना की त्रिधारा और इसका सदुपयोग**

वीतराग परमात्मा चैतन्यरूप है। चैतन्य मे सर्वत्र सामान्यरूप से असख्य आत्मप्रदेश व्याप्त है। आत्मा परिणामस्वरूप है। वह जब जिस रूप मे परिणमन करती है, तब तदनुरूप बन जाती है। ये परिणाम तीन प्रकार के है– ज्ञानरूप, कर्मरूप और कर्मफलरूप। जब आत्मा का शुद्ध परिणमन अर्थात् अपने ज्ञानादि गुणो मे परिणमन होता है, तब वह ज्ञानचेतना कहलाती है, जो कि शुद्ध और भूतार्थ है। जब आत्मा कर्म के रूप मे परिणमन करती है, तब वह कर्मचेतना कहलाती है और जब वह कर्मफल के रूप मे परिणत होती है, तब कर्मफलचेतना कहलाती है। ये दोनों चेतनाएं 'पर' के निमित्त मे होती है। इन में आत्मा रागादिपरिणाम (भाव) वाली हो जाती है। इसलिए ये दोनो चेतनाएं अभूतार्थ अशुद्ध और अज्ञानचेतना है। स्व-स्वरूप के ज्ञान के सिवाय अन्य मे 'यह मै करता हूॅ।' इस प्रकार कर्म के कर्तृत्व मे आत्मा का लीन होना कर्मचेतना है। इसी तरह स्वात्मज्ञान के सिवाय अन्य मे मै इसे भोगता हूॅ, इस प्रकार कर्म के भोक्तृत्व में आत्मा को तद्रूप बना लेना कर्मफल चेतना है। मगर

ज्ञानचेतना की तरह कर्मचेतना और कर्मफल चेतना मे भी चेतन का ही परिणमन है। यह बात अपने आपको और दूसरो को अवश्य समझा लो। यही बात विभिन्न अध्यात्मग्रन्थो[1] मे बताई है।

श्री आनन्दघनजी का कहने का आशय यह है कि तुम मानो या न मानो, चेतन का अवश्य ही परिणमन होगा, और जब तक जीव ससारी है, तब तक शुभ या अशुभ कर्मबन्धन भी होगा ही, तथा जिसने जैसे कर्म किये होगे, उसे तदनुसार फल भी मिलेगा, जो उसे अवश्य ही भोगना पडेगा। इसमे राईरत्तीभर भी फर्क पडने वाला नही। इसलिए अपनी आत्मा को भलीभॉति समझा लो। अन्य लोगो को भी यह बात भलीभॉति हृदयगम करा दो।

चेतन और अचेतन मे यही अन्तर है कि चेतन आत्मा का निजी सहभावी गुण है, पुद्गल या जड को या किसी भी जडद्रव्य को यह विज्ञान नहीं

---

1 **ज्ञानाख्या चेतना बोध., कर्माख्या द्विष्टरक्तता।**
जन्तो कर्मफलाख्या सा, वेदना व्यपदिश्यते।। –अध्यात्मसार

बोध ज्ञानचेतना है, रागद्वेष कर्मचेतना है, प्राणी के कर्मो के अनुसार फल कर्मफलचेतना है, जिसे वेदना भी कहा जाता है।

परिणमदि जेण दव्वं, तक्कालं तम्मयत्ति पणत्तं।' –प्रवचनसार

जो द्रव्य जिस काल मे जिस भाव मे परिणत होता है, उस काल मे वह द्रव्य तद्रूप हो जाता है।

अप्पा परिणाममप्पा, परिणामो णाण–कम्म–फल–भावी।
तम्हा णाण कम्मं फल च आदा मुणेदव्वो।।125।।
परिणमदि चेयणाए आदा पूण चेतणा तिधाऽभिमदा।
सा पुण णाणे कम्मे फलम्मि वा कम्मणो भणिदा।।123।।
णाणं अट्ठवियप्पो कम्मं जीवेण जं समारद्धं।
तमणेगविधं भणिदं फलं ति सोक्खं व दुक्खं वा।।124।।

–प्रवचनसार

अर्थ–आत्मा परिणामस्वरूप है, परिणाम ज्ञानरूप मे, कर्मरूप मे और कर्मफलरूप मे होने वाले त्रिविध है। इसलिए आत्मा को ज्ञानरूप, कर्मरूप और कर्मफलरूप मानना चाहिए। आत्मा स्वचेतना के द्वारा परिणमन करती है । चेतना तीन प्रकार की मानी गई है–क्रमश वह है–ज्ञानविषयक, कर्मविषयक और कर्मफलविषयक।

समस्त विकल्प (वस्तुग्रहण व्यापार) ज्ञान है, जीव के द्वारा प्रारम्भ किये गये कार्य कर्म है, जो आठ प्रकार के होते है। सुख और दु खरूप कर्मफल है। जिसे अनेक प्रकार का कहा है।

मिलता। कर्म के साथ चेतना जुडती है, उस समय जैसे अध्यवसाय या परिणाम होते है, तदनुसार कर्मबन्ध होता है। चेतन के सम्बन्ध मे कोई प्रिय या अप्रिय घटना हो तो समझ लेना चाहिए कि अवश्य ही यह मेरे किसी पूर्वकृत शुभ या अशुभ कर्म का फल है। कर्म करते समय तथा कर्मफल भोगते समय तीर्थंकर परमात्मा की तरह राग-द्वेष, आसक्ति, घृणा, द्रोह-मोह आदि भाव नही रखने चाहिए, यही इसका फलितार्थ है।

आत्मा के सम्बन्ध मे वास्तविक ज्ञान और उससे प्राप्त होने वाले अनिर्वचनीय आनन्द के सम्बन्ध मे श्रीआनन्दघनजी अन्तिम गाथा मे कहते है–

आतमज्ञानी श्रमण कहावे, बीजा तो द्रव्यलिंगी रे।
वस्तुगते जे वस्तु प्रकाशे, आनन्दघन-मतसंगी रे।।

वासु.।।6।।

***अर्थ*–आत्मा के सम्बन्ध में विविध पहलुओं और दृष्टियों से ज्ञान प्राप्त करने वाला श्रमण कहलाता है। इसके अतिरिक्त और सब केवल मुनिवेषधारी द्रव्यलिंगी हैं। जो वस्तु जिस रूप में हो, उसे उसी रूप में जानें, समझें और प्रगट करें (कहें) वे ही आनन्दघन (सच्चिदानन्द परमात्मा) के, शुद्ध आत्मस्वरूप के अथवा जहाँ आनन्दसमूह है, उस मोक्ष के ज्ञान (मत) के संत्सगी (वादी या प्राप्त करने वाले) ह।**

***भाष्य*–अध्यात्मज्ञा नरसिक ही श्रमण हैं**

पूर्वोक्त मतानुसार जो अध्यात्मज्ञानी, (विविध पहलुओ से आत्मा के ज्ञाता) है, जो आत्मविज्ञान के रसिक है। जो अपने जीवन मे प्रत्येक प्रवृत्ति या क्रिया आत्मा को, या आत्मस्वरूप को लक्ष्य मे रख कर करते है। इसके अतिरिक्त जो पेट भरने के लिए अध्यात्मज्ञान बघारते है, जो अध्यात्मज्ञान के बहाने शब्दजाल रचते है या आत्मज्ञान की ओट मे स्वार्थमय व्यापार या स्पृहाओं का जाल बिछाते है, वे श्रमण के वेष मे नकली श्रमण है, वेषधारी है। वे नकली अध्यात्मज्ञानी है, भावपूर्वक अध्यात्मज्ञानी नही हैं। ऐसे लोग साधु, सन्यासी, श्रमण या मुनि का वेष पहिन कर आत्मज्ञान मे पुरुषार्थ करना छोड कर सिर्फ खानपान, ऐश-आराम, शारीरिक सुख-सुविधा, पद-प्रतिष्ठा आदि की लिप्सा मे पड जाते है। वे खाना, पीना और मौज उडाना ही अपने जीवन का लक्ष्य बना लेते है। देखिये, मुनि का लक्षण ज्ञानसागर मे बताया है–

मन्यते यो जगत्तत्वं स मुनिः परिकीर्तितः।
सम्यक्त्वमेव तन्मौनं, मौनं सम्यक्त्वमेव च।।

जो जगत् के तत्त्वो पर भलीभाति मनन करता है, वही मुनि कहलाता है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप रत्नत्रय मे अनुगत जो[1] सम्यक्त्व (सत्यता) है, वही मौन=मुनित्व है और जो मुनित्व है, वही इस प्रकार का सम्यक्त्व है। जिसमे आत्मा का सम्यक् ज्ञान है, उसमे ही मुनित्व समझो, जिसमे मुनित्व है, उसमे ही सम्यग्ज्ञान समझो, जो आत्मज्ञान मे मस्त हो, जो जड चेतन का भेद, आत्मा का स्वरूप, गुणो और शक्तियो का रहस्य भलीभॉति जानता हो, वही सच्चा साधु है। जिसकी दृष्टि मे राजा और रक का, गरीब-अमीर का कोई भेद न हो, समस्त प्राणियो मे निहित आत्मगुण या शुद्ध आत्मत्व (चैतन्य) दृष्टि से जो देखता हो, वही मुनि है, वही श्रमण है, समन है। ऐसी आत्मदृष्टि होने पर उसकी दृष्टि मे जड या पर पदार्थो का इतना मूल्य नहीं होता। दशवैकालिक सूत्र मे भी इसी बात को अभिव्यक्त किया गया है–जो[2] आत्मज्ञान-दर्शन से सम्पन्न है, सयम और तप मे रत है, जो इस प्रकार के गुणो से समायुक्त हो, उस सयमी को ही साधु कहो।' ऐसा आत्मज्ञानी निःस्पृह श्रमण जो बात जैसी होगी, जैसा उसका स्वरूप होगा; जैसी देखी-सुनी-सोची-समझी या अनुमान की हुई होगी, उसी रूप मे लोगो के सामने प्रगट करेगा। वह झूठे मुलाहिजे, लागलपेट, चापलूसी या अपनो के पक्षपात से दूर होगा। ऐसा मुनि ही आनन्दघनमत यानी मोक्षमार्ग का साथी या सत्सगी है। सच्चिदानन्दघन परमात्मा के मत का सगी-साथी है।

श्रीआनन्दघनजी निःस्पृह साधु थे। उन्होने अपना कोई मत, पथ या सम्प्रदाय नही चलाया। इसलिए 'मत' का अर्थ यहॉ सिर्फ 'विचार' समझना चाहिए, सम्प्रदाय या परम्परा नही। वे योगी एव भौतिक प्रलोभनो से दूर, सच्चे मस्त सत थे। उन्होने आत्मज्ञान को पचा व रमा लिया था। क्योकि अनुभवयुक्त आत्मज्ञान से ही कोई मुनि हो सकता है, केवल अध्यात्म के ग्रन्थो की

---

1 जं सम्मंति पासह, तं मोणंति पासह,
जं मोणंति पासह, तं सम्मंति पासह।। –आचारांगसूत्र

2 'नाण–दंसण–संपन्नं, संजये य तवे रयं।
एयं गुणसमाउत्तुं संजयं साहुमालवे।।' –दश अ 7

3. दंसण–णाण–चरित्तेसु तीसु जुगवं समुट्ठियो जो दु।
एग्गगगतोति मतं, सामण्णं तस्स पडिपुण्णं ।। –प्रवचनसार

पारिभाषिक शब्दावली रट लेने से नही, अपितु समताभाव को जीवन मे रमा लेने से ही कोई श्रमण हो सकता है। ऐसा आत्मज्ञानी साधक ही वस्तु का यथार्थरूप में कथन करता है। वह आत्मज्ञान की उपलब्धि करने, दूसरो को समझाने, आत्मज्ञान को जीवन में रमाने मे और अन्त मे, आत्मज्ञान का वास्तविक प्रतिपादन करने में जरा भी नही हिचकिचाता।

प्रवचनसार और ज्ञानसार मे श्रमणत्व[1] का लक्षण बताया है कि जो दर्शन, ज्ञान और चारित्र तीनो मे एक साथ एकाग्र व समुद्यत रहता है, उसका रमणत्व परिपूर्ण माना गया है। निश्चयदृष्टि से माना गया है कि जो आत्मा के द्वारा आत्मा के सम्बन्ध मे शुद्ध आत्मा को जानता है, उसे ही मुनि समझो। उसी मुनि के सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप रत्नत्रय मे यानी श्रद्धा, बोध और आचरण (आचार) मे एकरूपता समझनी चाहिए।

सारांश-इस स्तुति मे श्रीआनन्दघनजी ने परमात्मा के स्वरूप का भलीभाँति गुणचित्रण करके साधकभक्त को ज्ञानचेतना, कर्मचेतना, और कर्मफलचेतना रूप चेतनात्रय को आत्मा का अग बता कर आत्मा की शुद्ध ज्ञानचेतना पर चलाना तथा कर्म एवं कर्मफल चेतना की केवल जानकारी प्राप्त करना अभीष्ट बताया है। अन्त मे, आत्मज्ञानी की महत्ता बता कर साधक के जीवन मे वस्तुतत्त्व के यथार्थ प्रकाश (प्ररूपण) और परमात्मा की प्राप्ति को ही सारभूत तत्त्व बतलाया है।

***

---

1 आत्मानमात्मन्येव यच्छुद्धं जानात्यात्मानमात्मना।
ज्ञेयं रत्नत्रये ज्ञप्तिरुच्याऽऽ चारैकता मुने ।।
–ज्ञानसार

13. श्रीविमलनाथ-जिन-स्तुति–

वीतराग परमात्मा का साक्षात्कार

(तर्ज–ईडर आबा आबली रे, ईडर दाडिम द्राक्ष, राग–मल्हार)

दु:खदोहग दूरे टल्यां रे, सुखसंपदशुं भेट;
धींगधणी माथे कियो रे, कुण गंजे नर-खेट?
विमलजिन, दीठां लोयण आज, मारा सीध्यां वांछित काज।।
विमल जिन.।।

अर्थ–तेरहवें तीर्थकर श्रीविमलनाथ वीतराग परमात्मा को आज मैंने नेत्रों से देखा; इससे मेरे भूतकाल के सभी दु:खोत्पादक कर्म, वर्तमानकाल में उन दु:खों का अनुभव तथा भविष्यकाल की आफतों से भरा दुर्भाग्य, ये सब मिट गये, सुख-सम्पदा के साथ भेंट हुई। आज मैंने अपने सिर पर जबर्दस्त स्वामी को धारण किया है, इसलिए कौन दुष्ट (खल) जन मुझे जीत सकता है या फिर कौन तुच्छ मनुष्य के अधीन हो सकता है? अथवा आत्मगुणों का शिकार करने वाला कौन मिथ्यावादी मनुष्य मुझे हरा सकता है? इन आत्मिक चक्षुओं से रागद्वेषविजेता प्रभु को देखने (सम्यग्दृष्टि) से मेरे समस्त मनोवांछित (सम्यग्दर्शनादि) कार्य सिद्ध हो गए।

भाष्य–परमात्मा का साक्षात्कार क्यों, क्या और कैसे?

श्रीआनन्दघनजी ने पूर्व स्तुति मे तीन प्रकार की चेतना का वर्णन करके अन्त मे ज्ञानचेतना पर ही स्थिर रहने पर जोर दिया था, परन्तु जो व्यक्ति कर्म और कर्मफल के साथ अपनी चेतना को लगा देता है, वह ज्ञानचेतना मे स्थिर नही रह सकता। ज्ञानचेतना मे स्थिर रहने का प्रयोजन यही है कि वह धीरे-धीरे क्रमश आगे बढ कर परमात्मसाक्षात्कार तक पहुँचे। अन्तिम ध्येय तक पहुँचना ही ज्ञानचेतना मे दृढतापूर्वक टिके रहने का प्रयोजन है। परमात्मतत्त्व का साक्षात्कार करने पर आत्मा स्वयमेव परमात्मा बन जाती है। इसीलिए श्रीआनन्दघनजी परमात्मतत्त्व यानी शुद्ध आत्मा के दर्शन करके स्वय को कृतकार्य मानते है।

चूकि परमात्मा वर्तमान मे अपने आप मे निरंजन निराकार है और अब

वे तीर्थंकर-अवस्था में भी प्रत्यक्ष विद्यमान नही है, इसलिए उनके दर्शन या साक्षात्कार इन चर्मचक्षुओं से तो होना असम्भव है, तब फिर श्रीआनन्दघनजी ने इस स्तुति मे कैसे कह दिया–**विमलजिन दीठां लोयण आज?** इसका समाधान यह है कि श्रीआनन्दघनजी ने दूसरे तीर्थंकर (श्रीअजितनाथ) की स्तुति मे बताया था कि **'नयण ते दिव्य विचार'** अर्थात्–जिन नेत्रो से जिन भगवान् (परमात्मा) के दर्शन हो सकते है, वे तो दिव्यविचाररूपी नेत्र है। यहाँ भी लोचनों से भगवान् को देखने से तात्पर्य है–दिव्यविचाररूपी नेत्रो से परमात्मा को देखना। परमात्मा को देखने या साक्षात्कार करने से यहाँ मतलब है–शुद्ध आत्मत्व (परमात्व) का विचार करना, परमात्मा के स्वरूप का चिन्तन-मनन करके उनके तत्त्व का अपने आत्मदेव मे विचार करना। यही परमात्मसाक्षात्कार या प्रभुदर्शन अथवा आत्मत्व की प्रतीति से तात्पर्य है। यह हुआ निश्चयदृष्टि से अर्थ ।

व्यवहारदृष्टि से प्रभु को नयनो से देखने का अर्थ है–प्रभु वीतराग की साकार छवि की अन्तर्मन मे कल्पना करके उनके विमल (कर्म फल रहित) एव रागद्वेषविजेता रूप को निहाराना, अपने हृदय मे परमात्मा की शुद्धात्मगुणो से युक्त छवि को देखना, सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञानरूप दिव्यनयनो से परमात्मा को हृदय सिहासन पर विराजमान करके उनके प्रत्येक गुण पर गहराई से चिन्तन करना, उनको अपने नाथ या स्वामी मान कर उनके चरणो मे सर्वस्व अर्पणतापूर्वक भक्तिभावना से अपना सिर झुकाना, और उनके गुणो का प्रफुल्लमन से गान करना। यही दिव्यनेत्रो से परमात्म-साक्षात्कार या आत्मसाक्षात्कार (प्रभुदर्शन या शुद्धात्मदर्शन) है।

परमात्मसाक्षात्कार के बाद दुःखदौर्भाग्यनाश कैसे?

अब तक आत्मा ने चारो गतियो और विविध योनियो मे दु ख ही दु ख पाया, क्योकि पूर्वोक्त दिव्यनेत्र नही मिले थे, जिनसे परमात्मा के दर्शन कर पाता। देवगति मे दूसरे देवो का उत्कर्ष देख कर ईर्ष्या होती है, च्यवन (अन्त) काल नजदीक आता है, तब देव इष्ट-वियोग के दु ख से पीडित हो कर विलाप और शोक करते है। मनुष्यगति में वैरविरोध, निन्दा, भय, ईष्टवियोग और अनिष्टयोग से दु ख ही दु ख होता है। तिर्यचगति मे विवश और पराधीन हो कर पशु–पक्षी आदि को चुपचाप खूब दु ख सहने पडते है और नरकगति के दु ख का तो कोई ठिकाना ही नहीं है। वहाँ पारस्परिक दु ख के सिवाय क्षेत्रकृत दु ख

का भी कोई पार नहीं है। इस प्रकार चारो गतियो और विविध योनियो मे अज्ञान, मोह और मिथ्यात्व के कारण दु ख ही दु:ख सहे। भूतकाल मे भी दु ख सहे, वर्तमान मे भी अज्ञान और मिथ्यात्व के कारण मनुष्य अध्यात्मिक दु ख–विषयकषायजन्य जन्ममरणात्मक, मानसिक दु:ख ईष्टपदार्थ की अप्राप्ति और उसके वियोग तथा प्रतिकूल अनिष्ट पदार्थ की प्राप्ति या सयोग से होने वाले मन कल्पित दु.ख; एव शारीरिक दु.ख-भूख, प्यास, ज्वर, कंठमाल आदि रोग, शस्त्र आदि के घाव से होने वाली पीडा, यो त्रिविध दु ख सहता है। दुर्भाग्य, कमनसीबी, फूटे भाग्य या पुण्यहीनता अशुभ नामकर्म का फल है। जिसके भाग्य बुरे होते है, उसे भविष्य मे अनके दु खो और संकटो का सामना करना पडता है। दुर्भाग्य के कारण व्यक्ति की बुद्धि भी कुठित हो जाती है, उसे सची बात सूझती नहीं।

परन्तु इन सब दु खो और दुर्भाग्यो का खात्मा परमात्मा के दर्शन (साक्षात्कार) होते ही हो गया। इसका रहस्य क्या है? आइए सर्वप्रथम निश्चयदृष्टि से इस पर सोचे–सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञानरूप दिव्यचक्षु से परमात्मा के अखण्ड आत्मगुणो पर विचार करके जब आत्मा परमात्ममय या परमात्मा मे लीन हो जाता है, जिसे हम पहले परमात्मासाक्षात्कार कह आए है, उसकी उपलब्धि हो जाती है, तब आत्मा को अपनी असलियत का पता लग जाता है। वह सोचने लगता है कि ये सब सासारिक पदार्थ जिन्हे मै अपने मान कर उनमे लुब्ध हो कर पूर्वोक्त सभी प्रकार के दु ख पाता था। इनके कारण चारो गतियो मे बारबार भटकता था। इनमे कोई सुख नहीं है, ये तो दु ख रूप है। सच्चा सुख तो आत्मा मे है, परमात्मा के शुद्ध रूप को निहारने में है। अत अब जब कि मुझे दिव्यदृष्टि प्राप्त हो गई है, मुझे परमात्मत्व (शुद्धआत्मतत्त्व) में डूबने पर पूर्वोक्त दु खो का भान भी नही होता। मुझे अपनी आत्मा के शुद्ध स्वरूप को देख कर सब प्रकार की तृप्ति, शान्ति, सतुष्टि और आनन्द की अनुभूति हो गई। मुझे अब किसी भी परपदार्थ या बाह्यपदार्थ से सुख प्राप्त करने की कोई अपेक्षा नही है। ये पदार्थ अपने आप मे मुझे न कोई सुख दे सकते हैं, न दु ख। ये क्षणिक सुख या दु ख तो तभी देते है, जब मै इन्हें अपने मान कर आसक्तिवश इनमे से ईष्ट के वियोग या अप्राप्त होने पर तडफता हूँ, इसी प्रकार इनमें से अनिष्ट से घृणा और द्वेष करके परेशान होता हूँ। अगर मैं इनसे कोई लगावत रखूँ, इन्हे अपना न मानूं, सिर्फ शुद्ध आत्मा को ही परमात्मा मे दिव्यनेत्रों से देखूँ,

तो न तो मुझे किसी प्रकार का दु:ख होगा, न मेरे लिए कोई दुर्भाग्य का अभिशाप होगा। इसी कारण श्रीआनन्दघनजी पूर्वोक्तदृष्टि से परमात्मदर्शन (दिव्यनेत्रो से) होते ही मस्ती मे झूम उठते है, उनका रोम-रोम पुकार उठता है-**'दुःखदोहग दूरे टल्या रे, सुख-सम्पदशुं भेंट।'** आज मेरे तमाम दु ख (मनःकल्पित या शारीरिक या आध्यात्मिक) दूर हो गये है, मेरा दुर्भाग्य भी मिट गया है, क्योकि अव्याबाध अनन्तसुख, अनन्तज्ञानादिचतुष्टय से सम्पन्न परमात्मा से मेरी भेट हो गई है, उनमे मैने अपनी शुद्ध आत्मा की ज्ञानादि निधि को देखा तो अपनी खोई हुई सम्यग्दर्शन-ज्ञानादि सुखसम्पदा मुझे मिल गई। व्यवहारदृष्टि से इस पर विचार किया जाय तो यह अर्थ प्रतीत होगा कि वीतराग की छवि को अन्तर्मन मे निहारने और भक्तिभाव से उनके दर्शन-वन्दन करने से इहलौकिक दु.ख, दुश्चिन्ताए, भय, विघ्न और नाना प्रकार के सकट दूर हो जाते है। प्रभुदर्शन-वन्दन-भक्ति जनित पुण्य के प्रभाव से शारीरिक, मानसिक, तमाम दु ख दूर हो जाना कोई अस्वाभाविक नहीं है और साथ ही प्रभुदर्शन से दुर्भाग्य का मूल जो अशुभ नामकर्म है, वह सौभाग्य मे परिणत हो जाय, इसमे भी कोई अत्युक्ति नहीं है। पुण्यकर्म प्रबल हो जाने पर बाह्य सुख और सम्पत्ति प्राप्त हो जाना भी दुभर नही है। इसी कारण व्यवहारदृष्टि से भी श्रीआनन्दघनजी ने शायद अन्तर के उल्लासपूर्वक कहा हो-**'दुःखदोहग दूरे टल्यां रे, सुख-सम्पदशुं भेंट,'** लौकिक व्यवहार मे भी देखा जाता है कि किसी शक्तिशाली या वैभवशाली पुरुष की दर्शन-विनयरूप भक्ति से दीन-हीन व्यक्ति के दु ख और दुर्भाग्य नष्ट हो जाते है, उसे सुख-सम्पदा की प्राप्ति हो जाती है, तब विमलनाथ वीतरागप्रभु की उक्त भक्ति से दु ख-दुर्भाग्य नष्ट हो कर सुख-सम्पदाएँ हासिल हो जॉय, इसमे कौन-सी बडी बात है? प्रभु के दर्शन, विनय और भक्तिपूर्वक वन्दन आदि से निश्चय और व्यवहार दोनो दृष्टियो से अनायास ही पूर्वोक्त फल प्राप्त हो जाते है।

परमात्मदर्शन के कारण भक्त में आत्मिक दृढ़ता

इतना ही नही, निश्चयदृष्टि से पूर्वोक्त प्रकार से परमात्मसाक्षात्कार के कारण आत्मतत्त्वज्ञ व्यक्ति के जीवन मे आत्मबल बढ जाता है और तमाम विषय कषायादिजन्य दुश्चिन्ताओ, भयो और विकारो से वह डरता नही, हार नही खाता, उनके अधीन हो कर वह उनके आगे घुटने नही टेकता। दुनियादार लोग कहते है कि सम्पत्तिवान को अनेक प्रकार का वियोगजनित या

दुश्चिन्ताजनित भय रहता है, परन्तु जिसे परमात्मरूप (शुद्ध आत्मतत्त्व का) जबर्दस्त पृष्ठबल हो, जिसके सिर पर परमात्मा (शुद्ध आत्मतत्त्वदृष्टि) की छत्रछाया हो, जिसने परमात्मा जैसे जबर्दस्त नाथ बनाये हो, उसे कोई हैरान नही कर सकता। जब अनन्तबली रागद्वेषविजेता परमात्मा (शुद्ध आत्मदेव) को मैने अपने स्वामी बनाये है तो वह प्रतिक्षण मेरे साथ है और साथ रहेगे। मुझे जो अनन्तचतुष्टयरूप और सम्यग्दर्शनज्ञानरूप आत्मिक सम्पत्ति मिली है, वह पौद्गलिक सुख सम्पति की तरह नाशवान नहीं है, वह तो अखण्ड और अविनाशी है। उनका वियोग कदापि होना सम्भव नहीं है। ऐसी दशा मे यदि कोई मिथ्यात्व, अज्ञान, राग, द्वेष, मोह, आदि आन्तरिक शत्रुओ (जो कि प्रतिक्षण आत्मगुणो के शिकार करने की टोह मे रहते है, जिनका स्वभाव ही आत्मगुणो को लुप्त या नष्ट करने का है) का भी भय नही रहा। वे मुझ पर हावी हो जाय और मुझे अपना शिकार बना कर अपने चगुल मे फसा ले, या मुझे हैरान करे, ऐसी सभावना नही है। इसलिए श्रीआनन्दघनजी दृढ आत्मबल के साथ कह उठते है—**'धींग धणी माथे कियो रे, कोण गंजे नर खेट?'**

व्यवहारदृष्टि से इसका तात्पर्यार्थ यह होता है कि जब मैने वीतराग प्रभु का सान्निध्य प्राप्त किया है, या आधार लिया है, उनका ही अहर्निश स्मरण, ध्यान, जप, स्तवन, गुणगान करके उनके ही आज्ञानुरूप सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्रमय धर्म का पालन किया है, तब कोई भी दुष्ट, शत्रु या धोखेबाज मुझे हैरान नही कर सकता, मेरा अहित नही कर सकता और न मुझे हरा सकता है।

लोकव्यवहार मे जब किसी स्त्री को पति का, बालक को माता-पिता का, नौकर को मालिक का और सेवक को स्वामी का आधार मिल जाता है, तो फिर वह व्यक्ति आश्वस्त हो जाता है। वह किसी से घबराता, डरता, या सकट मे चिल्लाता नहीं, इसी प्रकार यहाँ भक्त को भी परमात्मारूपी नाथ (स्वामी) का जबर्दस्त आधार मिल जाने पर उसे किसी से डरने, घबराने या चिल्लाने की जरूरत नही और फिर परमात्मभक्ति एव दर्शन से जब व्यक्ति के जीवन मे सम्यग्दर्शन, ज्ञान, व्रत, नियम, सयम आदि चारित्रगुण आ जाते है तो उसे सच्चे झूठे की पहिचान हो जाती है, वह सुदेव, सुगुरु और सुधर्म की प्राप्ति कर लेता है, उसे अच्छे सत्सगी मिल जाते है, परिवार समाज और राष्ट्र भी उसके अनुकूल हो जाते है। व्यवहारिक दृष्टि से सुख और सम्पत्ति मिल जाने पर उसे किसी दीन-हीन या तुच्छ व्यक्ति के सामने हाथ पसारने और उसकी

जी हजूरी करने की जरूरत नहीं रहती।

परमात्मदर्शन से मनोवांछित कार्यसिद्धि

और फिर श्रीआनन्दघनजी वस्तुतत्त्व को जान लेने तथा निश्चयदृष्टि से पूर्वोक्तरीति से परमात्मदर्शन हो जाने पर और सम्यग्दर्शन-ज्ञानरूप आत्मिक सुख-सम्पत्ति प्राप्त हो जाने पर कृतार्थ हो कर अपनी मस्ती मे बोल उठते है- **'मारां सीध्यां वांछित काज'** मेरे मनोवांछित कार्य सिद्ध हो गए। मुझे परमात्मदर्शन के दुष्करकार्य में सफलता मिल गई। जिस आत्मिक सुखसम्पदा को प्राप्त करने का मेरा मनोरथ था, वह सिद्ध हो गया। व्यवहारिकदृष्टि से भी परमात्मा के दर्शन एवं भक्ति करके उन्हे स्वामी बना लेने के बाद उनकी आज्ञानुसार सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की आराधना से दु.ख, दुर्भाग्य, दुश्चिन्ता आदि सब दूर हो कर सुख-सम्पदा मिल जाने से सभी मनोवांछित कार्य सिद्ध हो जाते है।

अब श्रीआनन्दघनजी परमात्मा के सागोपाग दर्शन के हेतु सर्वप्रथम उनके चरणो के दर्शन की महत्ता बनाते है-

चरणकमल कमला बसे रे, निर्मल थिरपद देख।
समल अस्थिर पद परिहरे रे, पंकज पामर पेख।।

विमल. 2।।

***अर्थ*-आपके चरण-चारित्ररूप चरणकमल में अथवा बाह्य चरणकमल में, कमला (ज्ञानलक्ष्मी, आत्मगुणसम्पत्ति अथवा अष्टमहाप्रातिहार्यरूप लक्ष्मी) घातीकर्म-मलरहित (निर्मल) और स्वभाव में स्थिर पद (आत्मस्थान) देखकर बसी हुई है। वह संसार के विषय-कषायरूपी पंक में उत्पन्न होने वाले कमल (बाह्य वैभव) को मल (रागद्वेषादि-मलयुक्त), अस्थिर एवं पामरस्वभाव वाला देखकर छोड़ देती है। अथवा कमल को मलयुक्त कीचड़ में पैदा हुए देख कर अपने अज्ञान और ममत्व के कारण नाशवान बाह्य सम्पत्ति को ही वास्तविक लक्ष्मी मान कर पामर बने हुए देख कर उस अस्थिर स्थान को भौतिक लक्ष्मी छोड़ देती है।**

***भाष्य*-परमात्मा के चरण-दर्शन का प्रयोग**

वीतराग परमात्मा के पूर्वोक्तरीति से दर्शन के लिए उद्यत साधक को सर्वप्रथम उनके चरण के दर्शन क्यो करने चाहिए? इसका प्रयोजन बताते हुए श्रीआनन्दघनजी वीतरागपरमात्मा के चरणकमल का महत्त्व बताते है।

निश्चयदृष्टि से परमात्मा का चारित्ररूपी चरण यथाख्यात होता है, जिसमे रागद्वेषादि या घातीकर्म आदि किसी प्रकार का मैल नही होता और वह

चरण (चारित्र) चचल नही होता, एक बार प्राप्त हो जाने के बाद फिर वह जाता नहीं है। स्वभाव मे सतत अविछिन्नरूप से रमण के कारण वह स्थिर होता है। परमात्मा के उस चारित्ररूपी पूर्ण शुद्ध, (मोहादिमलरहित शुद्ध) स्थिर परिणाम वाले, चरणरूपी कमल को देख कर केवल (अनन्त) ज्ञानादिचतुष्टयरूपी लक्ष्मी वहॉ सदा के लिए बस गई है। भौतिकलक्ष्मी भी अपना अस्थिर और कीचड वाला स्थान तथा अपने पर से होने वाले अज्ञान और मोहममत्व के कारण पामर समझ कर छोड देती है।

व्यवहारदृष्टि से प्रभु के चरणकमल को निर्मल (पंकरहित) और स्थिर देख कर लक्ष्मी वही निवास कर लेती है। इस कारण प्रभु अपनी ज्ञान-दर्शन-चारित्र की सम्पदा मे इतने लीन है कि वह सम्पत्ति आपको छोड कर अन्यत्र कहीं जाती नही। इसी कारण आप सतत् आत्मानन्द-मग्न रहते है। कई धनवानो के पैर मे पद्म होता है, वे जहॉ भी जाते हॅ, वहॉ आनन्द ही आनन्द होता है। यही नही, ऐसे व्यक्तियो की महिमा और यशकीर्ति सर्वत्र फैल जाती है। प्रभु वीतराग के चरणो मे भी पद्म होता है। इसलिए उनके लिए भी ऐसा कहा जा सकता है कि उनके चरणो मे लक्ष्मी लीला करती है, अष्टमहाप्रातिहार्यरूपी लक्ष्मी के कारण उनकी यशकीर्ति फैलती है, दिव्यजन उनकी सेवा मे रहते है।

यही कारण है कि लक्ष्मी अपने अस्थिर और पंकिल (कीचड से गदे) स्थान को छोड कर लक्ष्मीवान और पुण्यवानप्रभु के चरणकमल मे आ कर बसी हुई है, क्योकि उनका चरणकमल निर्मल और स्थिर है। अथवा यह अर्थ भी सगत हो सकता है कि भगवान् वीतराग का निर्मल यथाख्यातचारित्ररूपी चरणकमल स्वभाव से ही स्थिर है, उसे देख कर या अनन्त ज्ञानादिचतुष्टय लक्ष्मी वहॉ रहती है, उसे देख कर पामर प्राणी अपनी पामरता का ध्यान करता है और हर प्रकार से मोहमल उत्पन्न करने वाली कमला-भौतिकलक्ष्मी का त्याग करता है।

निष्कर्ष यह है कि जहॉ परिग्रह है, वहॉ आरम्भ (हिसा) है, आरम्भ और परिग्रह मे लीन होने वाले पामर प्राणियो को सुख कहॉ? मुमुक्षु जब अन्तरात्मा से परिग्रह का त्याग करता है, तभी स्थिरस्वभाव वाला व चारित्रवान बनता है। निर्मल (निरतिचार) यथाख्यातचारित्री होने पर उस आत्मा को अनन्तज्ञानादिचतुष्टय-लक्ष्मी उत्पन्न होती है।

साराश यह है कि मुमुक्षु आत्मा भगवान् के चरणकमल को अनन्तपारमार्थिक

भावलक्ष्मी का निवास स्थान देख कर स्वय भी भौतिक लक्ष्मी का लोभ सर्वथा छोड़ कर उनके चरणकमल में लीन हो जाना चाहता है।

इसके अतिरिक्त वीतरागप्रभु के चरणकमल मे और क्या आकर्षण है? इसे श्रीआनन्दघनजी अपने अनुभव से अगली गाथा मे बताते है–

मुज मन तुज पदपंकजे रे, लीनो गुण-मकरंद।
रंक गणे मंदरधरा रे, इन्द्र, चन्द्र, नागेन्द्र।।

विमल. 3।।

***अर्थ*–आपके दर्शन के बाद आपके चरणकमल का इतना आकर्षण हो गया है कि मेरा मन (ज्ञानचेतनायुक्तआत्मा) आपके गुणों-रूपी पराग से युक्त चरण (आत्मरमणतारूप चारित्र) में (अब इतना) लीन हो गया है कि स्वर्णमयी मेरुपर्वत की भूमि को तथा इन्द्र, चन्द्र या नागेन्द्र के पद अथवा स्थान (लोक) को भी वह तुच्छ समझता है। उसे आपके (शुद्ध आत्मा के) अनन्त-ज्ञानादिगुणों की सौरभ से युक्त चरणकमल (स्वभावरमणचारित्र) में इतनी लीनता हो गई है कि दूसरी मोहक वस्तुओं की तरफ वह जाती ही नहीं है।**

***भाष्य*–परमात्मा के चरणकमल में लीन होने के बाद..**

पूर्वगाथा मे श्रीआनन्दघनजी ने वीतराग–परमात्मा के चरणकमल का माहात्म्य बताते हुए कहा था कि उसमे भावलक्ष्मी का निवास होने से वह सर्वतोमुखी आकर्षक है। अतः अब इस गाथा में यह बताया है कि मेरा ज्ञानचेतनायुक्त भावमन् (आत्मा) परमात्मा के चरणकमल को देख कर इतना आकर्षित हो गया है कि वह अन्य भौतिक या संसार की रमणीय से रमणीय वस्तु या स्थान की ओर जाता ही नही। उन्हे अत्यन्त तुच्छ समझता है।

परमात्मा के चरणकमल में क्या आकर्षण है?

प्रश्न होता है कि परमात्मा के चरणकमल मे मनरूपी भ्रमर क्यो आकर्षित हो जाता है? इसका समाधान इसी गाथा मे दिया गया है– **'गुणमकरन्द'** जैसे भौरा कमल की पराग को पा कर तृप्त हो जाता है, वह सुगन्धित पराग मे इतना लीन हो जाता है कि उसे अपने तन की सुध नहीं रहती, कमल को काट कर बाहर निकलने की शक्ति होते हुए भी वह रात को कमलकोष मे बन्द हो जाता है। इतनी लीनता भौरे मे होती है। इसी प्रकार भौरे मे एक गुण यह भी होता है कि वह विष्ठा आदि दुर्गन्धयुक्त पदार्थो पर कभी नहीं जाता तथा सुगन्धित कमल या पुष्प के सिवाय दुनिया की चाहे जैसी

रगबिरगी, सुन्दर, मनमोहक या आकर्षक अथवा कोमल, स्वादिष्ट पदार्थ या मन्‍नोरम सगीत वाला सुरम्य स्थान भी क्यो न हो, वह वहॉ नहीं जाता और न वहॉ बैठना चाहता, वैसे ही दिव्यनेत्रो से परमात्मा को दर्शनपिपासु भक्त साधक का मनरूपी (भावमन-आत्मा) मधुकर भी जब परमात्मा के अनन्त-आत्मगुणरूपी पराग से परिपूर्ण परमात्मचरणकमल (आत्मरमणतारूपी चारित्र) को देख कर वही लीन हो जाता है, वही तृप्त हो जाता है। वह आपके गुणपराग से युक्त चरणकमल मे इतना आकर्षित हो जाता है या आत्मा के अनन्तगुणो से युक्त वीतराग के चारित्र (मार्ग) का उपासक (सम्यग्दृष्टि) बन जाता है, तब उसको मन को विश्व के सभी मोहक या रगीन पदार्थ तुच्छ लगने लगते है। वह ससार के पदार्थो की बिलकुल परवाह नही करता, न उसे किसी स्थान या पदविशेष की इच्छा होती है। इतना आकर्षण है परमात्मा के चरणकमल मे!

ससार की सर्वश्रेष्ठ वस्तुऍ, जो प्रत्येक सासारिक और यहॉ तक कि कभी-कभी साधक को भी लुभायमान करती है, वे ये है–रूपवान, सुन्दर वस्तुओ मे सर्वोत्तम सुमेरूपर्वत है, जो सारा का सारा स्वर्णमय है। जिस सोने के लिए सारी दुनिया भागती फिरती है, जिसके लिए दुनियाभर के छलबल, हत्याकाण्ड या पाप किये जाते है, जो सोना मनुष्य को अभिमानी, उच्च पदाधिकारी, सर्वोच्च प्रतिष्ठासम्पन्न या सासारिक सुख की वस्तुओ से सम्पन्न बना देता है, उस सोने से ही सारा मेरुपर्वत मढा हुआ है। साथ ही वहॉ देवोपम सुखो से युक्त रमणीय नन्दनवन है, इसलिए भी सासारिक वस्तुओं मे सर्वोत्कृष्ट सुन्दर पॉचो इन्द्रियो के विषयो मे वह परिपूर्ण है। इसके अलावा इन्द्रलोक या इन्द्रपद ये दोनो भी ससार के आकर्षणीय पदार्थो मे अद्वितीय है। इन्द्रलोक वह है, जहॉ सभी प्रकार के इन्द्रिय सुखो का भण्डार है, जहॉ एक से एक सुन्दर दिव्यागनाऍ सुन्दरतम सुखभोग, मनोरम्य, सुगन्ध मनोहारी सगीत, नृत्य, वाद्य सब प्रकार की सुख-सुविधाएं हाथ जोडे हुए आज्ञाकारी सेवक, विनीत देव-देवीगण एक से एक बढकर रमणीय चित्ताकर्षक भवन और प्रतिष्ठित पद हैं। इसी प्रकार चन्द्रलोक भी विश्व के मानवो के लिए शान्तिदायक स्थान है। कहते है, चन्द्रमा से अमृत झरता रहता है। जिस अमृत की खोज में देव, दानव, मानव सभी मारे–मारे फिरते है। अमृत पा जाने पर मनुष्य को जन्म, जरा, मृत्यु, व्याधि, आदि की चिन्ता नहीं रहती, भूख-प्यास सब बुझ जाती है, जिनकी चिन्ता से मनुष्य रात-दिन अशान्त रहता है। अतः चन्द्रलोक पाने के लिए

मानव-मन इसलिए लालायित रहता है कि उसके पा जाने पर अमृत के भण्डार चन्द्र का सान्निध्य पा कर मानव के मन को शान्ति मिल जाती है।

इसके अतिरिक्त मानव-मन के लिए एक और विशेष आकर्षक और गुदगुदाने वाली वस्तु है–नागेन्द्रलोक। यह भी एक प्रकार का देवलोक है, जहाँ भवनपति देव है। उनके भी दिव्यसुखो का क्या ठिकाना! दिव्यभवन, दिव्यरमणियाँ, दिव्य चित्रविचित्र रत्न, सगीत, नृत्य, गीत, वाद्य, सर्वभोग्य पदार्थ आदि की प्रचुरता! तात्पर्य यह है कि मनुष्य के मन को आकर्षित करने वाले तिर्यंचलोक, ऊर्ध्वलोक, ज्योतिलोक और अधोलोक, इन सब मे जो सर्वोच्च सुख के केन्द्र है, लुभावने पद या पदार्थ है, मिथ्यादृष्टि सांसारिक लोगो का मन झटपट इनमे से किसी के लिए लालायित हो सकता है।

'मंदरधरा' शब्द से यहाँ तिर्यग्लोक का संकेत है। जहाँ नन्दनवन के या चक्रवर्ती आदि के सुखो का आकर्षण है। 'इन्द्र' शब्द से यहाँ ऊर्ध्वलोक का संकेत है, जहाँ वैमानिक देवी-देव एव देवेन्द्रों के सुख है। चन्द्रपद से यहाँ ज्योर्तिलोक का संकेत है, जहाँ सूर्य, चन्द्रमा आदि के लोक या पद का सुख है तथा 'नागेन्द्र' शब्द से अधोलोकवासी भवनपति तथा व्यन्तर देव-देवेन्द्र आदि का संकेत है, जहाँ इनके दिव्य सुख वैभव है।

सामान्य व्यक्ति का मन ससार की इन सुखसम्पन्नता युक्त प्रेय वस्तुओं की ओर सहसा आकर्षित हो सकता है, परन्तु जिस आत्मसाधक (सम्यग्दृष्टि) का मनरूपी भ्रमर परमात्मा (शुद्धआत्मा) के गुणोंरूपी सुगन्धित पराग से युक्त चरणकमल (आत्मरमणतारूपी) चारित्र मे लीन हो गया है, उसे सब वस्तुएँ तुच्छ व असार प्रतीत होती है। क्योकि वह अपने दिव्य सम्यग्दर्शनज्ञान से यह भलीभाति समझ जाता है अथवा उसके दिलदिमाग मे यह बात अच्छी तरह अकित हो जाती है कि मनुष्यों या देवो के जो सुखदायक भोग्य पद, पदार्थ, या इन्द्रिय विषय हैं, वे सब पुण्यकर्म से मिलते है। जहाँ तक पुण्य है, वहाँ तक इनका अस्तित्व है। परन्तु ये सब पद पदार्थ या विषयसुख क्षणिक व नाशवान हैं, सुखाभासदायक है। पुण्यनाश के साथ ही इन सुखाभासो का भी नाश हो जाता है। इस कारण इन सब पदार्थो का वियोग होने से अतृप्ति रहती है जो कि दु ख के कारण हैं; जबकि आत्मा-परमात्मा के गुण तथा उनमे रमण करने से जो सुख-प्राप्त होता है, वह अविनाशी है। उनमे डूब कर आत्मा तृप्त

हो जाती है। उस आत्मसुख के सामने इन सासारिक पदार्थो से होने वाले सुख कुछ भी नही है, नगण्य है, वे किसी बिसात मे नहीं है। यही कारण है कि वीतरागमार्ग के उपासक सम्यग्दृष्टि अध्यात्मरसिक श्रीआनन्दघनजी हृदय से पुकार उठते है–प्रभो! मेरा मनमधुकर शुद्ध आत्मगुणोरूपी पराग से युक्त आपके पादपद्म मे इतना तल्लीन हो गया है कि वह शाश्वत स्वर्णमय सुमेरुगिरि की भूमि, इन्द्रलोक, चन्द्रलोक या नागेन्द्रलोक आदि सर्वोच्च सुख का आभास कराने वाली वस्तुओ को तुच्छ मानता है, इन्हे जरा भी नहीं चाहता। इन सबका सुख परमात्मपद (शुद्धात्मा) के सुख के पासग मे भी नही आता। परमात्मा के चरण मे लीनता का जो असीम सुख है, उसके सामने ये सब सुख निकम्मे या फीके मालूम होते है। कमल के सौरभ युक्त पराग मे मस्त बना हुआ भौरा जब तृप्त हो जाता है, तब उसके लिए दुनिया की अच्छी से अच्छी मानी जाने वाली वस्तु भी तुच्छ हो जाती है, वह उनकी ओर आँख उठा कर नहीं देखता, वही बैठा हुआ अपनी मस्ती मे गुनगुनाता रहता है। वैसे ही परमात्मगुणों से युक्त चरणकमल में जब मनरूपी भ्रमर मस्त बन कर जम जाता है, अथवा शुद्ध आत्मगुणो की सौरभ से जिस आत्मा का ध्यान सुवासित हो जाता है; तब वह सर्वथा तृप्त हो जाता है, तब उसके लिए भी ससार की अच्छी मानी जाने वाली तमाम वस्तुएँ तुच्छ हो जाती है। वह परमात्मा के चरणो मे लीन हो कर 'तू ही तू ही' की रटन से तादात्म्यसुख का अनुभव करने लगता है। उसके मन-वचन-काया आदि सब आत्मगुणो के प्रगट करने मे लग जाते है।

यही कारण है कि अगली गाथा मे श्रीआनन्दघनजी आराध्य–आराधक (द्वैत) भाव से परमात्मा को अपनी आत्मा का आधार और मन का विश्रामस्थल बताते हुए कहते है–

साहेब समरथ तुं धणी रे, पाम्यो परम उदार।
मनविसरामी बालहो रे, आतमचो आधार।।

विमल. ।।4।।

अर्थ–**हे साहिब प्रभो! आप ही मेरे समर्थ शक्तिशाली स्वामी (मालिक) हैं। आप सरीखा अत्यन्त उदार स्वामी (पति) मैंने पाया है। इसलिए आप ही मेरे मन (ज्ञानचेतनायुक्त आत्मा) के विश्राम-स्थान हैं, आप ही मेरे प्रियतम हैं, मेरी आत्मा के आधार हैं।**

भाष्य–आत्मा-परमात्मा का स्वामी-सेवक-सम्बन्ध

पूर्वगाथा मे श्रीआनन्दघनजी ने बताया है कि मुमुक्षु आत्मा का मन परमात्म-चरण में लीन बन कर क्यों संसार की सर्वश्रेष्ठ सुखदायक मानी जाने वाली वस्तुओं मे नही लुभाता? उसके कुछ कारण तो हम ऊपर स्पष्ट कर आए है, इस गाथा में परमात्मचरण मे स्थिर होने के विशिष्ट कारण बताए गए है।

प्रथम कारण : समर्थ स्वामी परमात्मा

परमात्मा के चरण में स्थिर होने के यहाँ जो कारण बताए है, उन कारणो को देखने से आत्मा और परमात्मा मे स्वामी सेवक–सम्बन्ध प्रतीत होता है। यानी आत्मा को निम्न और परमात्मा को सर्वोच्च अथवा आत्मा को पहाड की तलहटी पर खडे हुए और परमात्मा को उसकी चोटी पर बैठे हुए मान कर आत्मसाधक भक्त अपने आपको उनके चरण मे लीन कर देता है। सेवक बन कर उनकी शरण स्वीकार करता है।

प्रश्न होता है कि स्वयं सेवक बन कर परमात्मा को स्वामी बना लेने मात्र से भक्त कैसे निश्चिन्त, आश्वस्त, निर्भय और आनन्दित हो सकता है? इसी का समाधान **'साहब! समरथ तू धणी रे'** पद के अन्तर्गत आ जाता है। जैसे किसी लौकिक वीर पुरुष की शरण मे जाने अथवा किसी वैभवशाली समर्थ व्यक्ति को स्वामी बना लेने पर उस पर जिम्मेदारी आ जाती है कि शरणागत सेवक पर कोई सकट या आफत आ जाय तो कोई व्यक्ति हमला करे तो वह जी-जान से उसकी रक्षा करे। इसी प्रकार अध्यात्मरसिक साधक (आनन्दघनजी) ने भी प्रभु की शरण मे जा कर उनको स्वामी बना लिया है, इसीलिए वे भगवान् को समर्थ स्वामी बना कर आश्वस्त हो गए है कि प्रभु आप ही मेरे समर्थ स्वामी है, इसीलिए आप पर (निश्चयदृष्टि से शुद्ध एव अनन्त शक्तिमान होने से समर्थ आत्मदेव की शरण मे जाने पर) जिम्मेदारी आ जाती कि वे शरणागतरक्षक के विरुद का विचार करके मेरी आत्मा की रक्षा करे। आप जैसे समर्थ पुरुष का मेरे हृदय मे ध्यान रहने से मुझ पर कोई भी शत्रु (आत्मिक रिपु-रागद्वेषादि) हमला नही कर सकते। मेरा कोई कुछ भी बिगाड नही सकता। दुनिया मोहराजा के राग-द्वेष, काम, क्रोध, आदि अनुचरो को शत्रु-समान और बलवान मानती है, वे इन्द्र, चन्द्र, नरेन्द्र आदि को हैरान करते है, विविध योनियो मे नाना प्रकार की यातना दे कर सताते है। परन्तु आप जिनके हृदय मे विराजमान है, उन्हे कोई भी परेशान नही कर सकता, उसके जन्ममरण की वृद्धि भी नही होती।

यह तो कुछ-कुछ निश्चय दृष्टि से सगत बात हुई।

व्यवहारदृष्टि से अर्थ यह है कि प्रभो ! मालिक ! आप पूर्ण समर्थ है, आप मे अनन्त बल है। उसके सामने कोई टिक नही सकता। साथ ही आप मेरे नाथ है। मुझ पर आप सरीखे स्वामी की छत्रछाया है, कृपादृष्टि है, तब दूसरा क्या कर सकता है? वास्तविक दृष्टि से देखा जाय तो परमात्मा वीतराग होने से वे दूसरो को प्रत्यक्ष मे कोई बल देते-लेते नजर नहीं आते। किन्तु जब सेवक समर्पणवृत्ति से शुद्धभावभक्ति पूर्वक प्रभु के चरण मे दृढ संकल्प करके अपना जीवन खपाने का दृढ निश्चय कर लेता है और ध्यानमुद्रा मे बैठ कर प्रभु के गुणो का ध्यान करता है तो उसमे बल और पौरुष स्वय स्फुरित हो जाता है, परमात्मा के अनन्तशक्तिशाली स्वरूप का ध्यान करने से आत्मा मे भी शक्ति प्रगट करने का उत्साह जग जाता है।

दूसरा कारण : परम उदार प्रभु

लोकव्यवहार मे देखा जाता है कि सेवक स्वामी की सेवा करता है, तो वह खुश हो कर सेवक की तनख्वाह बढा देता है, उसकी लगन देख कर उसे इनाम दे देता है, उसकी पदोन्नति कर देता है। इसी दृष्टि से श्रीआनन्दधनजी कहते है—**'पाम्यो परम उदार'** यानी आप परम उदार चेतना है। इसका निश्चयदृष्टि से सगत अर्थ यह है कि परमात्मा (शुद्ध आत्मा) इतना उदार है कि उसकी सेवा (आत्मस्वभाव मे रमण या आत्मा के गुणो या आत्मत्व का सेवन) करने से सम्यग्दृष्टि व्यक्ति परमात्मा से यह आश्वासन पा जाता है कि अब तू आश्वस्त हो जा, तेरी दुर्गति या जन्ममरणवृद्धि तो अवश्य ही नही होगी। यदि कोई तिर्यच या मनुष्य परमात्मत्व (शुद्ध स्वभाव या आत्मगुणो) की सेवा=ध्यान करता है तो उसकी आत्मोन्नति हुए बिना नहीं रहती, पदोन्नति भी हो जाती है। यानी पापकर्मो से भारी बनी हुई आत्मा हल्की हो जाती है। इससे पुण्य कर्मो की प्रबलता हो जाने पर उस जीव को परमात्मा की सेवा-पूजा करने के विचार उठते है, वह उस पुण्यराशि के फलस्वरूप दुर्गति मे न जा कर मनुष्य गति या देवगति मे जाता है। यह उस जीव की पदोन्नति है तथा पुण्यपुज के फलस्वरूप शुभभावो की शृंखला शुरू हो जाती है, जिससे आत्मा पर आए हुए कर्मो की निर्जरा हो जाती है या अशुभकर्म का जोर अत्यन्त कम हो कर शुभ मे बदल जाता है। यह आत्मोन्नति हुई।

व्यवहारदृष्टि से इसका संगत अर्थ यह है कि आप ऐसे परम उदार पुरुष है कि किसी को भी अपने से हीन नही मानते। लोकव्यवहार मे तो स्वामी सेवक को कदापि अपने बराबर का स्वामी नही बनाता, भले ही सेवक मालिक की अत्यन्त लगन से विनय-भक्तिपूर्वक सेवा करता हो। किन्तु जब सम्यग्दृष्टि भक्त परमनिर्मलरूप बन कर उदार प्रभु का ध्यान करता है तो उसे शुद्धात्मस्वरूप का सान्निध्य प्राप्त होता है, सेवा करने वाले को प्रभु अपने से भिन्न न रहने दे कर यानी सेवक का सेवकत्व मिटा कर उसे अपने बराबर का परमात्मा बना देते है; स्वामी-सेवक का भेद मिटा देते है। इसलिए साधक कहता है–'मै तो आप जैसे परम उदार स्वामी को पा कर धन्य हूँ, कृतकृत्य हूँ।'

व्यवहारदृष्टि से इसका अर्थ यह भी हो सकता है–प्रभो! आप जैसे परम उदार परामात्मा को पा कर मै भी अलम्य लाभ से युक्त बना हूँ। क्योकि मुझमे भी आप की तरह अपने मे हीन-दीन या जरूरतमद या दु खी को तन-मन या साधन का दान देने या त्याग करने की भावना पैदा हुई। आप परमदानी है, यह तो सारा ससार जानता है कि आपने मुनि-दीक्षा ग्रहण करने से पहले एक वर्ष तक प्रायः लगातार दान दिया और जगत् को दान देने की उदारता सिखाई।

तीसरा कारण : साधक के मन में विश्राम

इसी कारण को लेकर आनन्दघनजी कहते है–'**मन-विसरामी**' आप मेरे मन को विश्राम देने वाले है। मेरा मन दुनियाभर मे कई दफा तो ऊलजलुल बातो मे भटकता रहा, विषयो, कषायो मे व दुर्भावो मे मेरा मन भटका, किन्तु अब आपका चरणकमल पकड लिया तो वह इन सब विषयो मे विश्राम नही पाता, वह तो एकमात्र आप मे ही निश्चयदृष्टि से शुद्ध आत्मस्वरूप (स्वभाव) मे, व्यवहारदृष्टि से परमात्मा (वीतराग) मे ही विश्राम पाता है। उसकी थकान ध्यान करने से ही मिटती है और जगह तो वह विश्राम के बदले श्रान्त हो (थक) जाता है। मेरे मन को प्रसन्न करने वाला आपके सिवाय आराम का स्थान कोई नही है। प्रभो! मेरा मन विविध पदार्थो मे भटका, उसने विविधरूप धारण किये, फिर भी इसे तृप्ति न हुई, उसके भ्रमण करने का चचल स्वभाव नहीं मिटा। इस कारण यह थक गया। इसे कही आराम नहीं मिला। सद्‌गुरु की परम कृपा से मुझे आपके गुणो का पता लगा। मैने उनका महत्त्व समझा। अब आपके सिवाय कोई भी उच्चसुख का या विश्राम का स्थान मुझे प्रतीत नही होता।

चौथा कारण : प्रियतम वीतराग प्रभु

परमात्मा मे मन को रमाने और आश्वस्त-विश्वस्त हो जाने का चौथा कारण श्रीआनन्दघनजी बताते है–'**वालहो मे**' परमात्मा अत्यन्त प्रिय है। जो अत्यन्त प्रिय या वात्सल्यमय होता है, उसे देखते ही आत्मीयता जागती है, हृदय मे आनन्द की उर्मियाँ उछलने लगती है, रोमाच हो जाता है, मन मे आनन्द की अनुभूति होती है, चित्त मे आल्हाद उत्पन्न होता है। सचमुच भक्त साधक को परमात्मा का स्मरण करते ही, ये हृदय की आंखो से अन्तर मे उसका स्वरूप निहारते ही अथवा उसका भावपूर्वक दर्शन करते ही प्यार उमड पडता है।

प्रश्न होता है कि जगत् मे इतने पदार्थ है, इतने जीव है अथवा अपने सम्बन्धी या मित्र है, क्या वे प्यारे नही लगते, जो परमात्मा को ही अतिप्रिय बताया गया है। इस प्रश्न का समाधान श्रीआनन्दघनजी प्रथम तीर्थकर की स्तुति मे '**भांगे सादि अनन्त**' कह कर कर आए है। यहाँ एक दूसरे पहलु से परमात्मा के प्रियतम लगने का कारण बताते है–'प्रभो! मैने अज्ञानवश ससार के अनेक पदार्थो या सम्बन्धियो या मित्रो को अपने प्रिय माने, परन्तु वे सबके सब प्रिय के बदले अप्रिय, स्वार्थी और धोखेबाज निकले। मुझे भोला समझ कर उन्होने खूब बनाया। किसी ने मेरा (आत्मा का) महत्त्व नहीं बढाया। जहाँ मुझे पवित्रता दिखाई देती थी, अपवित्रता निकली। असलियत का पता लगते ही उन सबके प्रति मुझे अरुचि हो गई। अब तो मुझे प्रतीत हो गई कि आप ही एकमात्र परम, पवित्र और शुद्ध (आत्म) स्वभाव वाले है। इसलिए मुझे आप ही आदि से ले कर अन्त तक प्रिय-प्रियतम प्रतीत हुए।'

पाँचवाँ कारण : आत्मा का आधार

परमात्मा मे मन के जम जाने का पाँचवाँ कारण श्रीआनन्दघनजी बताते है–'**आतमचो आधार**'। दुनिया मे बहुत से पदार्थो और नाते-रिश्तेदारो को मैने आधारभूत माने, किन्तु वे सब मुझे निराधार छोड कर चले गए, किनारा-कसी कर गए, सकट के समय मुझे (मेरी आत्मा को) आश्वासन देने वाले, मुझ मे आत्मविश्वास जगाने वाले कोई भी नही रहे। इसलिए अन्ततोगत्वा मुझे आपके सिवाय काई भी आत्मा का आधार नहीं जचा। आपके आधार पर रहने वाले व्यक्ति को आपके शाश्वत स्थान या अनन्तज्ञानादि चतुष्टय का सुख मिलता ही है।

इन सब कारणो को लेकर श्रीआनन्दघनजी ने परमात्मा को आत्मा के

लिए समर्थ स्वामी, परम-उदार, मनविश्रामी, प्रियतम और आधारभूत बताया। सचमुच, संसार के त्रिविध ताप की ज्वाला मे झुलसते हुए प्राणी के लिए परमात्मा का ही आधार है, वही अकारण बन्धु है, अहेतुक मित्र है, निष्काम प्रेरक या मार्गदर्शक है, निःस्वार्थ विश्ववत्सल है।

अब अगली गाथाओ मे परमात्मा के दर्शन के अनेक लाभ बताते है–

दरिसण दीठे जिनतणुरे, संशय न रहे वेध।
दिनकर करभर पसरतां रे, अन्धकार-प्रतिषेध।।

विमल.।।5।।

अर्थ–**श्रीवीतराग परमात्मा (शुद्धआत्मस्वरूप) के दर्शन होने से किसी भी प्रकार के विरोध या विघ्न की शंका नहीं रहती। जैसे सूर्य की किरणों का जाल फैलते ही अन्धकार (रुक नष्ट हो) जाता है। वैसे ही आपके दर्शन होते ही अज्ञानान्धकार नष्ट हो जाता है।**

भाष्य–**वीतरागप्रभु के दर्शन का साक्षात्फल**

पूर्वगाथाओ मे वीतराग-परमात्मा के दर्शन से पहले की भूमिका के रूप मे उनके चरणकमल मे लीनता और ससार की श्रेष्ठतम मानी जाने वाली वस्तुओ के प्रति उदासीनता का दिग्दर्शन किया गया था, इस गाथा मे परमात्मा के दर्शन का साक्षात्फल बताते हुए सूर्यकिरणो की उपमा दी है। जैसे सूर्य की किरणो के फैलते ही घोर से घोर अन्धकार भी नष्ट हो जाता है, वैसे ही प्रभु के दर्शनो की प्राप्ति होते ही मन मे चाहे जितने बहम, शंकाएँ, अश्रद्धा, अविश्वास, मिथ्यावासना, अज्ञान, सम्मोह आदि चाहे जितने भरे हो, आपके दर्शन (परमात्मस्वरूपदर्शन) होते ही आत्मविकास मे बाधक ये तमाम विघ्न नष्ट हो जाते है। आत्मा स्वाभाविक रूप से निर्मल हो जाती है। उसके लिए कुछ भी प्रयत्न नहीं करना पडता। सशय अपने आप मिट जाता है और निर्मल सम्यग्दर्शन प्रगट हो जाता है। **'संशयात्मा विनश्यति'** इस कहावत के अनुसार जो व्यक्ति अधिक शंकाशील सशयात्मा होता है, उसका जीवन नष्ट हो जाता है, परन्तु अगर वह वीतराग-परमात्मा का सम्यग्दर्शन (आत्मस्वरूप-दर्शन) प्राप्त कर ले तो उसका तमाम सशय भाग जाता है। उसकी आत्मा मे सम्यग्ज्ञान का प्रकाश हो जाता है। परमात्मा के दर्शन का यह तात्कालिक फल है। चारो ओर से विरोध और अवरोध (विघ्न) पैदा हो रहे हो, वे भी आपके यथार्थ दर्शन से मिट जाते है।

वास्तव मे वीतराग परमात्मा के यथार्थरूप का दर्शन ही उनका दर्शन है, उस दर्शन के होते ही, उस पर दृढ आस्था के कारण नि सशय प्रतीति हो जाती है कि मुझे अवश्य ही परमानन्द-प्राप्ति होगी। निश्चयनय की दृष्टि से प्रभु के और मेरे स्वरूप मे कोई अन्तर नही है, इस बारे मे परमात्मा के स्वरूपदर्शन होने पर साधक को कोई शका नही रहती। यह तो हुई परमात्मा के सूक्ष्म (आत्मस्वरूप) दर्शन के साक्षात्फल की बात। अब अगली गाथा मे परमात्मा के स्थूलदर्शन का साक्षात्फल बताते हुए श्रीआनन्दघनजी कहते है–

अमियभरी मूरति रची रे, उपमा न घटे कोय।
दृष्टि सुधारस झीलती रे, निरखत तृप्ति न होय।।
विमल.।।6।।

_अर्थ_–अमृत से भरी आपकी आकृति (परम औदारिक शरीरात्मक) (शुभनामकर्म के कारण) रची हुई है, संसार की किसी वस्तु के साथ जिसकी उपमा (तुलना) नहीं की जा सकती। वह रागद्वेष की उष्णता से रहित (शान्त), परमकारूण्य सुधारस से ओतप्रोत है। जिसे चर्मचक्षु या ज्ञानचक्षु से देखने पर तृप्ति ही नहीं होती।

_भाष्य_–परमात्मा के स्थूलदर्शन और उनका साक्षात्फल

पूर्वगाथा मे वीतराग परमात्मा के सूक्ष्मदर्शन के तात्कालिक फल का वर्णन था, इसमे श्रीआनन्दघनजी ने परमात्मा के स्थूलदर्शन का साक्षात्फल बताया है। वीतराग प्रभु के सूक्ष्मदर्शन का तत्कालफल तो बहुत ही अनुपम है, किन्तु उनके स्थूलदर्शन का भी फल कम नही है।

वीतरागपरमात्मा के स्थूलदर्शन दो प्रकार से हो सकते है–एक तो उनके जीवनकाल में उनकी औदारिक देहाकृति के दर्शन, दूसरे उनके निर्वाण (मोक्ष) प्राप्त हो जाने के बाद इस लोक मे उनके स्थूलदर्शन की पूर्ति के रूप मे (यानी उनकी औदारिक देहाकृति को ऐवज मे) उनकी प्रतिकृति (मूर्ति) के भावपूर्वक दर्शन।

यद्यपि परमात्मा के स्थूलदर्शन के साथ भी आत्मस्वरूपभाव होना आवश्यक है, अन्यथा परमात्मा की स्थूल देह या उनकी प्रतिमा के देखने पर भी दर्शक का कोई वास्तविक प्रयोजन सिद्ध नही होगा।

स्थूलदर्शन के पहले प्रकार मे श्रीआनन्दघनजी (साधक) कहते है–'वीतराग प्रभो! (विमलनाथ तीर्थकर) आपकी आकृति ही अमृत

भरी हुई है, जिसे नामकर्मरूपी चित्रकार सबके शरीर को रचता है; परन्तु आपकी देहाकृति परम उत्कृष्ट, शुभवर्ण, शुभगन्ध, शुभरस, शुभस्पर्श, शुभ संहनन-सस्थान आदि से निर्मित है, जिसकी उपमा के लायक ससार मे कोई उपमेय पदार्थ नही है। यद्यपि सूर्य, चन्द्र, मेरु आदि पदार्थ सुन्दर जरूर है, परन्तु आपके साथ इनमे से किसी की उपमा घटित नहीं हो सकती, क्योकि इनमे से कोई भी पदार्थ शान्तसुधारस का धारण नही करते और अधिक समय तक देखने पर नेत्रों को कष्ट देते है। इसलिए उनमे अरुचि पैदा हो जाती है, जबकि आपको देखने में परमकरुणामय शान्तसुधारस छलक रहा है। इस [illegible] आपको देखता है तो उसकी तृप्ति नहीं होती बल्कि [illegible] आनन्द होता है। [illegible] व को; द्योतित

उपमा समान गुणो वालो की दी जाती है परन्तु जो गुणो के हीन हो, वह समान कैसे बन सकता है? अतः आपके साथ गुणो मे समानता (बराबरी) कर सके, ऐसी कोई वस्तु दुनिया मे नजर नही आती। तो फिर आपसे अधिकता रखने वाली वस्तु जगत् मे और कोई हो सकती है? नहीं हो सकती, इसमे कोई आश्चर्य नही और हीन के साथ तो उपमा दी ही नहीं जा सकती। इसलिए आप अनुपम है। इसी भाव को व्यक्त करने के लिए श्रीआनन्दघनजी कहते है– **'उपमा घटे न कोय।'** साथ ही यह भी कह दिया है कि **'निरखत तृप्ति न होय।'** मतलब यह है कि आपकी देहरचना मानो अमृत का सार निकाल कर बनाई गई हो, इस कारण उसे किसी भी पदार्थ से उपमा नही दी जा सकती और ऐसा मालूम होता है कि उसे एकटक देखता ही रहूँ। उसे देखते-देखते नेत्रो को तृप्ति ही नही होती। शान्तसुधारस से ओतप्रोत आपकी अमृतमयी देहाकृति देखकर तीनो लोक के इन्द्र-नरेन्द्र आदि आपके चरणकमलो मे झुक कर अपने आप मे परमशक्ति अनुभव करते है।

स्थूलदर्शन के दूसरे प्रकार की दृष्टि से इसका अर्थ कई विवेचनकार यो कहते है–"आपकी मूर्ति (आपके देह की प्रतिकृति) अमृत से परिपूर्ण बनाई गई है और इतनी सरस बनाई गई है कि दुनिया मे किसी (मूर्ति) के साथ उसकी तुलना नही की जा सकती। उस वीतराग-प्रतिमा की दृष्टि अमृतरस से मानो तरबतर है। जिसे देखते हुए नेत्रो को कभी तृप्ति नही होती।" मतलब यह है कि आपकी (तीर्थकरदेव की) मूर्ति अमृत से भरपूर बनाई गई है, जिसके हाथ मे हथियार नही है, इस कारण रौद्ररूप नही है। जिसे देखते ही शान्ति हो जाती है। दुनिया मे तीर्थकर या वीतराग के सिवाय किसी भी देव की मूर्ति देखे तो आपको प्रतीत होगा कि या तो उसके हाथ मे कोई भयकर शस्त्र–अस्त्र होगा, अथवा उसका रूप भयंकर होगा; खुल्ली ऑखे और भयावने रूप मे देख कर ही मनुष्य घबरा जाता है। आपकी मूर्ति तो पर्यकासन मे स्थित है, किन्तु कामदेव आदि की मूर्ति के समान आपके बगल मे कोई स्त्री नही होती। बल्कि वह शान्तरस मे निमग्न हो, इस प्रकार की भाववाहिनी बनाई गई है। भोजराज के दरबार मे प्रसिद्ध जैनपण्डित कवि धनपाल ने तीर्थकर (देवाधिदेव) की मूर्ति के लिए उद्‌गार निकाले है–

प्रशमरसनिमग्नं दृष्टियुग्मं प्रसन्नं, वदनकमलमंक कामिनीसंगशून्यः।
करयुगमपि धत्ते शस्त्रसम्बन्धन्ध्यं, तदसि जगति देवो वीतरागस्त्वमेव।।

भरी हुई है, जिसे नामकर्मरूपी चित्रकार सबके शरीर को रचता है, परन्तु आपकी देहाकृति परम उत्कृष्ट, शुभवर्ण, शुभगन्ध, शुभरस, शुभस्पर्श, शुभ संहनन-संस्थान आदि से निर्मित है, जिसकी उपमा के लायक ससार मे कोई उपमेय पदार्थ नहीं है। यद्यपि सूर्य, चन्द्र, मेरु आदि पदार्थ सुन्दर जरूर है, किन्तु आपके साथ इनमे से किसी की उपमा घटित नहीं हो सकती; क्योकि इनमे से कोई भी पदार्थ शान्तसुधारस का धारण नही करते और अधिक समय तक देखने पर नेत्रो को कष्ट देते हैं। इसलिए उनमे अरुचि पैदा हो जाती है, जबकि आपकी देहाकृति मे परमकरुणामय शान्तसुधारस छलक रहा है। इस कारण कोई भी सम्यग्दृष्टि आपको देखता है तो उसकी तृप्ति नहीं होती बल्कि आपके बार-बार दर्शन करने वाले को आनन्द होता है। इसी भाव को; द्योतित करते हुए भक्तामरस्तोत्र मे कहा है–[1]शान्तरस मे रगे हुए जिन परमाणुओ से आपका शरीर बना है, वे परमाणु जगत् मे उतने ही थे। अतः तीनो भुवन मे एकमात्र सुन्दर हे जिनवर! आपके जैसा किसी दूसरे का रूप नहीं है। आपका कोई उपमेय ही नही है।[2] क्योकि गम्भीरता समुद्र के साथ घटित हो सकती है। स्थिरता=धैर्य मे पर्वत की उपमा दी जाती है। निर्मलता-स्वच्छता के लिए शरदऋतु के दिन की उपमा दी जाती है। मनोहरता की चन्द्र के साथ विशालता की पृथ्वी के साथ, तेजस्विता की सूर्य के साथ एव बलिष्ठता की पवन के साथ उपमा घटित हो सकती है। परन्तु आप (तीर्थकरप्रभु) के अपरिमित माहात्म्य के साथ तुलना की जा सके ऐसा कोई उपमान ही जगत् मे प्रतीत नही होता।

---

1 देखिये 'भक्तामरस्तोत्र' मे–

यै· शान्तरागरुचिभि परमाणुभिस्त्वं।
निमार्पितस्त्रिभुवनैकललामभूत !
तावन्त एव खलु तेऽप्यणव पृथिव्यां,
यते समानपरं नहि रूपमस्ति।।

2 देखिये सिद्धसेनदिवाकरसूरिकृत पचमी द्वात्रिंशिका मे–

गंम्भीरमम्बुनिधिनाऽचलै स्थिरत्वं, शरद्दिवा–निर्मलमिष्टमिन्दुना।
भुवा विशालं, द्युतिमद् विवस्वता, बलप्रकर्षः पवनेन वर्ण्यते।।3।।
गुणोपमानं न तवात्र किञ्दिमेय–माहात्म्यसमञ्जसं यत।
समेन हि स्यादुपमाऽभिधानं, न्यूनोऽपि तेनाऽस्ति कुत. समान ।।4।।

उपमा समान गुणो वालो की दी जाती है परन्तु जो गुणो के हीन हो, वह समान कैसे बन सकता है? अतः आपके साथ गुणो मे समानता (बराबरी) कर सके, ऐसी कोई वस्तु दुनिया मे नजर नही आती। तो फिर आपसे अधिकता रखने वाली वस्तु जगत् मे और कोई हो सकती है? नही हो सकती, इसमे कोई आश्चर्य नहीं और हीन के साथ तो उपमा दी ही नहीं जा सकती। इसलिए आप अनुपम है। इसी भाव को व्यक्त करने के लिए श्रीआनन्दघनजी कहते है- **'उपमा घटे न कोय।'** साथ ही यह भी कह दिया है कि **'निरखत तृप्ति न होय।'** मतलब यह है कि आपकी देहरचना मानो अमृत का सार निकाल कर बनाई गई हो, इस कारण उसे किसी भी पदार्थ से उपमा नही दी जा सकती और ऐसा मालूम होता है कि उसे एकटक देखता ही रहूँ। उसे देखते-देखते नेत्रो को तृप्ति ही नही होती। शान्तसुधारस से ओतप्रोत आपकी अमृतमयी देहाकृति देखकर तीनो लोक के इन्द्र-नरेन्द्र आदि आपके चरणकमलो मे झुक कर अपने आप मे परमशक्ति अनुभव करते है।

स्थूलदर्शन के दूसरे प्रकार की दृष्टि से इसका अर्थ कई विवेचनकार यो कहते है-"आपकी मूर्ति (आपके देह की प्रतिकृति) अमृत से परिपूर्ण बनाई गई है और इतनी सरस बनाई गई है कि दुनिया मे किसी (मूर्ति) के साथ उसकी तुलना नही की जा सकती। उस वीतराग-प्रतिमा की दृष्टि अमृतरस से मानो तरबतर है। जिसे देखते हुए नेत्रो को कभी तृप्ति नही होती।" मतलब यह है कि आपकी (तीर्थकरदेव की) मूर्ति अमृत से भरपूर बनाई गई है, जिसके हाथ मे हथियार नही है, इस कारण रौद्ररूप नही है। जिसे देखते ही शान्ति हो जाती है। दुनिया मे तीर्थकर या वीतराग के सिवाय किसी भी देव की मूर्ति देखे तो आपको प्रतीत होगा कि या तो उसके हाथ मे कोई भयकर शस्त्र-अस्त्र होगा, अथवा उसका रूप भयकर होगा, खुल्ली ऑखे और भयावने रूप मे देख कर ही मनुष्य घबरा जाता है। आपकी मूर्ति तो पर्यकासन मे स्थित है, किन्तु कामदेव आदि की मूर्ति के समान आपके बगल मे कोई स्त्री नहीं होती। बल्कि वह शान्तरस मे निमग्न हो, इस प्रकार की भाववाहिनी बनाई गई है। भोजराज के दरबार में प्रसिद्ध जैनपण्डित कवि धनपाल ने तीर्थकर (देवाधिदेव) की मूर्ति के लिए उद्‌गार निकाले है-

प्रशमरसनिमग्नं दृष्टियुग्मं प्रसन्नं, वदनकमलमंक कामिनीसंगशून्यः।
करयुगमपि धत्ते शस्त्रसम्बन्धन्ध्यं, तदसि जगति देवो वीतरागस्त्वमेव।।

अर्थात्–"जिसकी दोनों ऑखे प्रशमरस मे निमग्न हैं, जिसका वदनकमल प्रसन्न है, जो स्त्रीसंग से रहित है, हाथ शस्त्र के सम्बन्ध से रहित है, वे वीतराग प्रभो ! जगत् मे ऐसा वास्तविक देव, तू ही है।" तात्पर्य यह है कि वीतराग देव ही आदर्श एवं पूज्य हैं। वही अनुपमेय है। मेरी ऑखे आपके इस अनुपम को देख कर तृप्त ही नही होती।

परन्तु ध्यान रहे, स्थूलदर्शन के द्वितीय प्रकार की दृष्टि में यह अर्थ तभी संगत होता है, जब वीतराग-दर्शन के समय सम्यग्दर्शनयुक्त भावधारा मन मे प्रवाहित हो रही हो। भावधारा के बिना यह अर्थ बिलकुल संगत नही हो सकता।

अब इस स्तुति का उपसंहार करते हुए श्री आनन्दघनजी वीतरागदेव से एक परमभक्त सेवक के रूप में प्रार्थना करते है–

एक अरज सेवक तणी, अवधारो जिनदेव।
कृपा करी मुज दीजिये रे, 'आनन्दघन' पद-सेव।।
विमल.।।7।।

अर्थ–**जिनदेव! सेवक की सिर्फ एक अर्ज है, जिस पर आप ध्यान दें (लक्ष्य में लें) वह यह है कि कृपा करके मुझे आनन्दघन-परमात्मपद की सेवा दीजिए।**

***भाष्य*–आनन्दघनपद-सेवा की प्रार्थना क्या और क्यों?**

श्रीआनन्दघनजी ने इस स्तुति की पूर्वगाथाओ मे **'साहेब, समरथ तुं धणी रे'** तथा **'धींगधणी माथे कियो रे'** कह कर वीतरागप्रभु को स्वामी व नाथ के रूप मे स्वीकार किया है; तब यह स्वाभाविक है कि वह उनके समक्ष सेवक के रूप में (स्वामी) उचित याचना या प्रार्थना करे। इसलिए श्रीआनन्दघनजी वीतराग परमात्मा से सिर्फ एक अर्ज करते है।

कोई कह सकता है कि वीतरागप्रभु तो किसी को कोई पदार्थ देते-लेते नहीं है, वे तटस्थभाव मे स्वभाव मे (रागद्वेषरहित हो कर) स्थित हो कर सबका कल्याण चाहते है, फिर ऐसे वीतरागप्रभु से किसी चीज की याचना करना कहाँ तक उचित है? क्योकि प्रत्येक प्राणी को अपने शुभाशुभकर्मानुसार ईष्ट या अनिष्ट वस्तु फल के रूप मे मिलती है, परमात्मा या कोई भी देव किसी के शुभकर्मो के फल को अशुभ मे परिणत नहीं करते और न ही अशुभकर्मो के फल को शुभ में बदल सकते हैं। इसका समाधान यह है कि श्रीआनन्दघनजी स्वयं आध्यात्मिक साधुपुरुष हैं, वे कर्म के फलस्वरूप प्राप्त होने वाली किसी

ऐसी याचना वीतरागप्रभु से नहीं करते और न ही वीतरागोपासक कोई ऐसी भी वस्तु की याचना कर सकता है। वे शरीर-सम्पत्ति, पुत्र, परिवार, धन्यधान्य, भूमि, स्त्री, स्वर्गादि की ऋद्धि, सिद्धि, मणि, मंत्र या औषध आदि कर्मफलजन्य भौतिक पदार्थो की याचना नहीं करते, वे अन्य सेवको की तरह लोभी नही है और न ही मिथ्यादर्शन या अज्ञान से युक्त है। वे वर्तमान मे अपनी आत्मशक्ति कम होने के कारण आध्यात्मिक शक्ति के सर्वोच्च शिखर पर पहुॅचे हुए वीतरागदेव से सिर्फ एक ही, और वह भी आध्यात्मिक याचना करते है कि 'प्रभो! इस भव मे तथा परभव मे मुझे आप (सच्चिदानन्दघन परमात्मा) की पदसेवा-चरणसेवा मिले।' इसे ही वे भक्ति की भाषा मे कह देते है–**'कृपा करी मुज दीजिए रे'** इसके लिए वे भगवान का ध्यान खींचते है कि मेरी एक ही अर्ज है और वह भी आध्यात्मिक है, उस पर आपको ध्यान देना ही होगा। क्योकि मैं आपका सेवक बना हॅू। आपके आदेश-निर्देश के अनुसार मै चलता आया हॅू और चलने का प्रयत्न करूगा। वह अर्ज क्या है?—**परमात्मपद की सेवा।** इसी तरह की प्रार्थना[1] अन्य आचार्यो एव साधको ने भी की है। यह प्रार्थना सिर्फ आत्मविकास की सूचक है।

यद्यपि वीतरागप्रभु किसी को कोई आध्यात्मिक शक्ति भी देते नहीं, किन्तु जिसका उपादान प्रबल हो, उसे वे आध्यात्मिक शक्ति प्राप्त होने मे निमित्त बन सकते है। जैसे गुरु शिष्य मे ऊपर से ज्ञान उडेलता नहीं; किन्तु योग्य शिष्य हो, जिज्ञासु हो और आराधना-साधना के लिए उद्यत हो तो गुरु उसकी ज्ञानवृद्धि या ज्ञान की अभिव्यक्ति मे निमित बन जाते है। इसी प्रकार यहॉ श्रीआनन्दघनजी की परमात्मा इस आध्यात्मिक शक्ति की याचना के पीछे भी यही रहस्य है कि परमात्मा की चरणसेवा के लिए पुरुषार्थ तो वे स्वय करेगे ही, इसीलिए इस स्तुति मे पहले वे परमात्मा के चरणो की भव्यता, निर्मलता एव उनके अनुपमेय व्यक्तित्व की महिमा का कथन कर चुके हैं। इसी से आकर्षित हो कर वे संसार की समस्त आकर्षक व मनोज्ञ वस्तुओ को तुच्छ

---

1. 'मम हुज्ज सेवा भवे भवे तुम्ह चलणाणं' (आपकी चरणसेवा मुझे भव भव (जन्म-जन्म) में मिला करे),'तन्मे त्वदेकशरणस्य शरण्य भूया.' (एक-मात्र आपकी शरण मे आये हुए शरण लेने योग्य प्रभो! आपकी शरण (सेवा) प्राप्त हो), सिद्धा सिद्धिं मम दिसंतु। क्योकि पद या चरण कहा जाता है।

और हेय समझ कर एकमात्र परमात्मा के चरण गहने को तैयार हुए हैं। हृदय की प्रबल उर्मियो से अदभुत उद्गार है ये! ऐसी प्रबल भक्तिभावना से की गई प्रार्थना सफल भी होती है। परमात्मा जब अपने आध्यात्मरसिक आत्मसाधकभक्त की पुकार को अपने ज्ञान मे जानते है तो प्रायः उनके निमित से जिज्ञासु भक्त के अतर मे ज्ञान का महाप्रकाश प्रकट हो जाता है। भगवद्गीता की भाषा मे कहूँ तो यह प्रार्थना एक ज्ञानी भक्त की प्रार्थना है, जिसमे भगवान् से और किसी चीज की याचना न हो कर परमात्मपद (निश्चयदृष्टि से शुद्ध आत्मस्वरूप मे रमणता=लीनतारूप चारित्र) की सेवा=प्राप्ति की प्रार्थना है। अथवा परमात्मपद (वीतरागपद-मुक्तिपद) प्राप्त करने की यह प्रार्थना है। तात्पर्य यह है कि आनन्दघनजी व्यवहारदृष्टि से निरतिचार चारित्र-पालन करके, निश्चयदृष्टि से स्वरूपरमण-रूपचारित्र पालन करके तब **'सपर्यास्तवाज्ञापरिपालनम्'** के अनुसार परमात्मा की आज्ञाराधनारूप सेवा करना चाहते है।

सारांश—विमलनाथ तीर्थकर (परमात्मा) की इस स्तुति मे परमात्मा को स्वामी (आदर्श) मान कर दिव्यनेत्रो से उनके सर्वागीणदर्शन के रूप मे उनके नयन, चरण, मन, दीदार, आत्मा, आकृति आदि समस्त अगो की सेवा करके श्रीआनन्दघनजी एक अध्यात्मकरसिक सेवक का दायित्व और कर्त्तव्य सूचित करते ह। इसीलिए अन्त मे परमात्मा की सागोपाग सेवा प्राप्त होने की याचना करते है।

***

14. श्रीअनन्तनाथ-जिन-स्तुति–

वीतराग परमात्मा की चरणसेवा

(तर्ज–विमल कुलकमलना हस तु जीवडा, राग, कडखा, रामगिरि)

धार तरवारनी सोहली दोहली, चउदमा जिनतणी चरणसेवा।
धार पर नाचता देख बाजीगरा, सेवनाधार पर रहे न देवा।।
धार.।1।।

***अर्थ*–तलवार की धार पर चलना सरल (सुगम) है, किन्तु चौदहवें जिन (वीतराग प्रभु) की चरणसेवा दुर्लभ (दुष्कर) है। तलवार की धार पर नाचते हुए कुशल बाजीगर दिखाई देते हैं। किन्तु वीतराग की चरणसेवा की धारा पर भवनपति आदि देव भी नहीं टिक सकते, मनुष्यों का तो कहना ही क्या?**

***भाष्य*–परमात्मा की चरणसेवा का रहस्य**

तेरहवे तीर्थकर परमात्मा की स्तुति मे अन्त मे श्रीआनन्दघनजी ने प्रभु से चरणकमल की सेवा की याचना की है, इसमे किसी को शका हो सकती है कि आखिर उन्होने ऐसा क्या मॉग लिया? प्रभु की सेवा तो मॉगे बिना ही मिल सकती है। इस शका के निवारण करने के लिए चौदहवे तीर्थकर की स्तुति के माध्यम से इस स्तुति मे बताया गया है कि वीतरागप्रभु की चरणसेवा आसान नही है। वह तलवार की धार पर चलने से भी बढकर दुष्कर है।

वीतराग–परमात्मा की चरणेसवा[1] का अर्थ वास्तव मे व्यवहारदृष्टि से सामायिक आदि चारित्रपालन की आज्ञा का परिपालन है। सक्षेप मे कहे तो भगवान् की आज्ञा की आराधना ही उनकी सेवा है। स्वय तीर्थकर महावीर भगवान ने अतिदुर्लभ चार बातो मे से एक सयम (चारित्रपालन) मे आत्मा के पुरुषार्थ को[2] दुर्लभ कहा है।

---

1 वीतराग–स्तुति करते हुए आचार्य हेमचन्द्र ने कहा– 'तव सपर्यास्तवाज्ञा–परिपालनम्' (आपकी आज्ञा का परिपालन ही आपकी सेवा है)

2 देखिये उत्तराध्ययन सूत्र मे–
चत्तारि परमंगाणि दुल्लहाणीह जंतुणो।
माणुसत्तं सुई सद्धा संजमम्मि य वीरियं।।

सवाल यह होता है कि ऐसी प्रभु-चरणसेवा इतनी दुष्कर-दुर्लभ क्यो है? इसका समाधान यद्यपि अगली गाथाओं में स्वयमेव श्रीआनन्दघनजी ने किया ही है, तथापि संक्षेप में इसके उत्तर मे यो कहा जा सकता है कि आत्मा अनादिकाल से आत्मस्वरूप मे रमण (परमात्म-चरण) की धारा पर अखण्डित-अविच्छिन्नरूप से चलने मे भूल करती आ रही है। वह भूल क्यो होती है? कैसे होती है? इस विषय मे वास्तविक जिम्मेवार तो आत्मा स्वय ही है, निमित्तरूप से जिम्मेवार द्रव्यकर्म, परपदार्थ आदि कारण बताये जाते है। जो भी हो, आत्मा के पुरुषार्थ की कमी ही परमात्म-चरणसेवा मे बाधक कारण है। असावधानी (प्रमाद) ही आत्मा को नीचे गिराती है, 11वें गुणस्थान पर पहुँची हुई उत्तम आत्मा का ठेठ दूसरे गुणस्थान तक पतन होने मे वही कारण है। पूर्णतया आज्ञाराधना-यथाख्यातचारित्र मे बारहवे गुणस्थान मे होती है, वही प्रभुचरणसेवा है, वहाँ तक पहुँचना कितना दुर्लभ है? इसे प्रत्येक साधक जानता है। उसके बीच में कभी सम्यग्दर्शन मे, कभी सम्यग्ज्ञान मे और कभी सम्यक्चारित्र मे अन्तरायभूत कितने बाधक तत्त्व आते है, मोह उन सबसे प्रधान है। राग, द्वेष, काम, क्रोधादि कषाय आदि को जीत कर ही भगवच्चरणो के समीप पहुँचा जा सकता है। इनके जीतने का मार्ग भी पकड लिया, साधक का वेष भी धारण कर लिया और महाव्रतो का स्वीकार भी कर लिया, किन्तु इतने मात्र से इन बाधकतत्त्वो को जीता नही जा सकता। इन्हे जीतने के लिए सतत् सावधानी, सदा आत्मस्वरूपलक्ष्यी क्रिया, आत्मलक्ष्यी ज्ञान और मोक्षमार्ग या परमात्मतत्त्व पर अखण्ड अविचल श्रद्धा रखनी आवश्यक होती है। जरा-सा भी चूकने पर झट से ये बाधक तत्त्व आत्मा को दबा देते है, पीछे या नीचे धकेल देते है, क्योकि तलवार की धार पर नाचते हुए कदाचित् गिर भी जाय तो उसके हाथ-पैरो को ही चोट पहुँचती है, मगर चारित्रसेवनारूपी असिधारा से गिर जाय यानी आज्ञाविराधना हो जाय तो अनन्तदु खमयससार के जन्ममरण प्राप्त होने की पूरी सम्भावना है।

यही कारण है कि श्रीआनन्दघनजी अपनी बात स्पष्ट कह देते है-**'धार तरवारनी सोहली दोहली..'** मतलब यह है कि यद्यपि तलवार की धार (नोक) पर नाचना अत्यन्त कठिन है। इसमे जरा-सी असावधानी होते ही प्राण खतरे मे पड जाते है। किन्तु कोई सधा हुआ, कुशल-नटो द्वारा बाजीगरी की कला में प्रशिक्षित एव निपुण तलवार की तीक्ष्ण धार पर भी चल सकता है।

उसके लिए तब तलवार की धार पर चलना कोई मुश्किल बात नहीं होती, वह आसान चीज हो जाती है, परन्तु पहले बताए अनुसार वीतराग-परमात्मा की चरणसेवा की धारा पर चलना अत्यन्त दुष्कर है। वह क्यो दुष्कर है? यह हम पहले सक्षेप मे कह आए है।

मनुष्यो के लिए तो ऐसी चरणसेवा दुष्कर है ही, पर जिन्हें ससार के सभी साधन सुलभ है, उन चारो प्रकार के देवो के लिए भी यह अत्यन्त दुष्कर है। यदि चरण-सेवा का अर्थ धूप, दीप, पुष्प, अक्षत, नैवेद्य आदि द्वारा प्रभु की बाह्य द्रव्यपूजा होता है यह देवो और मनुष्यो के लिए क्या कठिन था? और तब श्रीआनन्दघनजी को यह नही कहना पडता कि **सेवनाधार पर रहे न देवा।** इसलिए चरणसेवा का अर्थ बाह्य द्रव्यपूजा, कथमपि सगत नहीं है। हॉ, भावपूजा या प्रतिपत्तिपूजा अर्थ कथचित् सगत हो सकता है। इसी प्रकार चरणसेवा का अर्थ प्रभु के स्थूलचरणो की सेवा भी व्यवहारानुकूल नहीं है। क्योकि वीतराग के स्थूलचरण तो तीर्थकर अवस्था मे उनके जीवितकाल मे ही प्राप्त हो सकते है और मान लो, कोई तीर्थकर भगवान् के जीवनकाल मे भी मौजूद हो, और प्रभु के चरणो को छू लेता है या उनके चरण दबा कर उनकी बाह्य-सेवा पा लेता है; किन्तु अगर उनकी चारित्राराधना रूप आज्ञा का पालन नही करता है, बल्कि उनकी आज्ञा के विपरीत आचरण, प्ररूपण या श्रद्धान करता है तो उस हालत मे वह चरणो की यथार्थ बाह्यसेवा भी कैसे मानी जा सकती है? और स्थूलसेवा का वह प्रदर्शन (दिखावा) कैसे उसका बेडा पार कर सकता है? इसलिए निष्कर्ष यह निकला कि तीर्थकर-अवस्था मे प्रभु की चरणसेवा भी उनकी आज्ञा के परिपालन से चारितार्थ हो सकती है, अन्यथा नहीं। अन्ततोगत्वा चरणसेवा के सब अर्थो का पर्यवसान तो वीतराग के आज्ञानुरूप चारित्रपालन मे ही होता है।

यही कारण है कि वीतराग की चरणसेवा देवो के लिए भी दुर्लभ बताई है, नही तो स्थूलचरणसेवा या बाह्य द्रव्यपूजा देवो के लिए क्या दुर्लभ थी? किन्तु देवो के लिए प्रभुचरणसेवा इसलिए दुर्लभ है कि वे मोक्षमार्ग की आराधना के लिए वीतरागदेव द्वारा प्ररूपित (आज्ञप्त) रागद्वेष, विषय-कषाय आदि को जीतने हेतु व्रत, तप, जप, संयम आदि व्यवहार चारित्र तथा आत्मस्वरूप-रमणता रूप निश्चय चारित्र का परिपालन नहीं कर सकते। देवता अव्रती होते हैं। उनसे व्रतनियमो का पालन नही हो सकता। इन्द्रियों के वैषयिक सुख मे

मग्न देवों के लिए चारित्राराधनरूप आज्ञापरिपालन यानी प्रभुचरणो की सेवा दुष्कर है। इसीलिए कहा है- **'सेवनाधार पर रहे न देवा।'** अवाचक (मूक) तिर्यचो के लिए भी चरणसेवा लगभग अशक्य है और नारकों के लिए सदैव नाना दु खो मे मग्न रहने के कारण सेवाधार पर चलना अशक्य है। निष्कर्ष यह है कि पूर्वोक्त चरणसेवा मनुष्यो में जो सर्वविरति, आज्ञा के सर्वथा आराधक, अप्रमत्त महामुनि हैं, उनके लिए सुशक्य है।

अब अगली गाथाओ मे बताते है कि वीतराग चरणसेवा की धार (आज्ञा-परिपालन के पथ) पर चलना क्यो दुष्कर है-

एक कहे-सेवियें विविध किरिया करी, फल अनेकान्तलोचन न पेखे।
फल अनेकान्त किरिया करी बापड़ा, रड़बड़े चारगति मांहि लेखे।।
धार. 2।।

अर्थ-कई लोग कहते हैं कि "वीतराग परमात्मा की चरणसेवा (आज्ञापालन) में क्रिया भी आती है, इसलिए (भावशून्य या ज्ञानशून्य अथवा विकृतभाव से) व्रत, जप, तप, अनुष्ठान, द्रव्यपूजा, आदि क्रियाएँ करके हम वीतरागप्रभु की सेवा आज्ञा का पालन करते हैं। परन्तु वे उसका नतीजा, (फल) जो विभिन्न प्रकार का है, आँखों से नहीं देखते (नहीं सोचते)। वे बेचारे अपनी आशा के अनुकूल अनेक फल की कल्पना करके (अथवा वे अनेक फल देने वाली) क्रिया (अज्ञानवश) करते हैं जिसके कारण वे चार गति में भटकते हैं, चक्कर लगाते फिरते ह।"

भाष्य-**वीतरागचरणसेवा के अज्ञानजनित प्रकार**

बहुत-से लोग ऐसा सोचते है कि वीतरागदेव की चरणसेवा हमारे लिए कुछ भी कठिन नही है। वीतरागप्रभु की आज्ञा जपादि विविध क्रियाएँ करने मे है। क्रियाएँ करने से ही प्रभुसेवा हो जायेगी। क्योकि यह एक सिद्धान्त है- **'या-या क्रिया सा सा फलवती'** जो जो क्रिया होती है, उसके कुछ न कुछ फल होता ही है। ऐसे लोग या तो अज्ञानवश लोक-परलोक की किसी न किसी कामना के वशीभूत हो कर कोई न कोई अनुष्ठान या क्रिया का मर्म समझे बिना ही क्रिया के साथ शुद्ध आत्मस्वरूप का लक्ष्य चूक कर शुद्धभाव से शून्य क्रिया परमात्मा का नाम लेकर करते रहते है। कई दफा तो वे बहुत कठोर (जप, तप, कष्टसहन आदि की) क्रिया करते है, परन्तु उसके पीछे कोई विचार या ज्ञान नही होता, वे क्रियाए केवल वृथाकष्ट बन जाती है। साधक समझता है कि मैं इन क्रियाओ को भगवान् के नाम से करता हूँ, इसलिए भगवान् प्रसन्न हो

जायेगे, इस प्रकार प्रभु की चरणसेवा हो जायेगी। परन्तु उन्हे यह समझ नही कि क्रियाएँ करने मात्र से प्रभुसेवा नही हो जाती या निर्धारित अभीष्ट परिणाम नही आ सकता जो क्रियाएँ किसी इहलौकिक या परलौकिक कामना के वश हो कर की जाएगी, उनका फल तो मिलेगा, पर उन क्रियाओ जैसा फल नही मिलेगा, जो किसी भी स्वार्थ या इहलौकिक परलौकिक कामना से रहित हो कर की जाती है। **वे अभीष्टमोक्षफल दायिनी** होती है, परन्तु शुभ अथवा अशुभ परिणामो के साथ की जाने वाली क्रियाएँ ससारफलदायिनी होगी। किसी प्रकार का विचार किये बिना अधाधुध अज्ञानपूर्वक भगवान का नाम लेकर यन्त्रवत् क्रिया करने से भी जो उन क्रियाओ का अभीष्टफल (कर्ममुक्तिरूप) मिलना चाहिए, वह नही मिलता। उसका अनेकान्त[1] (व्यभिचारी) फल मिलता है, जो क्रिया के ईष्टप्रयोजन के विरुद्ध होता है, इस बात की वे ज्ञानशत्रु क्रियावादी अपनी विवेक की आँखो से नही देखते, यानी वे क्रिया के नतीजे पर सोचे-विचारे बिना ही प्रभु का नाम लेकर अधाधुध क्रियाए करते है। ऐसे लोग भगवान् की आज्ञापालन का दम भरते है, लेकिन यथार्थ मे वह ससार की सेवा होती है।

अथवा अनेकान्त का अर्थ एकान्त न होना भी है। कई बार क्रिया का फल मोक्षमार्ग की प्राप्ति होता है, कई बार ससारवृद्धि होता है। यानी क्रिया का फल एकात (एक ही प्रकार का) नही होता। इस बात को क्रियावादी नही देखते नही विचारते। कुछ लोग क्रिया के अनेक (विभिन्न) फलो को तो जानते-मानते है, पर वे इस भव या परभव मे सुख-सुविधाएँ वैभवादि की प्राप्ति की आशा से क्रियाएँ करते रहते है। वे क्रियाएँ फल तो अवश्य देती है, पर उसे हम सच्चे माने मे फल नही कह सकते, स्थायी सुख देने वाले फल को ही हम वास्तविक फल कह सकते है। अस्थायी फल वाली क्रियाओ से तो वे बेचारे एक से दूसरी गति मे, दूसरी से तीसरी गति मे भ्रमण करते रहते है। देवगति या मनुष्य-गति मे मिलने वाले पौद्गलिक सुखरूप फल भी क्षणिक और अस्थायी होते है। कई बार तो ऐसा पौद्गलिक सुख भी नही मिलता। ऐसा क्रियाफल तो चारगतियो मे

---

1 अनेकान्त का अर्थ यहाँ व्यभिचारी हेत्वाभासरूप दोष है, जिसका लक्षण है—माने हुए कारण से तदनुसार कार्य न होना या माने हुए हेतु के अनुसार साध्य का न होना। यहाँ कार्य फल के साथ विसवादी कारण होने से व्यभिचार (अनेकान्त) दोष है।

भटकाने वाला और संसारवृद्धि का कारण है। सम्यग्दृष्टि आत्मा के लिए वह क्रिया उपादेय नहीं हो सकती।

पहले हम पॉच प्रकार की क्रियाओ का वर्णन कर चुके है। वे इस प्रकार है–विषक्रिया, गरलक्रिया, अननुष्ठानक्रिया, तद्‌हेतुक्रिया और अमृतक्रिया। इन मे से प्रथम तीन क्रियाएँ चारों गतियो मे भ्रमण कराने वाली है। शेष दो क्रियाएँ मोक्ष प्राप्ति की कारण भूत है। ज्ञानशून्य क्रियावादी प्रथम की तीन क्रियाओ से देव-नरकादि चारो गतियों मे भटकता रहता है। अत. प्रभुचरण-सेवारूप क्रिया शुद्धात्मप्राप्ति या मोक्षप्राप्ति का फल देने वाली हो, वही उपादेय है।

निष्कर्ष यह है कि ससार मे प्रायः एकान्तक्रियावादी लोगो की पूर्वोक्त मान्यता के कारण प्रभुचरण सेवा दुर्लभ है।

अगली गाथा में श्रीआनन्दघनजी तत्त्वज्ञाननिष्ठ लोगो के झूठे ममत्त्वयुक्त व्यवहार के कारण प्रभुचरण सेवा को दुर्लभ बताते हुए कहते है–

गच्छना भेद बहु नयण निहालतां तत्त्वनी बात करतां न लाजे।
उदरभरणादि निजकाज करतां थकां, मोहनडिया कलिकाल राजे।।
धार.।।3।।

अर्थ–**गच्छों (उपसम्प्रदायों) के बहुत-से भेद प्रत्यक्ष देखते हुए भी अफसोस है, इन लोगों को तत्त्व की बातें बघारते हुए जरा भी शर्म नहीं आती। ऐसा मालूम होता है, उदरभरण, वगैरह (बढ़िया खाने-पीने, पहनने का सामान) और रहने के लिए आलीशान भवन एवं सम्मान आदि अपने मनमाने (स्वार्थ) कार्य करते हुए ये कदाग्रही लोग कलियुग में मोह से घिरे हुए सुशोभित हो रहे हैं।**

***भाष्य*–तत्त्वज्ञान बघारने वालों की परमात्मसेवा**

पूर्वगाथा मे ज्ञानहीन क्रियावादी लोगो के द्वारा परमात्मसेवा का निराकरण किया था, इसमे ज्ञानवादी लोगो द्वारा परमात्मसेवा के ढोग की कलई श्रीआनन्दघनजी ने खोल दी है। परमात्मसेवा कितनी दुर्लभ है? यह गच्छो, पथो और सम्प्रदायों के पृथक्-पृथक् भेदो को देखते हुए स्पष्ट मालूम हो जाता है। जिनमे परमात्मसेवा की सच्ची लगन है, उनमे गच्छ, मत, पथ और सम्प्रदाय के विभिन्न भेद पैदा करने, भोली जनता के सामने अपने गच्छ, मत, पंथ या सम्प्रदाय की बडाई और सचाई की डींग हाकने और दूसरो के इन गच्छादि की निन्दा और उन्हे मिथ्या कहने और लोगो को अपने गच्छादि मे खीचने का झूठा आग्रह हो ही नही सकता। जहॉ इस प्रकार की खीचातान है, मताग्रह है, मेरा

ही मत, पंथ या गच्छ सच्चा है, हमारे मत, गच्छ या पथ के साधक भगवान् की आज्ञा के अनुसार चलते है, हमारा पथ या गच्छ ही प्रभु का पथ या गच्छ है, इस प्रकार अपने गच्छ या पथादि की महत्ता जमाने के लिए आकाश-पाताल एक किया जाता है, ऐसे साधको के मुँह से तत्त्वज्ञान की बाते शोभा नही देती। उन्हे शर्म नहीं आती है कि हम एक ओर तो अनेकान्त की बाते बधार कर सब धर्मो, पंथो, मतो एव दर्शनो में परस्पर समन्वय, सापेक्षता और सहिष्णुता पैदा करके विरोध मिटाने और कदाग्रह छोडने की बडी-बडी बाते करते है किन्तु दूसरी ओर से हम ही गच्छो, पथो आदि के भेदो से चिपटे हुए है, सम्प्रदायमोहवश एक दूसरे मे परस्पर, भेद डाल कर अथवा अनुयायियो के मन में अपने से भिन्न मत, पथ, सम्प्रदाय आदि की निन्दा करके घृणा पैदा करते है। जहाँ तत्त्वज्ञान हो, वहाँ ममत्व की वृत्ति शोभा नही देती। जहाँ तत्त्व हो, वहाँ ममत्व नही और जहाँ ममत्व हो, वहाँ तत्त्व नही होता। परन्तु इन कलियुगी साधको की तो बात ही निराली है। इनका ऊपर का साधु-वेष और वचनाडम्बर देख कर भोले-भाले उनके बागजाल मे फस जाते है, वे इनकी ढोल मे पोल को जान नही पाते। किन्तु वास्तव मे ऐसे साधक दम्भी है, वे थोथे तत्त्वज्ञान द्वारा ही परमात्मचरणसेवा हो जाना मानते है, पर ऐसा मालूम होता है कि ये सब बाते केवल पेट भरने, प्रतिष्ठा पाने, वस्त्रादि अन्य साधन लेने एव अपना स्वार्थ सिद्ध करने की है, और इस कलियुग मे वे अन्दर से मिथ्यात्व मोहनीय कर्म के चगुल में फसे हुए है; केवल बाहर से शोभायमान लगते है, अन्दर से तो मोह की मजबूत गाठ से जकडे हुए है।

वास्तव मे श्रीआनन्दघनजी ने आज के तथाकथित तत्त्वज्ञानवादी लोगो को बडी चेतावनी इसमे दे दी है। ऐसे कलियुगी गुरुओ के कारण ही परमात्मा की यथार्थसेवा इस युग मे दुर्लभ हो रही है। आज के युग मे तथा-कथित साधक आचार्य, सूरिसम्राट, मुनिपुंगव, प्रखरवक्ता, अध्यात्मयोगी, योगीराज, आत्मार्थी आदि बन कर लच्छेदार भाषा मे तात्विक बाते बघारते रहते है, परन्तु उनके व्यवहार को देखा जाय तो वे अत्यन्त सकीर्ण, अनुदार, दूसरे सम्प्रदाय, या पथ (गच्छ) के साधुओं से घृणा, छुआछूत या भेदभाव करने वाले, दूसरो को मिथ्यात्वी समझने वाले प्रतीत होते हैं। मन-कल्पित क्रियाकाड, वेष, पथ, मत या गच्छ की थोथी महत्ता की डींग हॉकने वाले के मुख से आत्मज्ञान या तत्त्वज्ञान की बातें शोभा नही देती। मोह के शिकजे मे फॅस कर

ऐसे लोग तत्त्वज्ञान छौककर पूंजीपतियों को अपने भक्त बना लेते है, वे इनके बढ़िया खानपान, आवश्यकताओं मानप्रतिष्ठा आदि स्वार्थ की पूर्ति कर देते हैं, ये उन्हे पुण्यवान् भाग्यशाली, सेठ, दानवीर आदि विशेषणो से सत्कृत सम्मानित कर देते है। इस प्रकार इनके तत्त्वज्ञान का उपदेश परमात्मा की चरणसेवा का प्रयोजन सिद्ध करने वाला नही होता, वह एक प्रकार से मोहलिप्त स्वार्थसेवा करने वाला हो जाता है।

आगे की गाथा मे परमात्मसेवा की फिर दुर्लभता सूचित की है–

वचननिरपेक्ष व्यवहार झूठो कह्यो, वचनसापेक्ष व्यवहार साचो।
वचननिरपेक्ष व्यवहार संसारफल, सांभली आदरी कोई राचो।।
धार. ।।4।।

अर्थ–**जिन प्रवचन (परमात्मा की आज्ञा की, निश्चय दृष्टि में आत्मतत्त्व की अपेक्षा से रहित, विसंगत, व्यवहार (धार्मिक आचार) मिथ्या है, परमात्मवचन से साथ वचन (आत्मतत्त्व) से निरपेक्ष व्यवहार संसाररूप फल का प्रदायक है। ऐसा कर उसे आदर क्यों देते हो? उसमें क्यों फसतें हो?**

भाष्य–**वचननिरपेक्ष और वचनसापेक्ष व्यवहार**

वीतराग परमात्मा के अनेकान्तवाद से सने वचन या प्रवचन अथवा आत्मतत्त्वलक्ष्यी वचन से सापेक्ष व्यवहार ही वास्तव मे जिनाज्ञा का अनुसरणकर्त्ता होने से सच्चा है। यहाॅ व्यवहार का अर्थ व्यवहारचारित्र यानी धार्मिक आचार-विचार से है।[1] जो व्यवहार धर्मार्जित एव तत्त्वज्ञपुरुषो द्वारा इहलोक मे सदा आचरित होता है, उस व्यवहार का आचरण करता हुआ साधक निन्दा का भागी नही बनता। जैनागमो मे पाॅच प्रकार का व्यवहार बताया है–आगम व्यवहार, श्रुतव्यवहार, आज्ञाव्यवहार, धारणाव्यवहार और जीतव्यवहार। ये पाॅचो व्यवहार जैनसाधुवर्ग के बाह्याचारो तथा विधानो से सम्बद्ध है। ऐसे साध्वाचार-सम्बन्धी विधानो का वर्णन व्यवहार सूत्र आदि मे मिलता है। पाॅचो मे से कोई भी व्यवहार सूत्रचारित्ररूप-धर्म से अनुप्राणित हो वही वचन सापेक्ष व्यवहार कहलाता है। जो व्यवहार जिनप्रवचन, वीतराग-सिद्धान्त या निश्चयनय से सम्मत न हो, वह निरपेक्षव्यवहार है।

1 जैसे कि उत्तराध्ययनसूत्र मे कहा है–

धम्मज्जियं च व्यवहारं, बुद्धेहाऽयरियं सदा।
तमायरंतो ववहारं, गरहं नाभिगच्छई।।

समग्र जैनदर्शन नयवाद पर आधारित है। एक बात एक दृष्टिबिन्दु से सच्ची होती है, वही दूसरे दृष्टिबिन्दु से बिलकुल उलटी प्रतीत होती है। इस अपेक्षावाद को यथार्थरूप से समझ कर जो आचरण, प्ररूपण व श्रद्धान करता है, उसका वह व्यवहार वचनसापेक्ष होने के कारण सच्चा व्यवहार (नय) है, परन्तु इसके विपरीत जो अपेक्षा या दृष्टिबिन्दु को ठीक तौर से न समझ कर एकान्त एक ही दृष्टि से आचरण प्ररूपण व श्रद्धान करता है, उसका वह व्यवहार वचननिरपेक्ष होने के कारण मिथ्या है।

इस प्रकार का वचननिरपेक्ष व्यवहार अथवा आत्मतत्त्व की अपेक्षा रहित परमार्थ मूलहेतुभूतरहित व्यवहार (निश्चय को लक्ष्य मे न रख कर की हुई व्यवहार क्रिया) का फल तो चारगति मे भ्रमण-रूप ससार ही है। यहाँ जैसे वचननिरपेक्ष व्यवहार को ससारवृद्धिरूप फलदाता कहा है, वैसे वचननिरपेक्ष व्यवहार को छोड कर एकान्त निश्चय भी उपलक्षण से ससारवृद्धिरूप फलदाता समझ लेना चाहिए।

निष्कर्ष यह है कि योगी श्री आनन्दघनजी उस युग के मतवादी (मताग्रही) गच्छ (पथ) वासियो अथवा क्रियाकाण्डियो के मोक्षफल को तथा आत्मज्ञान की अपेक्षा रहित कथन-श्रद्धान-आचरण देख कर या अनुभव करके कहते है, जो लोग मनगढत अटपटी क्रियाओ को धर्म या भगवान् के नाम से पूजा-प्रतिष्ठा आदि के ममत्व से सापेक्ष जिनप्रवचन का व्यवहार करते है, वे भी एकान्तवादी या अपने ही कल्पित मत को सच्चा मानने वाले साधक ससार की वृद्धि करते है। जिसे गच्छ, मत, पथ या अपने माने हुए तथाकथित सावद्य अनुष्ठान का आग्रह नही है, जो सम्यक् (आत्म, ज्ञान की वृद्धि की अपेक्षा रख कर जिनप्रवचन-अनेकान्तवाद का व्यवहार करता है, वह आत्मकल्याण की अपेक्षा (मद्देनजर) रखते हुए अनेकान्तवचन बोलता या कहता है, वही ससार-सागर से पार उतरता है।

यही कारण है गच्छ-मतादि के आग्रह के कारण जो आत्मस्वरूप-निरपेक्ष आचरण करते है, उन्हें देख कर श्रीआनन्दघनजी को व्यथित मन से कहना पडा-**'सांभली आदरी कांई राचो'** इस बात को भलीभाति सुन लेने पर भी उसको अपना कर क्यो उसमे मशगूल हुए हो?

उसी व्यवहार की ओट में देवगुरु-धर्म पर श्रद्धा न रख कर जो क्रिया की जाती है, उसके परिणाम को बताने के लिए अगली गाथा मे कहते हैं-

देव-गुरु-धर्मनी शुद्धि कहो रहे केम रहे शुद्धश्रद्धान आणा।
शुद्ध श्रद्धानविण सर्वकिरिया करी, छार पर लीपणुं तेहु जाणो।।
धार.।।5।।

***अर्थ*–ऐसे निरपेक्षवचनवादी लोगों से देव, गुरु और धर्म की शुद्धि (पवित्रता) या शुद्धिभक्ति कैसे सुरक्षित रह सकती है? और इस तत्त्वत्रयी की शुद्धि या शुद्धभक्ति के बिना शुद्ध श्रद्धान कैसे लाया जा सकता है? तथा शुद्ध श्रद्धा के बिना यह समझ लो कि समस्त क्रियाए राख (धूल) के ढेर पर लीपने के समान है।**

***भाष्य*–देव-गुरु-धर्म पर शुद्ध श्रद्धा से रहित क्रिया का फल**

बहुत से मत-पंथवादी या नास्तिक विचारधारा वाले लोग अपने-अपने पंथो, गच्छो, सम्प्रदायो या मतो की विचारधारा का आग्रह रख कर अपनी परम्परा (फिर चाहे वह ससार बढाने वाली क्रिया या प्ररूपणा से सम्बन्धित हो) से एक इंच भी इधर-उधर नहीं हटना चाहते। अपनी लौकिक या भौतिक फलाकाक्षा के वशीभूत हो कर वे अपने माने हुए देवी-देवो या अवतारो को भी उसी रंग मे रंग लेते है; देवी-देवो या अवतारो को भगवान्-भगवती या विश्वमाता का रूप दे कर उन्ही के नाम से सभी तत्फलावलम्बी क्रियाएँ करते रहते है, वैसी ही लौकिक ससार वृद्धि करने वाली प्ररूपणा करते है या श्रद्धा रखते है। तब जो वीतराग वीतदोश देव है, कचनकामिनी के त्यागी महाव्रती सच्चे गुरु (साधु) है, अथवा मोक्षमार्गदर्शक अथवा कर्ममुक्तिदर्शकं शुद्धात्मरमणरूप धर्म है, उन पर शुद्ध श्रद्धा कैसे रह सकती है? या उनकी विचार-धारा, श्रद्धा प्ररूपणा या क्रिया मे जो दोष है, उसकी शुद्धि कैसे होगी? बहुत से लोग अपने अशुद्ध विचारों का निरूपण करते हुए सच्चे देव, सद्गुरु और सद्धर्म पर आस्था उखाडने की कोशिश करते है। वे सामान्य लोगों को भी इन सबसे ऊपर उठ कर सोचने की, इनको हृदय से निकालने की जोर-शोर से प्रेरणा करते है। इसका नतीजा यह होता है कि वे बेचारे या तो चमत्कारो या उक्त विचारको के मायाजाल मे फंस जाते है या लौकिक फलाकाक्षावादी बन कर उन्ही को भगवान् पैगम्बर या गुरु मान बैठते है। इस प्रकार न तो वे उच्च भूमिका (गुणस्थान) पर पहुँच पाते हैं, जहाँ देव-गुरु-धर्म की कोई आवश्यकता नही रहती। उनमे स्वतः देवत्व, गुरुत्व और शुद्ध धर्मतत्त्व प्रगट हो जाता है। किन्तु वे भोलेभाले लोग तो इतनी उच्च भूमिका को छू नही पाते और न ही सच्चे देव, गुरु, धर्म पर श्रद्धा रख कर चल पाते है। वे त्रिशंकु की तरह अधबीच मे ही

लटके रह जाते है। इसलिए परमात्मतत्त्व को प्राप्त करने के लिए जो बुनियादी तीन तत्त्व है–सम्यग्देव, सम्यग्गुरु और सद्धर्म; उनकी शुद्धि यानी दर्शनविशुद्धि वे नही कर पाते। इसका नतीजा यह होता है कि वे विविधमत-पथवादियो के पास इधर-उधर भटकते रहते है। बाह्य दृष्टि से भी और आत्मिक दृष्टि से भी वे जन्ममरण संसार मे भटकते रहते है। वे देव गुरु धर्म तत्त्व की शुद्धि जो सद्व्यवहार की मुख्य आधारशिला है, उसे हृदय मे नहीं जमा पाते। वास्तव मे उस शुद्धि का आधार शुद्ध श्रद्धा है, उससे भी वे हट जाते है।

जब व्यक्ति के जीवन मे शुद्ध श्रद्धा (उक्त त्रिवेणी पर) नही होती, तो वह जो भी श्रद्धा, प्ररूपणा या क्रिया करता है, वह सब राख के ढेर पर लीपने के समान व्यर्थ श्रम होता है। उन क्रियाओ या प्ररूपणाओ के सिवाय ससार परिभ्रमण के और कुछ प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। उन क्रियाओ आदि मे लगाया हुआ समय, श्रम, शक्ति और दिमाग सब कुछ अपने ही हाथों व अपने ही पैरो पर कुल्हाडी मारने सरीखा होता है। साधकजी गये थे मुक्ति की साधना करने और फंस गये संसार (भोग) की साधना मे, ऐसा ही कुछ हो जाता है।

श्रद्धा, सम्यक्त्व, श्रद्धान, सम्यग्दृष्टि या सम्यग्दर्शन, ये सब एकार्थवाचक है। जो वचनसापेक्ष व्यवहार का आदर करना चाहता है, उसे शुद्ध, गुरु और सद्धर्म का शरण लेना ही होगा। तभी उसका शुद्ध श्रद्धान टिक सकेगा। यानी उसे व्यवहारदृष्टि से सम्यक्त्व प्राप्त हो कर टिक सकेगा। सम्यक्त्व के बिना जितनी भी क्रिया (चाहे वह भगवान् का नामजप, गुणगान या स्तुति अथवा बाह्यपूजा, भक्ति भी क्यो न हो) की जायेगी, भले ही वह वचनसापेक्ष व्यवहारयुक्त हो, तो भी राख पर लीपने के समान निष्फल होगी। मतलब यह है कि सम्यक्त्व के बिना सब वृथा है, एक अक के बिना बिदियो के समान है। जैसे गंदी, ऊबड-खाबड, बिगडी और कूडाकर्कट से भरी जगह साफ किये बिना उस पर कोई गोबर का लेपन करता है, तो वह फिजूल जाता है, किन्तु साफ की हुई शुद्ध समभूमि पर किया हुआ लेपन ही सार्थक होता है। वैसे ही श्रद्धा से साफ की हुई शुद्ध आत्मभूमि (या चित्तभूमि) पर देवगुरुधर्म की लगन से की हुई शोध भी तभी फलित होती है और तभी आत्मभूमि पर किया हुआ क्रिया का लेपन स्थायी और कारगर होता है।

इस स्तुति मे श्रीआनन्दघनजी ने एक अध्यात्मसाधक को अध्यात्म की बुनियाद पक्की करने का स्पष्ट संकेत किया है और उसके लिए --`

प्रतिक्षण यह चिन्तन करने के लिए बाध्य किया है कि विशुद्ध देव-गुरु-धर्म कैसे मिल सकते है? इनकी सेवाभक्ति उसे कैसे प्राप्त हो सकती है? शुद्ध और अशुद्ध देव के पवित्र और अपवित्र गुरु के तथा सद्धर्म और कुधर्म के क्या-क्या लक्षण है? इन्हे कैसे पहिचाने? इनकी शुद्धता और शुद्ध श्रद्धा कैसे टिक सकती है? गुरु के लक्षण तो 'आतमज्ञानी श्रमण कहावे', आदि पदो द्वारा श्रीआनन्दघनजी पहले बता चुके है, देव के विषय मे भी आगे एक स्तुति मे विस्तार से कहा जाएगा।

अगली गाथा मे शुद्ध चारित्र की पहिचान के लिए श्रीआनन्दघनजी निर्भीक हो कर स्पष्ट सत्य कह देते है–

पाप नहीं कोई उत्सूत्र-भाषण जिस्यो, धर्म नहीं कोई जग सूत्रसरीखो।
सूत्र-अनुसार जे भविक किरिया करे, तेहनो शुद्ध चारित्र परीखो।।

***अर्थ*–जगत् में उत्सूत्रभाषण (श्रुत या सिद्धान्त के विरुद्ध प्ररूपण) जैसा कोई भी पाप (अशुभफल) नहीं है, इसी तरह सूत्रानुसार प्ररूपण-आचरण के सरीखा कोई धर्म नहीं है। वास्तव में सूत्रानुसार जो भव्य साधक क्रिया करता है, उसी का चारित्र शुद्ध समझो। उसके शुद्ध चारित्र को इसी प्रकार परख लो।**

***भाष्य*–साधक के शुद्धचारित्र की परख**

ससार मे बहुत-से साधक ऐसे है, जो मताग्रही है, पथ–गच्छवादी है या सम्प्रदायवादी है, अथवा स्वकपोलकल्पित देव-गुरु-धर्म की मान्यता की प्ररूपणा करते है, या फिर वे अपना मनमाना विचार-आचार बना लेते है। ये और ऐसे लोग अपनी मानी हुई बात पर शास्त्र की छाप लगाते है, शास्त्र की दुहाई देते है, शास्त्र का प्रमाण देते हुए और शब्दो की खीचतान करके अपनी अयथार्थ बात को शास्त्रसम्मत सिद्ध करने का प्रयास करते है, ऐसे महानुभाव उत्सूत्रभावी है, वे सिद्धान्तविरुद्ध सूत्रो (श्रुतो) से विपरीत श्रद्धा, प्ररूपणा और आचरण करते है। उनका यह कार्य पाप है, जो बहुत ही घोर है, जिसका फल भी भयकर अशुभ है।

उत्सूत्रभाषण का रहस्यार्थ है–सिद्धान्त या वीतरागवचन (श्रुत) से निरपेक्ष प्ररूपण करना, सूत्रनिरपेक्षआचरण एव श्रद्धान करना। वास्तव मे शास्त्र या सूत्रसाधक के लिए कार्य-अकार्य का निर्णय देते है। जब साधना मे कोई , बहम, शंका या सशय आ पडे, तब शास्त्र ही उस अधेरे मे प्रकाश का

काम करता है।[1] भगवद्गीता मे भी कहा है कि तुम्हारे लिए कार्य और अकार्य की व्यवस्था मे शास्त्र ही प्रमाण है। जो शास्त्रोक्त विधिविधान को छोड कर अपनी स्वच्छन्दता से मनमानी प्रवृत्ति करता है, वह सिद्धि को प्राप्त नहीं कर सकता। इस दृष्टि से जो व्यक्ति शास्त्रविहित सिद्धान्त-सम्मत बातो की उपेक्षा करते है या उनकी मखौल उडाते है और मनमाना प्रचार करते है, मनमाना आचरण करते है, वे पाप करते है। इसीलिए श्रीआनन्दघनजी सूत्र-सिद्धान्त से विरुद्ध प्ररूपण को पाप और सूत्रसम्मत प्ररूपण व आचरण को धर्म कहते है। प्राणतिपात आदि 18 पापस्थानो मे सबसे बडा पाप मिथ्यादर्शनशल्य है। सबसे बडा धर्म सूत्र-चारित्रधर्म है।

नयप्रमाणयुक्त जिनप्रवचन सूत्र कहलाता है, जो कथन नयों और प्रमाणो से अनुप्राणित अनेकान्तदृष्टि से निश्चय-व्यवहार दोनो को मद्देनजर रख कर किया जाता है, उसे भी जिनवचनसापेक्ष (सूत्रसम्मत) भाषण कहा जा सकता है। इस दृष्टि से उक्त गाथा का भावार्थ यह होता है कि जिनवचन निरपेक्ष, नयप्रमाणयुक्तसूत्र से विरुद्ध, न्यून या अधिक कथन, भाषण या आचरण करने से बढकर और कोई पाप नही और जिनवचनसापेक्ष नयप्रमाणयुक्त सूत्रानुसार यथार्थ प्ररूपण, कथन या आचरण करने के समान कोई धर्म नही है। जो भव्य साधक उपर्युक्त विधि से सूत्रानुसार क्रिया करता है, उसी का चारित्र शुद्ध समझना चाहिए। इसका तात्पर्य यह है कि जो भव्य जीव वीतराग परमात्मा की आज्ञा (वचन) का अनुसरण करते हुए क्रिया (धर्माचरण) करता है, ज्ञानयोग से समन्वित क्रियायोग की साधना करता हुआ आत्मविकास का पथ तय करता है, उसका चारित्र शुद्ध है। इसके विपरीत जो मनमाना चलता है, वह चाहे जितना बडा तपस्वी हो, क्रियाकाण्डी हो, महत हो, या आडबरो और चमत्कारो से प्रभावित कर देता हो, उसका चारित्र शुद्ध नही कहा जा सकता, क्योकि उसका सारा आचरण सूत्रनिरपेक्ष या आज्ञाबाह्य होने से सम्यग्दर्शन से रहित होने के कारण सम्यक्चारित्ररूप नही है।

अब अन्तिम गाथा मे वीतरागपरमात्मा की चरणसेवा के लिए बताये हुए

---

1. तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।
   य. शास्त्रविधिमृत्सृत्य वर्तते कामकारत:।
   न स सिद्धिमवाप्नोति . .।

उपायों को हृदय मे संजो कर भक्तिभावपूर्वक जो साधनापथ पर चलता है, उसका फल बताते हुए श्रीआनन्दघनजी कहते है–

एह उपदेशनों सार संक्षेपथी, जे नरा चित्तमां नित्य, ध्यावे।
ते नरा दिव्य बहुकाल सुख अनुभवी, नियत 'आनन्दघन' राज पावे।।
धार. 7।।

_अर्थ_–इस पूर्वोक्त उपदेश का सार जो व्यक्ति प्रतिदिन हृदयंगम करके ध्यान में रखते हैं, वे भक्तिशील व्यक्ति चिरकाल तक दिव्य (देवलोक के) सुखों का अनुभव करके अन्त में अवश्य (निश्चित) ही आनन्दघन (परमात्मा) का राज्य मोक्षराज्य प्राप्त करते हैं।

भाष्य–इस स्तुति मे वीतराग-परमात्मा की चरणसेवा के लिए श्रीआनन्दघनजी ने उन सब बाधकतत्त्वो की ओर से सावधान रहने का सकेत किया है, जो बाहर से तो परमात्मा की सेवा मालूम होती है, परन्तु वास्तव मे सेवा की ओट मे संसार मे परिभ्रमण कराने वाली है। उनमे से मुख्यतया निम्नलिखित बाते है–

1 क्रिया के विविध ससारपरिभ्रमणजनक फलो का विचार किये बिना परमात्मा की सेवाभक्ति के नाम पर नामकामना वश विविध अनुष्ठान करना-कराना।

2 किसी लौकिक या भौतिक फल प्राप्ति की आशा से जानबूझ कर भगवान् के नाम की ओट मे क्रिया करना, जो मोक्षप्राप्ति के बदले संसार मे भटकाने वाली हो।

3 गच्छ, मत, पथ, सम्प्रदाय आदि का कदाग्रह, कलह बढाना, जनता मे भगवान् के नाम पर सम्प्रदायपोषण, परस्पर कलह, झगडे, विद्वेष आदि पैदा करके अपना स्वार्थ सिद्ध करना।

4 तत्त्वज्ञान की बाते बघार कर भोलेभाले लोगो को भगवान् के नाम से सम्प्रदाय, मत, पथ, चला कर उसमे फसाना, कट्टरता बढाना और उनसे स्वार्थ सिद्ध करना अथवा स्वयं मोहजाल मे फसना।

5 अनेकान्तवादयुक्त कथन से ओतप्रोत जिनवचन या कथन की उपेक्षा करके मनमाना व्यवहार-धार्मिक आचार-विचार प्रचलित करना, और वह भी परमात्मा के नाम की ओट में। अथवा ऐसे स्वच्छन्द धर्माचार एवं विचार का वीतराग के नाम से पोषण करना, जिससे सिवाय ससारफल के और कुछ पल्ले न पडता हो।

6 देव, गुरु, धर्म पर शुद्धश्रद्धा व शुद्धविचार न रखना, अथवा इनके नाम से मिथ्या देव, गुरु, धर्म को पकड लेना अथवा इन्हे अनावश्यक बता कर स्वच्छन्द जीवी, पुद्‌गलानन्दी बनना-बनाना।

7 सूत्रविरुद्ध प्ररूपण, श्रद्धान, आचरण एव अनुष्ठान करना-कराना।

ये सब बाते परमात्मा की चरणसेवा मे बाधक है, इनसे बच कर मोक्ष प्राप्तिजनक निःस्वार्थ क्रियाएँ करना, लौकिक फलाकाक्षा से कोई भी अनुष्ठान न करना, न लौकिक फल प्राप्त करने की अभिलाषा रखना एवं गच्छ-मत पथादि के कदाग्रह एव झगडे छोडकर समभावपूर्वक जिनाज्ञानुसार श्रद्धा, प्ररूपणा और सयम साधना करनी चाहिये। आत्मा एक है, मोक्षमार्ग एक है, मोक्ष भी एक है। भव्यमुमुक्षु के लिए उचित है कि एकात्मक सुख प्राप्ति के निरवद्य पथ को अपना कर सवर-निर्जरापूर्वक तपसयम की क्रिया करे। विविध भौतिक फल की इच्छा से की गई क्रिया के फलस्वरूप अनेक गतियो मे बार-बार जन्म लेना पडता है, उससे आत्मसुख की हानि होती है। अतः ससार की मूलरूप क्रियाओ का परित्याग करना चाहिये। मोह ममता के अधीन हो कर या सूत्र-सिद्धान्त के आशय को छोड कर मनमानी देव-गुरु-धर्म-स्थापना, वेशभूषा क्रियाकाण्ड को ले कर बने हुए गच्छ या सम्प्रदाय के भेदो की पुष्टि के लिए आदेश-उपदेश करना तथा अपनी सुखसुविधा तथा भौतिक सुख व सम्मान के लिए तत्त्वचर्चा करना आत्मार्थी के लिए शोभास्प्रद नही है। आत्मधर्म की अपेक्षा से रहित असत्य वचन-व्यवहार का त्याग करना चाहिए। सूत्रविरुद्ध प्ररूपण का भी त्याग करना आवश्यक है। साधारण जनता राग-रग के विषयो के प्रति लुब्ध हो कर सयम से चलित हो तथा उसमे सिर्फ धन, पुत्र एव सासारिक सुख की एषणा बढे, इस प्रकार के उत्सूत्र भाषण का त्याग करना चाहिए।

ये और इस प्रकार के उपदेश-वचनों का सार सुन कर जो इनसे हृदय मे आदर्शरूप मे धारण करेगे, उनका बार-बार चिन्तन करेगे, आदरपूर्वक उसका अमल करके जो तन्मय बनेगे, वे भव्य नर-नारी चिरकाल तक दिव्य-

1. तत्थ ठिक्चा जहाठाणं, जक्खा आउक्खए चुया।
उवेंति माणुसं जोणिं, से दसंगेऽभिजायए।।16।।
भुचा माणुस्सए भोए, अप्पड़िरूपे अहाउयं।
पुव्वं विसुद्धसद्धम्मे, केवलं बोहिं बुज्झिया।।19।।
..तवसा धमुंयकम्से, सिद्धे हवइ सासए।।20।।

अद्वितीय चित्त समाधिरूप, सातावेदनीय सुख का अनुभव करके आत्मगुण मे एकरस हो कर निश्चित ही मोक्ष मे जायेगे, यानी सच्चिदानन्द रूप परमात्मपद में लीन हो जायेगे। निष्कर्ष यह है कि परमात्मा की चरणसेवा का जो मूल प्रयोजन है, उसे ऐसे मुमुक्षु सिद्ध कर लेगे।

श्रीआनन्दघनजी का वचन उत्तराध्ययन-सूत्र एवं सिद्धान्त से पूर्णतः सम्मत है कि पूर्वोक्त गाथाओ मे बताए हुए उपदेश के अनुसार चलने से छठे गुणस्थान मे रहे हुए साधक को कभी-कभी सातवॉ गुणस्थान प्राप्त होने से देवगति का आयुष्य बध जाता है। वहॉ से दिव्यसुखो का अनुभव करने के बाद च्यव कर मनुष्यगति मे आ कर जाति आदि से समृद्ध कुल मे पैदा होता है, यहॉ उसे 10 बोलो की प्राप्ति होती है। तदन्तर सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र और तप, सवर एवं भावनाओ के बल से ससार का उच्छेद करके मोक्ष प्राप्त कर लेता है। यानी जघन्य तीसरे भव मे मध्यम पॉच भव मे और उत्कृष्ट आठ भव मे तो उसका मुक्ति-परमात्मपद प्राप्त करना निश्चित है।

सारांश—इस स्तुति मे प्रभु की चरणसेवा को तलवार की धार पर चलने से भी दुर्लभ बता कर बीच की गाथाओ मे उसके अनेक कारणो का उल्लेख किया है। यद्यपि परमात्मा की चरणसेवा का तात्पर्य तो शुद्ध आत्मस्वभाव रमणरूप चारित्र की साधना से है अथवा व्यवहार से सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की आराधना से है, किन्तु बीच मे जो भ्रातियॉ अटपटी घाटियॉ, भय, प्रलोभन, स्वार्थ, लोभ आदि के रूप मे रुकावटे या देवादि के प्रति श्रद्धा की स्खलना या विकृत श्रद्धा आदि विघ्नबाधाए आ जाती है, उनसे निपटना टेढी खीर है। इसलिए श्रीआनन्दघनजी ने प्रत्येक मुमुक्षु साधक को सावधान रहने के लिए सच और साफ-साफ बाते कह दी है और अन्त मे सच्चे माने मे प्रभुचरणसेवा का फल दिव्यसुख-प्राप्ति और अन्त मे मोक्षप्राप्ति बता दी है। ऐसी चरणसेवा परमात्मा के पास पहुॅच कर ही की जा सकती है। परन्तु परमात्मा और आत्मा के बीच की दूरी है, उसे काटने के लिए धर्म की आराधना जरूरी है। इस बात की 15वे तीर्थकर धर्मनाथ की स्तुति के माध्यम से श्रीआनन्दघनजी बताते है।

***

15. श्री धर्मनाथ-जिन-स्तुति–

परमात्मभक्त का अभिन्नप्रीतिरूप धर्म

(तर्ज–रसिया, सारग, राग गौड़ी)

धर्म जिनेश्वर गाऊं रंग शुं भंग, म पडशो हो प्रीत, जिनेश्वर!
बींजो मनमन्दिर आणं नहीं, ए अम कुलवट- रीत, जिनेश्वर!!
धर्म.॥1॥

अर्थ–इस अवसर्पिणी काल के 15वें जिनेश्वर श्रीधर्मनाथ-स्वामी (परमात्मा) का गुणगान आत्मभाव के रंग में रंग कर करता हूँ। प्रभो! मेरी आपके साथ जो प्रीति है, उसमें भंग न पड़े, यही चाहता हूँ। मैं आप (वीतराग) के सिवाय अन्य किसी को अपने-मन (मनोयोगरूपी) मन्दिर में प्रविष्ट नहीं कराऊंगा; यह हमारे (सम्यग्दृष्टि के) कुल की कुलीनता (टेक) की रीति (परम्परा) है।

भाष्य–**परमात्मा के साथ अभिन्नप्रीतिरूप धर्म**

पूर्वस्तुति मे श्रीआनन्दघनजी ने वीतराग-प्रभु की चरणसेवा का व्यवहार धर्म बताने का उपक्रम किया है, इस स्तुति मे उन्होने परमात्मा के साथ अभिन्नता स्थापित करने के लिए निश्चय धर्म बताने का प्रयत्न किया है। वास्तव मे आत्मा और परमात्मा के बीच मे जो दूरी है, उसे मिटाने के लिए धर्म ही एकमात्र पुल है। परन्तु परमात्मा के साथ सदैव अभिन्नता टिकाये रखने वाला धर्म स्वरूपसिद्धिरूप धर्म है, जिसे परमात्मा के भक्त को अपने जीवन मे अमूल्य रत्न की तरह सुरक्षित रखना है, उसे आत्मस्वरूप के दीपक की लौ सदा प्रज्वलित रखनी है। धर्म गया तो सब कुछ गया। जैसे पतिव्रतास्त्री अपना धर्म अपने प्राणो की तरह सुरक्षित रखती है, समय आने पर वह प्राणो को होम देती है, मगर धर्म को जरा भी ऑच नही आने देती, वैसे ही परमात्मा का भक्त अपने अभिन्न प्रीतिरूप धर्म को जरा भी ऑच नही आने देता; भले ही उसके लिए उसे सर्वस्व होमना पडे। पतिव्रता स्त्री उमंग मे आ कर पति के गुणगान अन्तर से करती है, वह किसी के द्वारा गुणगान के लिए मजबूर नहीं की जाती है और न ही किसी प्रकार का प्रलोभन दे कर उसे गुणगान के लिए तैयार किया जाता है, उसी प्रकार प्रभुप्रीतिरूपी धर्म का पालक भक्त भी किसी के दवाव,

भय या प्रलोभन में न आकर-स्वतः प्रेरणा से उमंग मे आ कर प्रभु के गुणगान करता है। जिस प्रकार पतिव्रतास्त्री अपने पति के सिवाय दूसरे किसी पुरुष को (दाम्पत्यप्रेम की दृष्टि से) स्वप्न मे भी मन मे नही लाती, यही उसकी कुलीनता की रीति है, इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि ज्ञानचेतनावान भव्यात्मा की भी श्रद्धा दृढ ऐसी हो जाती है कि धर्मनाथ सिद्धप्रभु की और मेरी आत्मा मे तुल्यता है, इसी कारण से प्रभु के साथ मेरी प्रीति जुडी है, उसमें शुद्ध देव के सिवाय दूसरे किसी रागी और द्वेषी देव को मनमन्दिर मे जरा भी नही लाना। जैसे पतिव्रतास्त्री को हरदम खटका रहता है कि कही मेरी और पति की अभिन्न प्रीति में कोई भंग न पड जाय, कोई विघ्न न डाल दे, वैसे ही सम्यग्दृष्टि साधक के मन मे भी यह खटका रहता है कि मेरे और परमात्मा की जुडी हुई प्रीति मे बीच मे कोई भग न डाल दे। इसलिए मस्त योगी श्रीआनन्दघनजी अन्तर से पुकार उठते है–**'भंग म पड़शो हो प्रीत, जिनेश्वर!'**

स्वरूपसिद्धि मे विघ्नरूप है–अन्तःकरण मे अन्य रागी, द्वेषी सस्त्रीक देव का ध्यान और बहिर्मुखी बनाने वाले अनात्मतत्त्वो पर राग। परन्तु जब साधक इन दोनो का परित्याग कर देता है, तब साधक कहता है–'मेरा आत्मभाव और परमात्मा का स्वभाव एक है, पृथक् नही है, इसलिए उनका और मेरा कुल एक ही है। जिस मार्ग से प्रभु को मुक्ति या सिद्धि मिली है, उसी मार्ग से मै भी चलू और प्रभु के साथ अखण्ड प्रीति के लिए उनका सान्निध्य प्राप्त करू। प्रभु की तरह मुझे भी मोक्ष प्राप्त करना है, इसलिए कर्मो पर विजय पा कर मुक्त या सिद्ध प्रभु का गुणगान करूं।'

'ए अम कुलवटरीत' कह कर तो साधक के द्वारा अनन्य-समर्पण का भाव अभिव्यक्त किया गया है।

श्रीआनन्दघनजी ने भक्ति मे मन को एकाग्र करने के लिए जिस धर्म का समर्थन किया गया था, उस धर्म के सम्बन्ध मे अगली गाथा मे जगत् के लोगो की मनःस्थिति प्रगट करते है–

धरम धरम करतो जग सहु फिरे, धर्म न जाणे हो मर्म, जिनेश्वर।
धरम जिनेश्वर चरण ग्रह्या पछी, कोई न बांधे हो कर्म, जिनेश्वर।।
धर्म.।।2।।

अर्थ–संसार में सब लोग अलग-अलग नामों से पकड़े हुए विभिन्न तथाकथित धर्मों को धर्म धर्म कह कर पुकारते हैं, परन्तु वीतराग प्रभो! यही दुःख है कि वे

धर्म का रहस्य नहीं जानते। आत्मधर्ममय श्रीधर्मनाथ वीतरागप्रभु के चरण (आत्मस्वभावरमणरूप धर्म) का ग्रहण कर लेने पर भवभ्रमण कराने वाले कर्मो का बन्ध कोई भी भक्त नहीं करता।

***भाष्य*–विविध सांसारिक लोगों की धर्म की रट**

कई लोग कहते है कि कर्ममुक्त करने वाले (सूत्र-चारित्ररूप या आत्मरमणतारूप) धर्म का आचरण तो बहुत ही आसान है, इस मे कुछ भी करने-धरने की क्या जरूरत है? इसी कारण बहुत से लोग धर्म-धर्म चिल्लाया करते है। वे बात-बात मे ईमान, धर्म आदि की सौगन्ध खाते है, जब भी कोई दूसरे धर्म का व्यक्ति प्रसिद्धि या तरक्की पा जाता है, तब ऐसे धर्मवादी लोग सहसा चिल्ला उठते है–'धर्म खतरे मे' है और सिर्फ बाह्यक्रियाकाण्डो या साम्प्रदायिक कदाग्रहो मे रचेपचे लोग अमुक धर्मस्थान मे जा कर क्रियाएँ करके या कुछ पुण्य की प्रवृत्ति करके अपने आपको आश्वासन दे लेते है कि हमने धर्म कर लिया। और इसी धर्म की ओट में वे दूसरो को ठगते है, चकमा दे देते है। परन्तु वीतराग परमात्मा के प्रति अभिन्नप्रीतिरूप सच्चा वीतरागतारूप धर्म तो आत्मधर्म है, जिसका लक्षण [1] वस्तु का स्वभाव बताया गया है। इसी प्रकार जगत् के प्राय सभी लोग धर्म-धर्म चिल्लाते है, कोई कहता है–मै जैन हूँ, कोई कहता है–मै बौद्ध हूँ। कोई अपने को शैव बताता है, यो तो प्राय सभी कहते है और ऐसे सम्प्रदायगत धर्म के लिए लडने-मरने को तैयार हो जाते है, परन्तु वे प्रायः धर्म के मर्म को नही जानते और न वे वास्तविक धर्म की आराधना करते है। वे यथार्थ धर्म से लाखों कौस दूर है। या तो ये लोग धर्म की कोरी बाते करते है, या धर्म का दिखावा करते है। आत्मधर्म की बात तो विरले ही जानते है। धर्म की आत्मा को यथार्थरूप से पहचानना तथा आत्मिक धर्म कौन-सा है, जो परमात्मा के निकट पहुँचा सके, इसे भी कोई-कोई माई का लाल जानता है। खाना, पीना, मौज उडाना, इस शरीर के कार्य को ही वे धर्म मानते हैं। आत्मा शरीर से अलग है, इत्यादि बातें वे जब तक नहीं समझते, तब तक सच्चा आत्मिक धर्म या परमात्मा के साथ अभिन्नता रूपी धर्म को वे नही समझते।

धर्म शब्द से यहाँ आत्मधर्म (स्वरूपाचरण-चारित्र) समझना चाहिए। उस चारित्र (धर्म) के बल से व्यक्ति नये कर्मो को नहीं बाँधता और उसके

---

1 'वत्थुसहावो धम्मो– वस्तु का स्वभाव धर्म है। आत्मद्रव्य का स्वभाव धर्म हैं।

भय या प्रलोभन में न आकर-स्वतः प्रेरणा से उमंग मे आ कर प्रभु के गुणगान करता है। जिस प्रकार पतिव्रतास्त्री अपने पति के सिवाय दूसरे किसी पुरुष को (दाम्पत्यप्रेम की दृष्टि से) स्वप्न मे भी मन मे नहीं लाती, यही उसकी कुलीनता की रीति है; इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि ज्ञानचेतनावान भव्यात्मा की भी श्रद्धा दृढ ऐसी हो जाती है कि धर्मनाथ सिद्धप्रभु की और मेरी आत्मा मे तुल्यता है, इसी कारण से प्रभु के साथ मेरी प्रीति जुडी है, उसमे शुद्ध देव के सिवाय दूसरे किसी रागी और द्वेषी देव को मनमन्दिर मे जरा भी नही लाना। जैसे पतिव्रतास्त्री को हरदम खटका रहता है कि कही मेरी और पति की अभिन्न प्रीति में कोई भग न पड जाय, कोई विघ्न न डाल दे, वैसे ही सम्यग्दृष्टि साधक के मन में भी यह खटका रहता है कि मेरे और परमात्मा की जुडी हुई प्रीति मे बीच मे कोई भंग न डाल दे। इसलिए मस्त योगी श्रीआनन्दघनजी अन्तर से पुकार उठते है–**'भंग म पड़शो हो प्रीत, जिनेश्वर!'**

स्वरूपसिद्धि मे विघ्नरूप है–अन्तःकरण मे अन्य रागी, द्वेषी सस्त्रीक देव का ध्यान और बहिर्मुखी बनाने वाले अनात्मतत्त्वो पर राग। परन्तु जब साधक इन दोनो का परित्याग कर देता है, तब साधक कहता है–'मेरा आत्मभाव और परमात्मा का स्वभाव एक है, पृथक् नही है, इसलिए उनका और मेरा कुल एक ही है। जिस मार्ग से प्रभु को मुक्ति या सिद्धि मिली है, उसी मार्ग से मै भी चलू और प्रभु के साथ अखण्ड प्रीति के लिए उनका सान्निध्य प्राप्त करूं। प्रभु की तरह मुझे भी मोक्ष प्राप्त करना है, इसलिए कर्मो पर विजय पा कर मुक्त या सिद्ध प्रभु का गुणगान करू।'

'ए अम कुलवटरीत' कह कर तो साधक के द्वारा अनन्य-समर्पण का भाव अभिव्यक्त किया गया है।

श्रीआनन्दघनजी ने भक्ति मे मन को एकाग्र करने के लिए जिस धर्म का समर्थन किया गया था, उस धर्म के सम्बन्ध मे अगली गाथा मे जगत् के लोगों की मनःस्थिति प्रगट करते है–

धरम धरम करतो जग सहु फिरे, धर्म न जाणे हो मर्म, जिनेश्वर।
धरम जिनेश्वर चरण ग्रह्या पछी, कोई न बांधे हो कर्म, जिनेश्वर।।
धर्म.।।2।।

अर्थ–संसार में सब लोग अलग-अलग नामों से पकड़े हुए विभिन्न तथाकथित धर्मों को धर्म धर्म कह कर पुकारते हैं, परन्तु वीतराग प्रभो! यही दुःख है कि वे

धर्म का रहस्य नहीं जानते। आत्मधर्ममय श्रीधर्मनाथ वीतरागप्रभु के चरण (आत्मस्वभावरमणरूप धर्म) का ग्रहण कर लेने पर भवभ्रमण कराने वाले कर्मों का बन्ध कोई भी भक्त नहीं करता।

***भाष्य*–विविध सांसारिक लोगों की धर्म की रट**

कई लोग कहते हैं कि कर्ममुक्त करने वाले (सूत्र-चारित्ररूप या आत्मरमणतारूप) धर्म का आचरण तो बहुत ही आसान है, इस मे कुछ भी करने-धरने की क्या जरूरत है? इसी कारण वहुत से लोग धर्म-धर्म चिल्लाया करते हैं। वे बात-बात मे ईमान, धर्म आदि की सौगन्ध खाते है, जब भी कोई दूसरे धर्म का व्यक्ति प्रसिद्धि या तरक्की पा जाता है, तब ऐसे धर्मवादी लोग सहसा चिल्ला उठते हैं–'धर्म खतरे मे' है और सिर्फ बाह्यक्रियाकाण्डो या साम्प्रदायिक कदाग्रहो मे रचेपचे लोग अमुक धर्मस्थान मे जा कर क्रियाएँ करके या कुछ पुण्य की प्रवृत्ति करके अपने आपको आश्वासन दे लेते है कि हमने धर्म कर लिया। और इसी धर्म की ओट मे वे दूसरो को ठगते है, चकमा दे देते है। परन्तु वीतराग परमात्मा के प्रति अभिन्नप्रीतिरूप सच्चा वीतरागतारूप धर्म तो आत्मधर्म है, जिसका लक्षण [1] वस्तु का स्वभाव बताया गया है। इसी प्रकार जगत् के प्राय· सभी लोग धर्म-धर्म चिल्लाते है, कोई कहता है–मै जैन हूँ, कोई कहता है–मैं बौद्ध हूँ। कोई अपने को शैव बताता है, यो तो प्राय सभी कहते है और ऐसे सम्प्रदायगत धर्म के लिए लडने-मरने को तैयार हो जाते है, परन्तु वे प्रायः धर्म के मर्म को नहीं जानते और न वे वास्तविक धर्म की आराधना करते है। वे यथार्थ धर्म से लाखो कौस दूर है। या तो ये लोग धर्म की कोरी बाते करते हैं, या धर्म का दिखावा करते है। आत्मधर्म की बात तो विरले ही जानते है। धर्म की आत्मा को यथार्थरूप से पहचानना तथा आत्मिक धर्म कौन-सा है, जो परमात्मा के निकट पहुँचा सके; इसे भी कोई-कोई माई का लाल जानता है। खाना, पीना, मौज उडाना, इस शरीर के कार्य को ही वे धर्म मानते हैं। आत्मा शरीर से अलग है, इत्यादि बाते वे जब तक नही समझते, तब तक सच्चा आत्मिक धर्म या परमात्मा के साथ अभिन्नता रूपी धर्म को वे नहीं समझते।

धर्म शब्द से यहाँ आत्मधर्म (स्वरूपाचरण-चारित्र) समझना चाहिए। उस चारित्र (धर्म) के बल से व्यक्ति नये कर्मो को नहीं बॉधता और उसके

1 **'वत्थुसहावो धम्मो–** वस्तु का स्वभाव धर्म है। आत्मद्रव्य का स्वभाव धर्म है।

पुराने कर्म समय पर परिपक्व हो कर भुगत लेने से खिर जाते है और अन्तिम परिणाम यह आता है कि धर्मनाथ जिनेश्वर जिस स्वरूप मे स्थिर है, उसी स्वरूपधर्म को वह उपलब्ध कर लेता है और यह धर्म ही वीतरागपरमात्मा के चरण ग्रहण करने वाला हो जाता है।

जब तक आत्मा को यह अनुभव नहीं हो जाता कि मै परमात्मा हूँ, तब तक कर्मबन्ध होता रहता है, परन्तु धर्म-जिनेश्वर (परमात्मा) के चरण पकडने पर उनकी शरण मे जाने पर यानी परमात्मा के साथ अभेदरूप हो जाने पर अथवा अपनी आत्मा परमात्मस्वरूप प्रतीत हो जाने पर कोई कर्म बाध ही नहीं सकता, क्योकि कर्म बन्धनो का रूकना ही धर्मप्राप्ति का प्रयोजन या फल है। धर्म के आते ही कर्मबन्ध रूकने लगता है, इस रहस्य को तथाकथित धर्मवादी नहीं जानते।

आगामी गाथा मे यथार्थ धर्म की प्राप्ति से क्या लाभ होता है? इसे बताते है–

प्रवचन-अंजन जो सद्गुरु करे, देखे परम निधान, जिनेश्वर!
हृदयनयन निहाले जगधणी, महिमा मेरुसमान, जिनेश्वर!
धर्म.॥ 3॥

अर्थ–**साक्षात् आत्मानुभवी (आत्मस्वरूप के यथार्थ ज्ञाता) सद्गुरु रूपी सद्वैद्य यदि प्रवचन (पारमार्थिक सर्वहितकारी, सर्वजीवों के प्रति उच्च कोटि का भावकरुणारूप उपदेश-आप्रवचन) रूपी दिव्य अंजन ले कर हृदय रूपी नेत्रों में आंजे तो शिष्यरूप जिज्ञासु साधक का दर्शनमोह-मिथ्यात्वरूप नेत्रान्धत्वरोग दूर हो जाता है, और वह परमोत्कृष्ट आत्मधर्मरूप या आत्मगुणरत्नों का अविनाशी निधान (धन का खजाना) को प्रत्यक्ष देखने लगता है। साथ ही ऐसे खुले हुए हृदयचक्षु (दिव्यनयन) से मेरुपर्वत जैसी महिमा वाले जगत् के स्वामी=परमात्मा का साक्षात् दर्शन हो जाता है।**

भाष्य–**धर्मप्राप्ति का फल : परमात्मसाक्षात्कार**

इस गाथा मे आत्मधर्म का फल बताया गया है। जो व्यक्ति इस आत्मधर्म को प्राप्त कर लेता है, उसके हृदय की ऑखो मे यदि आत्मस्वरूप के ज्ञाता गुरुदेव प्रवचनरूपी अजन आंज दे तो अपनी आत्मा ही गुणरत्नो की निधि के रूप मे दिखाई दे सकती है। साथ ही मेरुगिरि-सदृश महिमावान् वीतराग भगवान् के भी साक्षात्कार होने लगता है।

है। क्योकि जगत् में प्रभुप्रीतिरूप धर्म भव्य प्राणी को तब तक प्राप्त नही होता, जब तक उसे सद्गुरु का मार्गदर्शन न मिले, परमात्मा के प्रति निःस्वार्थ या निष्काम प्रेमभाव से उत्कृष्ट श्रद्धा-प्रतीति न हो। तात्पर्य यह है कि जहाँ तक भव्यात्मा को सम्यग्दर्शन और गुरुमार्गदर्शन, ये दोनो प्राप्त नही होते, वहाँ तक शुद्धात्मा या धर्मदेवरूप परमात्मा के साथ सच्ची प्रीति नहीं होती। जिसे ये दोनो प्राप्त हो जाते है, वह साधक अपनी ज्ञानचेतना के बल से अपना अनुभव प्रगट करता है-"प्रभो! मै अपनी बात क्या कहूँ? मै धर्म-धर्म रटता फिरा, धार्मिक होने का दावा किया, धार्मिक होने का दिखावा या दम्भ किया, इसके लिए मै जलतीर्थ, वृक्षतीर्थ, पर्वततीर्थ, मूर्तियाँ, मन्दिररूप तीर्थ आदि अनके स्थानो पर परमात्मा के दर्शन करके परमात्मप्रीतिरूप धर्माचरण की दृष्टि से बहुत भटका, जहाँ-जहाँ मेरा मन पहुँच सकता था, वहाँ-वहाँ दौड लगाई। अर्थात्-मेरे मन मे जहाँ जाने का सकल्प किया, वहाँ दौडा गया। सांख्य, न्याय, मीमासा, वेदान्त आदि दर्शनो मे बताई हुई कल्पनाओ के वश हो कर सभी साधनाए की। बहुत-सी दफा अमुक तीर्थ मे परमात्मा होगे, यह सोच कर वहाँ चक्कर लगा आया और पूर्वोक्त धर्म को भी अनेक जगह व्यर्थ ही खोजा, फिर भी सफलता नहीं मिली। मुझे अन्तर्मुखी हो कर [1] आत्मतीर्थ मे स्वस्वरूपदर्शन मे डुबकी लगानी थी, जो मेरे पास ही था; मगर वहाँ नही लगाई। जो वस्तु अत्यन्त निकट थी, उसे पहचान न सका। और जहाँ-तहाँ दौडधूप की, उसे ढूँढने के लिए आकाश-पाताल छान डाला। किन्तु श्रीआनन्दघनजी उक्त जिज्ञासु भव्यप्राणी से कहते है-'इस प्रकार बाहर भटकने की तुम्हे जरूरत नही। जिसे तुम बाहर ढूढ रहो हो, वह विभूति तुम्हारे अपने अन्दर है, तुम्हारे साथ है, तुम्हारे पास है, वह तो तुम (स्व-आत्मा) ही हो। अतः पहले अपने (आत्मा) को जानो, फिर उसके बारे मे तत्त्वदर्शन करो, तत्पश्चात् आत्मज्ञानी समदर्शी सद्गुरु का मार्गदर्शन लो, उनके व आप्तपुरुषो के वचनो का श्रवण-मनन और ध्यान करो, गुरु के उपदेश को आत्मा के साथ जोड दो। यही क्रमशः **प्रेम, प्रतीत, विचारो गुरु, गम लेजो,** इन पदों के साथ अर्थसकेत है, प्रेम के साथ सामायिकादि

---

1 कहा भी है-

'इदं' तीर्थमिदं तीर्थं भ्रमन्ति तामसा जना,
आत्मतीर्थन जानन्ति, सर्वमेव निरर्थकन्।।

चारित्र का, प्रतीत के साथ सम्यग्दर्शन का, 'विचारो' के साथ सम्यग्ज्ञान या ध्यान का, गुरु के साथ आत्मज्ञानी समदर्शी सद्गुरु का 'गम' के साथ जिन प्रवचन के, श्रमणमनन या मार्गदर्शन का, 'ले जो जोड', पदो के साथ स्वज्ञानस्वदर्शन-स्वचारित्र और सद्गुरु की सेवा-उपासना करके उनके द्वारा आत्म-परमात्मसिद्धान्त का श्रवण-मनन करके आत्मा मे ही इस उपदेश को जोडो। इसी तरीके से धर्ममय शुद्धात्मा (परमात्मा) से अखण्ड प्रीति होगी। आत्मा-परमात्मा की स्वरूपप्राप्ति (अखण्डप्रीति) का असली साधन व आलम्बन [1] गुरु, शास्त्र एवं गुरुगम ही है। गुरुप्रेरणा मे परतन्त्रता की कल्पना बिलकुल न करो। गुरुदेव तुम्हें युक्तियुक्त सुझाव, परामर्श, मार्गदर्शन, कई उलझनों के हल द्वारा तुम्हारी गुत्थियो को सुलझाने की कोशिश करेगे। इसके कारण प्रभु प्रीतिरूप धर्म की प्रतीति तुम्हारे लिए अत्यन्त आसान और निकट हो जायगी। इसीलिए कहा–**'प्रेमप्रतीत विचारो ढूंकड़ो, गुरुगम लेजो जोड़।'**[2]

निष्कर्ष यह है कि मुमुक्षु उक्त साधन को छोड कर अपने मनः कल्पित साधनो में दौड न लगाएँ तथा यथार्थ उपासना और यथार्थ ज्ञान से स्वरूपानुसंधान करे।

परन्तु परमात्मप्रीतिरूप धर्मपालन के लिए श्रीआनन्दघनजी साधक को एकपक्षी प्रीति छोड कर उभयपक्षी प्रीति–सम्पादन के लिए अगली गाथा मे प्रेरणा करते है–

---

1 जैसाकि आचारांगसूत्र मे कहा है– **'सहसमियाए पयवागरणेणं अन्नेसिं वा अंतिए सोच्चा।'**

2 दोडियो का अर्थ दौडना करने पर मतलब निकलता है कि जगन्नाथ परमात्मा को अन्तश्चक्षु से देखते ही तुरन्त गुरुगम साथ मे ले कर तुम्हारी आत्मा मे जितना विकास हुआ हो, उसके बलानुसार जितने जोर से दौडा जा सके उतने जोर से परमात्मा तक पहुँचने के लिए दौडते ही रहना। अर्थात् आत्मविकास मे आगे बढते ही रहना। ऐसा करने पर तुम्हारी और से परमात्मा मे हुई प्रीति की प्रतीति तुम्हे अविलम्बन ही समझ मे आ जायेगी। अगर साथ मे गुरुगम नहीं रखोगे तो आगे चल कर भूल होते ही उपशमश्रेणी के पथ पर चढ जाओगे, जहाँ से वापिस लौटना होगा। अतः एक बार अप्रमत्तभाव पाते ही भावमन-आत्मा की जितनी शक्ति और तीव्रता हो, तदनुसार दौड लगाओगे तो कर परमात्मद-प्रीति कर सकोगे, अन्यथा प्रमत्तभाव मे आना पडेगा।

एकपखी किम प्रीति परवड़े, उभय मिल्यां हाय संधि जिनेश्वर!
हुं रागी, हुं मोहे फंदीयो, तुं नीरागी निरबन्ध, जिनेश्वर।।
धर्म.।।5।।

***अर्थ*–जिनेश्वर प्रभो! अब मैं समझा कि एक तरफी प्रीति कैसे पोसा सकती है, सही जा सकती है? क्योंकि मेल (सन्धि-जोड़) दो के मिलने पर ही होता है; क्योंकि मैं रागी (कषायवान) हूँ, मोह के फदे में फंसा हुआ हूँ और आप वीतराग (द्वेषादिदोषरहित) एवं कर्मबन्धन रहित हैं।**

***भाष्य*–परमात्मा के साथ अभिन्न प्रीति कैसे?**

श्रीआनन्दघनजी औपचारिक रूप से परमात्मा के साथ बातचीत करने की रीति प्रगट करते है, क्योकि पूर्वगाथा मे प्रभुप्रीति का अत्यन्त आसान और निकटवर्ती रास्ता बताया था, उससे परमात्मा अत्यन्त नजदीक हो जाते है। अतः मुमुक्षु अपने अन्तर मे प्रभु के साथ बातचीत करता है–"प्रभो! धर्म जिनेश्वर! मै आपके साथ प्रीति तो करना चाहता हूँ, आपके साथ मेरी प्रीति होगी कैसे? और होगी तो भी निभेगी कैसे और कितने दिन? क्योकि प्रीति उभयपक्षी होती है, एकपक्षी नही। दूसरी बात यह है कि[1] समान प्रकृति, एकसरीखे शील, स्वभाव और आदत वालों की प्रीति (मैत्री) जुडती है। मेरी और आपकी प्रकृति (स्वभाव) मे व्यवहारनय की दृष्टि से बहुत ही अन्तर है। मै रागी-द्वेषी हूँ, मोहग्रस्त हूँ। मै बात-बात मे राग, द्वेष और मोह से घिर जाता हूँ और आप किसी पर भी, यहाँ तक कि आपकी वर्षो से सेवा करने एव आपके प्रति अनुराग रखने वाले पर जरा भी राग नही करते और नही आपसे प्रतिकूल चलने वाले दुष्टजन या विरोधी पर द्वेष या घृणा करते है, ससार की किसी भी मनोज्ञ से मनोज्ञ चीज के प्रति भी आपका मोह (आसक्ति) नही है। मै अभी तक कर्मबन्ध से युक्त हूँ, प्रतिक्षण विभिन्न कर्मो से युक्त होता हूँ। जबकि आप कर्मबन्ध से रहित है, अथवा घातीकर्मो से बिलकुल दूर है। अतः आपकी और मेरी प्रकृति, आदत और स्वभाव मे रात-दिन का अन्तर होने से आपके साथ मेरी प्रीति हो ही कैसे सकती है?"

"माना कि निश्चयनय की दृष्टि से आपके और मेरे स्वरूप और स्वभाव मे कोई अन्तर नही है। परन्तु निश्चयनय तो आदर्श की बात कहता

---

1. 'समान-शीलव्यसनेषु संख्यम्'–नीतिकार

है। आदर्श और व्यवहार में बहुत बड़ी दूरी होती है। अगर दोनों में इतनी दूरी न होती तो प्रत्येक आत्मा परमात्मा के निकट पहुँच गई होती। अतः इस अन्तर को दूर करने पर ही आपकी और मेरी प्रीति हो सकती है। यह एक लौकिक तथ्य है कि एक व्यक्ति दूसरे के साथ स्नेह सम्बन्ध जोड़ने या रखने के लिए उसके हेतु तन, मन, धन, सर्वस्व होमने, यहाँ तक कि पतंगे की तरह मर मिटने तक को तैयार है, परन्तु दूसरे की ओर से कोई जवाब नहीं मिलता, उपेक्षा या उदासीनता ही बरती जाती है। अतः उसके मन में स्नेह की उर्मि न हो, तब वहाँ एकतरफी प्रीति कैसे बन सकती है? इस दृष्टि से मैं आपसे प्रीति करना चाहता हूँ, उसके लिए प्रयत्न भी करता हूँ, आप से बातचीत करने का; किन्तु आप वीतराग होने के कारण कोई जवाब ही नहीं देते, किसी प्रकार का स्नेह ही नहीं दिखाते, आपके मन में भी मेरे स्नेह की कोई कीमत नहीं है, आप उदासीन हैं, तब आपके और मेरे बीच में मैत्री कैसे बन सकती है या टिक सकती है? इसलिए कहा है—**'उभय मिल्यां होय संधि'** दोनों के मिलने, बातचीत करने पर ही सन्धि (मेल या सुलह) हो सकती है।

अतः अब तो मैं आपकी सेवा में जबरन पड़ा हूँ और आपसे बातचीत करने को उत्सुक हूँ।

इस प्रकार दौड़ते-दौड़ते परमात्मा के निकट पहुँचते ही साधक के मन में विचार आया—"अब मैं आपके स्वरूप को समझ गया हूँ कि आप मेरे साथ प्रीति क्यों नहीं जोड़ते? मैं अभी तक राग-द्वेष-मोह के चंगुल में फंसा हुआ हूँ—मुझे अभी तक संज्वलन कषायों और नोकषायों ने घेर रखा है; जिससे पुराने कर्म तो बहुत ही कम क्षीण होते हैं, नये अधिक बंधते जाते हैं। जबकि आप राग-द्वेष-मोह से बिलकुल परे हैं, किसी भी प्रकार के कर्मबन्धन से जकड़े हुए नहीं हैं। अतः अब यदि मुझे आपसे पीति जोड़ना हो तो आपके समान राग-द्वेष-मोह रहित एव नूतन कर्मबन्धन से रहित हुए बिना कोई चारा नहीं। परमात्मा के साथ प्रीति मे भग (विघ्न) डालने वाले तो राग-द्वेषादि कषायभाव हैं, इन्हे मुझे अवश्य दूर करना ही होगा। यही परमात्मा के साथ एकता-प्रीति-मैत्री करने का रामबाण उपाय है।"

निष्कर्ष यह है कि श्रीआनन्दघनजी ने इस गाथा में [illegible]
परमात्मा के साथ समानता (प्रीति) स्थापित करने के हेतु [illegible]
कि अभी से निर्भीक और साहसी बन कर [illegible]

(तप, जप, व्रत, संयम) के पालन में या निश्चयनय से आत्मस्वरूप में रमण का सत्पुरुषार्थ कर, घबरा मत। इसी पर सतत् चलते रहने से तेरे रागद्वेषादि भाग जायेगे और तू स्वय निर्बन्ध हो जायगा। फिर देखना, धर्मजिनेश (परमात्मा) और तुममें समानता आती है या नहीं? बस, अप्रमत्तभाव मे प्रवेश कर। सावधान रह कर आत्मदर्शन में आगे बढ।

इसलिए श्री आनन्दघनजी संसार के अधिकाश प्रमादी, सम्यग्दृष्टि की ज्योति से विहीन, असावधान, लापरवाह और अन्धाधुध चलने वाले लोगो की मनोदशा का वर्णन करते हुए कहते है—

परम निधान प्रगट मुख आगले, जगत उल्लंघी जाय, जिने.!
ज्योति बिना जुओ जगदीशनी, अंधोअंध पुलाय; जिनेश्वर!!
धर्म.।।6।।

***अर्थ*—अपने मुँह के सामने प्रत्यक्ष सर्वश्रेष्ठ महानिधि शुद्ध आत्मा या परमात्मा प्रगट है, फिर भी जगत् के जीव उसे लांध कर आगे बढ़ जाते हैं; जैसे अंधे के पीछे दूसरा अंधा दौड़ता है, वैसे ही अनन्तचतुष्टयवान परमात्मा की ज्ञानरूपज्योति के बिना जगत् के जीव अन्धे की तरह जगत् के लोगों का अनुसरण व अनुकरण करते हुए चलते हैं।**

***भाष्य*—परमात्मज्योति से रहित जीव की दशा**

खजाना ढूढने के लिए जैसे दीपक या प्रकाश की जरूरत पडती है, वैसे ही गाढ मिथ्यात्वान्धकार से ढकी हुई महामूल्य आत्मनिधि या परमात्मनिधि को देखने के लिए भी परमात्मा की ज्योति (सम्यग्ज्ञान दर्शन की ज्योति) की जरूरत होती है। वह ज्योति जिसके पास नही होती, वह सामने निकट पडी हुई महामूल्य वस्तु (जो कि एक प्रदेशभर भी दूर नही है) परमज्ञानादि गुणरत्ननिधिरूप धर्ममूर्ति आत्मा को देख नही पाता, वह उसे लाघ कर आगे बढ जाता है और दूर-सुदूर वनो, पर्वतो, गुफाओ, जडतीर्थो या अन्य स्थानो मे ढूँढता फिरता है। **'अंधेनैव नीयमाना यथान्धाः'** वाली कहावत के अनुसार परमात्मा की सम्यग्ज्ञानज्योति से विहीन वह व्यक्ति सासारिक मिथ्यात्वान्ध लोगो के नेतृत्व मे उनके पीछे-पीछे चलता है, उनका अनुसरण करता है। वह यह नही जानता कि जिस आत्मनिधिरूप खजाने की वह खोज कर रहा है, वह स्वय ही है, स्वयरूप है। इसलिए कही भी दूर या परदेश जाने की आवश्यकता नही। अखण्ड, अविनाशी, परमज्ञाननिधि आत्मगुणनिधान आत्मधन

तो प्राणिमात्र मे ही प्रकाशमान है। वह अत्यन्त निकट है। उसे ढूॅढने के लिए किसी स्थूल दीपक की जरूरत नही, सिर्फ अन्तरात्मा मे वीतराग परमात्मा के ज्ञानरूपी प्रकाश की आवश्यकता है। वास्तव मे जगत्पति परमात्मा की जगमगाती आत्मदर्शनरूपी ज्योति के प्रकाश के बिना यह जगत् मिथ्यात्वान्धकार मे अधा हो कर भटक रहा है। आत्मदर्शन का रहस्य है–स्वयं स्वयं को जाने, पहिचानने, अन्दर–अन्दर ही जो ज्ञानादि गुणरत्नो का खजाना भरा पडा है, जो कि बिल्कुल नजदीक है, उसे भलीभांति समझे। जिसे आत्मदर्शनरूपी ज्योति का प्रकाश मिल जाता है, उस ज्ञानज्योति वाले को आत्मधन भलीभॉति दिखाई देता है, वह दूसरों को बता भी सकता है, वह इन्द्रियो के विषय को आत्मा से भिन्न जानता-मानता है। यह आत्मा के अव्याबाध सुख को वैषयिकसुख से बिल्कुल पृथक् समझता है।

आत्मधन का अभिलाषी मुमुक्षु जब आत्मज्ञ और सम्यग्दृष्टि निःस्पृह गुरु के पास आता है, तब गुरु उसे अपूर्ववाणी द्वारा कहता है– 'तू जिसे चाहता है, वह तो तेरे पास ही है। तीर्थ, धाम आदि बाह्य साधनो को छोड कर तू अपने आत्मस्वरूप मे स्थिर हो जा और ज्ञानदृष्टि से देख तेरी परमनिधि (आत्मनिधि) तेरे पास ही है।'

जगदीश (सारे जगत् पर आध्यात्मिक आधिपत्य जमाए हुए परमात्मा) वीतराग ने भी ज्ञानज्योति द्वारा ही अनन्तचतुष्टयरूप परमनिधि प्राप्त कर जड (भौतिक पदार्थ की) उपासना छोड दी और आत्मचेतन की उपासना की एव उन्होने ज्ञानज्योति से अपने पास ही परमनिधि को देख ली, वैसे ही हे भव्य! तेरे लिए भी यही उपाय है। परमात्मा के लिए जो कार्य-कारण था, वही कार्य-कारण तेरे लिए भी है।

श्रीआनन्दघनजी उस युग के मोहान्ध और पुद्गलानन्दी सासारिक जनो की गतानुगतिकता (लकीर के फकीर बनने की वृत्ति) देख कर निर्भीकतापूर्वक स्पष्ट कहते है–अधिकाश लोग ऐसे लोगो के चक्कर मे पड जाते है, जो बाहर से तो आत्मज्ञानी, आत्मार्थी और मुमुक्षु होने का दभ, दिखावा और डोल करते है, आत्मा-आत्मा की ही रट लगाते है और आत्मा के विषय मे लच्छेदार भाषण एव वाणी-विलास से लोगो को प्रभावित कर देते है, परन्तु अदर से वे काले होते है', उनमे कषायो की अग्नि प्रज्वलित रहती है। विषयो की आसक्ति मे और भौतिक जड पदार्थो के मोह मे वे जकडे रहते

(तप, जप, व्रत, रांयम) के पालन में या निश्चयनय से आत्मस्वरूप मे रमण का रात्पुरुपार्थ कर, घबरा मत। इसी पर सतत् चलते रहने से तेरे रागद्वेषादि भाग जायेगे और तू स्वयं निर्बन्ध हो जायगा। फिर देखना, धर्मजिनेश (परमात्मा) और तुममें समानता आती है या नहीं? बस, अप्रमत्तभाव मे प्रवेश कर। सावधान रह कर आत्मदर्शन मे आगे बढ।

इसलिए श्री आनन्दघनजी ससार के अधिकांश प्रमादी, सम्यग्दृष्टि की ज्योति से विहीन, असावधान, लापरवाह और अन्धाधुध चलने वाले लोगो की मनोदशा का वर्णन करते हुए कहते है–

परम निधान प्रगट मुख आगले, जगत उल्लंघी जाय, जिने.!
ज्योति बिना जुओ जगदीशनी, अंधोअंध पुलाय; जिनेश्वर!!
धर्म.॥6॥

अर्थ–**अपने मुँह के सामने प्रत्यक्ष सर्वश्रेष्ठ महानिधि शुद्ध आत्मा या परमात्मा प्रगट है, फिर भी जगत् के जीव उसे लांध कर आगे बढ़ जाते हैं; जैसे अंधे के पीछे दूसरा अंधा दौड़ता है, वैसे ही अनन्तचतुष्टयवान परमात्मा की ज्ञानरूपज्योति के बिना जगत् के जीव अन्धे की तरह जगत् के लोगों का अनुसरण व अनुकरण करते हुए चलते हैं।**

_भाष्य_–परमात्मज्योति से रहित जीव की दशा

खजाना ढूढने के लिए जैसे दीपक या प्रकाश की जरूरत पडती है, वैसे ही गाढ मिथ्यात्वान्धकार से ढकी हुई महामूल्य आत्मनिधि या परमात्मनिधि को देखने के लिए भी परमात्मा की ज्योति (सम्यग्ज्ञान दर्शन की ज्योति) की जरूरत होती है। वह ज्योति जिसके पास नही होती, वह सामने निकट पडी हुई महामूल्य वस्तु (जो कि एक प्रदेशभर भी दूर नही है) परमज्ञानादि गुणरत्ननिधिरूप धर्ममूर्ति आत्मा को देख नही पाता, वह उसे लाघ कर आगे बढ जाता है और दूर-सुदूर वनो, पर्वतो, गुफाओ, जडतीर्थो या अन्य स्थानो मे ढूँढता फिरता है। **'अंधेनैव नीयमाना यथान्धाः'** वाली कहावत के अनुसार परमात्मा की सम्यग्ज्ञानज्योति से विहीन वह व्यक्ति सासारिक मिथ्यात्वान्ध लोगो के नेतृत्व मे उनके पीछे-पीछे चलता है, उनका अनुसरण करता है। वह यह नही जानता कि जिस आत्मनिधिरूप खजाने की वह खोज कर रहा है, वह स्वय ही है, स्वयरूप है। इसलिए कही भी दूर या परदेश जाने की आवश्यकता नही। अखण्ड, अविनाशी, परमज्ञाननिधि आत्मगुणनिधान आत्मधन

तो प्राणिमात्र मे ही प्रकाशमान है। वह अत्यन्त निकट है। उसे ढूँढने के लिए किसी स्थूल दीपक की जरूरत नही, सिर्फ अन्तरात्मा मे वीतराग परमात्मा के ज्ञानरूपी प्रकाश की आवश्यकता है। वास्तव मे जगत्पति परमात्मा की जगमगाती आत्मदर्शनरूपी ज्योति के प्रकाश के बिना यह जगत् मिथ्यात्वान्धकार मे अधा हो कर भटक रहा है। आत्मदर्शन का रहस्य है–स्वय स्वय को जाने, पहिचानने, अन्दर–अन्दर ही जो ज्ञानादि गुणरत्नो का खजाना भरा पडा है, जो कि बिल्कुल नजदीक है, उसे भलीभाति समझे। जिसे आत्मदर्शनरूपी ज्योति का प्रकाश मिल जाता है, उस ज्ञानज्योति वाले को आत्मधन भलीभॉति दिखाई देता है, वह दूसरो को बता भी सकता है, वह इन्द्रियो के विषय को आत्मा से भिन्न जानता-मानता है। यह आत्मा के अव्याबाध सुख को वैषयिकसुख से बिल्कुल पृथक् समझता है।

आत्मधन का अभिलाषी मुमुक्षु जब आत्मज्ञ और सम्यग्दृष्टि निःस्पृह गुरु के पास आता है, तब गुरु उसे अपूर्ववाणी द्वारा कहता है– 'तू जिसे चाहता है, वह तो तेरे पास ही है। तीर्थ, धाम आदि बाह्य साधनो को छोड कर तू अपने आत्मस्वरूप मे स्थिर हो जा और ज्ञानदृष्टि से देख तेरी परमनिधि (आत्मनिधि) तेरे पास ही है।'

जगदीश (सारे जगत् पर आध्यात्मिक आधिपत्य जमाए हुए परमात्मा) वीतराग ने भी ज्ञानज्योति द्वारा ही अनन्तचतुष्टयरूप परमनिधि प्राप्त कर जड (भौतिक पदार्थ की) उपासना छोड दी और आत्मचेतन की उपासना की एव उन्होने ज्ञानज्योति से अपने पास ही परमनिधि को देख ली, वैसे ही हे भव्य! तेरे लिए भी यही उपाय है। परमात्मा के लिए जो कार्य-कारण था, वही कार्य-कारण तेरे लिए भी है।

श्रीआनन्दघनजी उस युग के मोहान्ध और पुद्गलानन्दी सासारिक जनों की गतानुगतिकता (लकीर के फकीर बनने की वृत्ति) देख कर निर्भीकतापूर्वक स्पष्ट कहते है–अधिकाश लोग ऐसे लोगों के चक्कर मे पड जाते है, जो बाहर से तो आत्मज्ञानी, आत्मार्थी और मुमुक्षु होने का दभ, दिखावा और डोल करते है, आत्मा-आत्मा की ही रट लगाते है और आत्मा के विषय मे लच्छेदार भाषण एव वाणी-विलास से लोगों को प्रभावित कर देते है, परन्तु अदर से वे काले होते है', उनमे कषायो की अग्नि प्रज्वलित रहती है। विषयो की आसक्ति मे और भौतिक जड पदार्थो के मोह मे वे जकडे रहते

है, भोलेभाले जिज्ञासु लोग भी स्वार्थलिप्सा एव जडासक्तिवश ऐसे लोगो के पास भटकते हैं, जो जडतीर्थो, जडपदार्थो एवं भौतिक आडम्बरो से युक्त बाह्यपूजा के चक्कर मे डाल देते है। भला, ऐसे लोगों को उन नकली तथाकथित आत्मज्ञानियो, किन्तु जडोपासको से क्या मिलेगा, जो स्वय ही आत्मदर्शन के यथार्थ प्रकाश से वंचित है? इसलिए वे कहते है–**"ज्योति बिना जुओ जगदीशनी"**

आत्मिक प्रकाश और परमात्मप्रकाश दोनो मे अभिन्नता है। एक हो, वहॉ दूसरो का अस्तित्व होता ही है। अतः परमात्मप्रीतिरूप धर्मपालन द्वारा परमात्मा के साथ अभिन्नता साधने के लिए पूर्वोक्त प्रकार से आत्मदर्शन (प्रभुज्योति) के प्रकाश मे उस परमनिधि को ढूँढने का कार्य सर्वप्रथम करना चाहिए। यही इस गाथा का तात्पर्य है।

जिन्होने पूर्वोक्त प्रकार से आत्मदर्शन के प्रकाश द्वारा आत्मनिधि दृष्टिगोचर कर ली है, उनका स्वरूप अगली गाथा मे बता कर उन्हे व उनसे सम्बन्धित क्षेत्र-काल-द्रव्यादि को धन्यवाद देते है–

निरमल गुणमणिरोहण-भूधरा, मुनिजनमानसहंस, जिनेश्वर!
धन्य ते नगरी, धन्य वेला घड़ी, मात-पिता-कुल-वंश जिनेश्वर!
धर्म. 7॥

अर्थ–**प्रभो! आप रोहणाचलपर्वत में उत्पन्न (जिन भगवान्=धर्मजिन या शुद्धात्मा) निर्मल=शुद्धरत्नों के समान जिनाज्ञा समतादि गुणरत्नयुक्त हैं; मुनिजनों पालक के शुभ मनरूपी मानसरोवर के हंस के समान हैं। वह नगरी (रत्नपुरी या जिनभगवान् की जन्मभूमि) धन्य है। वह समय और घड़ी जब जिनेश्वर का जन्म हुआ था धन्य है। तथा वह माता, पिता (सुव्रता माता और भानुराजा पिता) कुल (इक्ष्वाकु) और वंश (क्षत्रिय) भी धन्य है, जहॉ भगवान् ने जन्म लिया था।**

भाष्य–**परमात्मा का स्वरूप एवं उनके क्षेत्रकालादि की धन्यता**

इस गाथा मे महात्मा आनन्दघनजी ने आत्मनिधि का सर्वथा साक्षात्कार करने वाले परमात्मा (धर्मनाथ-जिन या प्रत्येक वीतराग) का स्वरूप और उनसे सम्बन्धित क्षेत्रकालादि की महिमा बताई है। जब व्यक्ति आत्मदर्शन करने के लिए उत्सुक होता है, तब वह यह देखता है कि आदर्श कैसा है, बिना आदर्श के व्यवहार के लिए व्यक्ति तैयार नही होता। आदर्श के बिना व्यक्ति निरुत्साहित एवं हताश होकर यो कह कर बैठ जाता है कि ऐसा व्यक्ति तो कोई है नही, फिर हम किसके पीछे चले, किस साध्य को सिद्ध करे या किस ध्येय

को प्राप्त करे? इसलिए श्रीआनन्दघनजी वीतरागप्रभु के गुणो (आत्मगुणो) का वर्णन करते हुए कहते हैं– प्रभु धर्मनाथ (अथवा कोई भी वीतरागी पुरुष) निर्मल (जिनके ज्ञानादि गुणों मे किसी प्रकार का मल या दोष नहीं है), गुणरूपी रत्नो के रोहणाचल हैं। कहते है, रोहणाचल नामक पर्वत सिलोन (श्रीलंका) मे है, जिसमे अनेक रत्न होते है, वह पर्वत ही रत्नमय है। अतः जैसे रोहणाचर्य अनेक रत्नो का उद्गममस्थान है, वैसे ही जिनप्रभु भी अनेक गुणरत्नो के उद्गमस्थान हैं तथा वे मुनियो एवं मुमुक्षुओं के शुभ मनरूपी मानसरोवर के हंस है। जैसे हस मानसरोवर पर आ कर विश्राम लेता है, वैसे ही वीतरागप्रभु परमहंस (जलदुग्धवत् हेयोपादेय का विवेक करने वाले) मुनिजनो के पवित्र मनरूपी सरोवर पर आ कर विराजते हैं। परमात्मा का परम ज्ञानप्रकाश मुनिजनो के मानस मे ही स्थिर होता है। अथवा मानसरोवर के हससदृश मुनियो के पवित्र मन जहाँ क्रीडा करते है, वह प्रभु ही मेरे लिए सर्वस्व है, वे ही मेरे आदर्श, ध्येय और साध्य हैं। असंख्य गुणो और पवित्रता के धामरूप बने हुए प्रभु मेरे आधार है। ऐसे परमात्मा के साथ प्रीतिधर्म व सेवाभक्ति के पालन द्वारा अभिन्नता स्थापित करना ही मेरे जीवन का लक्ष्य है। आपमे दानशीलता, निर्भयता, निर्लोभता; नीरोगता आदि अनेक गुण हैं, कितने गिनाऊँ! आपके अनेक गुण ही मुझे बरबस आपसे भक्ति, सेवा एव प्रीति करके अभिन्न एव तन्मय होने को प्रेरित करते है।

इसी कारण आपके प्रति भक्तिविभोर बनी हुई वाणी सक्रिय हो उठती है कि वह नगरी, वह वेला, वह घडी, धन्य है, जहाँ और जब आपका जन्म हुआ था। वे माता-पिता भी धन्य है, जिन्होने आपको जन्म दिया। वे कुल और वंश भी धन्य हैं, जिन्हे आपने पावन किया। व्यक्तिगत दृष्टि से अर्थ करें तो धर्मनाथप्रभु की जन्मभूमि रत्नपुरी (अयोध्या के पास) थी। उनके जन्मसमय की वेला व घडी भी शुभ थी। उनकी माता का नाम सुव्रता और पिता का नाम भानुराजा था। इनका कुल इक्ष्वाकु और वंश क्षत्रिय था। ये सब आपके पावन अवतरण से, स्पर्श से धन्य हो उठे। सामान्यतया अर्थ करे तो सभी वीतराग परमात्माओं की नगरी, वेला, घडी, माता–पिता और कुल-वंश धन्य है। प्रभु (धर्मनाथ) का शरीर रोगरूपी मल से रहित, निर्मल, कंचनवर्ण है। व औदारिक शरीर रोहणाचल पर्वत की उपमा से उपमेय है तथा यह स्वस्तिक आदि एक हजार लक्षणो रूप मणियो का तथा सौभाग्य, आ आदि उत्तमगुणों का धाम-पर्वतरूप है। इस शरीर का [illegible]

आत्मा मुनिजनों के मनरूपी कमल को सुशोभित करने वाले राजहंस के समान है और प्रसन्नता का कारणभूत है। अथवा शुद्ध शाश्वत वीतरागदेव परमात्मा (शुद्धात्मा) की दृष्टि से अर्थ करे तो-परमात्मा निर्मल-क्षायिकभावी, केवल ज्ञानादि गुणमणियो के आधाररूप है, भव्यात्माओ के हृदयसरोवर में सम्यग्ज्ञानादि गुणमणियों को उत्पन्न करते है, वे अपने स्वभाव से अचल मेरुपर्वत सरीखे है और सावद्य क्रियानुष्ठानादि से निवृत्त मुनियों के मानसरोवर के राजहस है। वे योगी मुनिजन आपके स्वरूप का मनन करते है, उनके अन्तर ध्वनि और विचार उठते है-**अहं + सः या सः+ अहम्=सोऽहम्=हंसः।** अर्थात् वीतराग प्रभु जैसा ही मै हूँ। नगरीपद का रूप 'नकरी' होता है, अतः सिद्धत्व की अपेक्षा से न + करी=नकरी यानी जो हस्तपादादि शरीरांगो से रहित होते है। अथवा सिद्धत्वपदप्राप्त परमात्मा स्थूलसूक्ष्मशरीर से रहित शुद्धात्मा को नगरी (नकरी) समझना। वही आत्मा धन्य है। उस वेला व घडी को भी धन्य है जिस समय केवलज्ञान-केवलदर्शन-रूप आत्मा का प्राकट्य होता है। परमात्मा या शुद्धात्मा की माता अष्ट-प्रवचनमाता है और क्षायिकभावरूप पिता सर्वथा धन्य है-प्रशंसनीय है। अनन्तवीर्यादि गुणसमूह और प्रतिसमय अव्याबाध आत्मसुख पैदा होना, यही तो परमात्मा का कुल और वश है, जो प्रशस्य है।

परमात्मा से अभिन्न प्रीतिसम्पादन के लिए उनके चरणो मे निवास आवश्यक है, यही सोच कर श्रीआनन्दघनजी अन्तिम गाथा मे कहते है-

मन-मधुकरवर कर जोड़ी कहे, पदकज निकट निवास, जिनेश्वर!
धननामी आनन्दघन सांभलो, ए सेवक अरदास, जिनेश्वर!
धर्म. ॥8॥

***अर्थ*-मेरा मनरूपी श्रेष्ठ भ्रमर हाथ जोड़ कर कहता है कि आपके चरणकमल के पास मेरा निवास हो; कर्मशत्रुओं को अत्यन्त नमा देने वाले या बहुत ही नामी (प्रसिद्ध) आनन्द के समूहरूप परमात्मा! सेवक की इस प्रार्थना (विनति) को सुनिये।**

***भाष्य*-प्रीतिसम्पादनहेतु चरणकमलों के निकट निवास की प्रार्थना**

इस स्तुति की अन्तिम गाथा में श्रीआनन्दघनजी परमात्मप्रीतिरूप धर्म का सर्वांशतः पालन करने वाले हेतु कहते है कि हे प्रभो ! आप तो अनेको को झुका देते हैं या आप अनेक नामो से प्रसिद्ध है, आपको किस-किस नाम से पुकारूँ? अभिन्नता के लिए नामरूप (जो भिन्नता प्रगट करने वाले है) की

आवश्यकता नहीं रहती। अतः प्रभो! आपके उत्तमात्तम गुणो से आकृष्ट हो कर मेरा मनरूपी मधुकर, जो कि शुभभावो से ओतप्रोत है, प्रार्थना करता है, अथवा मेरा मन आपके चरणकमलो मे गुणरूपी पराग का रसपान करने हेतु उत्कृष्ट भाववाला भ्रमर बन कर आपके चरण-शरण मे रहना चाहता है। मेरी आर्त्तभाव की इस विनति को आप मान ले। जब आपकी मेरे प्रति प्रीति (शुद्ध वत्सलता) होगी, तभी मै और आप एक बनेगे। फिर कोई भी विघ्न आ कर हमारी प्रीति मे रोडा नही अटका सकेगा, न कोई भी आकर हमारे बीच मे दूरी पैदा कर सकेगा।

प्रश्न है–क्या वीतरागपरमात्मा भक्त की इस प्रार्थना को सुनेगे? या ऐसी याचना पूरी करेगे? वास्तव मे जैनदृष्टि से वीतरागप्रभु के साथ यह बात घटित नही होती, मगर भक्ति की भाषा मे भक्त परमात्मा को अभिन्न आत्मीय मान कर ऐसा कहता है और आत्मस्वरूपनिष्ठ बन कर स्वरूपाचरण (यथाख्यातचारित्र) रूपी चरणकमल मे निवास करना चाहता है तो कोई अनुचित भी नहीं है। तभी परमात्मप्रीतिरूप धर्म का पालन हो सकेगा।

सारांश–इस स्तुति की सभी गाथाओ मे वीतराग परमात्मा के साथ अभिन्न, निर्विघ्न, अद्वैत, प्रीतिरूप धर्म के आचरण (निश्चयनय से स्वरूपाचरण) करने की बात अब से इति तक पुष्टि की गई है। साथ ही यह बता दिया है, इस प्रीतिधर्म के पालन मे बाधक और साधक तत्त्व कौन-कौन से है? प्रीति की प्रतीति, एकपक्षीय प्रीति का निराकरण, प्रीति के लिए परमात्मनिधि का दर्शन, उसका स्वरूप और वैसा क्षेत्र, काल और पात्रता प्राप्त होने पर धन्यता तथा परमात्मचरणो मे निवास आदि बातो का भलीभॉति समावेश भी बखूबी से अध्यात्मपयोगी श्रीआनन्दघनजी ने किया है।

***

16. श्रीशान्तिनाथ-जिन-स्तुति-

परमात्मा से शान्ति के सम्बन्ध में समाधान

(तर्ज–चतुर चोमासुं पडिकमी, राग मल्हार)

शान्तिजिन! एक मुज विनति, सुणो त्रिभुवनराय रे!
शान्ति-स्वरूप किम जाणीए, कहो मन किम परखाय रे?

॥शान्ति.॥1॥

_अर्थ_–सोलहवें तीर्थंकर श्रीशान्तिनाथ जिन (परमात्मा)! मेरी आप से एक विनति है, हे त्रिभुवन के राजा! उसे सुनिये! वह यह है कि शान्ति का स्वरूप क्या है? उसे कैसे जाना जाय? और यह भी बताइए कि उस शान्ति की परख मन में कैसे हो सकती है?

_भाष्य_–शान्ति के सम्बन्ध में प्रश्न क्यों?

यह स्तुति वीतराग शान्तिनाथ परमात्मा की है। प्रभु का नाम शान्तिनाथ है; इसलिए श्रीआनन्दघनजी को शान्ति का स्मरण हो आया और उन्होने इस स्तुति के माध्यम से शान्ति के विषय मे विविध प्रश्न उठा कर उनका समाधान ढूँढने की कोशिश है।

श्रीआनन्दघनजी आध्यात्मिक साधको के प्रतिनिधि है। जगत् मे समस्त प्राणी शान्ति चाहते है। मनुष्यो मे सभी वर्ग और कोटि के लोग अपनी-अपनी भूमिका और कल्पना के अनुसार शान्ति की चाह रखते है। कई लोग इष्ट भौतिक पदार्थो या इन्दिय विषयो की प्राप्ति मे शान्ति मानते है, परन्तु आगे चल कर जब उनका वियोग हो जाता है या प्राप्त होने पर भी इन्दियो की शक्ति क्षीण या दुर्बल हो जाती है तो शान्ति दुरातिदूर होती चली जाती है, या अमुक इष्ट वस्तु स्वय को न मिल कर दूसरे को मिल जाती है, या दूसरे को उपभोग करते देखता है तो मन ईर्ष्या और द्वेष से अशान्त हो जाता है, इसलिए कभी आधिदैविक, कभी आधिभौतिक और कभी आध्यात्मिक–इन तीनो दु.खो मे से किसी भी प्रकार के दु ख से, विपत्ति से, चिन्ता से मन अशान्ति के झूले मे झूलता रहता है। अतः वस्तुनिष्ठ शान्ति की मिथ्या मान्यता के कारण सामान्यसाधक ही नहीं, बडे-बडे साधक अशान्त होते रहते है।

इसीलिए श्रीआनन्दघनजी सभी साधको की ओर से शान्ति के सम्बन्ध मे विविध प्रश्न पूछते है। बहुत से साधक भौतिक सम्पत्ति से सम्पन्न होते हुए भी शान्ति नही पाते, वे सासारिक स्वार्थो, लालसाओ, पुत्र, धन एव लोक की एषणाओ से लिप्त हो कर बेचैन रहते है। बाहर शान्ति की झलक होते हुए भी उनके अन्दर अशान्ति की आग धधकती रहती है। अध्यात्म-साधक के जीवन मे उसके तन, मन, नयन पर अशान्ति की जरा भी छाया नही होनी चाहिए, कोई भी कष्ट, आफत, विषम, प्रसग, इष्टवियोग-अनिष्टसयोग हो, फिर भी साधक मस्त, शान्त और कर्त्तव्यपरायण होना चाहिए। साधकजीवन के किसी भी क्षेत्र मे, किसी भी कोने मे अगर अशान्ति होगी तो उसकी सारी साधना गडबड मे पड जायगी, साधना का मजा किरकिरा हो जायगा, प्रभुभक्ति और प्रभुप्राप्ति के लिए किया गया धर्माचरण बेकार हो जायेगा। इन्ही सब कारणो को ले कर साधक के जीवन मे कैसी शान्ति होनी चाहिए? उस शान्ति का स्वरूप क्या है? उस शान्ति की पहिचान क्या है? शान्तव्यक्ति के मन की परख कैसे हो सकती है? ये सब शान्तिविषयक प्रश्न शान्तिनाथ प्रभु के सामने श्रीआनन्दघनजी ने प्रस्तुत किये है।

शान्तिनाथ भगवान् के सामने ये प्रश्न क्यों?

प्रश्न होता है कि शान्तिनाथ प्रभु से ये प्रश्न क्यो पूछे गये? उत्तर मे निवेदन है कि जो जिस बात का विशेषज्ञ, अनुभवी, अभ्यासी या अधिकारी हो, वही दूसरे अनभिज्ञ, जिज्ञासु और उत्सुक व्यक्ति को उस सम्बन्ध मे बता सकता है। एक तो शान्तिनाथ प्रभु का नाम ही शान्ति का नाथ-शान्ति के स्वामी है। दूसरे, शान्तिनाथ प्रभु अपनी माता अचिरारानी के गर्भ मे थे, तभी उस सारे प्रदेश मे महामारी का उपद्रव चल रहा था। आपकी माताजी ने आपका स्मरण व ध्यान किया, जिससे समग्र प्रदेश मे शान्ति हो गई। सारा उपद्रव समाप्त हो गया। इसी कारण जन्म से पहले ही आपके माता-पिता ने आपका नाम शान्तिनाथ रखा था। अतः शन्तिनाथ प्रभु के सामने सर्वागपूर्ण शान्ति के विषय मे जिज्ञासा प्रस्तुत करना स्वाभाविक ही है। शान्तिनाथ प्रभु ससार के अकारण, निस्वार्थ व निष्कम बन्धु है, वे शान्तिमत्र के विशेषज्ञ, विश्वशान्ति के पुरस्कर्ता और अनुभवी है, अतः उनके सामने शान्तिविषयक प्रश्न प्रस्तुत करना चाहिए, यह सोच कर ही इस स्तुति मे प्रश्न प्रस्तुत किये गये है। शान्तिनाथ प्रभु यद्यपि वीतराग एवं सिद्ध-बुद्ध, मुक्त-निराकार होने के कारण किसी जिज्ञासु साधक

से सीधी बातचीत नही करते, तथापि जिज्ञासु और भावुकहृदय आत्मसाधक मुमुक्षु जब शुद्ध अन्तःकरण से शान्ति से सम्बन्धित किसी प्रश्न पर शान्तिनाथ प्रभु के आदर्श को समक्ष रख कर तथा उनके जीवन के शान्तिप्रदायक मधुर संस्मरणो से प्रेरणा ले कर गहराई से विचार करता है तो उसके शुद्ध और सम्यग्दर्शनयुक्त मानस मे यथार्थ समाधान अकित हो जाता है, उसका भावविभोर अन्त:करण शान्ति के सभी पहलुओ पर समाधान पा जाता है।

इसी दृष्टि से श्रीआनन्दघनजी ने शान्तिनाथ (शान्तिमय वीतराग) प्रभु के समक्ष विनति की है। निश्चयन की दृष्टि से देखे तो अनन्तशान्तिमय शान्ति के नाथ आत्मदेव के सामने उनके द्वारा प्रस्तुत यह शान्ति-विषयक प्रार्थना है।

शान्तिनाथप्रभु (अथवा शान्तिनाथ आत्मदेव) को **'त्रिभुवनराय'** इसलिए कहा गया है कि ऊर्ध्वलोक, मध्यलोक और अधोलोक यानी त्रिभुवन के सभी जीव उन्हे अपने कल्याणकर्ता मानते है, शक्रस्तव मे **'लोगनाहाणं'** इत्यादि विशेषण इसी बात को सिद्ध करते है।

अगली गाथा मे श्रीआनन्दघनजी शुद्ध आत्मलक्षी बन कर शान्तिनाथ भगवान् से उपर्युक्त प्रश्नो की जिज्ञासा के विषय मे आश्वासन एव धन्यवाद प्रस्तुत कराते है–

धन्य तुं आतम जेहने, एहवो प्रश्न-अवकाशरे।
धीरज मन धरी सांभलो, कहुं शान्ति-प्रतिभास रे।। शान्ति.।।2।।

अर्थ–**"हे आत्मन्! तू धन्य है, जिसे इस प्रकार के प्रश्न करने का अवकाश मिला, विचार आया। अत: अब तुम इन प्रश्नों का उत्तर मन में धैर्य धारण करके सुनो। मैं तुम्हें शान्ति का प्रतिभास-स्वरूप-प्रकाश या उपाय कहता हूँ।"**

भाष्य–**प्रश्नकर्त्ता को धन्यवादज्ञापन**

धर्मशास्त्रो या आध्यात्मिक ग्रन्थो की विशिष्ट नीति है–जिज्ञासु का आदर करना, जिससे धर्म और धर्मो का महत्त्व बढे, विशिष्ट ज्ञान प्राप्ति के लिए जिज्ञासु प्रयत्नशील हो। यहॉ भी उसी नीति का अनुसरण किया गया है।

हे आत्मन्! तुम धन्य है कि तुम्हे शान्तिनाथ भगवान की आदर्श शान्ति का स्वरूप जानने की इच्छा हुई। तुम्हारे मन मे ऐसा प्रश्न उठा, यह भी सौभाग्य की बात है। तुम बडे भाग्यशाली हो कि ऐसा गम्भीर सवाल तुम्हे सूझा। जो आत्मा भव्य और सम्यग्दृष्टि होता है, अथवा अध्यात्मरसिक तत्त्व-

जिज्ञासु होता है, या जिसे शान्ति प्राप्त करनी होती है, उसके मन मे ही ऐसे प्रश्न उठते है। बहुत से लोग जिज्ञासु बन कर कोई शका उठाते है, उन्हे कई अध्यात्मज्ञान से अनभिज्ञ या आत्मिक चारित्र दौर्बल्ययुक्त व्यक्ति सहसा दबा देते है, उसे नास्तिक, शकाशील या अज्ञानी कह बैठते हैं और उसको अध्यात्मज्ञान से वचित कर देते है। परन्तु सम्यग्दृष्टि, तत्त्वज्ञ एव समत्वयोगी पुरुष जिज्ञासु की जिज्ञासु को प्रोत्साहन देते है कि तुमने बहुत ही अच्छा सवाल उठाया। वे मानते है कि इससे हमारे ज्ञान मे वृद्धि ही होगी, दूसरे व्यक्ति भी इस ज्ञान से लाभान्वित होगे। ऐसे जिज्ञासु अपने मन मे अनेक प्रश्नों को स्थान देते है।

जिज्ञासु श्रोता के दो गुण : एकाग्रता और धैर्य

आध्यात्मिक दृष्टि से शान्ति के विषय मे जो सुनना चाहता है, उस जिज्ञासु श्रोता मे दो गुण होने आवश्यक है–एकाग्रता और धैर्य। वक्ता जब कोई बात कहता है या किसी गम्भीर विषय का प्रतिपादन करता है, तब श्रोता अगर एकाग्रता पूर्वक न सुन कर अन्यमनस्क हो कर सुनता है तो वह विषय को भलीभाति ग्रहण नही कर सकता, न समझ सकता है। अधूरी समझ से कई बार श्रोता उटपटाग बाते कह कर या तर्क-वितर्क करके भ्रान्ति फैलाता है या मनगढत बाते करता फिरता है। श्रोता का दूसरा गुण है–धैर्य। यदि श्रोता मे किसी प्रतिकूल बात के सुनने का धैर्य नही होता है तो वह बीच मे ही उखड जायगा, अधूरी बात सुन कर निन्दा करेगा, लोगो मे गलतफहमी फैलाएगा, खण्डन के लिए प्रवृत्त होगा। अतः दोनो दुगुणो से श्रोता और वक्ता दोनो की मानसिक वाचिक शान्ति खत्म हो जायगी। इसीलिए श्रीआनन्दघनजी शान्तिमय आत्मदेव (शान्तिनाथजिनदेव) से कहलाते है–'**धीरज मन धरी सांभलो**' तुम मेरी बात को धैर्य और एकाग्रचित हो कर सुनो।

शान्ति-प्रतिभास क्या और कैसे?

श्री शान्तिनाथ भगवान् ने जिस रूप मे शान्ति प्राप्त की थी, उसी शान्ति का प्रतिभास (झलक, स्वरूप-प्रकाश या उपाय) सुनाते-समझाने के लिए वे प्रवृत्त होते है।

शान्ति-प्रतिभास का अर्थ–शान्तिनाथ-प्रभु की झलक भी होता है, आत्मशान्ति की प्रतीति या उपाय भी होता है, अथवा शान्ति-स्वरूप प्रतिभास

या झलक भी होता है। जो भी हो, अब क्रमशः शान्ति के सम्बन्ध मे अगली गाथाओं मे कहते हैं–

भाव अविशुद्ध सुविशुद्ध जे, कह्या जिनवरदेव रे।
ते तेम अवितत्थ सद्दहे, प्रथम ए शान्तिपदसेव रे।। शान्ति.।।3।।

अर्थ–**वीतराग-देव (शान्तिनाथ) परमात्मा ने औपशमिक आदि भाव, जो शुद्ध नहीं हैं अथवा जो भाव शुद्ध हैं, उन पर उस-उस प्रकार से उस-उस रूप में वे जैसे हैं, वैसे (यथातथ्य) ही श्रद्धा करे, सर्वप्रथम यही स्थान या पद शान्तिनाथ भगवान् के चरणकमल की अथवा शान्ति की आराधना व सेवा है।**

भाष्य–शान्ति का प्रथम सोपान : यथार्थ श्रद्धा

कई बार व्यक्ति किसी वस्तु का केवल बाह्यरूप देख कर उसके अन्तरगरूप की उपेक्षा करके वस्तु को या तो विपरीत रूप मे मानता है, गलत वस्तु को, जिसका परिणाम भयकर है, आपातरमणीय देख कर उसे बढिया अथवा मनोज्ञ मान कर उसके वियोग मे दु खी हो कर हाय-तोबा मचाता है, उसके कारण यानी इष्ट वियोग-अनिष्ट सयोग के कारण वह व्यक्ति अशान्त हो जाता है। अतः सर्वप्रथम जिस वस्तु का जैसा स्वरूप, स्वभाव या परिणाम है, उसे उसी रूप मे उसी स्वभाव या परिणाम वाला माने, उसके वियोग या अनिष्ट सयोग मे मेरी आत्मा का कुछ भी बिगडने वाला नही, इस प्रकार की दृढ श्रद्धा, यथार्थ विश्वास, वीतराग-आप्त-वचन पर पूर्ण आस्था रख कर चले, तभी शान्ति-मानसिक शान्ति हो सकती है। अन्यथा अश्रद्धा मानव को बेचैन कर देती है। अश्रद्धा से मानव-मस्तिस्क मे ऊलजलूल विचारो के तूफान उठते है। अथवा निश्चयदृष्टि से इसका अर्थ है–औपशमिकादि जो भाव विशुद्ध नही है, तथा जो भाव (पदार्थ या तत्त्व) विशुद्ध बताये है। यानी अच्छे और बुरे जो भाव (तत्त्व या पदार्थ) जिस-जिस रूप मे आप्त वीतरागदेव ने कहे है, उन्हे उसी रूप मे समझे, उन पर श्रद्धा रखे और वैसे ही है, यो जाने, यह सबसे पहली शान्तिपद-प्राप्ति की शर्त है।

भाष्य–तीर्थकरदेव द्वारा प्ररूपित भाव

वीतराग अर्हद्देव आप्तपुरुष है, वे राग, द्वेष एव मोह पक्षपात आदि दोषो से रहित होने के कारण वस्तु का स्वरूप विपरीतरूप से बताएँ, ऐसा असम्भव

है। अत.[1] जीव, अजीव, पुण्य, पाप आदि नौ तत्त्व जीव के सम्बन्ध मे विचार, तथा दूसरे अनेक भाव या पदार्थ षड्द्रव्य आदि तीर्थकरदेवो ने मूलसूत्रो मे बताये है, वे उसी रूप मे यथार्थ है, इस प्रकार की श्रद्धा उन पर रखे।

वस्तु को अपने असली स्वरूप मे अन्तरग-बहिरग दोनो रूपो मे देखना और उस पर विश्वास जमाए रखना, शान्तिप्राप्ति की पहली शर्त है। वीतरागप्रभु ने आगमो मे कई जगह खराब भावो का भी वर्णन किया है। पापी जीव कर्म के किस-किस प्रकार के फल भोगते है, उनके चरित्र भी बताए है। कर्मो के अच्छे-बुरे फल भी मिलते है, सृष्टिकर्ता ईश्वर या और कोई है या नही? इस पर भी मूलसूत्र मे स्पष्टीकरण दिया है कि समस्त पदार्थ जिनदेव ने कहे है उन्हे निःसकोच वैसे ही रूप मे माने। **'पुरुषविश्वासे वचनविश्वास;'** इस न्याय के अनुसार उन पदार्थो का भावो के मूल वक्ता आप्तपुरुष पर विश्वास हो, तो उनके द्वारा कथित या प्ररूपित वचनो पर भी श्रद्धा या विश्वास जम जाता है। इस प्रकार देव (वीतराग) तत्त्व के सम्बन्ध मे उसके मन मे जरा भी शका-कुशका नही रहती। यह शान्तिस्वरूप की पहली शर्त है। ऐसी श्रद्धा रखने वाला ही वास्तविक धर्म और शान्ति को प्राप्त कर सकता है। बहुत-सी बाते अतीन्द्रिय तथा अमूर्त होने के कारण अदृश्य होती है, अनिर्वचनीय भी होती है, जैसे लोक-अलोक भी जो दूर है, वे नही दिखाई देते, देवलोक या नागलोक दूर है, वे दृष्टिगोचर नही होते। मगर ये सब उसी प्रकार है, जिस प्रकार से भगवान् ने बताए है। इस प्रकार सम्यक्त्व का प्रथम लक्षण-देव को देव के रूप मे जाने, देवकथित बात को भी उसी रूप मे समझे व कबूल करे, यह शान्ति की प्राथमिक भूमिका है।

---

1 जीवाजीवा य बंधो स, पुण्णं पावासवो तहा।
संवरो निज्झरा मोक्खो, संतेए तहिया नव।
तहियाणं तु भावाणं सब्भावे उवएसणं।
भावेणं सद्दहंतस्स समत्तं वियाहियं।।

संसारत्था य सिद्धा य इमे जीवा वियाहिया।
रुविणो चेवारूवी व अजीवा दुविहा विय।।
इमं जीवमजीवे य सोच्चा सद्दहिऊण य।
सद्धाणनाणमणुमए रमेज्ज संजमे मुणी।। —उत्तरा

निश्चयनय की दृष्टि से स्वभाव-परभाव अथवा स्वभाव-विभावरूप आत्मा-अनात्मा आदि का जैसा रूप है, अच्छा या बुरा, उसे वैसा ही, उसी रूप मे माने।

अब शान्ति के दूसरे सोपान के बारे मे कहते है-

आगमधर गुरु समकिती, किरिया संवर सार रे!
सम्प्रदायी-अवंचक सदा, शुचि अनुभवाधार रे!

शान्ति.।4।।

_अर्थ_-जो आगमों का ज्ञाता (धारक) हो, सम्यग्दृष्टि हो, संवरप्रधान शुद्ध धर्मक्रिया करने में तत्पर हो, सम्यक् विचार और आचार का मार्गदर्शन देने वाले धर्मसंगठन का सदस्य हो, अवंचक-निष्कपटभाव से प्रवृत्ति करता हो, सदा पवित्र अन्तःकरण वाला हो, शुद्ध आत्मानुभवी हो, ऐसे गुरु का आधार शान्तिपद के लिए आवश्यक है। यह शान्ति की दूसरी शर्त है।

_भाष्य_-योगाऽवंचक गुरु का योग : शान्ति का द्वितीय सोपान

पूर्वगाथा मे शान्तिपद के लिए शुद्ध देव के प्रति श्रद्धा आवश्यक बतलाई, अब पवित्र गुरु के प्रति श्रद्धा की आवश्यकता का संकेत करके गुरु का लक्षण बताते है। वास्तव मे शान्ति का स्वरूप और शान्ति के लिए मार्गदर्शन हेतु 'गुरु' की महत्ती आवश्यकता है; परन्तु भूमण्डल मे आज अनेक नामधारी गुरु घूम रहे है। वे शिष्य को सन्मार्ग दिखाना तो दूर रहा, उल्टे कुमार्ग पर चढा देते है, जिस पर चल कर वह अपने जीवन का नाश कर लेता है, शान्ति के बदले अशान्ति के गर्त मे गिर जाता है, कर्म-मुक्ति के बदले कर्मबन्धन करके नाना योनियो और गतियो मे भटकता रहता है। इसी कारण बहुत-से लोग तो यहॉ तक कहने लगे-'ऐसे कुगुरुओ से तो गुरु न बनाना अच्छा है।' परन्तु सभी गुरु ऐसे नही होते और सभी लोग गुरु के बिना रह नही सकते। सद्गुरु से वचित रहना एक अलभ्य लाभ को खोना है। इसी दृष्टि से शान्तिप्रदायक या शान्तिस्वरूपदर्शक सचे गुरु की पहिचान के लिए श्रीआनन्दघनजी गुरु के लक्षण बताते हुए कहते है-'**आगमधर गुरु.....**''

सद्गुरु के लक्षण

आगमधर गुरु-सद्गुरु की पहिचान के लिए सर्वप्रथम यह देखना चाहिए कि वह आगमो व सिद्धान्त का ज्ञाता हो, ज्ञाता ही नही, आगमो के गूढ रहस्यो, पूर्वपरविरुद्ध बातो, उत्सर्ग-अपवाद के मर्मो एव द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव

के अनुसार युगानुकूल सयोजन करने का अनुभवी हो। क्योकि जिसको शास्त्रो का रहस्यपूर्वक ज्ञान होगा, वह कैसी भी परिस्थिति के समय आत्मसमाधि मे स्थिर रह सकेगा, दूसरो को भी शास्त्रज्ञान दे कर समाधिस्थ कर सकेगा। पाप एव प्रमाद से बचने के लिए आगम दीपक के समान है। दशवैकालिक सूत्र मे कहा है-कि[1] शास्त्र (सूत्र) ज्ञान से चित्र एकाग्र होता है, उसकी आत्मा स्वय स्वधर्म-स्वभाव मे स्थिर हो कर दूसरो को सूत्रज्ञान से स्वधर्म मे स्थिर करती है। सूत्रो (श्रुतो) का अध्ययन करके साधक श्रुतसमाधि मे रत (लीन) हो जाता है। बहुत से साधक आगमो की बात तो दूर रही, सामान्य नीतिधर्म के ज्ञान से भी रहित होते है, वे सिर्फ वेषधारी या व्यसनी होते है।

सम्यक्त्वान गुरु-बहुत से लोग अक्षरज्ञान या भाषाज्ञान के पण्डित होते है, वे प्रत्येक शास्त्र की व्याख्या बहुत ही बारीकी से कर सकते है, परन्तु उनके अन्तर मे सम्यग्दर्शन नही होता, वे या तो पैसा या प्रसिद्धि कमाने के लिए शास्त्रज्ञान करते-कराते है, या दूसरो के साथ साम्प्रदायिक सघर्ष मे उतरने के लिए ऐसा करते है। ध्यान रहे, मिथ्यादृष्टि भी 9 पूर्व से कुछ कम तक का ज्ञान प्राप्त कर सकता है। अतः गुरु का सम्यग्दृष्टि होना बहुत आवश्यक है। गुरु सम्यग्दृष्टि होगा तो वह मिथ्याश्रुतो या पूर्वापरविरुद्ध बातो मे से भी अपनी समन्वयी, अनेकान्ती एव सापेक्ष दृष्टि से तत्त्व निकाल लेगा, शास्त्रो, धर्मो एव क्रियाकाण्डो के कारण होने वाले झूठे सघर्षो को वह मिटा सकेगा, उनमे परस्पर सामजस्य स्थापित कर सकेगा। इस प्रकार सम्यक्त्वीगुरु पारस्परिक सघर्षो एव विवादो को मिटा कर शान्ति स्थापित कर सकता है।

संवरप्रधान क्रियावान् गुरु—जो समिति-गुप्ति एव सवर से युक्त क्रिया करता है, वह गुरु प्रत्येक क्रिया मे ध्यान रखेगा कि वह ससारवृद्धि की कारण न हो। बहुत से गुरु अपनी महिमा बढाने के लिए ससारवर्द्धक (आश्रवपोषक) क्रिया करते-कराते रहते है, उन क्रियाओ मे आत्मस्वरूप या कर्म-मुक्ति का लक्ष्य कम होता है, आडम्बर या शुभाश्रव का भाग ज्यादा होता है। इसलिए क्रियाविधिज्ञ एवं सवरप्रधान (कर्मो को आते हुए रोकने की) क्रिया करने वाला

1 देखिये दशवैकालिकसूत्र (अ 8 उ 4) का वह पाठ–

नाणमेगग्गचित्तो य ठिओ य ठावई परं।
सुयाणि य अहिज्जिता रओ सुयसमाहिए।।

होना चाहिए। अन्यथा, बहुत-से ऐसे गुरु होते है, जो आरम्भ-समारम्भ से ग्रथित सावद्य क्रियाकाण्डो के भंवरजाल में स्वय भी फसे रहते है, अनुयायियो को भी फंसा देते हैं। परन्तु क्रियावान् गुरु प्रत्येक क्रिया मोक्षदायिनी करेगा, इहलोक-परलोकलक्षी नही तथा उसके साथ उसे कर्तृत्व का अभिमान नही होगा, उसकी क्रिया स्वेच्छाचारी नही होगी, अपितु शास्त्रानुसार निरवद्य होगी। इस प्रकार की निरवद्य क्रिया करने-कराने वाला गुरु ही शान्तिप्रदाता हो सकता है।

सम्प्रदायी गुरु—सम्यक् विचार और आचार का मार्गदर्शन देने वाला धर्म-संगठन सम्प्रदाय है। गुरु ऐसे सम्प्रदाय से सम्बन्ध होना चाहिए । ऐसे सम्प्रदाय मे रहने वाला सुगुरु स्वयं आत्मानुशासित होता है और संघ को भी अनुशासन मे रखता है। सम्प्रदायी गुरु मनमाने ढग से चलने वाला स्वेच्छाचारी नहीं होगा। परन्तु सम्प्रदायी का यह मतलब नही है कि वह सम्प्रदाय के मोह मे या साम्प्रदायिकता से ग्रस्त हो कर सम्प्रदाय मे चलने वाली गलत बातो का समर्थन करेगा या अनके अनुयायियो को उकसा कर दूसरे सम्प्रदायों से लडायेगा-भिडायेगा या संघर्ष करायेगा। वह सम्प्रदायी गुरु सदाग्रही होगा, दुराग्रही नहीं, वह द्रव्य- क्षेत्र-काल-भाव को देख कर युगानुकूल क्राति (परिवर्तन-संशोधन) करेगा। चूँकि सम्प्रदाय सुन्दर सस्कारो से जीवन का निर्माण करता है, व्यक्ति को अनुशासित रखता है, उच्छृखल नही होने देता, अतः सम्प्रदाय मे रहना बुरा नही, साम्प्रदायिकता या सम्प्रदाय-मोह से ग्रस्त होना बुरा है। गुरु पूर्वोक्त व्याख्यानुसार सम्प्रदायी होगा।

वह सरलमना, सरल स्वभावी, चाल-ढाल, व रहन-सहन मे सरल और दम्भ, धूर्तता, वचकता या ठगी से बिलकुल दूर होगा, जो बात जैसी होगी वैसी ही कहेगा, या करेगा। अन्दर-बाहर एक होगा, धर्म-ध्वजीपन से वह दूर होगा। वह प्रभु की साक्षी से गुरु के मार्गदर्शन मे अपनी आत्मा की वफादारीपूर्वक धर्माराधना करेगा। अथवा स्वरूपलक्ष से वचित नहीं होने वाला गुरु हो।

शुचिगुरु—वह पवित्र स्वभाव, पवित्र, निष्पाप, निष्कलुष, कषायभाव की क्लिष्टता से दूर एव मर्यादित वेषभूषाधारी होगा। पवित्र गुरु से ही जनता शान्ति का पाठ सीख सकती है।

अनुभवाधार गुरु—आत्मगुण तथा व्यावहारिक एव आध्यात्मिक अनुभवो का आधाररूप गुरु ही स्वय तर सकता है, दूसरो को तार सकता है। अपने अनुभव के सहारे वह अशान्त वातावरण को शान्त वातावरण मे बदल सकता

है। अथवा निश्चयदृष्टि से वह शुद्ध आत्मानुभवी हो।

अतः शान्ति का स्वरूप जानने का या शाति-प्राप्ति का इच्छुक व्यक्ति उपर्युक्त सातो गुणो से युक्त साधक को ही अपना गुरु बनाए, उसी का आश्रय ले, जैसे–तैसे ऐरेगैरे को गुरु बनाने से तो शान्ति के बदले अशान्ति ही पल्ले पडेगी। सद्गुरु ही शान्ति का स्वरूप प्राप्त करा सकता है। इस कारण श्रीआनन्दघनजी ने योगाऽवचक गुरु के योग को शान्ति का स्थान बताया है।

सद्गुरु का योग पाने के बाद सद्धर्मप्राप्ति के हेतु शुद्ध आलम्बन शान्ति के लिए आवश्यक है, इसी बात को अगली गाथा मे श्रीआनन्दघनजी बताते है–

शुद्ध आलम्बन आदरे, तजी अवर जंजाल रे।
तामसी वृत्ति सवि परिहरे, भजे सात्त्विक साल रे।।

शान्ति.।।5।।

***अर्थ*–शान्तिकांक्षी साधक अन्य सभी प्रपंच-जाल (खटपट) या रागीद्वेषी देव-गुरु का जाल छोड़ कर शुद्ध (शास्त्रोक्त) या आत्मस्वरूप के आलम्बनों को अपनाए। तथा क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष, दंभ, ईर्ष्या, छल, स्वार्थ, इन्द्रियविषयासक्ति आदि समस्त तामसीवृत्तियों का त्याग करे और सात्विक ज्ञानयुक्त आनन्ददायी वृत्ति धारण करे।**

***भाष्य*–सद्धर्मप्राप्ति के लिए शुद्ध आलम्बन : शान्ति का कारण**

देव और गुरु के योग के बाद सद्धर्मप्राप्ति के लिए क्रियाऽवचक योग बतलाया गया। क्रियावचकयोग मे पुष्ट और शुद्ध आलम्बन ग्रहण करना चाहिए।

प्रश्न होता है कि शुद्ध आलम्बन किसे कहा जाय? जो आलम्बन शुद्ध स्वरूपलक्षी, परमात्मलक्ष्यी या मोक्षलक्ष्यी हो, उसे तो शुद्ध आलम्बन कहा जा सकता है। जिस आलम्बन से साधक दुर्गतियो से भटकता हो, जिससे जीवन पतन की ओर जाता हो, अथवा जो आलम्बन मनुष्य को सदा परावलम्बी बनाए रखता हो, उस आलम्बन को शुद्ध आलम्बन कैसे कहा जा सकता है? शुद्ध आलम्बन मे किसी प्रकार का आडबर, प्रपच, स्वार्थ, साधन, धोखा या मायाजाल नही होना चाहिए। वह आलम्बल राग, द्वेष, काम, क्रोध, आदि के परिणामो से रहित होना चाहिए। अतः निश्चयदृष्टि से तो शुद्ध आलम्बन एकमात्र शुद्धस्वरूपलक्ष्यी आत्मा ही हो सकता है, जिसमे अन्य विकल्पो का जाल न हो। वह आलम्बन सदा अखण्ड आत्मस्वरूप मे रमणरूप चारित्र, आत्मज्ञान

और आत्मस्वरूपदर्शन हो सकता है। वही स्वावलम्वन है। इस दृष्टि से किसी दूसरे का, यहाँ तक कि देव, गुरु और धर्म का भी आलम्बन परावलम्बन है। आत्मा का आलम्बन लेने मे किसी दूसरे से याचना करने की, दूसरे को रिझाने की दृष्टि से गुणगान करने की जरूरत नहीं रहती। परन्तु जहाँ तक शरीर साथ मे है, वहाँ तक किसी न किसी दूसरे का आलम्बन लेना पडता है और यो देखा जाय तो आलम्बन शब्द ही परसापेक्ष-परापेक्षित है। आत्मशक्ति की अल्पता ही आलम्बन की अपेक्षा रखती है। साधक मे जब तक अपूर्णता है; जब तक ससारसमुद्र से वह पार नही हो जाता, तब तक उसे नौका की तरह शरीर, सघ, देव, गुरु, धर्म, शास्त्र आदि का आलम्बन लेना ही पडता है। आलम्बन मनुष्य तभी तक लेता है, जब तक वह पूर्णता के शिखर पर नही पहुँच जाता । शास्त्र मे बताया गया है कि[1] धर्माचरण करने वाले साधु के लिए पाँच स्थानो (आधारो) के निश्राय (आलम्बन) बताए है–सघ, धर्माचार्य, गृहस्थ, छह काया (संसार के प्रत्येक कोटि के जीव) और शासक। यह तो हुई व्यावहारिक और सामाजिक दृष्टि से आलम्बन की बात। व्यवहारदृष्टि से शुद्धदेव, सद्गुरु और सद्धर्म का आलम्बन लेना अपूर्णसाधक के लिए आवश्यक होता है, परन्तु इन और ऐसे ही अन्य आलम्बनो को ग्रहण करते समय यह विवेक करना होगा कि मै जिन देव-गुरु-धर्म आदि का आलम्बन ले रहा हूँ, वे वीतरागभाव–पूर्वशान्ति–शुद्धात्मभाव की ओर ले जाने वाले है, या परस्पर साम्प्रदायिकता, सम्प्रदायमोह, कदाग्रह, राग-द्वेष कषाय, संघर्ष आदि बढाने वाले है? अगर वे आलम्बन तथाकथित देव-गुरु-धर्म के नाम से झगडे, उपद्रव, सिरफुटौव्वल, छलछिद्र, दम्भ आदि पैदा करने वाले हो, तो उन्हे व्यवहारदृष्टि से भी शुद्ध आलम्बन कहना अनुचित है। इसी प्रकार व्यवहारदृष्टि से मोक्षलक्ष्यी आलम्बन के रूप मे व्यवहार सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ग्रहण किये जाते है, लेकिन वे भी वीतरागता और समता के पोषक हो, तभी उपादेय हो सकते है। यदि तथाकथित सम्यग्दर्शन के नाम से कलह, कदाग्रह, एकान्त एव अन्धश्रद्धायुक्त मिथ्या मान्यताएँ आलम्बन के रूप मे स्वीकार करने का कोई कहे, सम्यग्ज्ञान के नाम से उन्मार्गगामी, अन्धविश्वासयुक्त अथवा भौतिकज्ञान या मिथ्याज्ञान

1 धम्मस्स णं चरमाणस्स पंच ठाणा निस्सिया पण्णत्ता–छकाया, गणे, राया, धम्मायरिए, गाहावई। – स्थानांगसूत्र पंचम स्थान

अथवा अनिष्ट सावद्यमार्ग पर ले जाने वाले विषमतावर्द्धक ज्ञान या शास्त्रो को आलम्बन के रूप मे थोपना चाहे अथवा सम्यक्चारित्र के नाम से कोई युगबाह्य, निरर्थक, सवर, प्रतिपक्षी, सद्धर्म से विपरीत, वृथाकष्टकारी क्रियाएँ आलम्बन के रूप मे लादना चाहे तो वह शुद्ध (व्यवहारदृष्टि से) आलम्बन नही हो सकता। यद्यपि पूर्णतः शुद्ध एव उपादेय आलम्बन तो आत्मस्वरूपलक्ष्यी स्वरूपरमण ही हो सकता है, क्योकि वही नित्य है, शुद्ध और अभिन्न आलम्बन है। इस प्रकार का प्रतिपादन स्वय आनन्दघनजी अगली गाथाओ मे करेगे। किन्तु जब तक शरीर है, तब तक व्यवहारदृष्टि से जल-सन्तरण के लिए नौका की तरह सुदेव, सुगुरु या सद्धर्म आदि मोक्ष, परमात्मा या शुद्धस्वरूप की ओर ले जाने वाले पुष्ट या पवित्र आलम्बन भी कथचित् शुद्ध एव उपादेय हो सकते है। परन्तु वे आलम्बन नदी पार होने के बाद नौका को छोड देने की तरह वीतरागचारित्र की भूमिका पर या उच्च गुणस्थान मे आरूढ हो जाने पर त्याज्य होते है। जैसे एम ए पढे हुए विद्यार्थी के लिए उससे पहले की कक्षाएँ या पाठ्यपुस्तके छोड देनी होती है, वैसे ही उच्चश्रेणी पर पहुँचे हुए साधक को नीची श्रेणी के समय लिये जाने योग्य आलम्बन छोड देने चाहिए। इसीलिए श्रीआनन्दघनजी ने स्पष्ट कहा है-**'शुद्ध आलम्बन आदरे, तजी अवर जंजाल रे'**। तात्पर्य यह है कि आलम्बन के नाम से प्रपचमय, रागद्वेषवर्द्धक, मायाजाल मे फसाने वाले, वीतरागता से विमुख करने वाले आलम्बन, चाहे जितने पवित्र नाम से कोई थोपना चाहे, उन्हे **जंजाल** समझ कर छोड दो।

अथवा शुद्ध आलम्बन का व्यवहारदृष्टि से यह अर्थ भी हो सकता है- शुद्धरूप से आलम्बन यानी देव, गुरु, धर्म आदि भी सच्चे हो, लेकिन उन्हें गलत रूप से, स्वार्थ, दम्भ, छलछिद्र, आडम्बर एव यशोलिप्सा, पदलिप्सा आदि किसी विपरीतभाव से या क्रोध-द्रोह-ईर्ष्या-अभिमानवश ग्रहण करना अशुद्ध आलम्बन है। शुद्धरूप से इन चार बातो के साथ देवगुरुधर्म आदि का आलम्बन लेने मे 4 स्थितियाँ आती है-इच्छा, प्रवृत्ति, स्थैर्य और सिद्धि।

निश्चयदृष्टि से आत्मस्वरूपलक्ष्यी शुद्धआत्मा का आलम्बन भी पूर्वोक्त अशुद्धरूप से न लेकर शुद्धरूप से लेना भी शुद्धआलम्बन का अर्थ हो सकता है।

तामसीवृत्ति छोड़ कर सात्विकवृत्ति का

अशुद्ध आलम्बनरूप प्रपच छोड कर शुद्ध आलम्बन लेना
का मूल कारण है, परन्तु साथ ही व्यवहारदृष्टि से देवगुरु आदि पवित्र

के लिए पवित्र वृत्ति भी होनी आवश्यक है। आलम्बन तो व्यवहार के नाम से तथाकथित शुद्ध अपना लिए, लेकिन वृत्ति अभी तक तामसी बनी हुई है, मिथ्यात्वग्रस्त है, अज्ञानान्धकारमयी है, वह शरीर को ही आत्मा समझ कर उसी का पोषण करने, उसी को स्वस्थ रखने आदि की चिन्ता करता है या उसी को आत्मा समझ कर उसके चिन्तन मे डूबा रहता है। अथवा रागी-द्वेषी, मोही, क्रूर, शस्त्रपाणि, मदिरापायी, मासाशी अथवा श्रापदाता देव, भंगेडी-गजेडी, दुर्व्यसनी अथवा मिथ्यादृष्टि गुरु एव वामाचार मार्गप्रेरक व्यभिचारोत्तेजक धर्म मे उसी तामसी वृत्ति से ओतप्रोत रहे तो वह उसके लिए शान्तिदायक या शान्तिस्वरूप का परिचायक कैसे हो सकेगा? इसीलिए श्रीआनन्दघनजी को कहना पडा-'**तामसी वृत्ति सवि परिहरी, भजे सात्विक साल रे।**' सात्विक मे-समता, दया, क्षमा, निर्लोभता, सरलता, मृदुता, लघुता, सत्यता, सयमपरायणता, तश्पचर्या, ब्रह्मचर्य, अकिचनता, त्याग आदि का समावेश हो जाता है। संक्षेप मे, आत्मधर्म या सूत्र-चारित्ररूप धर्म सात्विक वृत्ति में आ जाता है। इसीलिए साधक को भगवान् महावीर ने निर्देश किया है-[1] "धैर्यवान, धर्मसारथी, इन्द्रियरूपी अश्वो का दमन करने वाला एव धर्मोद्यान मे रत भिक्षु धर्मरूपी बगीचे मे विहरण करे, ब्रह्मचर्य-आत्मस्वरूप मे रमण-विचरण करना ही उसके लिए समाधि है।"

इस प्रकार शुद्ध आलम्बन लेकर सात्विक वृत्ति से युक्त होने से साधक आध्यात्मिक शान्ति को पा लेता है, शान्ति उसकी सहचरी बन जाती है, शान्तिस्वरूप को वह हृदयगंम कर लेता है और दूसरो को भी शान्ति प्रदान करता है।

अब इससे आगे के शान्ति के सोपान के बारे मे कहते है-

फल-विसंवाद जेहमां नहीं, शब्द ते अर्थ-सम्बन्धी रे।
सकलनयवाद व्यापी रह्यो, ते शिवसाधनसन्धि रे।
शान्ति.।।6।।

अर्थ-**जिसके मन में मोक्षरूप फल (कार्य) के सम्बन्ध में कोई विसंवाद (दुविधा) नहीं है, जिसके कहे हुए शब्द और उसके अर्थ के सम्बन्ध में कोई विरोध नहीं है;**

1 धम्मारामे चरे भिक्खू धिइमं धम्मसारही।
धम्मारामरए दंते, बंभचेर-समाहिए।।-उत्तराध्ययन अ 16

जिसके वचनों में सर्वत्र समस्त नयवाद (सापेक्षता) व्याप्त है, ऐसे आप्तपुरुष के वचन मोक्षप्राप्ति की साधना में कारण रूप हैं।

_भाष्य_–शान्ति-सहायक मोक्षफलावञ्चकयोग : आप्तवचन

पूर्वगाथा में शुद्ध आलम्बन की बात कही गई थी। परन्तु शुद्ध आलम्बन तभी शुद्ध रह सकता है, जब ज्ञान-दर्शन-चारित्र आदि के पालन से विषय मे नि शक, निर्विवाद, सापेक्ष, सार्थक-शब्दयुक्त आप्तवचनो का आलम्बन लिया जाय। वही शान्तिदायक, शान्तिसचारक हो सकता है।

शान्ति के लिए फल के प्रति अविसंवादिता आवश्यक

ज्ञानादि की अथवा आत्मस्वरूपलक्ष्यी जो भी साधना की जाय, उसमे फल के प्रति शका या असंगति मन मे नही होनी चाहिए। जहाँ फलाकाक्षा या फल के विषय मे शका या भ्रान्ति मन मे होती है, वहाँ साधना का रस खत्म हो जाता है, साधना के साथ जो श्रद्धा, भक्ति का आनन्द है, उसका स्थान बेगार ले लेती है। अतः शान्ति के अभिलाषी साधक को यह शंका नहीं होनी चाहिए कि इस साधना का फल मिलेगा या नहीं, फल नहीं मिला तो क्या होगा? क्योकि फल तो क्रिया के अनुसार मिलता ही है। **'या या क्रिया सा सा फलवती'** जैसी कारण-सामग्री होगी, वैसा ही फल होगा, वैसा ही कार्य होगा; परन्तु जैसा फल सोचा हो, वैसा फल न आए तो अपने कारण के साथ फल का अविसवाद कहलाता है। इसलिए शान्तिकांक्षी के मन मे फल की असंगति या शंका नहीं होती कि शान्ति की साधना का फल मिलेगा या नहीं?

शान्ति के लिए आत्मार्थप्राप्तिसूचक सापेक्ष वचन

आप्तपुरुष के सापेक्ष (नयवाद से युक्त) वचनो में शान्ति के इच्छुक व्यक्ति को शंका नहीं होती, या उसके भावार्थ के सम्बन्ध में उस शंका नही होती, उसके मन में ऐसी शंका नहीं होती कि ऐसा अर्थ होगा या दूसरा होगा? आप्तपुरुष के जो वचन (शब्द) होते हैं, उनका जो अर्थ होता है, वह उसे बिना किसी विरोध या आपत्ति के समझता है और स्वीकार करता है। [illegible] अर्थ के सम्बन्ध मे उसके मन मे जरासी भी उलझन [illegible]

---

1 [illegible]–मोक्षरूप में भी विविध नयो की [illegible]
इस प्रकार होती है–नैगमनय की अपेक्षा से [illegible]
[illegible] को अथवा अपुनर्बंध [illegible]

नयवाद (सापेक्षत्व) की दृष्टि के परस्पर अविरोधीरूप से निःशक हो कर समाधान कर देता है, क्योकि वह शब्दों मे अविरोधता जानता है। इसलिए उसके निर्मल मन मे शका-कुशंका को स्थान नहीं होता। इस प्रकार का निर्मल अन्तःकरण शान्ति के उपासक का होता है। वह शब्दो का अपेक्षावाद (नयवाद) की दृष्टि से रहस्यार्थ समझता है कि अमुक पदार्थ का अमुक अपेक्षा से अस्तित्व भी है, अमुक अपेक्षा से नास्तित्व भी है। इस प्रकार के सापेक्ष वचन ही मोक्ष (शान्तिरूप) की साधना के कारण हैं। ऐसा शान्तिसाधक पृथक्-पृथक् दृष्टि बिन्दुओं को समझता-समझाता है। इस प्रकार यह फलावचकयोग रूपशान्ति हुई।

शान्ति के लिए किन चीजो का ग्रहण और किन चीजो का त्याग करना चाहिए? इस सम्बन्ध मे श्रीआनन्दघनजी अगली गाथा में कहते है–

विधि-प्रतिषेध करी आतमा पदारथ अविरोध रे।
ग्रहणविधि महाजने परिग्रह्यो इस्यो आगम-बोध रे।।

शान्ति.।।7।।

अर्थ–**ज्ञान, दर्शन, चारित्र, समाधि, समता, वैराग्य, भक्ति-क्षमा आदि आत्मप्राप्ति के या आत्मा में घटित होने वाले साधनों, गुणों, स्वभावों या धर्मो आदि का निरूपण (विधि) तथा मिथ्यात्व, मिथ्याग्रह, काम, क्रोध, हिंसादि, प्रमाद, स्वच्छन्दता, इन्द्रियविषयों में प्रवृत्ति, आसक्ति वगैरह, आत्मगुण के घातक या आत्मा में घटित न होने वाले गुणों, अभावों या विभावों आदि का प्रतिषेध (निषेध, त्याग या प्रत्याख्यान) है। आत्मा को इस प्रकार विधि-निषेधरूप (करणीय कार्य को विधिरूप व अकरणीय को निषेधरूप) वाक्य द्वारा यथार्थ एवं अविरोधरूप से जान कर महापुरुषों (ज्ञानीजनों) ने उन्हें जानने (ग्रहण करने) की योग्य पद्धति से आत्म-पदार्थ को स्वीकार किया (अपनाया)। आगमों (शास्त्रों) में इस प्रकार का बोध है, जो शान्ति का कारण है।**

अपेक्षा से मोक्ष के छोटे-बडे अनेक कारणो को धर्म कहा जा सकता है। **व्यवहारनय की अपेक्षा** से तमाम धार्मिक अनुष्ठानो को धर्म कहा जा सकता है। **ऋजुसूत्रनय की अपेक्षा** से देशविरति-सर्वविरति को धर्म कहा जा सकता है। **शब्दनय की अपेक्षा** से उच्चदशा की निर्विकल्प अवस्था को धर्म कहा जा सकता है । **समभिरूढ़नय की अपेक्षा** से सयोगी केवलज्ञानी अवस्था को धर्म कहा जा सकता है। **एवंभूतनय की अपेक्षा** से शैलेशीकरण की अवस्था को धर्म कहा जा सकता है, जिसके बाद तत्काल ही मोक्ष प्राप्त हो जाता है।

भाष्य–शास्त्रयोग से आत्मा का विधि-निषेधरूप में ग्रहण : शान्ति का सोपान

आत्मप्राप्ति के साधन के रूप मे अमुक कार्य, जो कि आत्मगुणो, आत्मस्वभावो या आत्मधर्मो के लिए अनुकूल है, इस रूप मे करना चाहिए, यह शास्त्रोक्त विधि है तथा इसके विपरीत आत्म-गुण के घातक व अमुक दुर्गुणो, विभावो, अधर्मो या अभावो का द्योतक कार्य है, उसका त्याग, प्रत्याख्यान या निषेध करना चाहिए, यह शास्त्रोक्त प्रतिषेध है। यानी (आत्मदृष्टि से) अमुक कार्य करना और अमुक नही करना चाहिए, इस प्रकार के विधिनिषेध मे इस अपेक्षावाद के कारण जरा भी विरोध नही दिखाई देता। शान्तिवाछुक साधक की कुशलदृष्टि विधि का स्वीकार करती है ओर निषेध का त्याग करती है। उसे विधि-निषेध मे पृथक्-पृथक् दृष्टिबिन्दु के ज्ञान के कारण जरा भी उलझन नही होती।

आगमो मे भले ही अनेक पदार्थो, तत्त्वो या अनुयोगो का वर्णन या निरूपण हो, लेकिन प्रत्येक का अन्तिम तात्पर्यार्थ–महावाक्यार्थ आत्मा-पदार्थ का मोक्ष (शाश्वत शान्ति) के लिए निरूपण करना है। इस दृष्टि से आगमो मे दो प्रकार से बोधनिरूपण है–विधिवाक्य और निषेध वाक्य। आत्मा विभावदशा मे रह कर आत्मगुणबाधक तत्त्वो का ग्रहण करके अपना मूलस्वरूप भूली, जिससे वह शान्ति-स्वरूप से वचित रही। राग-द्वेष, काम, क्रोध, लोभ, मोह, माया आदि सब पुद्गलभावो की ओर ले जाने वाली क्रियाओ को **प्रतिषेध** कहा जाता है, इन क्रियाओ का कर्त्ता आत्मा है, जो इन वैभाविक क्रियाओ के कारण अशुद्ध बना हुआ है, इसी कारण वह योग-आत्मा का कषायात्मा के नाम से पुकारा जाता है। इन्ही क्रियाओ के कारण आत्मा को इस अशान्त दु [illegible] वातावरण मे बारबार परिभ्रमण करना पडता है। जब यही आत्मा [illegible] सद्गुरु या आगम के बोध से स्वभावदशा मे आकर [illegible] को ग्रहण करता है, तब यह शुद्धात्मा बनता है, [illegible] ज्ञान-चारित्र तथा वैराग्यादिभावो मे स्थिर [illegible]

(उपदेश या प्रेरणा या आज्ञा) के रूप मे बताया है। जिन्हे पूर्वकाल मे ऋषभदेव से लेकर भगवान् महावीर तथा उनके साधुसाध्वियो अथवा विश्व के समदृष्टि सत-पुरुषो ने भी इसी रूप में विधि से शुद्ध आत्मपद या परमात्मपद ग्रहण किया है। न्यायशास्त्र मे विधि यानी अन्वय और निषेध यानी व्यतिरेक का उपयोग किया जाता है। जहाँ विधि (अन्वय) तत्त्व से ग्राह्य विषय आता है, वहाँ निषेध (व्यतिरेक) तत्त्व से अग्राह्य विषय अपने आप हट जाता है। जैसे शास्त्र वाक्य है-उपशम से क्रोध-विजय होता है, यह अन्वय वाक्य है, उपशम के अभाव (क्रोध) से क्रोधविजय नही होता, यह व्यतिरेकवाक्य है।[1] नौ तत्त्व, द्रव्य-क्षेत्र, काल-भाव, द्रव्य-गुण-पर्याय, सात नय, पच अस्तिकाय, पाँच ज्ञान, उत्पाद-व्यय ध्रौव्य, क्षायिकादि पाँच भाव, सूत्र-अर्थ, षट्द्रव्य, निश्चय-व्यवहार, उत्सर्ग-अपवाद, कर्म और उसके भेद आदि जो कुछ बोध आगमो मे है, उस सबका मुख्य तात्पर्य पात्रजीवो को आत्मा का स्वरूप समझाना है, क्योकि जानने का फल आत्मा को ही मिलेगा, अन्यथा जानने की जरूरत क्या थी! विभिन्न प्रकार से अन्वय-व्यतिरेक से आत्मा का स्वरूप समझाना ही शास्त्रो का मुख्य कार्य है। इसीलिए महापुरुषो ने आत्मपदार्थ को भलीभाति समझ कर उसका जिस रूप मे जो स्वरूप है, उसका यथार्थरूप से आगमो मे संग्रह किया है। अतः आगमो द्वारा आत्मा को अविरोधरूप से वास्तविक रूप में समझ लेना ही शास्त्रयोग है; जो एक तरह से शान्ति का कारण है। आत्मा गुण नही, क्रिया नही, कल्पना से कल्पित वस्तु नही, अभाव-रूप पदार्थ नही, तथा सायोगिक पदार्थ नही, अपितु वह साक्षात् भावरूप अमूर्त, अविनाशी पदार्थ है, इस प्रकार विधि-निषेधरूप से प्रमाण रूप मे (गतानुगतिका से नही) आत्मा का विधिवत् स्वीकार करना भी शान्ति का कारण है।

---

1 देखिये आगमों मे विधि-निषेधक विभिन्न पाठ-

(अ) अप्पणा सच्चमेसेज्जा मित्तिं भूएहिं कप्पए'-उत्तराध्ययन

(आ) कोहं माणं च लोभं च मायं च पाववड्ढणं।
वमे चत्तारि दोसा उ, इच्छंतो हियमप्पणो।।-दशवैकालिक

(इ) अप्पा चेव दमेयव्वो, अप्पा हु खलु दुद्दमो।
अप्पा दंतो सुही होई अस्सिं लोए परत्थ य।। -उत्तराध्ययन

(ई) 'न लोगस्सेसणं चरे'- आचारांग

(उ) सुयाणि य अहिज्जिता, तओ झाइज्ज एगओ। -उत्तराध्ययन

आगामी गाथाओ मे आध्यात्मिक शान्ति की प्राप्ति के लिए विविध उपाय बताए है–

दुष्टजनसंगति परिहरे, भजे सुगुरुसन्तान रे।
जोग सामर्थ्य चित्तभाव जे, धरे मुगतिनिदान रे।।
शान्ति.।।8।।

अर्थ–**आत्मशान्ति में विघ्न डालने वाले मिथ्याग्रही, अभिनिवेशी, मिथ्याभाषी, मिथ्यादृष्टि, निर्दय आदि दुष्ट विचार-आचार से दूषित लोगों अथवा मिथ्यात्व, कषाय, विषयसक्ति, दोषों का संसर्ग छोड़ कर निष्पक्ष यानी आत्मार्थी गुरु अथवा उनके निश्राय में रहे हुए शिष्यों की संगति करे। इस प्रकार जो मुमुक्षु मुक्ति (शान्ति) के कारणरूप सामर्थ्ययोग (आत्मवीर्य) को चित्त में भावोल्लासपूर्वक (या आत्मा के उच्चस्वभावर्पूक) धारण करता है, वह मोक्षसिद्धि शान्तिलाभ प्राप्त करता है।**

भाष्य–दुष्ट-संगतिवर्जन शान्ति के लिए जरूरी

मुमुक्षु और शान्तिस्वरूपप्राप्ति के इच्छुक व्यक्ति को दुराग्रही, दुष्टस्वभावी एव वितण्डावादी[1] दुर्जन लोगो की सोहबत से दूर रहना चाहिए, क्योकि 'ससर्गजा दोषगुणा भवन्ति' इस न्याय से हल्की एव नीच प्रकृति के लोगो के साथ रहने से लाभ के बजाय हानि ही अधिक होती है। उनके दोष सद्गुणी आत्मार्थी साधक मे आने सम्भव है। क्रूर कदाग्रही आदि दुष्टो या दोषो की सगति से मन मे सक्लेश पैदा होता है, अशान्ति और बेचैनी बढती है।

सुगुरु-सन्तान की सेवा में रहे

अगर सगति करनी ही हो तो सद्गुरु (निःस्पृह, अनासक्त, त्यागी एव आत्मार्थी गुरु) की सेवा मे रहे। ऐसा करने से आत्मविकास की सुन्दर प्रेरणा मिलेगी, आत्मकल्याण का उपदेश मिलेगा, कषाय-रुचि और विषयाशक्ति मन्द होगी। अगर वे सद्गुरु महापुरुषो की शिष्य परम्परा के होगे तो ब्रह्मचर्य के उत्तम सस्कारो से ओतप्रोत[2] गुरुकुल मे रह कर उन्होने अपना जीवन-निर्माण किया होगा, इससे भव्य, जिज्ञासु को शान्ति की प्राप्ति अनायास ही होगी। मतलब यह

---

1 कहा भी है–

खुड्डेहिं सह संसग्गि, हासं कीडं च वज्जए;' –उत्तरा. अ.1

2 बसे गुरुकुले निच्चं (सदा गुरु के निकट निवास करे)–उत्तरा 1, अ 1

है कि कुसग का त्याग और सुसग का आश्रय लिया जाय, जिससे शास्त्रयोग प्राप्त हो, सिद्ध और सफल हो।

सामर्थ्य-योग का धारण : शान्ति का कारण

इसी प्रकार शान्तिवाञ्छुक साधक ऊपर चढता-चढता सामर्थ्य-योग चित्त मे धारण करे, जो मुक्ति का प्रबल कारण है। सामर्थ्ययोग का अर्थ है– आत्मा में इतनी शक्ति (सामर्थ्य) प्रगट करे, जिससे अप्रमत्त साधक हो कर आत्मा में असख्यकाल से निहित विषयकषायादि दुष्ट भावो को छोडे। यही कारण है कि सामर्थ्ययोग उच्च गुणस्थानो मे प्राप्त होता है। इसके मुख्यतया दो भेद–धर्मसंन्याससामर्थ्य और योगसंन्याससामर्थ्य योग। 7वा गुणस्थान छोडने से 8वां गुणस्थान प्राप्त होने पर धर्मसन्यास-सामर्थ्ययोग आता है, जिसमे सातवें गुणस्थान तक करने के बाह्य धर्मानुष्ठान छोड देने होते है, जबकि योगसंन्याससामर्थ्ययोग मे 13वे गुणस्थान का अन्तर्मुहूर्त काल बाकी रहता है, तब मन-वचन-काया के निरोध करने की क्रियाशुरू होती है। वहाँ से ठेठ शैलेशीकरण के अन्तिम समय तक की अवस्था होती है। अथवा यहाँ 'योगसामर्थ्य' शब्द भी हो तो उसका अर्थ होता है–मन, वचन, काया के योगो पर काबू करना या इन तीनो का सामर्थ्य बताना। अपने संयोग, सामर्थ्य, उत्साह और आरोग्य को देख कर साधक जितना हो सकता है, उतना आत्मशक्ति प्रगट करने मे तत्पर होता है।

योगसामर्थ्य का एक अर्थ यह भी है कि मुमुक्षु साधक अपने मन को व्यर्थ के अनिष्ट चिन्तन मे, वचन को वृथा विवाद मे, निन्दा-चुगली करने मे तथा काया को व्यर्थ की चेष्टाओ या फिजूल कामो मे अथवा दूसरो के साथ

---

1 कहा भी है–

बलं थामं च पेहाए सद्धामारुग्गमप्पणो।
खित्तं कालं च विन्नाय तहप्पाणं निउरंजण।– दश अ 8
जोगं च समणधम्मम्मि जुंजे अणलसो ध्रुवं।
जुत्तो अ समणधम्मम्मि अट्ठं लहइ अणुत्तरं।। –दश अ. 8

साधक अपना बल, उत्साह, श्रद्धा, आरोग्य, क्षेत्र और काल देखकर अपनी आत्मा को साधना मे जुटा दे। साधक आलस्यरहित हो कर सदा श्रमण धर्म मे अपने योगो को लगाए। श्रमणधर्म मे लगे हुए साधक की आत्मा अवश्य ही अनुत्तर सुख (शान्ति) रूप अर्थ (लक्ष्य) को प्राप्त करती है।

लडाई-झगडे मे लगा कर शुद्ध आत्म-चिन्तन मे, आत्मगुण की चर्चा मे, अथवा परमात्म-गुणानुवाद मे तथा दूसरो की सेवाशुश्रूषा, त्याग आदि में लगाए। अपने समय का दुरुपयोग न करे, अपितु समय का अच्छे विचार, वचन एव कार्य मे सदुपयोग अथवा स्वय को जो समय या साधक प्राप्त हुए है, उनका उपयोग अच्छी प्रवृत्ति मे करे। इस प्रकार के योगसामर्थ्य से स्वतः ही शान्ति प्राप्त होती है, आत्मा मे समाधि रहती है।

अगली दो गाथाओ मे महाशान्ति के लिए समतायोग के विषय मे कहते है–

मान-अपमान चित्त सम गणे, सम गणे कनक-पाषाण रे।
वन्दक-निन्दक समगणे, इस्यो होय तुं जाण रे।। शा.9।।
सर्व जगजन्तु ने सम गणे, सम गणे तृण-मणि भाव रे।
मुक्ति-संसार बेऊ सम गणे, मुणे भवजलनिधिनाव रे।। शा.10।।

अर्थ–शान्तिवाञ्छुक साधक का कोई सम्मान करे या अपमान करे, दोनों अवस्थाओं को मन में सम समझे (दोनों में सम रहे)। सोना और पत्थर दोनों को समान समझे तथा उसकी वन्दना (भक्ति-पूजा) करने वाले और उसकी निन्दा (आलोचना) करने वाले दोनों को सम समझे। जब तू इस प्रकार का समभावी हो जायगा, तभी समझना कि मैं मुमुक्षु या शान्ति पिपासु हूँ। जगत् के समस्त प्राणियों को आत्मद्रव्य की दृष्टि से समान समझे, तिनके और मणि दोनों को पुद्गल की दृष्टि से समान माने; मुक्ति (कर्मों से मुक्ति) में निवास हो या संसार में, प्रतिबुद्ध (वीतराग) भाग से दोनों को समान समझे, इस प्रकार की समतारूप शान्तिवृत्ति को वह साधक संसारसमुद्र तरने के लिए नौका समझे ।

भाष्य–**समतायोग : महाशान्ति का कारण**

पूर्वगाथाओ मे बताये हुए शान्ति के उपायो से आगे की भूमिका के रूप मे श्रीआनन्दघनजी समतायोग बताते है, जो शास्त्रयोग, ज्ञानयोग, क्रियायोग और सामर्थ्ययोग से भी उच्चकथा का है। क्योकि[1] शास्त्र का ज्ञान तो समता की ओर दिशासूचन ही कर सकता है, वह समता के सागर में ठेठ दूर तक नहीं

1 अध्यात्मसार मे कहा है–

दिङ्मात्रदर्शने शास्त्रव्यापार स्यान्न दूरगः।
अस्याः स्वानुभावः पारं सामर्थ्याख्योऽवगाहते।।28।।

ले जा सकता; मगर सामर्थ्ययोग नामक स्वानुभव समतासागर के सामने वाले किनारे तक आत्मा को पहुँचा सकता है, बशर्ते कि समता रूप नौका पर आत्मा आरुढ हो जाय। बहिरात्मभाव का त्याग करके अन्तरात्मा जब देश-सर्वविरति की भूमिका से आगे निर्विकल्पदशा की उच्चभूमिका (सातवॉ गुणस्थान) पर पहुँच जाता है, तब वह इस प्रकार का समता योग प्राप्त करता है। इस प्रकार का सामर्थ्ययोगी धर्मसन्यस्त होने से परम तृप्त हो कर परम निश्चय मे स्थित हो जाता है। वह रत्नत्रयी का आत्मा के साथ अद्वैत-अभेद करके केवल आत्मद्रव्यमय स्वानुभवमय पर्याय दृष्टिरूप विकल्प से रहित निर्विकल्प ध्यानस्थ समाधिस्थ-कूटस्थ) बन जाता है।[1] वह आत्मस्वभाव का ज्ञाता, आत्मरमणकर्ता आत्मार्थी पुरुष जब सामर्थ्ययोग के बल से समता मे प्रवेश करता है, तब यदि कोई गुणग्राहकतावश कल्याणकारी, धर्मदेव, ज्ञानी इत्यादि शब्दो द्वारा उसकी प्रशंसा करता है, उसका सत्कारसम्मान करता है अथवा कोई द्वेष या पूर्वाग्रहवश उसका अपमान, तिरस्कार या निन्दा करता है, कोई उसका विरोध करता है तो कोई समर्थन; वह दोनो स्थितियो मे हर्ष-शोक या तोष-रोष नहीं करता, अपितु दोनो को पौद्‌गलिकभाव मान कर समता और आत्मशान्ति मे स्थिर रहता है। आत्मार्थी पुरुष तो केवल आत्मगुण मे ही रमण करता है, वह महानिर्जरा करता रहता है, वह जानता है कि सम्मान या अपमान से मेरे आत्मगुण मे कोई वृद्धि या हानि होने वाली नहीं है। इसलिए किसी के द्वारा वन्दन या सम्मान करने से वह प्रसन्न या तुष्ट नही होता।[2] तथैव किसी के द्वारा निन्दा या अपमान करने से वह खिन्न या रुष्ट नहीं होता। अलबत्ता, गुणग्राहकतावश वन्दन, सम्मान, करने वाले को शुभ-पुण्य अवश्य मिलता है तथा अज्ञान या द्वेषवश अपमान, निन्दा या तिरस्कार करने वाले को अशुभ-

---

1 गीता मे कहा है—समत्वं योग उच्यते—समत्व को योग कहा जाता है,

2 जितात्मनः प्रशान्तस्य परमात्मा समाहितः ।
शीतोष्णसुखदु:खेषु तथा मानापमानयो ।।7।।
ज्ञान-विज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः ।
युक्त इत्युच्यते योगी, समलोष्ठाश्मकांचनः ।।8।।
सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु ।
साधुस्वपि चव पापेषु समबुद्धिर्विशिण्यते ।।9।।—भगवद्‌गीता अ 6

पाप लगता है। किन्तु ज्ञानी आत्मार्थी सम्मान या अपमान तथा वन्दना और निन्दा दोनो ही अवस्थाओ मे समतारस के सागर पर तैरता रहता है। क्योकि ऐसा समतायोगी सम्मान और अपमान के समय दानान्तराय का उदय और उपशम तथा वन्दक और निन्दक के समय उपभोगान्तराय का उदय उपशम समझ कर दोनो ही अवस्थाओ मे सतुलित रह सकता है। इस प्रकार से शान्ति रखना बहुत ही कठिन है। यह कहना जितना आसान है, उतना करना आसान नही । बडे-बडे साधक इसमे हार खा जाते है। यो कहने का दिखावा तो प्राय: सभी करते है, पर जब हजारो आदमी आकर उनकी प्रशसा करते है, तो मन गुदगुदाने लगता है और जब वे ही उनकी निन्दा करने लगते है तो मन तिलमिला उठता है। प्रशसा और निन्दा सुन कर वे एकरस नही कर सकते। भगवान् पार्श्वनाथ पर एक ओर कमठ मूसलधार पानी बरसाता है, दूसरी ओर धरणेन्द्र उन पर छत्र धारण करके उनकी सेवा मे हाजिर रहता है, ऐसी स्थिति मे दोनो को समान मानने की वृत्ति बनाना बहुत ही कठिन है। परन्तु परम शान्ति के लिए ऐसा अत्यन्त जरूरी है।

कई लोग ऐसा कह देते है कि जब वन्दक और निन्दक, सम्मानकर्ता और अपमानकर्ता दोनो को जो एक सरीखा मानते है, वे दोनो के साथ एक सरीखा व्यवहार क्यो नही करते? बात यह है कि वे तो अपनी आत्मा मे रमण करते है, ज्ञानी होने से वे दोनो के वस्तुस्वरूप को अवश्य जानते है, मगर दोनो मे से किसी के साथ बर्ताव नही करते, इसलिए समदर्शी के लिए तद्योग्य बर्ताव या व्यवहार करने का तो सवाल ही नही उठता। विद्याविनय सम्पन्न ब्राह्मण, गाय, हाथी, कुत्ता, श्वपाक (चाडाल), इन सबके प्रति पण्डित (ज्ञानी= समतायोगी) समदर्शी होते है, समवर्ती नही। कुत्ते को अपने आत्मतुल्य मान कर क्या ज्ञानीपुरुष कुत्ते के साथ भोजन करने बैठ जाएगा? या गाय को आत्मतुल्य मान कर उसका दूध[1] नही दूहेगा या पीएगा?

इसी प्रकार समतायोगी आत्मार्थी को ऋद्धि-सिद्धि आदि अनेक लब्धियाँ प्राप्त होना सम्भव है, वह परन्तु आत्मगुणलीन के लिए तो सोना और पत्थर

1 इसीलिए गीता मे कहा है–

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शूनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः।।

दोनों समान है। वह वस्तुस्वरूप जानता है कि सोना पृथ्वी का शुभविकार है और पत्थर पृथ्वी का अशुभ विकार है। अतः ज्ञानी की दृष्टि से दोनो एक सरीखे है।

इसी तरह तिनका, जो एक तुच्छ नगण्य चीज है, उससे घृणा नही होती, और रत्न, जो बहुमूल्य पदार्थ है, उसे देख कर मोह-ममता नही होती। ज्ञानी की दृष्टि मे दोनो पौद्गलिक है। इससे भी एक कदम और आगे बढती है कि वह शत्रु मित्र पर ही नही, ससार के समस्त प्राणियो के प्रति आत्मौपम्य भाव आत्मतुल्य दृष्टि रखता है। आत्मद्रव्य के एकत्व की दृष्टि से वह समस्त आत्माओं को अपनी आत्मा के समान एक सरीखे मानता है। इससे भी आगे बढकर आत्मार्थी ज्ञानीपुरुष समता की पराकाष्ठा पर पहुँच जाता है।[1] उसकी दृष्टि मे मुक्ति निवास या ससार निवास दोनो बराबर है। क्योकि वह समझता है कि मै मुक्ति मे रह कर जो स्वरूपरमण वहाँ रखूँगा वह स्वरूपरमण यहाँ (ससार मे) रह कर भी रखूँगा। इसलिए मेरे लिए कोई फर्क नही पडता–मुक्ति और ससार का। साधक कई बार मुक्ति के लिए उतावला हो उठता है, कई कच्चे साधक तो सासारिक पद-प्रतिष्ठा, सम्मान-सत्कार एव बढिया खानपान एवं विषयसुखो में प्रलुब्ध हो कर मुक्ति की साधना छोड कर ससार निवास की कामना करने लगते है। परन्तु समतायोगी साधक को ज्ञानदशा मे रहना है, इसलिए वह न तो शीघ्र मुक्तिप्राप्ति की अभिलाषा करता है और न ही ससार प्राप्ति की इच्छा करता है, क्योकि इच्छा, काक्षा, अभिलाषा और लालसा–ये सब मोहनीयकर्म जनित है। इसलिए वह किसी भी प्रकार की इच्छा, वासना या अभिलाषा, यहाँ तक कि मोक्ष की इच्छा को भी त्यात्य समझता है। ज्ञानी आत्मा ससार समुद्र पार करने हेतु समता को नौका मान कर मोक्ष-सिद्धस्वरूप (शुद्धात्मस्वरूप) प्राप्त करने का सतत् पुरुषार्थ करता है। उसके लिए व्यवहारदृष्टि से तप, सयम, स्वाध्याय, ध्यान आदि का आलम्बन लेता है। इसलिए शास्त्र

---

1 निममो निरहंकारो नि संगो चत्तगारवो।
समो य सव्वभूएसु तसेसु थावरेसु य।
लाभालाभे सुहे दुक्खे जीविए मरणे तहा।
समो निंदापसंसासु तहा माणावमाणओ।।–उत्तराध्ययन. 28

मे कहा है[1]–षट्काय के रक्षक, परमशान्त महर्षि पूर्वकर्मो का सयम और तप से क्षय करके, समस्त दु खो को क्षीण करने के लिए आत्मभावरमण का पुरुषार्थ करते है। इस प्रकार आत्मसिद्धि प्राप्त करके वे अनादि-अनन्त शान्तिस्वरूप को प्राप्त कर लेते है।

इस प्रकार का समतायोगी जब पराकाष्ठा पर पहुँच जाता है तो उसकी सर्वस्व स्वभावनिष्ठा आत्मा मे ही परिनिष्ठित हो जाती है। आत्मा के सिवाय उसके समक्ष कोई भी द्रव्य नही रहता, कोई भी विकल्प नही रहता, [2] एक मात्र आत्मा, आत्मैकत्व, उसके समक्ष रहता है, इसी बात को आगामी गाथा मे बताते है–

आपणो आतमभाव जे, एक चेतनाऽऽधार रे।
अवर सवि साथ संयोगथी, एह निज परिकर सार रे।।
शान्ति.।।11।।

अर्थ–**अपना (स्वयं का) सक्रिय शुद्ध आत्मभाव (आत्मत्व) ही शुद्ध चैतन्यस्वरूप की प्राप्ति का आधार है। आत्मा के सिवाय सभी अनात्म (कर्म आदि) पदार्थ आत्मा के साथ संयोग सम्बन्ध से जुड़े हुए हैं। वास्तव में आत्मा का चेतना, ज्ञान, दर्शन, चारित्र, सुख आदि ही निजपरिकर (अपना आत्मसम्बन्धी परिवार) है, वही सारभूत एवं शाश्वत है, साथ में आने वाला है।**

भाष्य–**शुद्ध आत्मभाव ही परमशान्तिरूप है**

शुद्ध आत्मा अमूर्त और निराकार होने से मनुष्य अपने आस-पास के दृश्यमान जगत्-शरीर, स्वजन, सम्बन्धी, मित्र, परिवार, समाज, सम्प्रदाय मकान, धन, धान्य आदि को अपना मान कर उनसे ममत्व करता है और इष्ट-अनिष्ट के वियोग-सयोगो मे दु खी और अशान्त हो जाता है। परन्तु उसे यह पता नही है कि ये सब पदार्थ परभाव है, इनसे ममत्वसम्बन्ध बाधने से अशान्ति

1 खवित्ता पुव्वकम्माइं संजमेण तवेण य।
सिद्धिमग्गमणुपत्ता ताइणो परिणिव्वुडा।। –दशवैकालिक अ 3
(सव्वदुक्खपहीणटा पक्कमंति महेसिणो) –उत्तरा अ 28

2 एगे आया–ठाणांग सूत्र 'आया समाइए आया सामाइयस्स अट्ठे' –भगवतीसूत्र एक आत्मा है। जगत् मे समस्त प्राणियो की एक सरीखी आत्मा है। आत्मा ही समय-सामायिक है। सामायिक द्वारा प्राप्तव्य अर्थ है।

ही बढती है। स्वचेतनाधारक आत्मत्व अथवा चैतन्यगुण का आधारभूत आत्मद्रव्य का आत्मभाव ही परमशान्तिरूप है। इसी बात को स्पष्ट करने के लिए श्री आनन्दघनजी कहते हैं–**'आपणो आतमभाव जे...'** इसका तात्पर्य यह है कि आत्मा ने विभावदशा मे अज्ञानदशा से औदारिक, वैक्रिय, आहारक, तैजस और कार्माण आदि शरीर धारण किये है। इसी प्रकार शरीर से संलग्न बाल्य, यौवन, बुढापा, रूप, कान्ति, नाम, आकार आदि तथा शरीर से सम्बन्धित एव शरीर के उपभोग मे आने वाले अन्न, जल, धन, मणि, माणिक्य, सोना-चादी, मकान, दूकान आदि एव माता-पिता, भाई-भगिनी, पत्नी, पुत्र आदि परिवार, समाज, राष्ट्र, सम्प्रदाय, नोकर-चाकर आदि सब संयोगो से उत्पन्न या प्राप्त है। इसी प्रकार काम, क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, रति आदि और अष्टकर्म की मूल प्रकृति आदि सब अनात्म पदार्थ है; ये सब सयोगजन्य है। इनके सयोग से आत्मा को पूर्ण शान्ति न तो हुई, न होगी और न ही होती है।

सामायिक पाठ मे बताया गया है–

संयोगतो दु:खमनन्तभेदं यतोऽश्नुते जन्मवने शरीरी।
ततस्त्रिधाऽसौ परिवर्जनीयो यियासुना निर्वृत्तिमात्मनीनाम्।।

अर्थात्–जन्मरूपी वन मे आत्मा सयोग के कारण अनन्त प्रकार के दु ख भोगता है। इसलिए अपनी परमशान्ति प्राप्त करने के अभिलाषी आत्मा को मन-वचन-काया तीनो से सयोग का त्याग करना चाहिए।

अतः पूर्णशान्ति के लिए आत्मा के साथ इस दृश्यमान जगत् का सयोग छोडना अनिवार्य है। उसे छोडे बिना वास्तविक एव स्थायी शान्ति की सम्भादना नही है। अतः पूर्ण शान्ति के इच्छुक मुमुक्षु के लिए अपना चेतनात्मक आत्मभाव ही आधार है। आत्मा का परिवार चेतना, ज्ञान, दर्शन आदि आत्म-गुणो को ही समझो, अन्य कोई परिवार आत्मा का नही है। आचाराग सूत्र मे बताया है–**'अप्पा तुममेव तुमं मित्तं किं बहिया मित्तमिच्छसि?'** अर्थात् हे आत्मन्! तू ही तेरा मित्र है। बाहर के मित्र की अपेक्षा क्यो रखता है? वास्तव मे बाहर का परिवार तो आकस्मिक सयोगजन्य है, इस जन्म या इस शरीर को लेकर है। उसे तो एक दिन छोड कर चलना होगा, अतः आत्मा या आत्मगुण

ही एकमात्र आत्मा का परिवार है।[1] आत्मा ही आत्मा का नाथ है, आत्मा ही आत्मा का मित्र और शत्रु है, आत्मा का आत्मा से ही उद्धार करे किन्तु उसका पतन न करे। इसी आत्मैकत्वभावना को लेकर चलने से पूर्ण शान्ति का साक्षात्कार साधक के जीवन मे हो सकता है। दशवैकालिक सूत्र मे कहा है– 'शरीरादि के साथ सम्बन्ध को त्याज्य समझ कर छोडने वाले साधक को शाश्वत शान्ति का स्थान मोक्षपद प्राप्त होता है।[2]

इस प्रकार शान्ति के उत्तरोत्तर क्रमशः उत्कृष्ट उपाय एव सोपान बताकर अब उपसहार करते है–

प्रभुमुखथी एम सांभली, कहे आतमराम रे।
ताहरे दरिसणै निस्तर्यो, मुज सिधां सवि काम रे।।
शान्ति.।। 12।।

अर्थ–**वीतराग प्रभु 'शान्तिनाथ' के मुख से निःसृत वाणी सुन कर मेरा आत्माराम (आत्मरूपी बगीचे में विहरण करने वाला) कहता है कि आपके शान्तिरूप प्रभु के दर्शन-स्वरूप पा कर मेरा संसार-सागर से निस्तार हो चुका है और मेरे सभी कार्य सिद्ध हो गए हैं।**

भाष्य–**परमात्मा के प्रति कृतज्ञता-प्रकाश**

श्री आनन्दघनजी ने शान्ति प्राप्त करने के विविध उपाय जो श्रीशान्तिनाथ, प्रभु के द्वारा प्राप्त हुए, उनका उल्लेख अब तक की गाथाओ मे किया। किन्तु अब वे आत्माराम की ओर से उल्लासपूर्वक कृतज्ञतप्रकाशन करते है– **'ताहरे दरिसणे...'**

वास्तव मे पिछली कुल 9 गाथाओ मे अतिसक्षेप मे श्रीआनन्दघनजी ने आध्यात्मिक दृष्टि से शान्तिस्वरूप और शान्ति के उपायो पर प्रकाश डाल कर कमाल कर दिखाया! आध्यात्मिक शान्ति के विषय मे शास्त्रो मे बहुत ही विस्तार से कहा गया है, जैसा कि वे स्वय उल्लेख करते है, परन्तु उन बातो

---

1 अत्ता हि अतनो नाथो धम्मपद।
अप्पामित्तममित्तं च दुप्पट्ठिओ सुप्पट्ठिओ।
उद्धरेदात्मनाऽऽत्मानं नात्मानमवसादयेत् आत्मैवात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मन।। –भगवद्गीता

2 तं देहवासं असुइं असासयं सया चए निचहि अट्ठिअप्पा।
छिंदित्तु जाई-मरणस्स बंधणं, उवेइ भिक्खू अपुणागमं गई।।

का सार लेकर बहुत ही संक्षेप मे कहना रचनाकार की अत्यन्त कुशलता का परिचायक है। यह तो श्रोता पर निर्भर है कि वह सक्षेप मे कथितबात को विश्लेपणपूर्वक ब्यौरेवार समझे।

जिज्ञासु साधक का यह कर्त्तव्य है जब उसकी उलझने, सुलझ जाय, मन मे उठते हुए विविध प्रश्नो का समाधान प्राप्त हो जाय, अन्तर मे ज्ञान का प्रकाश जगमगा उठे, बुद्धि को तृप्ति और सतुष्टि हो जाय तो आह्लादपूर्वक वक्ता के प्रति कृतज्ञता प्रकट करे। इसी दृष्टि से श्रीआनन्दघनजी शान्ति साधक आत्माओ की ओर से कृतज्ञता, विनम्रता एव भक्ति प्रदर्शित करते है।

शान्तिप्रभु के सिद्धान्त से अविरुद्ध वाणी

प्रश्न हो सकता है कि यहाँ तो श्री शान्तिनाथ प्रभु ने कोई बात अपने मुख से कही नही, फिर यह कैसे कहा गया कि **'प्रभुमुख थी एम सांभली......'** इसका समाधान यह है कि जैनशास्त्रो की रचना के विषय मे एक सिद्धान्त है– कि [1]अर्थ (मूलवचन) के रूप मे पहले अर्हन्त भगवान् तीर्थकर देशना या उपदेश देते है। फिर गणधर उसे सूत्र का रूप देते है, उस भगवदुक्त वाणी का व्यवस्थित सकलन करते है। इस दृष्टि से हम यह दावे के साथ कह सकते है कि यहाँ शान्ति कि विषय में जो कुछ भी बाते कही गई है, वे तीर्थकर के वचनो से कहीं भी विरुद्ध नही है। हाँ, यह बात जरूर है कि तीर्थकर भगवान् की वाणी विविधसूत्रो मे यत्र-तत्र बिखरी हुई मिलती है। परन्तु परमात्मवाणी सिद्धान्त से अविरुद्ध है; और उन्ही के मुख से नि सृत वचन है। यही कारण है कि इन्हे सुन कर आत्माराम अत्यन्त भावुकतावश हो कर शान्तिनाथ प्रभु के प्रति आभार प्रकट करता है। क्योकि उसे वह अलभ्य लाभ मिला है, जो सैकडो जन्मो मे भी नही मिल सकता।

शान्तिनाथ प्रभु की शान्ति के दर्शन से निस्तार

पहला आभारवचन आत्मा मे रमण करने वाला आत्मार्थी एव शान्त्यर्थी यह प्रगट करता है कि शान्तिनाथ प्रभो! आप के मन मे ही कोई जादू है, जिससे मेरी आत्मा (भावान्त करण) मे शान्ति के विविध उपाय स्फुरित हुए। मेरी बुद्धि आपको शान्तिस्वरूप का सम्यग्दर्शन पा कर तृप्त हो उठी। मेरी आत्मा वर्षो से शान्ति के सम्बन्ध मे मिथ्यादर्शन से ग्रस्त थी, सासारिक पदार्थो

---

1 'अत्थं भासइ अरहा, सुत्तं गुंत्थइ गणहरा'

या विविध कामनाओ की पूर्ति मे ही शान्ति की इतिश्री मानती आ रही थी, परन्तु वह कल्पित शान्ति मिथ्या, क्षणिक और आभासमात्र निकली। उससे अशान्ति ही बढी। किन्तु अब आपने जो आध्यात्मिक शान्ति के सूत्र दिये है, उनसे मुझे कही धोखा होने वाला नही। ये शान्ति के ठोस एव स्थायी उपाय है। अत शान्तिनाथप्ररूपित शान्तिदर्शन पा कर मै वास्तव मे ससारसागर मे तर गया समझो। जब किसी कठिन कार्य का सही उपाय मिल जाता है, तो आधा कार्य तो वही हो जाता है, फिर तो बस सक्रिय होने की देर होती है कि चट से काम बन जाता है। यही बात यहॉ आध्यात्मिक शान्ति के विषय मे है। शान्ति के जो नुस्खे बताये है, उनसे अब चटपट कार्य हो सकता है, सिर्फ शान्ति के उपाय के लिए जुटने की देर है। शान्तिदर्शन हो जाना भी बहुत दुष्कर कार्य था, वह अत्यन्त आसान हो गया, इसलिए एक बहुत ही पेचीदा प्रश्न हल हो गया।

शान्ति दर्शन से कार्यसिद्धि

दूसरा अमूल्य लाभ शान्तिनाथ प्रभु के चरण से वह हुआ कि अशान्ति के कारण पहले सारे किये कराये काम बिगड जाते थे। कार्य बनने मे देर लगती है, बिगडने मे नही। जितने भी सासारिक या तथाकथित शान्तिवादी मिलते थे, या मिले, वे सब ऊपर-ऊपर से शान्ति का रास्ता बता देते थे, जो आगे चल कर बद हो जाता। क्योकि उस तथाकथित मार्ग मे अनेक कठिनाइयॉ, विघ्न, अडचने और सासारिक स्वार्थ आ कर अड जाते और वे शान्ति को चौपट कर देते, लेकिन प्रभु द्वारा उक्त शान्ति का मार्ग ठोस, निर्विध्न, स्थायी और अद्वितीय है। इसलिए अब मुझे इतनी तसल्ली हो चुकी है कि जो काम कई वर्षो में क्या, कई जन्मो मे नही हो पाए, वे आपसे शान्तिमार्ग सुन कर सिद्ध हो गए। एक अटपटा प्रश्न हल हो जाने से कई कार्य हो जाते है, इसी प्रकार एक बडी उलझन मिट जाने से मेरे सभी कार्य सिद्ध हो गए। मै कृतकृत्य हो गया। मै निहाल हो गया। यह सब भक्ति की भाषा मे निकाले हुए हर्षोद्‌गार हैं। इसी कारण **'ताहरे दरिसणे निस्तर्यो, मुझ सिध्यां सवि काम रे'** इन दोनो वाक्यो मे भविष्यकालीन प्रयोग के बदले भूतकालीन प्रयोग हुए है। मै संसार-सागर से पार हो जाऊंगा और मेरे सब काम सिद्ध हागे–ये ही उन दोनो के उपचार से अर्थ ह।

पहले आत्मभाव को ही एकमात्र आधार मान कर महाशान्ति का एक मात्र कारण उसी को ही मानना, उसी मे रमण करना और उसी के गुणो को प्रगट करना बताया है, जब साधक ने इस बात को हृदयगम कर लिया

निश्चयदृष्टि से एकमात्र शुद्ध आत्मा ही आराध्य रहा, यह याद आते ही अत्यन्त प्रसन्नता से वह झूम उठा और अगली गाथा मे उसकी वाणी फूट पडी–

अहो अहो हुं मुज ने कहूँ, नमो मुज नमो मुज रे।
अमित फल दान दातारनी, जेहने भेंट थई तुजरे।।

शान्ति.।। 13।।

_अर्थ_–ओहो! मेरे अन्तर्हृदय में शान्ति का अपूर्वमंत्र–'आत्माराधन' जम गया, अतः अब मैं अपनी अन्तरआत्मा से कहता हूँ, मुझ आत्मा को नमस्कार है, मुझे नमस्कार है, जिसे आप सरीखे असीम फल (शाश्वत शान्तिरूप फल) के दाता से भेंट हुई।

_भाष्य_–आत्मा को आत्मा के द्वारा नमन

जब मनुष्य को किसी अलभ्य या दुर्लभ वस्तु के लिए जगह-जगह भटकना पडता है या जगह-जगह खुशामदी या जैसे-तैसे व्यक्ति को वन्दन-नमन करना पडता है, तो उसकी आत्मा का स्वत्व, तेज या स्वबल मर जाता है, किन्तु अब जबकि आपके शान्तिदर्शन को पा कर मै धन्य हो उठा। मेरे जन्म-जन्म के बंधन कट गए और मुझे आश्चर्य हुआ कि मुझे विश्व का सर्वोत्तम बहुमूल्य आत्मशान्तिरूपी धन आत्मा मे ही असीम-फलदाता आप सरीखे समर्थ दानी प्रभु से मिल गया, तब मै अपने आपको ही नमन करता हूँ, जिसकी आप जैसे परम शक्तिमान पुरुष से भेट हुई। वास्तव मे देखा जाय तो निमित्त अच्छे से अच्छा, ऊँचे से ऊँचा मिल जाने पर भी उपादान (स्वय की आत्मा) यदि शुद्ध या अनुकूल न हो तो कोई भी कार्य नहीं हो सकता। शान्तिस्वरूप प्ररूपक शान्तिनाथ तीर्थकर से होते हुए भी जिज्ञासु, विनीत, कृतज्ञ और स्वरूपग्राहक आत्मा न हो तो यथेष्ट फल नही मिलता। इसी दृष्टि से यहाँ अपनी आत्मा को प्रफुल्लित हो कर साधुवाद दिया है कि उसने शान्तिस्वरूप की चाबी पाली। इसलिए वह स्वयं को ही नमन करता है, भाग्यशाली एव कृतकृत्य मानता है। अपरिमित फल वास्तव मे मोक्षरूप फल है, ससार से मुक्ति है, जिसे पा कर कुछ भी पाना बाकी नही रहता। वास्तव मे परमात्मा कोई मोक्षरूप फल उठा कर हाथ मे नहीं देते। वे तो मार्ग बता देते है, उपादान को शुद्ध और ग्रहणशील रखना अपनी आत्मा का काम है, यह बडा

कठिनतम काम है। इसी प्रकार साधक आत्मा को ही नमन करता है।[1] परमात्मा के साथ आत्मा का इस प्रकार का द्वैत व्यवहारयनय में होता है। निश्चयनय की दृष्टि से स्वय आत्मा स्वय को समझने वाले अन्तरात्मा को ही नमस्करणीय समझ कर बार-बार नमन करता है। वास्तव मे तत्त्वज्ञ की दृष्टि मे आत्मा-परमात्मा दोनो अभिन्न होने से दोनो ही नमस्करणीय है। जब आत्मा मे बहिरात्मभाव मिट कर अन्तरात्मभाव प्रगट होता है, तब स्व–आत्मा पर ही निम्नोक्तरूप से षट्कारक घटित हो सकते है–

1 **कर्त्ता**-मेरे आत्मगुणो का कर्त्ता मै ही हूँ।

2 **कर्म**-मेरे स्वाभाविक गुण-कर्म की क्रिया (कर्म) का कर्त्ता मै ही हूँ और वैभाविक कर्म का विच्छेद करने की क्रिया (कर्म) का कर्त्ता भी मै हूँ।

3 **करण**-मेरे स्वाभाविक ज्ञानदर्शन-चारित्र द्वारा मेरे से ही आत्मस्वरूप प्रगट होता है।

4 **सम्प्रदान**-मेरे लिए मेरा आत्मा ही नमस्करणीय है, मै अपने को ही नमस्कार करता हूँ।

5 **अपादान**-मेरे विभाव से मेरे स्वभाव में आने वाला मै ही हूँ।

6 **अधिकरण**-मेरी आत्मा के अत्यन्त गुणो का स्थान (आधार) मेरा आत्मा ही है।

इस गाथा मे 'तुज' और 'मुज' आत्मा है, वे दोनो अन्तरात्मा को अन्तरात्मा के सम्बोधन के सूचक है।

अब उपसंहार करते हुए श्रीआनन्दघनजी अपनी बात कहते है–

शान्तिस्वरूप संक्षेपथी, कह्यो निज-पर-रूप रे।
आगममांहे विस्तार घणो, कह्यो शान्तिजिन-भूप रे।
शान्ति.।। 14।।

_अर्थ_–इस स्तुति में आध्यात्मिक शान्ति का स्वरूप अत्यन्त संक्षेप में बताया है। निज (प्रवचनकर्त्ता) और पर (श्रोता) दोनों ही भव्यप्राणियों के स्वभाव (रूप) को लेकर अथवा पररूप दोनों की अपेक्षा से शान्तिजिनराज और तीर्थकरों द्वारा उपदिष्ट आगमों में इसका शान्तिस्वरूप बहुत विस्तार से वर्णन किया है।

1 अहमेव मयाऽऽराध्य– यह भी कहा है।

भाष्य—शान्तिस्वरूप वर्णन : स्वपररूप से

इस स्तुति में श्रीआनन्दघनजी स्वयं अपनी ओर से कहते हैं कि शान्तिनाथ भगवान् द्वारा स्व और पर दोनों अपेक्षा से प्ररूपित शान्ति का स्वरूप मैंने अंकित किया है। अथवा निज=आत्मा का रूप, पर=परमात्मा के रूप मे अथवा आत्म-रूप की प्राप्ति के लिए तथा पर-परमात्मस्वरूप की प्राप्ति के लिए शान्ति का स्वरूप कहा है। यद्यपि आगमो में बहुत ही विस्तृतरूप से शान्तिजिन-राज एवं अन्य तीर्थकरो द्वारा आत्म-वर्णन है। इसमें दो बाते विशेषरूप से फलित होती है। एक तो यह है कि वाचनाभेद होते हुए भी तीर्थकरों के आगम (सिद्धान्त-ज्ञान) समान होते है, क्योकि प्रत्येक की सर्वज्ञता एक सरीखी होने से सर्वज्ञो का ज्ञान एक सरीखा होता है। जगत् मे मोक्षमार्ग अनादि सिद्ध होने से प्रत्येक तीर्थकर इसी का उपदेश देते है। इसलिए विभिन्न तीर्थकरो के तीर्थ अलग-अलग होते हुए भी उन्हे सर्व तीर्थकरो के कहने में कोई आपत्ति नहीं। इसके अनुसार वर्तमान आगम को श्रीशान्तिनाथ प्रभु के द्वारा उपदिष्ट कहने में कोई विरोध नहीं है। दूसरी बात यह है कि यद्यपि शान्ति स्वरूप का वर्णन आगमो में बहुत ही विस्तृतरूप में किया है, यहाँ तो संक्षिप्त वर्णन है। जिन्हें अत्यन्त विस्तार से पढना हो, इस विषय मे पूर्णरूप से अवगाहन करना हो, उन्हे मूल आगम-ग्रथ पढने चाहिए और वहां से शान्ति का विवरण प्राप्त करके उसे समझना, फिर तदनुसार आचरण करना आवश्यक है।

इस स्तुति मे सक्षेप मे शान्तिस्वरूप बताने का उद्देश्य यह है कि सक्षेप मे कथन से मनुष्य को उसमे रुचि रहती है और विस्तार से पढने की रुचि भी जागती है, जिससे ज्ञानवृद्धि हो सकती है।

श्रीआनन्दघनजी इस गाथा के अन्त में अपनी नम्रता प्रगट करते हुए करते है कि—**'कह्यो श्रीशान्तिजिनभूप रे'** अर्थात्— मै इस शान्ति का स्वरूप अल्पज्ञ होने के कारण पूर्णतया कहने मे समर्थ नही हूँ, यह जो शान्ति-स्वरूप का वर्णन किया है, उसे आगमो मे शान्तिजिनेश्वर ने कहा है।

शान्तिनाथ भगवान् ने अपने आत्मस्वरूप का साक्षात्कार किया, जिनागम मे उनका अनेक प्रकार से वर्णन है। जैसा उनका शान्तस्वरूप है, वैसा ही प्रत्येक (शुद्ध) आत्मा का है। श्रीशान्तिनाथ प्रभु ने ममताभाव का त्याग करके समताभाव को ग्रहण किया और तपसंयम की निरवद्य करणी या स्वरूपरमण के सातत्य से शान्तस्वरूप प्राप्त किया, उसी मार्ग का आगमो मे

विस्तृत वर्णन है। इस स्तुति मे तो उसका बहुत ही सक्षिप्त कथन है।

शान्तिस्वरूप भलीभाति जान कर उस पर चिन्तन करके आचरण करना चाहिए, अन्यथा अनुभवहीन शुष्क ज्ञान से मति-भ्रम पैदा होगा, विसगति एव उलझन होगी। इस दृष्टि से श्रीआनन्दघनजी अन्तिम गाथा मे कहते है–

शान्तिस्वरूप एम भावशे, धरी शुद्ध प्रणिधान रे।
'आनन्दघनपद' पामशे ते लहेशे बहुमान रे।।
शान्ति.।। 15।।

***अर्थ*–इस (पूर्वोक्त) प्रकार से शुद्ध प्रणिधानपूर्वक जो शान्ति के स्वरूप पर विचार करेगा; यानी उसके पालन से भावित करेगा, संस्कारों में सुदृढ़रूप से जमा लेगा, वह आनन्दघन (परमात्मा) का पद प्राप्त करेगा और जगत् में बहुत ही बहुमान प्राप्त करेगा।**

***भाष्य*–शान्ति पर मनन, प्रणिधान और आचरण का सुफल : परमात्मपद**

इस गाथा मे शान्तिस्वरूप के पूर्वगाथाओ मे बताए हुए उपायो और सिद्धान्तो पर मनन, चिन्तन और शुद्ध प्रणिधान के लिए जोर दिया गया है। चूँकि बहुत–से लोग किसी महत्त्वपूर्ण बात या सिद्धान्त को पहले तो सुनते ही नही, सुनते भी है तो सूने मन से सुनते है, जिससे उस सुने हुए पर वे कोई चिन्तन मनन नही कर सकते। जब चिन्तन-मनन नही होता है तो उस बात मे कई प्रकार की भ्रान्तियाँ और गलतफहमियाँ होती है। यह भलीभाति श्रवण-मनन न करने का ही परिणाम है कि इतने-इतने सम्प्रदाय खडे हो गए। फिर उनकी अपनी-अपनी मान्यताओ की खीचातान, शब्दो की अपने-अपने दृष्टिकोण से अर्थघटना, कदाग्रह और अन्त मे संघर्ष! इसीलिए श्रीआनन्दघनजी शान्तिस्वरूप के श्रवण या पठन के बाद उस पर भावन चिन्तन-मनन, चर्चा विचारणा और अन्त मे उसके अर्थ को हृदयंगम करने पर जोर दे रहे है। क्योंकि धर्माचरण की कोई भी बात तभी गले उतरती है, या सस्कारो मे बद्धमूल हो सकती है, जब उस पर मन-वचन-काया की एकाग्रता (प्रणिधान) पूर्वक चिन्तन-मनन-निदिध्यासन किया जाय। तभी उसका यथेष्ट फल आ सकता है। यही कारण है कि श्रीआनन्दघनजी शान्तिस्वरूप (पूर्वोक्त प्रकार से) पूर्वक चि -न करके संस्कारो मे भावित करने का कहते है; वह भी शुद्धप्र
शुद्धप्रणिधान के तीन अर्थ होते हैं–1 शुद्ध आलम्बन मे मन-व
एकाग्रता, 2 मोक्ष, मोक्ष-साधक, मोक्ष के साधन उपादेय हैं

सर्वहेय है, ऐसा निश्चय, 3 स्वयं आध्यात्मिक विकास की जिस भूमिका पर चल रहा हो, उस भूमिका में रह कर उसके योग्य कर्त्तव्यो का एकाग्रतापूर्वक पालन करना। शान्ति के परमदर्शन की बात कोई उपन्यास या कहानी नही है कि झटपट पढी और फैंक दी, इसे तो एकाग्रतापूर्वक पढ-सुन कर चिन्तन-मननपूर्वक जीवन में पचाने और उतारने से ही लाभ होगा। वह लाभ कोई सांसारिक लाभ नही, अपितु आनन्दघनरूप परमात्मपद की प्राप्ति ओर जगद्वन्दनीयता-पूजनीयता, तीर्थंकर के समान उत्कृष्ट सम्माननीय पद से सम्मानित होने की सम्भावना भी है।

सारांश–इस स्तुति में श्री आनन्दघनजी ने वीतराग श्रीशान्तिनाथप्रभु से शान्ति-स्वरूप के ज्ञान एवं उसकी पहिचान के बारे मे अपनी जिज्ञासा प्रस्तुत करके प्रभु के श्रीमुख से (नि.सृत आगमों द्वारा) संक्षेप मे शान्ति का समग्र दर्शन 9 गाथाओ मे प्राप्त किया है। बल्कि यो कहना चाहिये कि उनकी अन्तरात्मा मे शान्ति का समग्र स्वरूपदर्शन अन्तः स्फुरित हुआ है। अन्त मे, कृतज्ञताप्रकाशन के बाद उन्होंने परमात्मा के साथ अद्वैत स्थापित करके परमशान्ति के अधिष्ठान स्वात्मा को नमस्कार किया है और अन्तिम गाथा मे उसका फल बताया है–शान्तिस्वरूपदर्शन पर चिन्तन-मनन, शुद्धप्रणिधान करके जो उसे संस्कारबद्ध कर लेगा, उसे परमात्मपद-प्राप्ति तथा बहुपूज्यता प्राप्ति होगी।

***

17. श्रीकुंथुनाथजिनस्तुति–

मनोविजय के लिए परमात्मा से प्रार्थना

(तर्ज–अबर देहु मुरारि! हमारो   राग–गुर्जरी व रामकली)

कुंथुजिन! मनडुं किम ही न बाझे हो, कुंथुजिन, मनडुं।
जिम-जिम जतन करीने राखुं , तिम-तिम अलगुं भाजे हो।।
कुंथु.।।1।।

अर्थ–**हे कुंथुनाथ (17वें तीर्थकर) परमात्मन्! मेरा मन किसी भी उपाय से वश (काबू) में नहीं आता, एकाग्र हो कर एक विषय में नहीं लगता। इसे ज्यों-ज्यों प्रयत्न करके इसे वश में रखने जाता हूँ, त्यों-त्यों यह दूर अतिदूर भागता है।**

भाष्य–**प्रभु के समक्ष मनोवशीकरण का निवेदन**

पूर्वस्तुति मे शान्ति के स्वरूप और उपायो का सागोपाग विश्लेषण किया गया था, परन्तु इस प्रकार की आध्यात्मिक शान्ति के पथ पर पैर रखते ही तथा शान्ति के लिए समता, स्वरूपरमणता एव आत्मा-परमात्मा की अद्वैत-साधना करने के लिए प्रवृत्त होते ही मन सामने आ कर विघ्नरूप मे खडा है। मन किसी भी तरह शान्ति पूर्वोक्त उपायो को अजमाने नहीं देता। शान्ति प्राप्ति के लिए आवश्यक आत्मबल को मन निर्बल कर देता है, जिसके कारण साधक कषाय, मोह, एव प्रमाद के वश हो जाता है। साधना के उच्च शिखर पर उसका पहुँचना बहुत ही कठिन हो जाता है।

साधक जब-जब आत्मस्वरूपलक्ष्यी साधना करने लगता है, तब-तब मन उसमे विघ्न डाल देता है। वह इन्द्रियो को साधक बनने के बजाय बाधक बनने को यानी उलटी दिशा मे प्रेरित कर देता है। इसी कारण साधक कई बार स्वय भी भ्रम मे पड जाता है या दूसरो को भ्रम मे डाल देता है कि वह आत्मा-परमात्मा की इतनी बातें करता है, शास्त्रो का अहर्निश स्वाध्याय करता है, विविध क्रियाएँ करता है, ज्ञान बघारता है और यह समझ लेता है कि मैं महान् पुरुष हो गया, जनता भी उसे महापुरुष समझने लगती हैं। किन्तु बाहर से

महापुरुष दिखाई देता हुआ भी मन से वह बहुत ही निकृष्ट दशा मे होता है। उसका मन इतने निम्नस्तर का हो जाता है कि कोई कल्पना भी नही कर सकता कि वह इतना कषायविष्ट या इन्द्रिय-विषयासक्त कैसे हो गया?

वस्तुतः बात यह है कि पहले गुणस्थानक में रहा हुआ चरमावर्ती यानी सम्यक्त्व प्राप्त करने की भूमिका तक पहुँचा हुआ जीव, अन्तिम यथाप्रवृत्तिकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण इन तीन करणो को करता है और इससे प्रथम समय में उपशमसम्यक्त्व प्राप्त करता है। उसके बाद सातवे गुणस्थान के अन्त करने पर चारित्रमोहनीय कर्म के उपशम करने की शुरूआत होती है। इस प्रकार उपशम करते-करते वह दशवे गुणस्थान के सिरे तक आ कर तमाम मोहनीय कर्मो के उपशान्त हो जाते ही उपशान्तमोह नामक 11वे गुणस्थान को प्राप्त करता है। जो प्रबल (मनोबल) आत्मा होती है, वह तो 9वे गुणस्थान से सीधी क्षपकश्रेणी प्रारम्भ करती है, जो सीधे केवल ज्ञान प्राप्त करके (क्षीणमोह नामक 12वे गुणस्थान पर पहुँच कर) सीधी मोक्ष पहुँच जाती है, परन्तु निर्बल (मनोबल मे मन्द) आत्मा उपशमश्रेणी का प्रारम्भ करती है तो वह 11वे गुणस्थान तक पहुँच कर अवश्य ही नीचे गिर जाती है क्योकि 11वे गुणस्थान में मोहनीय कर्म का उपशम होता है, क्षय नही। उपशम अन्तर्मुहूर्त से अधिक नही टिकता। कारण यह है कि नीचे दबा हुआ मल (मोहनीय कर्मजनित कषायादि) ऊपर आए बिना रहता नही। उसके ऊपर (उदय मे) आते ही आत्मा आध्यात्मिक भूमिका पर से क्रमशः नीचे (छठे, पाचवे, चौथे गुणस्थान पर अथवा चौथे से दूसरे हो कर पहले तक आ जाती है, अथवा दशवें, नौवे यो क्रमश नीचे) उतर जाती है। इस प्रकार उच्चभूमिका से नीची भूमिका तक पतन होने मे मुख्य कारण तो मोहनीय कर्मो का उदय है। इसमे व्यवहारदृष्टि से जीव जब तक ससारी है, तब तक अशुद्ध आत्मा (योग-आत्मा और कषायात्मा) मानी जाती है, योग और कषाय की क्रिया से मोहनीय कर्मबन्धन होता है। खासतौर से मोहनीयकर्म का उदय अपना प्रभाव मन द्वारा ही (व्यवहारदृष्टि से) बताता है। इसलिए मन को सर्वप्रथम साध लिया जाय जो ये सभी सध सकते है; इसी दृष्टि से कुथुनाथ परमात्मा (जो मनोविजेता हो गए थे, इसलिए रागद्वेष, कषाय या तज्जनित बन्ध का नामोनिशान नहीं था) के समक्ष श्रीआनन्दघनजी प्रार्थना करते है-''प्रभो! यह मन इतना चचल है कि यह किसी भी तरह से पकड मे नहीं आता। मेरी तमाम की-कराई वर्षो की साधना को क्षणभर मे

मटियामेट कर देता है। मन में शान्ति हो, तभी आत्मा में शान्ति हो सकती है।[1] मन पर विजय हो, तभी इन्द्रियों पर विजय हो सकती है; इन्द्रियाँ जीत लेने पर कर्मो का क्षय हो सकता है और कर्म नष्ट होते ही मोक्ष प्राप्त हो सकता है, आत्मा परमात्मा बन कर सिद्ध परमात्मा के साथ एकरूप हो सकती है, परमशान्ति के धाम मे आत्मा पहुँच सकती है। इसलिए मन का वशीकरण करना अत्यन्त आवश्यक है। परन्तु यह वश में ही नहीं होता, किसी भी तरह।" सैद्धान्तिक दृष्टि से विचार करते हैं तो आत्मा के पतन का मुख्य कारण मोहनीय कर्मो का उदय होता है। परन्तु कर्मबन्धन का कारण कषाय है। उस कषाय की चाबी मन के हाथ में है। [2]कषायों या विषयों के साथ मन का योग होने पर जीव कर्मयोग्य पुद्गलों का ग्रहण करता है, तभी कर्मबन्ध होता हैं। इसीलिए कहा है कि मन चाहे तो कषायो से आत्मा को बांध भी सकता है और मन चाहे तो कषायो से मुक्त भी करा (छुडा) सकता है।

प्रसन्नचन्द्र राजर्षि बाहर से बडे भद्र, शान्त, उत्तम और ध्यानक्रिया में लीन उच्च साधक दिखाई देते थे, किन्तु उनके मन में जो भयंकर युद्ध का दौर चल रहा था, जिसके कारण विकट मोहनीयकर्मो के बन्धन का चलचित्र तेजी से घूम रहा था और जिस समय सम्राट् श्रेणिक बिम्बसार ने भगवान् महावीर से उस उत्तम मुनिवर की आयु के बार मे प्रश्न किया और उसका उत्तर जब उन्हे सातवी नरक मे गमन का मिला तो वह आश्चर्य मे डूब गया। लेकिन प्रसन्नचन्द्र राजर्षि के मनोभावो की धारा एकदम बदली और कुछ ही क्षणों मे उसे सर्वार्थसिद्ध देवलोक मे पहुॅचने योग्य बना दिया और एक ही झटके मे उनके मन ने तमाम घातीकर्मो का क्षय करके केवलज्ञान पा लिया। यह सारे ही बन्ध और मोक्ष का खेल मन-मदारी के हाथ मे था। इसलिए मन ही कर्मो के नाटक का सूत्रधार बनता है।[3]

---

1 कहा भी है–

'मणमरणेदिय मरणं, इंदियमरणे मरंति कम्माइं।
कम्ममरणेण मोक्खो, तम्हा य मणं वशीकरणं।।'

2. 'सकषायत्वाज्जीवः कर्मणो योग्यान् पुद्गलानादत्ते, स बन्धः।'

3. 'मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः'

मन, वचन और काया का योग कपायजन्य पुत्र है; योगों और कषायो (पिता-पुत्र) की क्रिया से कर्मबन्धन होता है और कपाय से योग व योग से कषाय, इस प्रकार कर्मजनित संसारचक्र चलता रहता है। इसी कारण जीव को जन्म, मरण, रोग, शोक, भय, आधि-व्याधि आदि कष्ट सहने पडते हैं।

मन, वचन और काया इन तीनों योगों को मुमुक्षु शिष्य जब गुरुचरणों में समर्पित कर देता है, तभी उसे विशेष लाभ होता है। लेकिन मुमुक्षु शिष्य जब देखता है कि उसका काययोग तो उसके कहे अनुसार (जबरन भी) गुरुसेवा मे लग जाता है, वचनयोग को भी वह जबरन गुरुस्तुति में लगा सकता है, लेकिन मन इतना भोला और निर्बल नही है। वह मुमुक्षु की आत्मा (चेतन) की आज्ञा का पालन नही करता। बडा चंचल है, नटखट है, इधर से उधर कूदफाद करता रहता है। वह साधक को बारबार हैरान कर बैठता है। वह शरीर और वचन की तरह गुरु या भगवान् के चरणो मे झटपट नही लग जाता और जब तक मन परमात्मा में लीन या स्वरूपसाधना मे एकाग्र नहीं हो जाता, तब तक किसी भी व्यावहारिक या पारमार्थिक कार्य की सिद्धि नहीं होती। इसीलिए कर्मयोगी श्रीकृष्ण के समक्ष एक दिन अर्जुन जैसे साधक को भी कहना पडा–"हे कृष्ण मन अत्यन्त चचल है। जबर्दस्त है, बलवान है और सुदृढ है। उसका निग्रह जो मै वायु की तरह अतिदुष्कर मानता हूँ।[1]"

इसीलिए श्रीआनन्दघनजी जैसे मुमुक्षु साधक को कहना पडा– **'मनडुं किम ही न बाझे हो, कुंथुंजिन..'** प्रभो! इस मन को मैने देव-गुरु-धर्म तीनो मे लगाना चाहा, आपके तथा निजात्मा के स्वरूप मे भी लगाना चाहा, लेकिन किसी भी तरह न लगा। मैने इसे स्वाध्याय, शास्त्रचितन, जप, ध्यान आदि साधना में लगाना चाहा, पर यह इनमे किसी तरह भी एकाग्र न हो सका। इसी प्रकार मैने धर्माचरण, विविध स्तुतियो विविध धर्मक्रियाओ वगैरह मे लगाने का प्रयत्न किया, लेकिन वहॉ से भी वह उखड गया, मौन रह कर या कायागुप्ति से शरीर को कायोत्सर्ग से निश्चेष्ट बना कर भी देख लिया, मगर वहॉ से भी मन भाग छूटा। मेरे सामने एक ओर गुरु का आदेश था, पर दूसरी ओर मन किसी

---

1 'चंचलं हि मनः कृष्ण ! प्रमाथि बलवद् दृढम्।
तस्याऽहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम्।। –भगवद्गीता

अर्थ—रात हो, चाहे दिन हो, मनुष्यों की वस्ती में हो, निर्जन वीरान प्रदेश में हो, आकाश में हो या पाताल में, यह सर्वत्र चला जाता है। जैसे सांप जिस किसी भी भक्ष्य को खाता है, उसे उसमें किसी प्रकार का स्वाद नहीं आता। उसका मुँह फीका का फीका (थोथा) ही रहता है, वैसे ही मन सब जगह भटकता है फिर भी उसके हाथ में कुछ नहीं आता। अथवा सांप जब किसी को खाता है तो उसका मुँह तो थोथा का थोथा ही रहता है, उसके मुँह पर खून का एक भी दाग नहीं लगता, मन भी 'सांप खाए और मुंह थोथा' की कहावत की तरह अतृप्त है, वह भोगों से तृप्त नहीं होता।

भाष्य—मन की दौड़धूप

इस गाथा मे श्रीआनन्दघनजी मन की सर्वत्र अबाधगति का अनुभव बताते हुए प्रभु से निवेदन करते है कि प्रभो! आप सोचते होगे—मन दिन-दिन मे ही विचरण करता होगा, रात को तो विश्राम ले लेता होगा, यह ऐसा पाजी है कि रात और दिन का विचार किये बिना भटकता रहता है। इसके लिए तो अधेरी रात और उजला दिन एक सरीखे है। कुछ लोग दिनभर के काम से थक कर रात को विश्राम ले लेते है, पर मन रात को भी विश्राम नहीं लेता। यह तो किसी समय शान्त व स्थिर होकर बैठता ही नही। यह तो मुझे यही छोड कर किसी भी बस्ती या उजडे निर्जन प्रदेश मे भी घूम आता है। क्षणभर मे अमेरिका मे और दूसरे ही क्षण सहारा के रेगिस्तान मे घूम आता है। एक पल मे यह आकाश मे (स्वर्ग मे) चला जाता है, दूसरे ही पल पाताल (अधोलोक=नरक) मे दौड जाता है। अथवा लक्षणा से यह अर्थ भी हो सकता है कि क्षणभर मे यह उच्चविचार पर आरूढ हो जाता है और दूसरे ही क्षण यह नीच-से-नीच विचार करने पर उतारू हो जाता है। मैने मन की गति का अनुभव कर लिया कि यह रात मे, दिन मे, बस्ती मे, जगल मे, स्वर्ग मे या पाताल मे, पर्वतशिखरो पर या जल-स्थल-नभ मे सर्वत्र बेखटके भटकता रहता है। इसके लिए कही रोक-टोक या किसी भी देश, काल, क्षेत्र या पात्र का प्रतिबन्ध नही है। यह सर्वत्र अप्रतिबद्धविहारी है। यह अपनी कल्पना के बल से नाना प्रकार की भोगोपभोग-सामग्री मे ललचाता रहता है। इसे किसी भी जगह तृप्ति हुई हो, ऐसा मैने देखा-जाना नही। दुनिया मे एक कहावत प्रचलित है कि किसी मनुष्य को सांप ने काट खाया। तब साप ने कहा कि ''मुझे क्यो बदनाम करते हो? मेरा मुँह तो जैसा का तैसा खाली है, जरा-सा भी खून का दाग नही लगा।'' अथवा कई

लोग कहते है–'जिसे सॉप काट खाता है, वह मर जाता है; परन्तु साप को तो उससे कुछ भी लाभ नही हुआ। इससे उसकी भूख तो मिटती ही नही। उसका मुँह तो खाली का खाली रहता है। मेरा मन भी सॉप के मुख के जैसा था, वैसा ही अतृप्त रहता है। भोगो से कथमपि तृप्त नहीं होता। न वह आपके चरणो मे लगता है। इतनी जगहो पर यह दौड-धूप करता है, मगर किसी भी तरह तृप्त नही होता, भूखा का भूखा रहता है।'

बडे-बडे मुमुक्षुजनो एव तपस्वियो के काबू मे भी मन आता नही, मेरी तो बिसात ही क्या है? इसी बात को बताने के लिए अगली गाथा मे कहते है–

मुगतितणा अभिलाषी तपिया, ज्ञान ने ध्यान-अभ्यासे।
वैरीडुं कांई एहवुं चिंते, नाखे अबले पासे; हो।।
कुंथु.।।3।।

अर्थ–**मुक्ति के अभिलाषी, तपस्वी, ज्ञानाभ्यास में रत साधक, ध्यान के अभ्यासी ये सब उच्च साधक अपनी-अपनी साधना में प्रवृत्त होने के लिए जब प्रयत्नशील होते हैं तो यह महाशत्रु कुछ ऐसा हल्का (नीच) चिन्तन करता है कि उन्हें चारो खाने चित्त कर देता है।**

भाष्य–बड़े-बड़े साधकों को मन पछाड़ देता है

मोक्षमार्ग के अभिलाषी जन अपने मन को एकाग्र करने के लिए शास्त्रो का स्वाध्याय, अध्ययन एव चिन्तन-मनन, चर्चा विचारणा करते है। कई लोग भगवान् के भजन मे समय निकालने का अभ्यास करते है। ऐसे ज्ञानी और ध्यानी, ज्ञान मे तथा ध्यान मे मशगूल रहने का प्रयत्न करते है, वे समझते है कि ज्ञान-ध्यान में तथा ईश्वरप्रणिधान मे, भजन-पूजन मे तथा तपश्चरण मे समय व्यतीत हो जाय तो अच्छा। परन्तु वे ज्यो ही ज्ञान, ध्यान, तपजप का अभ्यास करने के लिए प्रवृत्त होते है, त्यो ही मनरूपी दुश्मन कुछ ऐसा विचार करने लगता है कि बडे-बडे ज्ञानी और ध्यानीजनो को चारो खाने चित्त कर देता है। ज्ञानी ज्ञान मे मस्त होने लगते है, या ध्यानी ध्यान मे एकाग्र होने लगते हैं, तभी वैरी मन चाहे जहॉ चला जाता है, ज्ञानियो और ध्यानियो के हाल–बेहाल कर डालता है। ऐसे ही मोक्षमार्ग के अभ्यासी और तपस्वी साधको को मनरूपी शत्रु बचाता नहीं, प्रत्युत उन्हे पछाड देता है और इधर–उधर भटका करता भगवन्! आप जानते हैं कि मेरा मन ऐसा है। दूसरो को तो उनका मन ५८

है सो भटकाता है। मुझे भी अपना मन बहुत ही उल्टे मार्ग मे भटकाता है। जहाँ सुख की गन्ध भी न हो, वहाँ यह भटका करता है। मै चाहता हूँ कि मुझे मोक्ष मिले, इसके लिए मै ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप की साधना करता हूँ, पूर्व संचित पापो को भस्म करने के लिए निर्जरा के लिए–मै ज्ञान, ध्यान और योग का अभ्यास करता हूँ, बाह्य-आभ्यन्तर तप भी करता हूँ, परन्तु मेरे से ही बना हुआ, मेरे साथ ही रहने वाला मेरा मन कुछ ऐसा खराब चिन्तन करने लगता है, जिससे मेरा सन्मार्ग छूट जाता है। मै दुःखमय ससार मे धकेल दिया जाता हूँ। मै तो मन को अच्छा मानता हूँ, मगर यह तो मेरा बैरी बन गया है। मानों, मेरे साथ बैर लेने की इच्छा से ही मुझे चतुर्गतिरूप संसार में भटकाया करता है। यह तो मैने अपने साथ मन की शत्रुता की बात कही, परन्तु यह किसी के साथ रियायत नहीं करता, बडे-बडे ज्ञानियो, ध्यानियो और तपस्वी साधको के साथ भी यह ऊपर कहे अनुसार दुश्मनी करता है।

प्रभो! ऐसे मन को कैसे वश मे करूँ? कैसे उसे आप मे एकाग्र करूँ? यही मै रह-रह कर विचार करता हूँ। अभी तो मै और अधिक वर्णन करके मन की कहानी बताऊँगा। मै सोचता था कि सामान्य साधको के काबू मे यह नही आता होगा, परन्तु यह तो विशिष्ट और उच्च साधको के भी काबू मे नही आता, इसी बात को श्रीआनन्दघनजी अगली गाथा मे बताते है–

आगम आगमधर ने हाथे, नावे किण विध आंकुं ।
किहां कणे जो हठ करी हटकुं, तो व्यालतणी पेरे वांकुं, हो।।
कुन्थु. ।। मनडुं.।।4।।

अर्थ–नाथ! यद्यपि पूर्व या आचारांगादि आगम-सूत्रग्रन्थ बड़े-बड़े आगमधरों (या पूर्वधारियों) के हाथ में है, तथापि यह मन किसी भी तरह से उनके अंकुश में नही आया। (पूर्वधारी या आगमधारी आगमादि सूत्र पढ़ कर बड़े आगमधार होते हैं, तथापि उन जैसों के हाथ में किसी भी तरह से यह मन नहीं आता, इसे कैसे अंकुश में लाऊं? अथवा मन की आंक-थाह किसी भी तरह नहीं मिलती) यदि मैं तप-जप आदि के स्थान पर आग्रह (हठ) करके इसे जबरन धकेल देता हूँ (या रोकता हूँ) (किसी समय हठ करके तान कर रखता हूँ) तो यह सर्प की तरह टेढ़ा हो कर निकल जाता है। (साँप की तरह वक्र हो जाता है, उलटा फल देता है, ठिकाने नहीं आता) ऐसा यह मेरा मन है।

भाष्य—आगमधरों के भी वश में मन नहीं आता

यद्यपि मन को वश में करने के लिए आगमो=आचारांग आदि 11 अंगों, औपपातिक आदि 12 उपांगों, उत्तराध्ययन आदि 4 मूलसूत्रों, दशाश्रुतस्कन्ध आदि 4 छेदसूत्रों, इनसे भी आगे बढकर 14 पूर्वो का अध्ययन आगमज्ञ मुनिवर एवं आचार्यादि साधक करते हैं, ऐसे बहुश्रुत विद्वान् आगमो मे मन का अधिकार पढ़ते हैं, उनके हाथ में विविध आगम (प्रवचन) हैं, फिर भी यह मन उनके भी (दशपूर्वधारियों तक के भी) अंकुश में नहीं आता। आगमधर आगमों में मन को वश में करने के अनेक उपाय पढते हैं, विविध उपाय वे अजमाते भी हैं, फिर भी यह मन उनके हाथ में नहीं आता। बड़े-बडे आगमधारी आगम (में मन का वर्णन) पढ़ कर भी इस मन की किसी भी तरह थाह नहीं पाते। अथवा आगमधारी पुरुष आगम लेकर मेरे पास में (हाथ-बगल में) बैठे हो, फिर भी मेरा मन अंकुश में नहीं आता। सामान्य व्यक्तियों की तो बात ही क्या, बडे-बड़े आगमधारी दशपूर्वधारी तक भी मन पर अंकुश नहीं लगा सकते, जबकि मन पर काबू करने के अनेक उपाय उनके हाथ मे होते है, उनके कण्ठस्थ भी होते हैं, तथापि मन उनके अंकुश (वश) मे नही आता। मैं इसे कह कह कर थक गया हूँ कि ऐसे आगमधारी पूज्य साधको की उपस्थिति मे तो हे मन! तू मेरे काबू में आ जा, परन्तु मेरा कहना नहीं मानता ग्यारह अंग के पाठक अनेक साधु-साध्वी तक भी मन को अकुश मे न रख सकने के कारण पतित हुए हैं। राजीमती साध्वी के रूपलावण्य को देख कर रथनेमि जैसे उच्च साधक का मन डांवाडोल हो गया था। वह संयम से भ्रष्ट होने को उद्यत हो गया था, किन्तु साध्वी राजीमती की युक्तिसंगत वाणी सुन कर वह पुनः यथा-पूर्वस्थिति में आया, परन्तु एक बार तो मन अंकुश से बाहर हो ही गया था। पूर्व-विद्या के धारक अनेक उच्च साधकों के मन ने भी [illegible] हैं। इतने-इतने आगमो के पाठ भी मन के निरंकुश हो जाने पर उनके काम नहीं आए, अंकुश करने में मददगार नही बने। आचार्य रत्नाकर ने आलोचना करते हुए अपने मन की बात खोल कर रख दी- "[1]चपलनेत्र वाली नारियों के मुख

1 लोलेक्षणावक्त्र-निरीक्षणेन, यो मानसे रागलवो विलग्नः।
न शुद्धसिद्धान्त पयोधिमध्ये, धौतोऽप्यगात् तारक! कारणं किं?॥
[illegible]

को देख कर मानस में राग को जो अंश लग गया, वह शुद्ध-सिद्धान्त (आगम) रूपी समुद्र मे धो लेने पर या अवगाहन करने पर भी नही गया; हे तारक प्रभो! क्या कारण है इसमें?" पण्डितराज जगन्नाथ जैसे उद्भट विद्वान् भी मन के आगे हार खा कर कहते है–"उपनिपदो का अमृतपान जी भर कर लिया, भगवद्गीता भी बुद्धि में जमा ली, तथापि वह चन्द्रवदना मेरे मानसरूपी सदन से नहीं निकलती।[1]" मतलब यह है कि हाथी पर अकुश लगा कर उसे वश मे करना सरल है। किन्तु मन पर विविध अकुश लगाने पर भी उसका वश मे होना कठिन है।

मन के साथी जबर्दस्ती करने पर भी छिटक जाता ह

कोई कह सकता है कि आसान तरीको से अगर मन वश मे न हो तो हठयोग या कठोर उपाय से जबरन उसे वश मे करना चाहिए। उसे जरा भी ढील नही देनी चाहिए। जरा-सा भी मन को पपोला कि वह सिर पर चढ जाता है, इसके उत्तर मे श्रीआनन्दघनजी कहते है–'**किहॉ कणे जो हटकरी हटकुं, तो व्यालतणी पेरे वांकुं**' अर्थात्–मन को हठाग्रहपूर्वक यदि किसी जप, तप, भजन, सामायिक, स्वाध्याय, ध्यान आदि उत्तम क्रियाओ मे रोक देता हूॅ या किसी समय उसे जबर्दस्ती खींचातानी करके काबू मे करने की कोशिश करता हूॅ, यानी मन के साथ जोर अजमाई करता हूॅ तो वह साप की तरह चट से टेढा हो कर सरक जाता है, अथवा जैसे दबाया हुआ सर्प हाथ से छटक कर टेढा-मेढा हो कर झटपट भाग जाता है, वैसे ही यह भी चट से भाग छूटता है अथवा पहले तो मेरा मन ही वक्र है, सर्प की तरह छेडने या उत्तेजित करके काबू मे रखना चाहूॅ तो यह और ज्यादा वक्र हो जाता है। कुत्ते की पूछ को कितने ही वर्षो तक तेल लगा कर सीधी करने का प्रयत्न करने पर भी वह टेढी की टेढी ही रहती है, वैसा ही हाल मन का है। जितना-जितना मै इसे एक स्थान पर स्थिर हो कर बैठने की बात कहता हूॅ, उतना-उतना तेजी से यह उद्दण्डता (वक्रता) करके भागने की कोशिश करता है। हर प्रयत्न का उलटा फल आता है, मन किसी तरह ठिकाने नहीं आता।

---

1 उपनिषदः परिपीता, गीताऽपि च हन्त मतिपथं नीता।
तदपि सा विधुवदना, नहि मानस सदनाद् बहिर्याति।।
—भामिनीविलास

भाष्य-मन की परस्पर विरोधी आश्चर्यजनक गतिविधि

पूर्वगाथा में मन के वशीकरण की बात बडे-बडे श्रुतधरो के लिए अशक्य बता कर यह शंका पैदा कर दी कि आखिर मन ऐसा कौन-सा पदार्थ है, जो वश में होना दुष्कर है। इसी बात को इस गाथा मे प्रस्तुत की गई है। मन की थाह पाना अत्यन्त कठिन कार्य है।

अगर मन को ठग, लुचा या धूर्त कहूँ तो उस पर यह सहसा आरोपण उचित न होगा, क्योकि स्थूल ऑखो से तो यह किसी को ठगता देखा नही गया, इसलिए इसे लुचा, लफंगा या ठग कैसे कहा जा सकता है? किसी को ऑखों से भलीभांति देखे बिना ही उस पर मिथ्या-आरोप लगाना नही, क्योकि खुल्ले रूप में तो सभी काम इन्द्रियॉ ही करती है, मन खुल्ले रूप में कोई काम करता देखा नहीं जाता। अतः मन को ठगाई करता प्रत्यक्ष न देख लूँ, तब तक इस पर झूठा इल्जाम कैसे लगाया जाय? यह ऐसी सिफ्त से पर्दे के पीछे काम करता है कि इसे ठग नहीं कहा जा सकता।

तब यह प्रश्न उठता है कि जब मन ठग नहीं है, तब इसे साहूकार कहना चाहिए; क्योकि ठग और साहूकार के बीच मे और कोई विकल्प नही है। इसके उत्तर मे कहते है-**शाहुकार पण नांहि**। यानी इस मन को साहूकार, ईमानदार सख्स भी नहीं कहा जा सकता। ईमानदार साहूकार तो इसे तब कहा जाय, जब यह प्रामाणिक साहूकार की तरह एक बात पर दृढ रहे। पर मन अपनी बात का धनी नही है। एक क्षण मे तो यह फूल के घोडे पर बैठ कर महाज्ञानी महात्मा बन जाता है और दूसरे ही क्षण अधम से अधम विकल्प कर बैठता है तथा जो साहूकार होता है, वह उलटे रास्ते मे या खतरनाक स्थिति मे पडे हुए को बचा लेता है, परन्तु मन के कारनामो को देखते हुए इसे ऐसा साहूकार नही कहा जा सकता। बेचारे चेतनराज के शुभ अध्यावसायरूप और श्रेष्ठ पुरुषो की सगति से पाये हुए जप-तप-ज्ञान-भक्ति-रूप खजाने को यह ठग। मन लूट लेता है या चौपट कर देता है। बेचारे जीव की पुण्यरूपी पूजी को यह मन सफाचट कर देता है। बताइए, ऐसी हालत मे विश्वासघात करने वाले तथा अदर ही अदर इस प्रकार की ठगी करने वाले मन को साहूकार कहने का साहस भी कैसे हो सकता है?

यो देखा जाय तो मन का स्थान हृदय (अन्तःकरण) मे है। दूसरी तरफ से देखे तो यह सारे शरीर मे व्यापक है। इन्द्रियो का स्थान तो निश्चित

रूप से तुम जान लेते मन दिखाई देता है। इन्द्रियाँ और मन के स्थान अलग-अलग होने के साथ इनके कार्य भी अलग-अलग हैं। इस तत्त्व पर विचार करते हुए तो मन को नायक तो नहीं कहा जा सकता; किन्तु जब हम देखते हैं कि मन धूर्त की तरह इन्द्रियों को उलटे रास्ते ले जाता है, विपरीत और अहितकर पथ की ओर प्रेरित करता है व गुमराह कर देता है। बड़े-बड़े साधकों को, तब इसे साहूकार की कोटि में भी नहीं गिना जा सकता।

तब यह सवाल होता है कि मन को किस कोटि में रखा जाय? इसका स्थान कहाँ माना जाय? इसी का समाधान श्री आनन्दघनजी करते हैं– **'सर्वमांहे ने सहुथी अलगुं'** आश्चर्य इस बात का है कि मन के लिए कोई खास विशेषण प्रयुक्त नहीं किया जा सकता। यह सब में है और सब से दूर भी रहता है। यह इन्द्रियों द्वारा सब काम करता है, इसलिए सबके सब में है और वैसे किसी में प्रत्यक्ष नहीं दिखाई देता। यही इसकी विचित्रता है। कई व्यक्ति ऐसे होते हैं कि उन्हें पूछे बगैर या उनके हुक्म के बिना एक पत्ता भी नहीं हिल सकता, परन्तु वे अपने आढ़तिये या एजेन्ट के द्वारा ऐसी सिफ्त से काम लेते है कि यह पता नहीं लगता कि अमुक काम उसने किया है। इसी प्रकार मेरा मन भी ऐसा ही युक्तिबाज है कि वह इन्द्रियों द्वारा सब काम करा लेता है, पर खुद अलग का अलग रहता है। नाम इन्द्रियों का होता है, काम होता है, सब मन का। अमुक वस्तु मीठी है या नहीं? अमुक पदार्थ दर्शनीय हैं या नहीं ? अमुक चीज कर्णप्रिय या सुगन्ध युक्त है या नहीं? इन सबका निर्णय मन करता है, पर काम सब इन्द्रियों के मारफत लेता है। इसीलिए मन को तत्त्वज्ञों ने **नो इन्द्रिय** कहा है। शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध आदि विषयो में मन सभी इन्द्रियो को प्रेरित करता है। जब इन्द्रियाँ शब्दादि कामभोगों का उपभोग करती है, तब मन उनके साथ मिल कर उनका अनुभव करता है। ज्यों ज्यों मन अनुकूल विषयो का अनुभव क्षणिक रसास्वाद लेता है, त्यों त्यों इन्द्रियों को अधिकाधिक प्रेरणा देता रहता है। यो इन्द्रियों के साथ मिल कर मन साधक को हैरान कर देता है। इसीलिए कहना कि मन सब में है, फिर भी सबसे दूर रहता है, ठीक है। आश्चर्य होता है कि मन सभी इन्द्रियों का नेता भी बना रहता है और सबसे अलग भी है यानी यह प्रत्येक इन्द्रिय में भाग लेता है, फिर भी सबसे अलग रहता है। इसलिए मन को क्या कहा जाय? किसके साथ कौन-से विशेषण का प्रयोग किया जाय? इसका भी कोई सगा नहीं पा

इसीलिए श्रीआनन्दघनजी प्रभु के दरबार में मन की शिकायत करते हुए अगली गाथा में कहते है–

> जे जे कहूॅ ते कान न धारे, आप मते रहे कालो।
> सुर-नर-पडितजन समजावे, समझे न मारी सालो हो।।
> कुंथुं.।। मनडुं.।।6।।

अर्थ–**मैं (किसी समय) जो जो (भक्ति, वैराग्य या परमात्मसाधना की) बातें कहता हूँ, उन्हें यह कान में ही नहीं पड़ने देता, सुनता ही नहीं और अपनी स्वच्छन्द बुद्धि से मतवाला (मस्त) बना रहता है। अथवा कुविकल्प करने से काला (मलिन-दूषित) बना रहता है। हे नाथ! इस मन को देवता, मनुष्य या पण्डितजन या विद्वान् और भक्तजन (अथवा देवों के पण्डित, मनुष्यों के पण्डित) समझाते हैं, पर मेरा साला (कुमतिरूपीस्त्री का भाई) कुछ समझता ही नहीं (अथवा महाक्रोधी मेरा मन समझता ही नहीं) मेरे सभी प्रयत्न निष्फल हो जाते हैं।**

***भाष्य*–प्रभु से मन की उद्धतता की शिकायत**

श्रीआनन्दघनजी ने मन की गतिविधि का रहस्य न समझने की बात कही थी। किन्तु जो ठग भी नही है और साहूकार भी नही है, वह सुधर भी सकता है, इस शंका का समाधान करते हुए श्रीआनन्दघनजी कहते है कि मन को सुधरने के लिए, उसे अपनी आदत बदलने के लिए जो-जो बाते भक्ति, ज्ञान, वैराग्य, जप, तप परमात्मपद-साधना या आत्मस्वरूप रमण आदि के सम्बन्ध मे कहता हूॅ या समझाता हूॅ, उसे वह सुनी-अनसुनी कर देता है, इस कान से सुन कर उस उस कान से निकाल देता है। शास्त्रों मे कहा है:- 'एकाग्रतारूप शुद्ध मन, वचन, और काया आदि कारण से (तीनो की एकता से) निश्चय ही परमात्मपद प्राप्त होता है और ये तीनो जब अशुद्ध बन जाते है, तब अवश्य ही दुर्गति भी प्राप्त होती है। ये बाते मन को समझा कर जब मै उसे शुद्ध, एकाग्र, परमात्मपद मे तन्मय बनने को कहता हूॅ, तब वह उन्हे एकदम ठुकरा देता है। जब मै उसे यह शिक्षा देता हूॅ कि तू मुझे सहायता कर, अपने दुर्विकल्प छोड दे और सुविकल्पो को स्थान दे, मुझे अपने साध्य मे स्थिर होने दे; परन्तु ऐसी बातो में तो वह जरा भी ध्यान नही देता, बल्कि सदा–सर्वदा से प्रचलित अपनी स्वछन्द-मति-प्रकृति (आदत) के अनुसार चलता है। उसके सामने हित की हजारो बाते कहता हूॅ, किन्तु वह अपने वज्रमय हठी स्वभाव को छोडता नहीं, अपने ही मत मे काला (कुविकल्पो से कलुषित) अथवा मस्त

(मदमत्त) या मुग्ध रहता है। वह अपना मनमाना करता है, मेरे अभिप्राय की जरा भी परवाह नही करता। इसे समझाना कोई बचो का खेल नही है। कोई कह सकता है कि साधारण आदमी मन की भाषा और प्रकृति न जानता हो, इस कारण मन शायद न समझता हो, किसी विद्वान् या देवता द्वारा समझाने पर कदाचित् माना जाय; इसी शंका का समाधान करते हुए श्रीआनन्दघनजी कहते है-**'सुर-नर पण्डित-जन समझावे, समझे न मारो सालो!'**[1] अर्थात् मन को मैने ही नहीं, बडे-बडे देवों ने, मनुष्यो ने, पण्डितों ने भक्तजनो ने, समझा कर देख लिया लेकिन यह मेरा साला समझता ही नही, इसको बडे-बडे आदमियो ने ठिकाने लाने का प्रयास किया, लेकिन यह किसी की भी नही मानता, नहीं सुनता। सभी इसे समझा-समझा कर थक गए।

यहॉ श्रीआनन्दघनजी ने 'साला' शब्द का प्रयोग किया है, वह भी विशिष्ट अर्थ का द्योतक है। जीवात्मा की दो स्त्रियॉ मानी गई है-एक सुमति और दूसरी कुमति। अथवा निश्चयदृष्टि से आत्मा की दो चेतनाएँ-स्त्री के रूप मे मानी गई है-शुद्धचेतना और अशुद्धचेतना। कुमति का भाई कुमन है, जो कुविकल्प से काले पापकर्म करने के कारण काला है। अथवा मन अशुद्धचेतना का भाई है। इस दृष्टि से मन जीवात्मा का साला हुआ। इसी कारण यहॉ उसका प्रयोग किया गया है। यहॉ साला शब्द का प्रयोग तिरस्कारसूचक है। बडे-बडे पण्डित, ज्ञानी, विद्वान्, भक्त और देव भी इसे समझाते है कि तू हठ मत कर, जीवात्मा के अनुकूल रह कर मोक्ष साधना मे सहयोगी बन, परन्तु कुमति स्त्री का भाई यह मन (साला) सारी समझाहट पर पानी फिरा देता है।

यहॉ फिर एक शंका होती है कि मन ऐसा कौन सा जवॉमर्द है, जो बडो-बडो को पानी पिला देता है, इसी शका को लेकर श्रीआनन्दघनजी अगली गाथा मे कहते है-

में जाण्युं ए लिंग नपुंसक, सकल मरदने ठेले।
बीजी बाते समरथ छे नर, एहने कोई न झेले; हो।।

कुंथुं.।। मनडुं.।। 7।।

अर्थ-मैंने तो समझा था कि मन नपुंसकलिंग (नामर्द) है, परन्तु यह तो सारे मर्दों को पीछे ठेल देता है! मनुष्य और सब बातों में समर्थ है, पर इस मन को

1 कहीं कहीं 'माहरो सालो' के बदले महारोसालो पाठ भी ।
इसका अर्थ होता है-महाक्रोधी।

समर्थ पुरुष भी पकड़ ही नहीं सकता।

भाष्य—**नपुंसक होते हुए मर्दों को मात कराने वाला मन**

पूर्वगाथा मे मन के आगे सभी हार खा जाते है, यह बात बताई थी, लेकिन श्रीआनन्दघनजी को फिर ख्याल आया कि मन दो संस्कृत और गुजराती दोनों भाषाओ मे नपुंसकलिग है, इसमे क्या ताकत होगी, नामर्द जो ठहरा! नपुंसक व्यक्ति सबसे गया बीता और कायर होता है, वह कोई भी साहस का काम नहीं कर सकता। न वह किसी मर्द से भिड सकता है! उसमे दमखम नही होता। वह तो एक ही धक्के मे गिर जाता है। इतना सब कुछ होते हुए भी आखिर मन नपुंसक है, इसलिए मर्दो को यों ही बदरघुडकी दे रहा होगा कि ''मैं यो कर दूगा, त्यो कर दूँगा।'' परन्तु जब इसकी ताकत का अनुभव किया तो मेरा अन्तर भी कह उठा—नपुंसकलिग मे इसका प्रयोग भले ही होता हो, परन्तु ताकत मे यह नपुसक नही है और न किसी मर्द से पीछे हटने वाला है, बडे-बडे ज्ञानियो, ध्यानियो तक को यह चेलेज देता है, बडे-बडे पुरुषो को यह बात की बात में छठी का दूध याद दिला देता है। चाहे जैसे बहादुर आदमी को मन मिनटों मे हरा सकता है। इसलिए मुझे मन की खासियत का अब पता लगा कि व्याकरण की दृष्टि से भले ही इसका प्रयोग नपुसकलिग मे होता हो, लेकिन यह नपुंसक किसी भी तरह नहीं है, यह मर्दो का भी मर्द है। मेरी जानकारी मन के बारे मे यथार्थ न थी, मेरा अनुमान गलत निकला। मै नासमझी से इसे कमजोर समझ रहा था, लेकिन अब समझ मे आया कि जिन वीरनरो ने बडे-बडे पहाडो से टक्कर ली, नदियो के प्रवाहो को हाथ से रोक लिये, कुश्ती मे बडे-बडे पहलवानो को हरा दिया, अकेले ने बडी से बडी शत्रुसेना को पराजित कर दिया, वे ही नरवीर बलिष्ठ मन के गुलाम बन गए। यह इतना जबर्दस्त है कि बडो-बडो की पकड मे नही आता। और सब बातों में समर्थ मनुष्य मन के आगे हार खा जाता है। यह किसी की गिरफ्त मे नही आता। कदाचित् थोडी देर के लिए कोई इसे बहला कर पकड भी ले तो भी यह झट छटक कर चला जाता है। क्रिकेट के खेल मे जैसे अमुक खिलाडियो के हाथ मे आया हुआ बॉल छटक जाता है, वैसे ही मन भी छटक कर दौड जाता है।

अतः हे भगवन्! जिन महापुरुषो ने मन को जीता है, उन्होने आपके बताये हुए मार्ग से ही जीता है, अथवा आपने जिन-जिन उपायो से मन को जीता था, उन्हीं उपायो से वे महापुरुष इस काले मन से मुक्त हुए है। इसीलिए

मै आप से पुकार-पुकार कर कहता हूँ कि मै इस मन को कैसे जीतूँ?

अतः श्रीआनन्दघनजी निराश हो कर अन्त मे अपने अनुभव का निचोड अगली गाथा मे अंकित करते है–

मन साध्युं तेणे सघलुं साध्युं, एह बात नहिं खोटी।
एम कहे साध्युं ते नवि मानुं, एक ही बात छे मोटी; हो.।।
कुंथुं.।। मनडुं.।।8।।

अर्थ–**जिसने मन को साध लिया, उसने सब कुछ साध लिया, विश्व में प्रचलित यह कहावत गलत नहीं है। यह एक अटल सत्य है। फिर भी मन को साधे बिना ही कोई यों दावा करे कि मैंने मन को साध लिया है; मैं उसकी बात मानने को तैयार नहीं। क्योंकि एक (मन को वश में करने की बात ही सबसे बड़ी दुर्गम) बात है।**

***भाष्य*–मन को साधने से समस्त साधनाएँ सफल**

दुनिया के सभी धर्म, सभी दर्शन, समस्त विचारधाराएँ समस्त मनोवैज्ञानिक, सकल मत, इस बात को एक स्वर मे स्वीकार करते है कि जिसने मन को साध लिया उसने सब कुछ साध लिया। इसीलिए एक विचारक ने कहा है–**'मनोविजेता जगतो विजेता'** जिसने मन को जीत लिया उसने सारे जगत् को जीत लिया। क्योकि मन को एकाग्र कर लेने पर सभी साधनाएँ आसान हो जाती है। सभी धर्मक्रियाएँ मन को वश कर लेने पर सीधी और आसान हो जाती है, उनमे जान आ जाती है, मन की एकाग्रता से बहुत बडी शक्ति प्राप्त हो जाती है। जिसने मन-रूपी भृजग को वश मे कर लिया, मानो परमात्मपद तो उसके सामने हाथ जोडे खडा है। अष्टसिद्धियाँ और नौ निधियाँ मन के विजेता के सामने बेरी बन कर खडी हो जाती है। व्रत, नियम, संयम, जप आदि सब मन पर विजय प्राप्त करते ही सिद्ध हो जाते है।

कोई कह सकता है कि मन को जीतने की क्या जरूरत है? उच्चक्रिया या तप करते जाओ, उसी से ही सब कुछ हो जायगा; परन्तु आध्यात्मिक जगत् मे ये बाते मिथ्या सिद्ध हो चुकी हैं। मनुष्य चाहे जितनी क्रिया करे ग्रीष्मऋतु मे भयकर आतापना ले, शीतऋतु मे ठंड सहन करे, कायक्लेश करे अथवा विविध प्रकार के तप या जप करे, मन पर काबू किये बिना ये सब नि[illegible]
चाहे जितने रजोहरण, मुखवस्त्रिका या अन्य वेष धारण कर ले, प[illegible]
वश मे नही किया तो ये सब निरर्थक है। उसी की साधना, या
होती है, जो मन को वश मे कर लेता है। मन को जीते विना

कष्टक्रियाएँ हॅ। इसलिए यह बात सत्य से परिपूर्ण है कि जिसने अपने मन को नियत्रण में कर लिया, उसने सब कुछ साध लिया। इसीलिए श्रीआनन्दघनजी कहते है–'एह बात नहिं खोटी।'

जगत् में मन को वश में करने की बात सबसे बड़ी है

कई लोग झूठमूठ दावा करते है कि 'मैंने अपना मन वश मे कर लिया है। परन्तु उन की कोरी बातो पर से सच नही माना जा सकता। यो तो कोई भी रास्ते चलता आदमी कह देगा–''अजी! मन को वश करने मे क्या धरा है? थोडी-सी योग क्रियाएँ करो, वह वश में हुआ ही पडा है।'' परन्तु इस दावे को सत्य नहीं माना जा सकता। क्योकि ऐसे दावेदार लोग एक ओर मन को वश मे करने का दावा करते है, दूसरी और कायक्रिया का फल भी चाहते है, फल के बिना बेचैन हो उठते है। इस प्रकार वे 'वदतो व्याघात' जैसी परस्पर विरोधी बात करके ही अपनी बात को मिथ्या सिद्ध करते है। यह उनका कोरा बकवास है। जिनकी रीति-नीति, आदेश, उपदेश सम्बन्धी प्रवृत्तियाँ प्रत्यक्ष राग-द्वेष से भरी दिखाई देती है, उनकी बात मे कोई सत्यता नही है। वास्तव मे जिन्होने मन को जीत लिया हो, वे अपने मुँह से कदापि नही कहते है कि 'मैने मन को वश में कर लिया है, मेरे में राग-द्वेष नहीं है।' मन को साध लेने वाले की तमाम प्रवृत्तियाँ जगत् के हित के लिए होती है।

अतः श्रीआनन्दघनजी अन्त मे एक ही निष्कर्ष पर पहुँचे है–'**एक ही बात छे मोटी**' संसार मे और सब बाते आसान है, मन को साधना ही सबसे दुष्कर, कठिन और दुर्गम है। अतः जगत् मे सबसे बडी बात मै मानता हूँ, वह एक ही है, वह है–मन को वश मे करना। इसी के लिए साधक का विशेष प्रयत्न होना चाहिए। यही कारण है कि श्रीआनन्दघनजी अब अपने मनोविजय के बारे मे ही प्रभु से प्रार्थना करते है–

मनडुं दुराराध्य में वश आण्युं, आगमथी मति आणुं।
'आनन्दघन' प्रभु माहरूं आणो, तो साचुं करी जाणुं हो.।।
कुंथु.।।मनडुं.।।9।।

अर्थ–ऐसे दुराराध्य (मुश्किल से अधीन किया जा सके, साधा जा सके, ऐसे) **मन को आप (प्रभु) ने वश में किया, यह बात मैं आगमों (मूलसूत्रों) से जानता हूँ, स्वीकार करता हूँ। परन्तु हे आनन्द के समूह! वीतराग प्रभो! आप मेरे मन को काबू (वश) में करा दें (ला दें), (मेरे मन को वश में करने के लिए आप सहायक**

बनें) तभी इस बात को सत्यरूप में मान सकता हूँ।

_भाष्य_–प्रभु से मनोवशीकरण की प्रार्थना

श्रीआनन्दघनजी ने इस स्तवन के प्रारम्भ मे एक बात बार-बार प्रभु के समक्ष निवेदन की है–**'कुंथुजिन! मनडुं किमहि न बाझे।'** और उसके बाद मन के सम्बन्ध मे ऊहापोह करने के पश्चात् अन्त में प्रभु के सामने वे फिर वही पुकार करते है। कहते है, मन अत्यन्त कठिनता से वश मे आता है, यह बात हम अनुभव और महापुरुषो के वचनों पर से जानते है। इसी स्तुति की पूर्वगाथाओ मे मन की दुराराध्यता का वर्णन भी कर चुके है। परन्तु हे प्रभो! आपने तो बडी मुश्किली से वश मे हो सकने वाले मन को अपने काबू मे कर लिया है, यह बात मै अपनी मनःकल्पित नहीं कह रहा हूँ। मैने आगम पढे है और उन आगमो से तो यह बात मैने बुद्धि मे उतार ली है, जान ली है। अर्थात् आपने अतिदुर्गम्य दु साध्य मन को साध लिया है, इस बात को मैंने आगम प्रमाण से तो जान ली है, किन्तु प्रत्यक्षप्रमाण से भी जानना चाहता हूँ कि आपने मन को वश मे कर लिया है या नही। आगमो के प्रति मेरी श्रद्धा है, क्योकि सम्यक्त्वी को आगमों की बात पर श्रद्धा अवश्य होनी चाहिए। इसलिए आगमो के अध्ययन, पठन, श्रवण एव चिन्तन पर से तो मै इतना मानने को तैयार हूँ कि आपने अपने दुराराध्य मन को जीत लिया है। आपका जीवन-चरित्र सुनने से यह बात सत्य प्रतीत होती है कि मन को वश मे करना आवश्यक था, अतः आपने अपने मन को वश मे कर लिया, परन्तु हे आनन्द के घन! मै इस बात को प्रत्यक्षप्रमाण से तभी सच्ची मानूँगा जब कि आप मेरे मन को काबू मे कर देगे, यानी मेरा मन मेरे वश मे कर देगें। आप चाहे जिस उपाय से कृपा करके मेरे मन को मेरे अधीन बना दे, तो प्रत्यक्षप्रमाण से भी आपके द्वारा मन को वश मे करने की बात सिद्ध हो जाय और ऐसा होने से मेरा काम भी सिद्ध हो जाय।

वीतरागप्रभु से अपने मन के वशीकरण की प्रार्थना का रहस्य

यहाँ प्रश्न यह होता है कि वीतरागप्रभु न किसी का मन विषयो मे भटकाते है और न किसी के मन को वश मे कर देते है। वे तो निरंजन निराका' परमात्मा हैं, उन्हे किसी से लागलपेट (राग) या (द्वेष) नहीं है। तब ... आनन्दघनजी ने वीतरागप्रभु से ऐसी प्रार्थना की, उसके पीछे क्या र इसका समाधान यह है कि श्रीआनन्दघनजी तत्त्वज्ञ थे और वे इस भलीभांति जानते थे कि वीतराग प्रभु किसी से कुछ लेते देते नहीं;

से, सांसारिक मोहमाया से बिलकुल रहित है, परन्तु भक्ति वाद मे इस भाषा को क्षम्य माना जाता है। जब अपना कोई वश नही चलता है, तो भक्त प्रभु का ही आश्रय लेता है। वह जानता है कि वैसे प्रभु दूसरो के कर्त्ता-धर्त्ता-हर्त्ता नही बनते, किन्तु अगर मेरे पुण्य प्रबल हो, मेरा शुभ कर्मोदय हो तो कदाचित् प्रभु प्रबल निमित्त बन सकते है। मन को वश मे करने का पुरुषार्थ मुझे ही करना है, मेरे बदले प्रभु पुरुषार्थ नहीं करेगे, न मेरा हाथ पकड कर प्रभु मेरा मन वश में करायेंगे, लेकिन मैं जो कुछ पुरुषार्थ करूँ, उसमे वे प्रबल निमित्त, प्रेरक एव सहायक तो बन ही सकते है। क्योंकि प्रभु अनन्तशक्तिमान है, आनन्दघनमय है, इसलिए प्रत्यक्ष या परोक्ष प्रेरणा तो दे ही सकते है, मेरे अन्दर अन्तः स्फुरणा तो जगा ही सकते हैं। मेरे परोक्ष सहायक तो बन ही सकते है, मेरे प्रबल पुरुषार्थ में प्रोत्साहनरूप आशीर्वाद तो उनकी अन्तरात्मा से मिल सकते है। इसलिए व्यवहार दृष्टि से इस पक्ति की अर्थ सगति यों की जा सकती है कि मेरे मन को वश (अधीन) करने मे आप सहायक बने, प्रेरक बने, मुझमे इस प्रकार की आत्मशक्ति जगा दे कि मै अपने मन को वश मे कर सकूँ। अथवा मै अपने मन को आपके स्वरूप मे लीन करना चाहता हूँ, आप कृपा करके मेरे अन्दर कोई अन्तःस्फुरणा या आत्मशक्ति जगा दे कि मेरा मन आपके स्वरूप मे लग जाय, जिससे मेरा जन्म-मरण का चक्कर समाप्त हो जाय।

निश्चयदृष्टि से इस प्रकार की अर्थ सगति हो सकती है-'हे आनन्दघन प्रभो ! मेरा चंचल मन आपके शुद्धस्वरूप मे लग जाय और मै भी आत्मानन्द परमानन्दघन बन जाऊँ और सदा-सर्वदा अनन्त आनन्द (सुख) मे रमण करता रहूँ। आपकी कृपा से (या मेरे पुरुषार्थ से) मेरा आत्मलक्ष्य न छूटे, आपके स्वरूप मे लगा हुआ मेरा मन विषयो मे इधर-उधर न भटके, वह मेरी आत्मा मे ही लीन हो जाय, तभी यह प्रत्यक्ष प्रमाणित हो जायेगा कि मैने आपकी आराधना की और दुराराध्य मन को भलीभाँति साध लिया। वस्तुतः निश्चयदृष्टि से ऐसा निवेदन अपनी आत्मा के प्रति अतीव सगत है कि श्रीआनन्दघनजी अनन्तशक्तिमान अपनी आत्मा से प्रार्थना करे कि 'आत्मा! तू अनन्तशक्तिमान है, आनन्दघन है, इसलिए अपनी आत्मशक्तियो के पुज पर विचार करके समस्त पौद्गलिक आसक्ति का त्याग कर अपने दुराराध्य मन को अपने वश में करके बता। तभी तेरी अनन्तशक्तिमता को मै प्रत्यक्ष जान सकूंगा, आगमप्रमाण से तो मै तेरी अनन्तशक्तिमता को जानता ही हूँ। मन को

18. श्री अरहनाथ-जिन-स्तुति–

वीतराग परमात्मा के धर्म की पहिचान

(तर्ज– ऋषभंनों वश रयणायरो, राग–परज या मारू)

धरम परम अरहनाथनो किम जाणुं भगवंत रे।
स्व परसमय समझावीए, महिमावंत महंत रे।।
धरम.।।1।।

अर्थ–हे भगवन्! मैं श्री अरहनाथ नामक वीतराग-परमात्मा का जो उत्कृष्ट (स्वभावस्वरूप) धर्म है, उसे किस प्रकार समझूं- कैसे जान सकता हूॅ? उसके लिए महामहिम महान् प्रभो! आप मुझ पर कृपा करके स्वसमय (स्वधर्म) और (परसमय) परधर्म या केवलज्ञान से पहले की निर्विकल्प ध्यानस्थ आत्मा की दशा-स्वसमय और इससे अतिरिक्त दशा-परसमय अथवा आत्मा का जिनेश्वरों द्वारा प्रकाशित निर्ग्रन्थ सिद्धान्त एवं निर्ग्रथेतर सिद्धान्त, दोनों के बारे में समझाइए।

भाष्य–**सर्वोत्कृष्ट वीतरागधर्म की जिज्ञासा**

पूर्वस्तुति मे मन को वश मे करने की प्रार्थना परमात्मा से की थी, किन्तु मन को वश मे करने का एक कारण धर्म है। धर्म को भलीभॉति जाने-समझे बिना उसमे प्रवृत्ति नही हो सकती और प्रवृत्ति के बिना सफल परिणाम नही आ सकता। इसलिए श्री आनन्दघनजी वीतराग परमात्मा के धर्म को जानने-समझने की दृष्टि से कहते है–'**धरम परम अरहनाथनों किम जाणुं भगवन्त रे!**'

ससार मे अनेकविध धर्म है। कई धर्म तो परस्पर इतने विरोधी है कि उनमे पता लगाना कठिन हो जाता है कि कौन-सा धर्म यथार्थ, सच्चा, हितकारक और सुखदायक या तारक है और कौन-सा अन्यथा, वर्तमान मे अहितकर व क्षणिक सुखदाता है? ससार मे धर्मो का जगल इतना लबा-चौडा है कि उसमे पता लगाना कठिन हो जाता है कि कौन-सा धर्म औषधरूप है, सजीवनी बूटी के समान सयमायु की वृद्धि करने वाला है, चारित्ररूपी प्राणो को धारण कर सकता है? दुर्गति मे गिरती हुई आत्मा को बचा सकता है, उत्तम

सुख मे या सुगति मे आत्मा को पहुँचा सकता है? क्योकि जब तक धर्म की यथार्थ पहिचान न हो, जीवन यात्रा मे धर्म के उपयोग की सही जानकारी न हो, वीतराग-परमात्मा के द्वारा बताये हुए या पाले हुए धर्म का यथार्थ ज्ञान न हो, तब तक धर्म का शुद्ध आचरण नही हो सकता। जिस व्यक्ति को धर्म का शुद्ध ज्ञान नही होगा, वह धर्म के नाम पर विविध धर्म-सम्प्रदायो मे प्रचलित युगबाह्य क्रियाकाडो, कुरूढिपोषक आचारो, विकास घातक परम्पराओ, दम्भवर्द्धक विधि विधानो, हानिकारक कुरूढियों और समाज की अकल्याणकारी कुप्रथाओ को ही प्रायः धर्म समझ कर उन्ही का पालन करने मे धर्मपालन की इतिश्री समझ लेगा। ऐसी स्थिति मे वह यथार्थ धर्म को भी सीधे रूप मे न पकड कर उलटे रूप मे ही पकडेगा, जिससे विकास के बदले उसकी आत्मा का पतन एव ह्रास ही अधिक होगा। ऐसे व्यक्ति की स्थिति भ महावीर की दृष्टि मे विपरीत हो जाती है–जिस प्रकार कोई कालकूट विष को पी कर जी नही सकता, उलटे रूप मे पकडा हुआ शस्त्र उसे पकडने वाले को ही मार डालता है, किसी को वैताल लग जाने पर वह उसके प्राणो का नाश कर डालता है, वैसे ही विषयो या विषमरूप से युक्त धर्म को स्वीकार कर लेने पर वह आत्मा का विनाश कर डालता है।[1] कई बार यह देखा जाता है कि गुरुपरम्परा या सम्प्रदायपरम्परा से प्रचलित किसी रीति–रिवाज या व्यवहार अथवा घातक गतानुगतिक प्रथा को ही धर्म समझा जाता है। जैसे अमुक समाज मे शराब पीना, मांसाहार करना, स्त्रियो का पर्दा रखना, अमुक ढग से चौकेबाजी करना, जनेऊ या चोटी रखना, अमुक तरह का तिलक लगाना आदि को धर्म समझा जाता है, अथवा अमुक मनमाने आचार-विचार को या विकासघातक क्रियाकाण्डो के पालन को धर्म समझा जाता है। यह तो दूर रहा, जो सच्चा और व्यापक धर्म माना जाता है, वीतरागता, अनेकान्त, समता एव सरलता को धर्म का प्रधान अग समझा जाता है, उसी धर्म के अनुयायीगण सम्प्रदायभेद, परम्पराभेद या आचार-विचार के जरा से भेद को लेकर दूसरे से लडने-झगडने और गाली गलौज करने लग जाते है, एकात आग्रही एवं आचार-विचार मे सर्वथा असहिष्णु

---

1. विसंतु पीयं जह कालकूडं, हणाई सत्थ जह कुग्गहीयं।
एसो वि धम्मो विसओ (मो), ववन्नो, हणाइ वेयाल इवाविवन्नो।।
–उत्तराध्ययन अ 20, गा 44

बन कर एक दूसरे पर मिथ्या-आरोप लगाने लगते है, सरलता को ताक मे रख कर कुटिल राजनीति का आश्रय ले लेते है, समता के बदले जाति, वर्ण, रग, राष्ट्र, सम्प्रदाय आदि के नाम पर वे विषमता फैलाने लगते है, जरा-जरा सी बात से उनके कषाय और राग-द्वेष का पारा चढ जाता है, वे स्वयं विषम बन जाते है, उनके वीतराग-विज्ञान का सिद्धान्त उस समय न जाने कहाँ गायब हो जाता है? उस समय वे आत्मा और शरीर के भेद-विज्ञान के बदले शरीर व शरीर से सम्बन्धित कषायो व राग-द्वेष आदि विकारो को ही मानो अपने मान कर अपना लेते है। ऐसे गोरखधंधे मे साधारण व्यक्तियो को पता ही नहीं चलता कि कौन सा वीतराग-परमात्मा का धर्म है, कौन-सा पर धर्म है? बहुधा धर्म के नाम से भक्तिवाद के नशे मे या सम्प्रदायवाद की धुन मे अथवा गुरु-परम्परा की ओट मे आमजनता विविध आडम्बरो की चकाचोध मे सच्चे मार्ग से भटक जाती है। वह कई दफा ऐसा गलत रास्ता अपना बैठती है, जिसे बाद मे छुडाना अत्यन्त कठिन हो जाता है। ये और इनके जैसे अन्य कारणो को देख कर श्रीआनन्दघनजी स्वय सच्चे धर्म की जिज्ञासा को लेकर वीतराग-परमात्मा के सामने उपस्थित हुए है कि वीतराग–परमात्मा (श्रीअरहनाथ) का उत्कृष्ट और यथार्थ धर्म कौन-सा है? कौन-सा यथार्थ धर्म है, जो जीवन और जगत् के लिए परमकल्याणकारी, आत्मविकासक, स्वपरहितकर, चार गतियो और 84 लक्ष जीवयोनियो से छुटकारा दिलाने वाला व कर्मो को निर्मूल करने मे समर्थ है?

धर्म की जिज्ञासा का दूसरा पहलू

धर्म के विषय मे जिज्ञासा का एक और पहलू है। वह यह है कि आत्मा के लिए कौन-सा धर्म उत्कृष्ट है, और कौन-सा निकृष्ट है? कौन-सा आत्मा का धर्म है, और कौन-सा अनात्मा-आत्मा से पर मन, बुद्धि, इन्द्रिय तथा पुद्गलों का धर्म है? अथवा कौन से आत्मा के निखालस धर्म है यानी आत्मा के अनुजीवी (निजी) गुण (धर्म) है और कौन-से आत्मा से पर के, किन्तु आत्मा के साथ सयोग सम्बन्ध से सश्लिष्ट होने से आत्मा के वैभाविक गुण (कामक्रोधादि धर्म) है? अथवा निश्चयदृष्टि और व्यवहारदृष्टि से जब हम इस प्रश्न पर विचार करते है तो श्री आनन्दघनजी वीतराग-परमात्मा के सामने सीधा ही प्रश्न पूछते है–प्रभो! मै तो अज्ञान हूँ, ससार मे फसा हुआ हूँ, मै स्पष्टरूप से जान ही नही सकता कि आपका अपना (आत्मा का) धर्म कौन-

सा है? और परकीय धर्म कौन सा है? अथवा निश्चयदृष्टि से आत्मा का शुद्ध धर्म कौन-सा है, व्यवहारदृष्टि से कौन-सा धर्म है? इसलिए श्रीआनन्दघनजी ने भगवान् से प्रार्थना कि है **'स्वपरस-समय समझावीए'** प्रभो! आपकी महिमा अपार है। आप अणिमा-महिमा आदि योगसिद्धियो से सम्पन्न है, आप महान् त्यागी-महनीय-पूजनीय पुरुष है। अत आप मुझ पर कृपा करके समझाइए कि स्वधर्म क्या है, परधर्म क्या है? अथवा स्वसमय-स्वसिद्धान्त और परसमय=परसिद्धान्त (पूर्वोक्त अर्थो के अनुसार) क्या है? अथवा इन दो वाक्यो को एक करके ऐसा अर्थ भी घटित हो सकता है कि-'महिमामय प्रभो! स्वसमय-परसमय की दृष्टि से यह समझाइए कि वीतराग परमात्मा का धर्म कौन-सा है?'

जैनधर्म में तत्त्वज्ञान प्राप्त करने के लिए प्रश्नोत्तर शैली प्रसिद्ध है। भगवतीसूत्र में गणधर गौतम द्वारा महावीर से पूछे गए 36 हजार प्रश्न और उत्तर है। अगली गाथा में इसी प्रश्न का समाधान किया जाता है-

शुद्धातम अनुभव सदा, स्वसमय एह विलास रे।
परबड़ी छांहडी जे पडे, ते परसमय-निवास रे ।।

धरम.।।2।।

अर्थ-जहॉ पर्यायार्थिक नय की गौण रखकर द्रव्यार्थिक नय की मुख्यता से शुद्ध आत्मा का सदा साक्षात्अनुभव हो, वहॉ स्वसमय (मेरा धर्म) है। वहॉ स्वात्मा का ही विलास (स्वात्मरमणता) है। जहॉ कभी-कभी वार त्यौहार पर देर से छाया पड़ती हो, उसका आत्मानुभव हो, वहॉ पर समय (मेरे सिवाय पर का धर्म) है, अथवा पर-आत्मा से पर अनात्मभाव वाली बहिरात्मभाव वाली जो आत्मा की बड़ी छायामात्र जिन-जिन ग्रन्थों में पड़ती है, वहॉ परसमय अन्यतीर्थीय सिद्धान्तों का निवास स्थान है। अथवा पर की=अन्य आत्मा की या दूसरे द्रव्यों की, द्रव्य के सिवाय गुणों या पर्यायों की प्रतिच्छाया जहॉ-जहॉ पड़ती है, वहॉ-वहाँ परसमय का स्थानक है। अथवा शुद्ध द्रव्यार्थिक नय की दृष्टि से विचारणा हो, वहाँ शुद्ध स्वसमय तथा परद्रव्य की या पर्यायार्थिक नय की दृष्टि से विचारणा हो, उसे परसमय समझो।

भाष्य-स्वसमय-परसमय का लक्षण और रहस्य

पूर्वगाथा मे परमात्मा के धर्म को समझने के लिए स्व-परसमय की जिज्ञासा प्रस्तुत की गई थी। इस गाथा में उसी का समाधान किया है। वास्तव मे 'समय' शब्द अनेकार्थक और रहस्यमय है। अमरकोष के अनुसा

शपथाचारकालसिद्धान्तसंविदः' समय के अर्थ शपथ, आचार, काल (समय या प्रसग), काल का एक सूक्ष्मविभाग, सिद्धान्त एव धर्म तथा द्रव्यात्मा (आत्मा) इत्यादि है।

यहाँ प्रसगवश तीन अर्थ '**समय**' के हो सकते है–आत्मा, सिद्धान्त (आगम) और काल। इन तीनों की पृथक्–पृथक् व्याख्या इस प्रकार से है–विशुद्ध (कर्ममल से रहित) आत्मा का जहाँ अनुभव होता है, जिसमे आत्मानुभव की बाते की गई है। यानी आत्मा निश्चय से कर्मरहित, परभाव से रहित, अपने गुणों से परिपूर्ण, अनादि अनन्त, प्रकट ज्ञायक ज्योतिस्वरूप, एक, नित्य, सम्पूर्ण ज्ञानधन है, इस प्रकार शुद्ध आत्मा का अनुभव जहाँ होता हो, वहाँ स्वसमय समझना। इसे विस्तृतरूप मे यो कहा जा सकता है कि मोक्ष मे आत्मिक दशा कैसी होती है? अर्थात् आत्मा मोक्ष मे अपनी असली स्थिति मे कैसा रहता है, इसके अनुभव करने की जो बाते हो, वे सब स्वसमय की बाते है। यानी आत्मा का स्वभाव ऊर्ध्वगामी होने से वह बात इसके अनुभव की होती है। आत्मा की अलग-अलग कौन-कौन सी दशाएँ होती है? वह मूल स्वभाव मे कैसा रहता है? ये उन्नतगामी (ऊर्ध्वगामी) सब बाते स्वसमय की है। इसकी मूल विशुद्ध अवस्था मे आत्मानुभव कैसा होता है? उसका जहाँ-जहाँ वर्णन किया जाय, वहाँ-वहाँ स्वसमय की बात है, यह समझ लेना चाहिए। शुद्ध निर्मल आत्मा के सम्बन्ध मे जितनी भी बाते कही जाती है, वे सब स्वसमय की बाते है। आत्मा कर्ममल रहित दशा मे कैसा निर्मल होता है? यह कैसे रहता है? उस सम्बन्ध मे हुई अनुभव की बाते जहाँ हो, वहाँ स्वसमय (स्वधर्म=परमात्मा का धर्म) है, यह जान लेना चाहिए, मतलब यह है कि आत्मा का मूल स्वभाव ऊर्ध्वगामी है और पुद्गल का स्वभाव है–अधोगामी। जहाँ आत्मा के मूल गुणो का अनुभव होता हो, यानी आत्मा निर्मल हो, तब कैसा होता है क्या करे? ये सब बाते स्वसमय की है। इस प्रकार के शुद्ध द्रव्यार्थिक नय की दृष्टि से विचार का कथन स्वसमय है तथा शुद्ध आत्मा का सदा के लिए जो साक्षात् अनुभव हो, वही स्वसमय है, वही स्वात्मा का अपना विलास है, आमोद-प्रमोद है, मौज है। कारण यह है कि शुद्ध आत्मानुभवरूप–

---

1 किसी-किसी प्रति में 'पर–पडिछांयडी' पाठ भी मिलता है, जिसका अर्थ होता है–जहाँ पर की प्रतिच्छाया (परछाई) पड़ती है।

आध्यात्मिक विकास रूप महाधर्म की सम्भावना आत्मा में ही हो सकती है। आत्मार्थियों के लिए उसी की विचारणा आवश्यक है, अन्यथा [illegible] करने की आवश्यकता ही क्या है? (2) ऐसा ही अनुसन्धान करने वाला शास्त्र स्वसमय-स्वशास्त्र-स्वसिद्धान्त कहलाता है. (3) समस्त परद्रव्यों से निवृत्त हो कर आत्मा ज्ञान-दर्शन-चारित्ररूप अपने स्वभाव में एकत्वरूप से जिस समय प्रवृत्त होता है, उसे भी स्वसमय कहते हैं। (आ) 1. आत्मा के अतिरिक्त जो परवस्तु, पुद्गल या भौतिक सुखों का जिसमें विधान हो अथवा आत्मा से भिन्न दूसरे द्रव्यों की या द्रव्य से अतिरिक्त गुणों या पर्यायों की (पर की) प्रति छाया (परछाई) जहाँ पड़ती हो अर्थात् अनादि अविद्यारूप लता के मूलमोह के उदय से आत्मा अपने ज्ञानदर्शनादि स्वभाव से च्युत हो कर मोह-राग-द्वेष आदि परभावों में एकत्वरूप से प्रवृत्त हो, उसे परसमय कहते हैं अथवा परद्रव्य की पर्यायार्थिक नय की दृष्टि से विचारणा हो, वहाँ परसमय का निवास है। (2) ऐसे शास्त्र जिसमें आत्मा के अतिरिक्त बहिरात्मभाव की लौकिक बाते हो, ऐसे सिद्धान्त या शास्त्र परसमय कहलाते हैं, इनमे पर्व या किसी विशिष्ट दिवस या प्रसग पर कभी-कभी छाया की तरह आत्मानुभव की बातें आ जाती हों या की जाती हो, वहाँ पर समय का निवास समझना चाहिये। परसमय या परधर्म में आत्मानुभव की बातें कभी-कभी होती है, उसमे पौद्गलिकभाव की बाते ही अधिक होती हैं। मतलब यह है कि जिनमे मुख्यतया आत्मानुभव की बाते नही होती, कभी-कभार जरा आत्मानुभव की बात आ जाती है, उस सिद्धान्त, शास्त्र या धर्म को परसमय ही समझना चाहिए, जैसे बृहस्पति जैसे चार्वाक परलोक को नही मानते, उसमे आत्मस्वभाव से विपरीत बाते हैं। (3) आत्मा जिस समय परभाव मे एकत्वरूप से प्रवृत्त हो, उस समय को परसमय कहते हैं।

इस प्रकार इन तीन अर्थों के अनुसार स्वसमय-परसमय को [illegible] की कुंजी प्रस्तुत गाथा मे बता दी है। परसमय को जाने बिना [illegible] विशुद्ध जानकारी नही हो सकती और जब तक [illegible] हो, तब तक साधक स्वसमय मे प्रवृत्त नहीं हो [illegible] स्वसमय है या परसमय, इसके जानने का [illegible] दोनो मुख्य नयो की दृष्टि से है, इसलिए [illegible]

इसलिए अगली गाथा मे प्रसगवश [illegible] की बात विविध नयो की दृष्टि से [illegible]

तारा नक्षत्र ग्रह चंद्रनी, ज्योति दिनेश मोझार रे।
दर्शन-ज्ञान-चरण थकी, शक्ति निजातम धार रे।।

धरम.।।3।।

***अर्थ*-जिस प्रकार तारों, मंगल आदि ग्रहों, अश्विनी आदि नक्षत्रों और चन्द्रमा की ज्योति (कान्ति) सूर्य (सौरमण्डल) में अन्तर्भूत हो जाती है, उसी प्रकार सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र, इन सबकी शक्ति अपनी आत्मा में जानो।**

***भाष्य*-शक्ति का केन्द्र : आत्मा**

पिछली गाथा मे स्वसमय और परसमय का अन्तर बता कर स्वसमय को अपनाने की बात ध्वनित कर दी है। इस गाथा मे प्रकारान्तर से स्वसमय की बात की पुष्टि की गई है। सूर्य की उपमा देकर इस बात को स्पष्ट किया गया है कि शुद्ध आत्मा (परमात्मा) मे स्वधर्मरूप अनन्त शक्ति छिपी हुई है, पर बाहर मे वह अलग-अलग रूप मे दृष्टिगोचर होती है, मगर है वह शुद्ध आत्मा की ही और उसी मे वह अन्तर्हित हो जाती है। जगत् मे ऐसी प्रसिद्धि है कि तारा, ग्रह, नक्षत्र, चन्द्रमा, वगैरह प्रकाशमान पदार्थो मे सूर्य का ही प्रकाश सक्रमित होता है। जब सूर्य प्रकाशित होता है, तो इन सबका प्रकाश सूर्य मे समाविष्ट हो जाता है। वर्तमान विज्ञान का भी यह मत है कि ग्रहो और चन्द्रमा का प्रकाश स्वतंत्र नहीं है, वे सूर्य के प्रकाश के बल से प्रकाशित होते है। यही कारण है कि सूर्य के उदय होते ही इन सबका प्रकाश फीका पडने लगता है। इसीलिए कहा गया-जिस प्रकार आकाश के ग्रह, नक्षत्रादि की ज्योति सूर्य के प्रकाश में है, उसी प्रकार सामान्य ज्ञानरूप, दर्शन (अथवा तत्त्वार्थश्रद्धानरूप दर्शन), विशेषज्ञानरूप ज्ञान और सामायिकादि चारित्र, सबमे आत्मा की शक्ति ही है। इन सबकी शक्ति का समावेश भी आत्मा मे हो जाता है। निश्चयनय की दृष्टि से देखे तो ज्ञान-दर्शन-चारित्र भी आत्मा से अभिन्न है, ये सब आत्ममय ही है, एक आत्मा ही भासमान होता है, मतलब यह है कि ज्ञान, दर्शन, चारित्र वगैरह कें अनेक पर्याय होते है। दर्शन से निराकार ज्ञान होता है, 'यह मनुष्य है या पशु?' वगैरह विशेष बाते ज्ञान से जानता है। सामायिक चारित्र से ले कर यथाख्यातचारित्र तक अनेक पर्याय जानता है। परन्तु वे सब एक ही आत्म-द्रव्य को बताते है, उसे ही उद्देश्य करके होते है, जैसे पर्याय अनेक है, आत्मिक द्रव्य एक ही है। उसी के ज्ञान-दर्शन-चारित्र आदि अनेक पर्याय होते वे अन्त मे एक आत्मा मे ही समा जाते है। ये सब एक आत्मिक द्रव्य के

ही परिणाम है, आत्मा के गुण है, आत्मा के ही ये सब पर्याय है, यह भलीभाति जान लो। आत्मा न हो तो उसके पर्याय भी नहीं होंगे, यो समझ कर एक आत्मिकद्रव्य की महत्ता समझ लो। जैसे सभी प्रकार के तेज–फिर वे चाहे तारो के हो, चन्द्रमा के हो, सूर्य के तेज मे समा जाते है, वैसे ही ज्ञान-दर्शन-चारित्र के अनेक पृथक्–पृथक् पर्याय होते है, पर उन सबका समावेश एक आत्मानुभव मे हो जाता है। इससे यह भी द्योतित हो जाता है कि ज्ञान-दर्शन-चारित्र की शक्ति शुद्धात्मानुव=स्वसमय मे समाविष्ट हो जाती है, किन्तु अपरज्योतिरूप परसमय का उसमे समावेश नही होता। पर्याय चाहे जितने हुआ करे, पर वे मूल द्रव्य एक आत्मा मे सम्बन्धित है, यह बात भलीभांति हृदयंगम कर लेनी चाहिए। आत्मा एक है, पर्याय अनन्त है। आत्मा के अनन्त पर्याय होते हुए भी उसे एक ही द्रव्य समझना, यही आत्मानुभव (स्वसमय) की, आत्मा को भलीभॉति पहिचानने की कुजी है।

अगली गाथा मे इसी बात को और स्पष्ट कर रहे है–

भारी पीलो चीकणो कनक, अनेक तरंग रे।
पर्यायदृष्टि न दीजिए, एकज कनक अभंग रे।।

धरम. 4।।

अर्थ–**वजन में भारी-रंग से पीला, गुण से चिकना (स्निग्ध) सोने के ऐसे अनेक प्रकार दिखाई देते हैं, परन्तु पर्यायार्थिक नय की दृष्टि न दें। द्रव्यदृष्टि से देखें तो वह अभंग (अखण्ड=अभेदरूप) द्रव्यरूप में एक सोना ही दिखाई देता है।**

भाष्य–**सोना एक : प्रकार अनेक**

पूर्वगाथा मे कही हुई बात को दूसरी तरह से सोने का दृष्टान्त दे कर आनन्दघनजी समझाते है–सोने के साथ पर्यायरूप मे तीन गुण निहित हैं। भारीपन, पीलारग और चिकनापन। मतलब यह है कि सोना तौल मे वजनदार धातु होता है। सोने की यह विशेषता है कि वह दूसरे धातुओं की अपेक्षा वजन मे भारी होता है। उसका रंग भी विशिष्ट प्रकार का पीला है, जो दूसरे किसी धातु से मिलता नही है और वह दूसरे धातुओ की अपेक्षा चिकना भी अधिक होता है, सोना दूसरे धातुओ के बजाय नरम और लचीला होता है। इसी कारण उसके परमाणु एक दूसरे से चिपक जाते है; जल्दी टूटते नही। एक ही सोने के हार, करधनी, कंकण आदि अनेक आभूषण बनाये जाते हैं। जिनके नाम और आकार भिन्न-भिन्न होते हैं; परन्तु उन सबमे जो सोना होता है, उसे देख-परख कर

ही सबकी कीमत आंकी जाती है। सोने के व्यापारी की सोने के विषय मे द्रव्यार्थिक दृष्टि है, मगर आभूषण बनाने वाले सुनार या उन्हें पहनने वाले की दृष्टि मे आभूषण मुख्य होने से पर्यायार्थिक दृष्टि होती है। कुम्भार घडा, कोठी, सुराही वगैरह बनाने के लिए जंगल से मिट्टी लेने जाता है, तब वह घडे कोठी आदि को मिट्टी ही देखता है, मिट्टी ही उसके ख्याल मे बसी रहती है। मगर कुम्हार के यहाँ से बर्तन खरीदने वालो की दृष्टि में मिट्टी नही आती, घडा आदि बर्तन ही आते हैं। इसलिए कुम्हार की दृष्टि द्रव्यार्थिक होती है, जबकि ग्राहक की दृष्टि पर्यायार्थिक होती है। इसलिए पर्यायदृष्टि को छोड कर एक और अखण्ड सोना ही है, इसके भेद नहीं हो सकते। सोना तीनो काल मे सोना ही रहता है। अतः सोने मे भारीपन, पीलेपन या चिकनेपन अथवा विभिन्न गहनो की कल्पना करना पर्याय दृष्टि है। पर्यायदृष्टि को गौण कर दे, उसका इस समय उपयोग न करें तो वही सोना सबमे एकरूप अभेदरूप प्रतिभासित होगा।

पदार्थ के असली स्वरूप को समझने की कुंजी

किसी भी पदार्थ के वास्तविक वस्तुस्वरूप को समझने के लिए द्रव्यार्थिक नय की दृष्टि को मुख्य रखे तो उसके पर्यायो की दृष्टि गौण हो जाएगी। ऐसा करने से पर्याय भी उस द्रव्य मे समाविष्ट हो कर द्रव्यरूप ही गिने जायेंगे। इसी प्रकार पर्यायार्थिक दृष्टि को मुख्य रख कर देखे तो द्रव्य गौण हो जायेगा, वह प्रतिभासित नहीं होगा। ऐसा करने से द्रव्यत्व भी पदार्थ के एक प्रकार के पर्यायरूप मे गिना जायेगा। द्रव्यार्थिक दृष्टि को सामान्य, शक्ति, द्रव्य, अभेद, इन शब्दो से समझा जाता है, जबकि पर्यायार्थिक दृष्टि को विशेष, व्यक्ति, स्वभाव, गुण, धर्म, पर्याय, भेद आदि शब्दो से समझा जाता है, भारीपन, चिकनापन या पीलापन सोने से अलग वस्तु नही है। कोई सोना खरीदता है तो उसके साथ उसके ये गुण आ ही जाते है। यह सोने के विषय मे स्वसमय है। सोने के तौल, रग, गुण की दूसरे के गुणो के साथ तुलना करते समय सोना गौण हो जाता है। परन्तु सोने के गुण मुख्यतया ध्यान मे रखे जाते है। पर्यायार्थिक दृष्टि की मुख्यतया के समय द्रव्यार्थिक दृष्टि गौण होती है, परन्तु उपचार से उसमे गौणरूप से द्रव्यार्थिक नय की दृष्टि भी होती है, इसी तरह द्रव्यार्थिक नय की दृष्टि के समय गौणरूप से उपचार से पर्यायार्थिक नय की दृष्टि मुख्य होती है। अगर ऐसा न हो तो वे दोनो नय एकान्त होने से नयाभास बन कर मिथ्या साबित हो जाते है। अतः एक नय मे गौण रूप से उपचार से

दूसरा नय होता ही है, तभी नय की सापेक्षता टिकती है और वे सुनय बनते हैं। इस प्रकार आत्मार्थी को द्रव्यदृष्टि और पर्यायदृष्टि भलीभॉति समझ लेनी चाहिए।

आगे की गाथा में इसी विषय को आत्मा पर घटाते हुए कहते है–

दर्शन-ज्ञान चरण थकी अलखस्वरूप अनेक रे।
निर्विकल्प रस पीजिये, शुद्ध निरंजन एक रे।।

धरम.।।5।।

***अर्थ*–उसी प्रकार दर्शन, ज्ञान और चारित्र की दृष्टि से आत्मा को देखें तो उसके लक्ष्य में न आ सकें, ऐसे (अलक्ष्य) अनेक स्वरूप प्रतीत होते हैं क्योंकि आत्मा के अनन्त गुण हैं। द्रव्य-पर्याय के भेदरहित (अभेद) रूप में देखें तो सर्वविकल्पों का विलय हो कर आत्मा का ज्ञानादिक भेदरहित, एक, अखण्ड, शुद्ध, निर्लेप, निरंजन, चैतन्य रूप में अनुभव होता है। आत्मा के सिवाय दूसरा कुछ भी द्वैतरूप भासित नहीं होता, ऐसे आत्मा का शान्त स्वभावरूप निर्विकल्प रस पीजिए।**

***भाष्य*–पर्यायदृष्टि से अनेक आत्मा, द्रव्यदृष्टि से एक**

पूर्वोक्त गाथा मे सोने का दृष्टान्त देकर द्रव्यार्थिक और पर्यायर्थिक नय का तत्त्व समझा गया है। उसी बात को आत्मा पर घटित किया है, जैसे सोने के अनेक प्रकार (तरगे) होते है, वैसे ही सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र से अलक्ष्य (अरूप) आत्मा के अनेक तरंगें-पर्याये होती है। सामान्य उपयोग से वह जातियो को देखता है। उनमे वह तन्मय हो जाता है, वही उसका दर्शन बन जाता है। उसमे वह मनुष्यो, जानवरो या पक्षियो को एव सुख-दु ख को सामान्य प्रकार से देखता है। फिर जरा ज्ञान-उपयोग होता है, तब वह अधिक ब्यौरेवार तथ्यो को देखता है। मनुष्य के नाम, उनका रग, उनकी जातियॉ और अनेक विवरण उसके जानने मे आता है। यह सब ज्ञान का परिणाम है। इसी प्रकार चारित्र मे उपयोग लगाता है, उनकी चर्चा करता दिखाई देता है, वह सामायिक मे स्थिर होता है तो उसमे तथा यथाख्यात आदि चारित्र मे रमण करता दिखाई देता है। इसी प्रकार दर्शन, ज्ञान और चारित्र की विविधता मे वह जैसा उपयोग लगाता है, वैसा उसका पर्याय दिखाई देता है। यानी आत्मा जब ज्ञानक्रि[illegible] होता है, तब वह ज्ञानात्मा है, जब दर्शनक्रिया मे होता है, तब वह [illegible] है और जब वह चारित्रक्रिया मे होता है, तब चारित्रात्मा है। उसी [illegible] का शुद्ध पर्याय सम्यग्ज्ञान-दर्शन आदि हैं। उनके क्रियाकारण [illegible]

भिन्न-भिन्न प्रतीत हों, परन्तु एक ही शुद्ध आत्मद्रव्य का कार्य तो एक ही सिद्ध होता है।

एक तरह से शुद्ध पर्याय की दृष्टि से अलक्ष्य, अरूपी, निरंजन, निराकार आत्मा के दर्शनोपयोगयुक्त, ज्ञानोपयोगयुक्त और चारित्रोपयोगयुक्त आदि अनन्त आत्मगुण के विकल्प से आत्मा का ज्ञानावधान करने से वह अनेक प्रकार का अनंत पर्याय वाला है, इसके उपरान्त कर्मो के सयोग से अनेक अशुद्ध पर्याय होते है। उसके एकेन्द्रिय से ले कर पंचेन्द्रिय तक की प्राप्ति तथा देव, मनुष्य तिर्यच, नारक आदि गति की प्राप्ति आदि अनेक पर्याय होते है। इसी अलख आत्मा को जब निर्विकल्पभाव से देखते है, शान्तभाव से निहारते है तो सोने की तरह अकेला ही प्रतीत होता है। आत्मा के ज्ञानादिभाव से या कर्मसंयोग से अनेक पर्याय हो सकते है, पर संकल्प-विकल्प छोड कर शान्तभाव से अकेले आत्मा को देखे तो निरावरण ही दिखेगा। इसीलिए श्रीआनन्दघनजी ने कहा– **'निर्विकल्प रस पीजिये, शुद्ध निरंजन एक रे'** अर्थात् जब अकेले द्रव्य का ही ध्यान करना होता है, एक निर्विकल्प आत्मा के ध्यान का अमृतरस पीना होता है, उसका आनन्द भी अनोखा होता है। उस समय आत्मा एकरूप, शुद्धरूप एव निरजनरूप प्रतिभासित होता है। उपाध्याय यशोविजयजी ने पातंजल योगदर्शन पर टिप्पणी मे भी यही लिखा है– निर्विकल्पध्यान मे शुक्लध्यान के दूसरे पाद मे एक स्वात्मद्रव्य–का पर्यायरहित द्रव्य का शुद्ध ध्यान होता है और वह इसलिए वह स्वसमयनिष्ठा है। उस अवस्था में द्रव्यार्थिक प्रधान शुद्धनिश्चयनय की मुख्यता होती है।

अगली गाथा मे निश्चयनय और व्यवहारनय दोनो दृष्टियो से आत्मा का कथन स्पष्ट करते है–

परमापथ-पंथ जे कहे, ते रंजे एकतंत रे।
व्यवहारे लख जे रहे, तेहना भेद अनन्त रे।।

धरम.।।6।।

अर्थ–परमार्थरूप (निश्चयात्मक आत्मद्रव की सिद्धि के) मार्ग का जो कोई सत्पुरुष कथन करता है, वह (निश्चयदृष्टिप्रकाशक वक्ता या श्रोता) एक निश्चयात्मक तत्त्व की विचारणा करके (या एक ही तन्त्र में) प्रसन्न होता है। किन्तु जो व्यवहारनय की दृष्टि से लक्ष्यरूप आत्मा में रहते (रमण करते) हैं, उनकी दृष्टि में आत्मा के [illegible] की अपेक्षा से अनन्तभेद प्रतिभासित होते हैं।

भाष्य-निश्चयदृष्टि और व्यवहारदृष्टि से आत्मा का कथन

पूर्वगाथा मे भी आत्मा के अनेक और एक भेद बता कर अन्त में निर्विकल्पदशा प्राप्त करके आत्मा के आत्मत्त्व का ध्यान करने और उसे प्राप्त करने की बात पर जोर दिया गया है। उससे यह भी ध्वनित हो जाता है कि आत्मा के ये जो अनन्त पर्याय इस समय दिखाई दे रहे है, इन्हे दूर करके इसकी असली स्थिति से निरावरण, एकाकी आत्मा का ही सोने की तरह विचार करना और अन्त मे उसे ही प्राप्त करना चाहिए। अब इस गाथा मे पुनः दोनो दृष्टियो से आत्मा का प्रतिपादन करते है। वास्तव में निश्चय और व्यवहार दोनो अपनी-अपनी जगह पर ठीक है। कोरे निश्चय से भी काम नहीं चल सकता; क्योकि साधक को चलना व्यवहार की धरती पर है। निश्चय के आकाश मे उडने के लिए व्यवहार की धरती पर पहले पैर जमाना आवश्यक है। निश्चय के पर्वत-शिखर पर चढने के लिए व्यवहार की तलहटी से ही आगे कदम बढाना होता है। इसलिए निष्कर्ष यह निकला कि साधक की ऑखे निश्चय की ओर टिकी हो, और उसके पैर टिके हो–व्यवहार की धरती पर। एकान्त निश्चय की ओर देखते रह कर व्यवहार की दृष्टि से ओझल नहीं करना है, तथैव एकान्त व्यवहार की धरती पर चलते रहने की धुन में निश्चय को ऑखो से ओझल नही करना है। साधक जब तक संसार दशा मे है, तब तक दोनो दृष्टियो का उसे उपयोग करना है, किन्तु प्रगति की दिशा में आगे बढने और आध्यात्मिक गगन मे ऊँचे उडने के लिए उसे निश्चयदृष्टि को मुख्यता देनी होगी, क्योकि वास्तविक सद्भूतार्थ मार्ग निश्चय की पगडडी को पकडने से ही प्राप्त होगा।

वास्तविक दृष्टि से आत्मा एकरूप भी है और अनेकरूप (अनन्तरूप) भी है। परन्तु परमार्थदृष्टि के साधक उसे एक रूप में देखते हैं, वे उसे एकतन्त्र मे–आत्मा के एकत्व मे–देख कर प्रसन्न होते हैं, जबकि व्यवहारदृष्टि के साधक उसे अनन्तरूप मे देखते हैं। परमार्थपथ (निश्चयनय) के साधक विकल्परहित शुद्धस्वरूपी अनन्तगुण सम्पन्न आत्मा को एकरूप मे प्रतिपादन करते हैं, जबकि व्यवहारमार्गी लोग आत्मा के अनन्त विकल्पो को ले कर अनन्तभेद बताते है। एक-दूसरे की दृष्टि मे एक दूसरा नय गौण होता है। अपेक्षावाद (स्याद्वाद) की दृष्टि से दोनो मार्ग अपने-अपने ध्येय के ठीक है। एकान्तरूप से निश्चय का कथन करना और व्यवहार (अपलाप) करना ठीक नही, तथैव निश्चय को बिल्कुल अनुचि

एकान्तरूप से व्यवहार का आग्रह रखना भी ठीक नही। सात नयो मे से भी प्रथम के तीन या चार नय व्यवहारनय के नाम से परिचित है तथा पिछले तीन नय पारमार्थिक रूप के प्रतिपादनकर्त्ता होने से निश्चयनय के नाम से प्रसिद्ध है। किन्तु एक बात निश्चित है कि उच्चभूमिका पर आरूढ जीवो का विकासक्रम परमनिश्चयनय की मुख्यता (व्यवहारनय की गौणता) से ही आगे बढता है। उपाध्याय यशोविजयजी ने '**अध्यात्मोपनिषद्**' तथा '**अध्यात्मसार**' मे इसी बात की ओर अगुंलिर्निदेश किया है–[1] जो पर्यायो मे ही रत है, वे परसमय में स्थित है और जो आत्मस्वभाव मे लीन है, उनकी स्वसमय मे ही निश्चलतापूर्वक स्थिरता होती है।[2] "इस प्रकार शुद्धनय का अवलम्बन लेने से आत्मा मे एकत्व प्राप्त होता है, क्योकि पूर्णवादी (परमार्थवादी) आत्मा के अशो (पर्यायो) की कल्पना नही करते। (पर्याय जितने जानते है, उतनो से पूर्णद्रव्य ज्ञात नहीं होता। सिर्फ अंश ही प्रतीत होते है।) स्थानांग आदि सूत्रों में '**एगे आया**' (एक आत्मा) के कथन का जो पाठ है, उसका आशय भी यही माना गया है।" अतः जब व्यवहारनय का आश्रय लेकर कोई बात करता है तो आत्मा के अनन्त भेद हो जाते है, यह हम सोने के द्रष्टान्त पर से पहले जान चुके है। सोने की जैसे अनेक चीजे बनती है, वैसे ही व्यवहारनय से हम प्रत्येक वस्तु के अनेक प्रकार जानते है। परन्तु वस्तु (आत्मा) तो मूल मे एक ही है, ये सब उसके अलग-अलग रूप है। जब आत्मा के विषय मे शुद्धनिश्चयनय की दृष्टि से कोई बात करता है, तो आत्मा के विभिन्न पर्यायो और विकल्पो को गौण करके मुख्यता एक शुद्ध निरजन आत्मतत्त्व को ही देखता है। अगर कोई व्यक्ति एकान्त एक ही दृष्टि का आग्रह रख कर दूसरे का बिलकुल निषेध करता है, वहाँ यथार्थनय नही, नयाभास है, यह बात छह अन्धो के द्रष्टान्त पर से समझ लेनी चाहिए। अन्धो ने हाथी कभी देखा नहीं था, अतः जिसके हाथ मे कान आए, उसने झट

---

1. ये पर्यायेषु निरतास्ते ह्यन्यसमयस्थिता:।
आत्मस्वभावनिष्ठानां ध्रुवा स्वसमयस्थिति ।।26।। –अध्यात्मोपनिषद्
2. इति शुद्धनयात्तमेकत्वं प्राप्तमात्मनि।
अंशादिकल्पनाऽप्यस्य, नष्टा यत्पूर्णवादिन ।।31।।
एक आत्मेति सूत्रस्याऽप्ययमेवाऽशयो मत:।। –अध्यात्मसार

कह दिया—हाथी सूप जैसा है, जिसके हाथ में सूंड आई, उसने दूसरे को झूठा कह कर कह दिया—हाथी मूसल जैसा है, तीसरे के हाथ में पेट आया, तो उसने कहा—हाथी तो कोठी जैसा है। चौथे के हाथ में पैर आए तो वह बोला हाथी तो स्तम्भ जैसा है। पाँचवें के हाथ में हाथी के दांत आए तो उसने कहा—हाथी भूंगले की तरह हैं, छठे के हाथ में पूंछ आई तो उसने कह दिया—हाथी तो रस्से जैसा है। इस प्रकार छहों अपने-अपने आग्रह पर दृढ़ थे, सभी दूसरों को झूठे व अपने को सच्चा बता रहे थे। इसी प्रकार जो एकान्तरूप से एक बात को ही पकड कर जिद्द ठान कर बैठ जाय, दूसरों को झूठा बताए, वह एकान्तवादी है, वह दूसरे का निषेध करता है। परन्तु जो पूर्णांश को बता कर एकरूप को गौण रखता है, अथवा एकरूप को बता कर अनेक पर्यायों को गौण रखता है, वह सापेक्षवादी यथार्थनयवादी है। इस प्रकार निश्चयनय और व्यवहारनय की उपयोगिता पात्र के भेद से अलग-अलग समझनी चाहिए।

इतनी बात स्पष्ट होने के बाद अब निश्चयनय और व्यवहारनय के लाभा-लाभ के विषय मे श्रीआनन्दघनजी कहते हैं—

व्यवहारे लख दोहिलो, कांइ न आवे हाथ रे।
शुद्धनय-थापना सेवतां, नवि रहे दुविधा साथ रे।।

धरम.।।7।। -

अर्थ—**व्यवहारनय का आश्रय लेने पर** लक्ष्य [illegible] को प्राप्त करना [illegible] **कठिन हो जाता है, क्योंकि इसमें कुछ भी** हाथ नहीं आता; जबकि शुद्ध (निश्चय) **नय की स्थापना (अभेदस्थापना) के** सेवन करने से (आत्मासाक्षात्कार हो जाता **है), किसी प्रकार की दुविधा (संशय)** ([illegible]) आत्मा के साथ नहीं रहती।

भाष्य—व्यवहारनय और निश्चयनय से [illegible]

पूर्वगाथा में व्यवहारनय और निश्चयनय दोनों के [illegible] तथा वे इनका उपयोग किस-किस तरह से करते हैं? दोनों की [illegible] स्थान मे गौण-मुख्यरूप से क्या उपयोगिता है? यह [illegible] लेकिन दोनों नयो से क्या-क्या लाभ-अलाभ हैं? इस [illegible] नही हुआ, वह इस गाथा द्वारा किया गया है।

वस्तुतः गम्भीरता से सोचा जाय तो व्यवहारनय [illegible] साधक नाना पर्यायो और विकल्पो में इतना भटक [illegible] लक्ष्य छूट जाता है, साधक आत्मा के विविध पर्यायों [illegible]

आत्मा के अभेद-एकत्व को पाना ही भूल जाता है। न ही वह आत्मा को व्यवहारनय के द्वारा पूर्णरूप से साध पाता है। उसके पल्ले केवल ऊपर के छिलके ही हाथ आते है, आत्मारूपी फल का जो असली तत्त्व या सारभूत पदार्थ है, वह हाथ नहीं आता। इसीलिए श्रीआनन्दघनजी जैसे अध्यात्मयोगी को कहना पडा–'**व्यवहारे लख दोहिलो**' अर्थात् व्यवहारनय का आधार लेने पर लक्ष्य मिलना दुर्लभ हो जाता है। व्यवहारनय से शुद्ध आत्मस्वरूप का साक्षात्कार व कर्मपरमाणु से रहित आत्मा की सिद्धि नहीं होती । व्यवहार से चाहे जितनी क्रियाएँ की जायं, चाहे जैसा वेश पहना जाय, चाहे जितना कर्मकाण्ड किये जाय, उससे आत्मलक्ष्य सिद्ध नही होता। कारण यह है कि व्यवहारदृष्टि में मन, वचन, काया के योगो की चपलता रहती है और योग कर्मबध का कारण है; इसलिए व्यवहारनय का आश्रय लेने वाले आखिरकार अपने आप को केवल शारीरिक कष्ट मे ही डालते है, क्योकि उससे कर्मबन्ध सर्वथा समाप्त न होने से भले ही देवलोक आदि सुगति मे मनुष्य गया, उनमे उसे अनेक सुख-सुविधाएँ मिली, खूब ऐश-आराम मिला, लेकिन उससे जन्म-मरण का चक्कर मिटा नही। केवल एक खड्डे मे से निकल कर दूसरे खड्डे मे पडने सरीखी बात हुई। यो तो व्यवहारचारित्रपालक साधक ने मेरुपर्वत जितने रजोहरण-मुखवस्त्रिका, पात्र आदि ढेरो अपना लिए, परन्तु उससे कोई वास्तविक लाभ-जन्ममरण से मुक्ति रूप फल नहीं मिला। इसीलिए कहा गया–'**कांई न आवे हाथ रे**' व्यवहारनय की दृष्टि से चाहे जितनी क्रिया की जाय, आत्मसाक्षात्कार नही होता, कुछ पल्ले नही पडता। अलबता, उसे सासारिक लाभ तो मिलता है, अच्छी गति और सुख-सुविधाएँ मिल जाती है, पर उसे जो पारमार्थिक लाभ मिलना चाहिए, उसके अनुपात मे तो यह लाभ बिलकुल नगण्य है। कोई भी दीर्घद्रष्टा मनुष्य ऐसे तुच्छ लाभ के लिए काम नही करता, वह तो किसी स्थायी लाभ के लिए ही प्रयास करता है। जैसे किसी मजदूर को सारे दिन मेहनत करने पर एक पैसा मिले, वैसे ही बात सारी जिदगीभर बिना समझ के क्रिया करने की है। इस तरह तो एक नही, अनेको जिदगियाँ बीत जाय, फिर भी कुछ वास्तविक लाभ नही होता। यही कारण है कि व्यवहार के आश्रय से लक्ष्य-शुद्ध आत्मा का साक्षात्कार प्राप्त होना अत्यन्त कठिन है। क्योकि जब तक आत्मा के साथ कर्म का एक भी परमाणु होगा, तब तक आत्मा ससारी कहलाएगा, इस परमार्थ को लक्ष्य मे रख कर कहा गया है–'**व्यवहारे लख**

व्यवहारनय दोनो का समन्वय करना चाहिए। इस प्रकार आत्मस्वरूप का लक्ष्य प्राप्त करने के लिए निश्चयदृष्टि के साथ ज्ञानपूर्वक व्यवहार का सयोजन कर लेना चाहिए। पौद्गलिकभाव और आत्मिक भाव इन दोनो मे अन्तर को ध्यान मे रखते हुए निश्चयनय से सिर्फ आत्मिकभाव ही उपादेय समझना चाहिए, ताकि किसी प्रकार की दुविधा या गडबड न रहे और अन्त में अपना कार्य सिद्ध हो। इस पर से श्रीआनन्दघनजी अन्त मे प्रभु से शुद्ध निश्चयदृष्टि की प्रार्थना करते है–

एकपखी लख प्रीतनी, तुम साथे जगनाथ रे।
कृपा करी ने राखजो, चरणतले ग्रही हाथ रे।।

धरम.।।8।।

***अर्थ*–हे जगन्नाथ प्रभो! आपके साथ मेरी प्रीति का वर्तमान में लक्ष्य एकपक्षीय (एकतरफी) है, व्यवहारनय तक है; अथवा आपके साथ मेरा प्रेम एकतरफी है, इसे देख कर भी मुझ पर कृपा करके मेरा हाथ पकड़ कर आप अपने चरणकमल के नीचे रखना, अथवा आप अपने चरण (सामायिक आदि चारित्रभाव) में पकड़ कर रखना, वहाँ से जरा भी खिसकने न देना।**

***भाष्य*–परमात्मा के साथ एकपक्षीय प्रीति**

श्री आनन्दघनजी पूर्वगाथा मे निश्चयनय का लाभ समझने के बाद निश्चयनय के साक्षात्प्रतीक वीतराग प्रभु के साथ एकत्व साधना चाहते है, लेकिन अपनी निर्बलता को भी वे प्रकट कर देते है कि श्रीअरहनाथ प्रभो! मेरी प्रीति तो आपके साथ एकतरफी है। उसका कारण यह है कि आपके और तेरे बीच मे काफी अन्तर है। मै निश्चयदृष्टि को मानता हुआ भी व्यवहारदृष्टि को मुख्यता देता हूँ, जबकि आप तो एकमात्र निश्चयनय के मूर्तिमान प्रतीक है, व्यवहार से बिलकुल दूर, अतिदूर! इसलिए आपकी और मेरी प्रीति कैसे टिकेगी? **'समानशीलव्यसनेषु संख्यम्'** इस नीतिसूत्र के अनुसार आपकी और मेरी मैत्री या प्रीति टिकनी कठिन है। क्योकि समान शील और समान स्वभाव वालो मे आपस मे मैत्रीभाव शोभा देता है और मै अपनी बात आप से क्या कहूँ? आप तो जानते ही है कि मै अभी तक रागी-द्वेषी हूँ, आप वीतराग, द्वेषरहित है। मै हास्य-रति आदि मे फंसा हुआ हूँ, आप इनसे बिलकुल रहित है, मै वेदी हूँ, आप निर्वेद है, ऐसी परस्परविरुद्ध मेरी आपके प्रति प्रीति है। इनके बाबजूद भी मै आपके प्रति चाहे जितना प्रेम करूँ, फिर भी वह एकपक्षीय है, क्योकि

आप तो राग-द्वेषरहित होने के कारण किसी के प्रति प्रेम करते नही, इस दृष्टि से भी आपके प्रति मेरी प्रीति एकपक्षीय है, मै व्यवहारदृष्टि से आपके व मेरे बीच मे कई पर्यायो व विकल्पो का फासला देख रहा हूॅ, परन्तु आप चाहे जितने बडे जगत् के नाथ हो, निश्चयदृष्टि से तो मै भी आपके जैसा ही हूॅ, शुद्ध-बुद्ध हूॅ। इसलिए आप मेरी एक प्रार्थना अवश्य स्वीकार करना–'हे जगन्नाथ (अरहनाथ) भगवन्! आप जगत् के प्राणिमात्र के हितकर्ता है, सबका क्षेम-कुशल करने वाले है, आपका धर्म, आपका स्वरूप आदरणीय है, क्योकि निर्दोष और परम उदार स्वामी का शरण किसे प्रिय न होगा? मै सद्गुरु की कृपा से स्वसमय-परसमय का एव परमात्मा के धर्म का सत्तत्व समझा हूॅ। इसीलिए मै आपके साथ प्रीति करता हूॅ। यद्यपि मेरी प्रीति एकपक्षीय है, तथापि मुझे विश्वास है कि मै आपके आदर्श का सेवन कर रहा हूॅ, वह बार-बार मुझे मिला करे, इस प्रकार की कृपा करना। **'मम हुज्ज सेवा भवे भवे तुह्म चलणाण'**–आपके चरणो की सेवा मुझे भव-भव मिला करे। निश्चयदृष्टि से मै आपके जैसा शुद्ध आत्मा हूॅ, इसलिए आपसे प्रार्थना करता हूॅ कि आप मेरा हाथ पकड कर मुझे अपने चरण-कमलो की सेवा अवश्य दे, मेरे जीवन को अपने चरणो (चारित्रगुणो) मे लगाए रखे। मैने जब आपको आदर्श, आपके परमधर्म का स्वीकार किया है और आपके आदर्श के अनुरूप होने का निश्चय किया है। मै अभी तक सिद्धदशा मे नही आया, साधकदशा मे ही हूॅ। अतः उससे मेरा पतन न हो, इसलिए आप मेरा हाथ पकड कर अपने चरणो मे रखने की कृपा करे, ताकि भविष्य मे मैं परमार्थ प्राप्त कर सकूॅ। अगर आप सरीखे समर्थ पुरुष मेरा हाथ पकडेंगे और आपकी चरणसेवा का लाभ मिला करेगा, तो जो इस समय मेरी एकपक्षीय प्रीति या सेवा है, उसका लाभ मुझे जरूर मिलेगा और सभी कार्य सिद्ध हो जायेंगे।

परमात्मा के प्रति एकपक्षीय प्रीति क्यों?

कोई यहॉ सवाल उठा सकता है कि जब परमात्मा किसी से प्रीति नही करना चाहते, तब एकपक्षीय प्रीति करने से क्या लाभ है? इसका समाधान यो किया जा सकता है कि वर्तमान मे साधक भले ही रागद्वेषादि से लिप्टा है, लेकिन अगर वह दोषी वृत्ति वालो के साथ ही प्रीति करता रहेगा तो उसके दु:खो का कभी अन्त ही नही आएगा। उसके विभावभाव मे परिवर्तन नही होगा, न कभी स्वभावभाव का अनुभव होगा और न आत्मानन्द का ही। का
लोभी, रागी और द्वेषी देवादि के साथ तो इस जीव ने अनन्तवार

उन्हे अपने स्वामी माने, लेकिन इससे उसका दुःख बढता ही गया, जन्ममरण कम न हुआ। इसीलिए श्रीआनन्दघनजी पहले अपने आपकी असलियत को स्पष्ट कर देते है–**'एकपखी लख प्रीतनी तुम साथे जगनाथ रे'**। अर्थात् यद्यपि आप वीतराग है, मै रागद्वेषवान हूॅ तथापि एक वस्तु अवश्य विचारणीय है कि मै आपके साथ जो प्रीति कर रहा हूॅ, एकपक्षीय होते हुए भी उसे कृपा करके आपको निभानी है। क्योकि भक्त के हृदय में जब भावभक्ति जागृत हो जाती है, तब भगवान् स्वय भक्त का हाथ पकड कर अपने चरणकमल मे रख लेते है और आपके चरणकमल मे रहने वाले मे रागद्वेष की वृत्तियॉ रहेगी ही कहॉ? वे दुर्वृत्तियॉ तो अपने आप भाग जाऍगी। राग-द्वेष या तो रागी-द्वेषी की सोहबत से बढते है या राग-द्वेष के कार्यो से बढते है। आपके पास तो रागद्वेष का अश भी नहीं है और रागद्वेष बढाने वाला कोई पदार्थ भी नही, आप तो परमवीतरागी है, तब रागद्वेष बढेगा ही कैसे? आपके पास तो सिर्फ आत्मानन्द है। भक्त जब बारबार इसी का लक्ष्य रख कर आपके चरण (सामायिकादि चारित्र) का सेवन करेगा तो वह अवश्य ही आपके जैसा बन जाएगा। इसलिए मै अन्त करणपूर्वक आपके साथ प्रीति करने की भावना प्रगट कर रहा हूॅ। अतः हे जग्तपति! आप मुझे हाथ पकड कर अपने चरणकमलो मे रख ले, मै इससे अवश्य ही कृतकृत्य हो उठूॅगा। इसलिए एकपक्षीय प्रेम होते हुए भी निश्चयनय की दृष्टि से शुद्धात्मा का शुद्ध आत्मा के साथ प्रेम है और वह उचित भी है, वही अन्ततोगत्वा, मेरा कार्य सिद्ध कर सकेगा।

अन्तिम गाथ. मे श्री आनन्दघनजी परमात्मा का व्यवहारिक रूप कैसा है? इसे बताते हुए उनके परम धर्म के सेवन का फल बताते है–

चक्री धरमतीरथतणो, तीरथ फल ततसार रे।
तीरथ सेवे ते लहे, 'आनन्दघन' निरधार रे।।

धरम.।।9।।

***अर्थ*–आप तो धर्मतीर्थ के बड़े चक्रवर्ती हैं। आपके तीर्थ का सर्वकर्म-क्षयरूप मोक्षफल या फल तो सर्वश्रेष्ठ तत्त्व के साररूप अनन्त-चतुष्टय या आत्मस्वरूप की प्राप्ति है। ऐसे सच्चे तीर्थ की कोई भक्तिभाव से सेवा करता है, वह आनन्दघनरूप (आत्मानन्द समूहरूप) निर्वाणपद को अवश्य ही प्राप्त करेगा।**

***भाष्य*–वीतरागप्रभु के धर्म की प्राप्ति कैसे और क्यों?**

पूर्वगाथाओ मे वीतरागप्रभु श्रीअरहनाथ के परमधर्म की प्राप्ति की

जिज्ञासा के सन्दर्भ मे स्वसमय-परसमय, द्रव्यार्थिकपर्यायाथिक व निश्चय व्यवहार की बाते समझाई थी। अतः उसी सन्दर्भ मे यहाँ व्यवहारनय की दृष्टि से प्रत्यक्ष मे वीतरागप्रभु के धर्म का दर्शन और उसके स्वीकार का फल बताया गया है। वास्तव मे परमात्मा का धर्म निश्चयनय की दृष्टि से प्रत्यक्ष दिखाई नहीं दे सकता, निश्चयदृष्टि से तो अमूर्त एकत्वस्वरूप अखण्ड अरूपी आत्मा का केवल कथन हो सकता है, या आत्मस्वरूपरमण की बात कही जा सकती है। उसका आचरण तो व्यवहारनय की दृष्टि से प्रत्यक्ष होने पर ही हो सकता है। हॉ तो, इसी दृष्टिकोण से यहाँ परमात्मा के तीर्थकररूप का वर्णन किया गया कि **'चक्री धरमतीरथतणो।'** वीतरागप्रभु श्रीअरहनाथजी सिद्ध हो गए, तब तो उनके परमधर्म को कोई जान नही सकता, सिद्धत्वदशा प्राप्त किए बिना, उस आदर्श के सम्बन्ध मे यथार्थ कल्पना तो हो सकती है, अनुमान एव आगम प्रमाण से भी वे जाने जा सकते है, किन्तु प्रत्यक्ष रूप मे नही। प्रत्यक्ष साकार एव सदेहरूप मे भगवान् को जानने के लिए उनका तीर्थकर या उससे पहले का रूप जानना-देखना आवश्यक है। तीर्थकर पद से पहले का उनका गृहस्थ-जीवन या चक्रवर्तीजीवन खास प्रेरणादायक या धर्म के आदर्शरूप मे प्रायः अनुकरणीय नही होता। इसी हेतु से यहाँ[1] **धर्मतीर्थ के चक्रवर्ती** के रूप मे भगवान् का निरूपण किया है। यद्यपि दीक्षा लेने से पहले श्रीअरहनाथ प्रभु चक्रवर्ती (राजराजेश्वर) थे, किन्तु उसका इतना मूल्य नही, जितना धर्मचक्रवर्ती का मूल्य है। आप स्वसमयरूप परमधर्म की प्राप्ति जगत् के भव्यजीवो को कराने और उन्हे ससारसागर से पार उतार कर मोक्ष प्राप्ति कराने के लिए धर्मतीर्थ के चक्रवर्ती बने। धर्मतीर्थ एक ऐसा तीर्थ है, जो जीव को नरकादि दुर्गति से बचा कर सद्गति प्राप्त कराता है, अथवा जन्म, जरा, व्याधि और मरणरूप भय से सर्वथा मुक्त करके अजर-अमर सिद्धत्व (मोक्ष) पद को प्राप्त कराता है। धर्मतीर्थ का मतलब ही होता है–जो तारे, सामने वाले किनारे जाने का रास्ता बताए, वह तीर्थ कहलाता है। भगवान् ने सभी भव्यजीवो को ससारसमुद्र से तारने के लिए[2] धर्मतीर्थ (धर्ममय संघ) की स्थापना की। धर्म का आसानी से आचरण कर सकने के लिए उसे संघबद्ध किया। साधु-साध्वी, श्रावक और श्राविका, इन चारो धर्माचरण करने वाले साधको के सघ (समूह)

1. धम्मवर-चाउरंत-चक्कवट्टी-नमोत्थुणं –शक्रस्तव
2 'धम्मतित्थयरे जिणे'–लोगस्ससूत्र 1

को धर्मतीर्थ माना गया। नदी या तालाब आदि पर बंधे हुए घाट को भी तीर्थ कहते है। घाट बंध जाने पर प्रत्येक व्यक्ति नदी या तालाब के पानी का आसानी से उपयोग कर सकता है, उसमे तैर भी सकता है। उसी प्रकार धर्म का घाट तीर्थंकर द्वारा बांध दिये जाने पर उसे धर्मतीर्थ के माध्यम से प्रत्येक भव्यजीव धर्मरूपी जल का आसानी से सेवन, आचरण और उपयोग कर सकता है और उस परमधर्म के द्वारा तैर भी सकता है। इसीलिए आपने केवल अपना ही आत्म-कल्याण नहीं किया, केवल स्वय ही नहीं तिरे, जगत् के जिज्ञासु भव्यजीवो का भी इस धर्मतीर्थ की स्थापना करके कल्याण किया और उन्हे भी ससारसागर से तारा। इसी प्रकार भगवान् ने धर्मचक्र का प्रवर्तन किया। धर्मचक्र मे सूर्य के चक्र से दसगुनी भव्यता होती है, तीर्थकर भगवान् के मुक्ति पधारने के बाद भी उनका धर्मचक्र ससार के लिए आदर्श होता है। वह धर्मचक्र अपनी शरण में आने वालो की चारो गतियो का अन्त कर देता है।

धर्मतीर्थ के आश्रय का फल

प्रभो! आपके तीर्थ के अस्तित्व का फल जगत् मे सारभूतरूप उत्तमतत्त्व का प्राप्त होना है अथवा तीर्थ का आश्रय करने का फल सारभूत तत्त्वो का बोध होना है। जीव, अजीव आदि नौ तत्त्वो का ज्ञान और उनमे से हेय और उपेक्ष्य का त्याग और उपादेय और ज्ञेय का स्वीकार तथा उपादेय एव ज्ञेय तत्त्वो पर श्रद्धा रखना, यही तीर्थ प्राप्त करने का उत्तम फल है और परम्परागत फल ससार-सागर के पार हो कर मोक्ष प्राप्त करना है। साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविकारूप चतुर्विध तीर्थ का आप जैसे महापुरुष भी 'नमो तित्थस्स' कह कर नमस्कार करते है। ऐसे तीर्थ को मैने प्राप्त किया है। इसे नमस्कार करके उसकी सेवा कर सकूं, यही मेरा अहोभाग्य होगा। ऐसे तीर्थ का स्वीकार करने के बाद तो आपश्री को मै अपने आदर्श नाथ (स्वामी) के रूप मे स्वीकार करूँ, उसका अनुसरण करूँ और आपके परधर्म को प्राप्त करके आत्मानन्दघन प्राप्त करूँ, यही मेरी जिज्ञासा है और मेरा निश्चय है कि मै अवश्य आनन्दघनमय मोक्षपद या आत्मानन्दमय सिद्धपद प्राप्त करूँगा।

इस गाथा मे एक बात स्पष्ट ध्वनित कर दी गई है कि जहाँ सर्वोच्च भूमिका प्राप्त न हो जाय, वहाँ तक व्यवहार-दृष्टि से तीर्थ का आलम्बन लेना और तीर्थसेवा करना मुख्य आधार है। तीर्थ-निरपेक्षरूप मे बाहुबलिमुनि की तरह चाहे जितनी साधना की जाए, फिर भी तत्त्व प्राप्त नही होता। प्रत्युत कई

की तथाभव्यता क्रमशः चढाने की होती है, इसलिए अपुनर्बन्धकभाव की अवस्था से ले कर ठेठ सर्वविरति-अवस्था तक मे चलने वाले बहुत जीव होते हैं। प्रत्येक ग्राहक प्रत्येक किस्म के माल को नही खरीदता, परन्तु दूकानदार को तो सभी किस्म का माल रखना पडता है। इसी प्रकार धर्म (शासन) तीर्थ को भी भिन्न-भिन्न कोटि के धर्मनिष्ठ जीवो को लक्ष्य मे रख कर आत्मविकास के छोटे-बडे तमाम साधनों का प्रचार और सुविधा जुटानी पडती है।

इसीलिए जिनशासन मे व्यवहार और निश्चय दोनो नयों की दृष्टि से पहले से लेकर चौदहवे गुणस्थान तक के जीवों को स्थान है। गौतमादि गणधर भी संघशासन के अनुशासन मे रहते थे। जो व्यक्ति नीची भूमिका का हो, उसे निश्चयनय की ऊँची भूमिका की बात कह कर हटाना ठीक नही और न निश्चय की उच्चभूमिका की योग्यता हो, उसे नीची भूमिका पर आना है। परन्तु उच्चभूमिका वाले में नीची भूमिका वाले जितनी चारित्र की मात्रा (नैतिक भूमिका) तो होनी ही चाहिए। किन्तु नीची भूमिका वाले उच्चभूमिका के अयोग्य व्यक्ति मे बुद्धिभेद पैदा करके इतो भ्रष्टस्ततो भ्रष्टः करना बिलकुल अनुचित है, पाप है। यही निश्चय और व्यवहार का रहस्य है।

सारांश—इस प्रकार इस स्तुति मे निश्चय और व्यवहार दोनो नयो की दृष्टि से परमात्मा के परमधर्म की जिज्ञासा प्रकट की है। परन्तु आगे चल कर यह बताया गया है कि द्रव्यदृष्टि से आत्मानुभव एक वस्तु है, इसी आत्मा के अनन्त पर्याय है। पर्यायदृष्टि से अनेक रूप धारण करते हुए भी आत्मा तो सोने की तरह एक ही है। अतः जैसे सोने के विविध गुण और पर्याय सोने से अलग नही है, उसी मे समा जाते है, वैसे ही आत्मा के दर्शन, ज्ञान और चारित्र आदि गुण या देव-मनुष्यादि पर्याय आत्मा से अलग नहीं है, उसी में समा जाते है। अतः निष्कर्ष यह है कि आत्मा को द्रव्यदृष्टि से एक और नित्यरूप मे देखने और निजस्वरूप सिद्ध करने का यह सब प्रयास है। इसी प्रकार पर्यायदृष्टि (व्यवहारनय) को छोड कर द्रव्यदृष्टि से देखने का भी मुख्य संकेत यहाँ किया गया है। जहाँ तक पर्यायदृष्टि नही छूटेगी, वहाँ तक ससार-परिभ्रमण है, व्यर्थ प्रयास है। अतः निश्चयदृष्टि से आत्मा को अनन्त, नित्य, अव्याबाध, रत्नत्रयमय जान कर ही निर्विकल्प रस पीने पर आनन्दघन की प्राप्ति हो सकती है। निश्चय को मद्देनजर रखते हुए ज्ञानपूर्वक जो व्यवहार हो, तीर्थसेवा हो, उसमे पीछे नही रहना , तभी वीतराग-परमात्मा का परमधर्म हस्तगत हो सकता है। ***

19. श्री मल्लिनाथ-जिन-स्तुति–

दोषरहित परमात्मा की सेवकों के प्रति उपेक्षा

(तर्ज–काफी, सेवक किम अवगणीए, देशी)

सेवक किम अवगणिये हो, मल्लिजिन! ए अब शोभा सारी।
अवर जेहने आदर अति दीये, तेहने मूल निवारी हो।।
मल्लि.।।1।।

अर्थ–हे मल्लिनाथ तीर्थकर प्रभो! आप (आपकी आत्मा की अनादिकाल से सेवा करने वाले) इन सेवकों–(काम, क्रोध, रागद्वेषादि) की अवगणना (उपेक्षा) क्यों कर रहे हैं? दूसरे जीव जिन काम-क्रोधादि को बहुत ही आदर देते हैं, उन्हें आप तो जडमूल से नष्ट कर रहे हैं! क्या इस समय यह सब आपके लिए शोभास्पद है? (व्यंग मे)

भाष्य–मधुर उपालम्भ

पूर्वस्तुति मे वीतराग परमात्मा के परमधर्म की जिज्ञासा की बात थी, इसमे वीतराग परमात्मा की उन सेवको के प्रति उपेक्षा के लिए श्रीआनन्दघनजी भक्ति के आवेश में आ कर मधुर उपालम्भ देते हैं कि आप तो वीतराग हो गए, तो लोग आपके स्वसमय या स्वधर्म के अन्तर्गत आ गए, उनके प्रति जो आपका कुछ लगाव प्रत्यक्ष नहीं तो, परोक्षरूप से है ही, वे लोग तो आपको अपना ही मानते हैं, इसलिए उन्हे आपके द्वारा नहीं तो, आपके भक्त कहलाने वाले लोगों द्वारा आदर-सत्कार मिलता है, लेकिन जो लोग आपके स्वधर्म या स्वसमय के अन्तर्गत नही आए, उनके प्रति आपका भी उपेक्षाभाव है और आपकी देखा देखी आपके भक्तो और अनुयायियो का भी उपेक्षाभाव है ! अत हे रागद्वेषरहित प्रभो! आपको न तो किसी के प्रति जरा-सा भी राग (लगाव) होना चाहिए और न किसी के प्रति उपेक्षा या घृणा (द्वेष) का भाव! आपको तो समभाव होना चाहिए। परन्तु मैं मानता हूँ कि आपको वीतराग हो जाने के बाद न तो भक्तों के प्रति राग है और न अभक्तो के प्रति द्वेष, मगर वे लोग या इन लोग आपकी तटस्थता और उदासीनतारूप समता को देख कर

लगा लेते है कि आप बिलकुल चुप हैं या बिल्कुल सकेत रहित हैं, इसलिए आपका उन सेवको के प्रति वर्तमान में उपेक्षाभाव है, जिन्होने लाखो-करोडो वर्षो तक आपकी सेवा की थी, आपकी सेवा में वे रात-दिन रह रहे थे, आपको एक क्षण भी अकेला नहीं छोडते थे। मेरा संकेत उन सेवको के प्रति है, जिनसे आपने अब एकदम मुख मोड लिया है? आप बडे आदमी हैं, महान् पुरुष हैं, क्या आपके लिए अपने सेवको को एकदम छिटका देना और अपने भक्तो को भी उनके प्रति तिरस्कार करने की प्रेरणा करना शोभास्पद है। जो (रागद्वेषादि) आपके अत्यन्त निकटवर्ती थे, उन्हे बिलकुल दूर ठेल देना और जो आपसे दूर-दूर रहते थे, उन्हें अपने नजदीक लेना, उनसे आत्मीयता स्थापित करना, क्या आप जैसों के लिए न्यायोचित है? माना कि आप महान् पुरुष हो गए और वे बेचारे एकदम नीची कोटि के रह गए, पर उन्हे ठुकराना तो नही चाहिए था, उन्हे उचित स्थान तो आपको देना ही चाहिए था? परन्तु आपने उन्हे उचित स्थान देना तो दूर रहा, उन्हें अपने पास भी नहीं फटकने दिया, आपने तो उनकी जडे ही काट दीं, उन्हे अपने पास से हटा दिया सो हटाया ही, अपने भक्तो को भी हिदायत दे दी कि वे भी उन्हे किसी प्रकार की तरजीह न दे, किसी प्रकार से अपनाएँ नहीं, जो उन्हे अपनाएगा, वह मेरे तीर्थ या धर्मचक्र का अनुयायी नहीं रह सकेगा, रहेगा तो भी उसका स्थान और दर्जा नीचा होगा। आप जानते ही है कि जो सेवक बेदिल हो जाता है, वह दुश्मन-का सा काम करता है, आपके वे पुराने तथाकथित सेवक अब आपके शत्रु बन गए और आपके भक्तो या अनुयायियो को सता रहे है, आपके साथ वैर का बदला उनसे ले रहे है।

एक बात और है, आपने जिन सेवको को उपेक्षित समझ कर निकाल दिया, उन्हें दूसरे सांसारिक जीव या मिथ्यादृष्टि देव बहुत ही आदरसम्मान देते है, मगर आपने तो उन्हे जडमूल से नष्ट कर दिया और कह दिया–'तुम्हें कहीं स्थान नहीं मिलेगा, क्या वर्तमान मे आपके ऐसा करने से आपकी सुन्दर शोभा होती है? अथवा वर्तमान स्थिति मे उनके प्रति ऐसा करने मे ही आपकी सारी शोभा है? पहले उन्हे आदर देने मे ही आपकी सुशोभा थी, अब उन्हे सर्वथा छुट्टी दे देने मे ही आपकी सारी शोभा है? यह सच है कि पुराने से पुराने सेवक होते हुए भी यदि वे अपना अहित करते हो, गुनहगार साबित हो, उन्हे अपनाने से दोषरूप परिणाम ही आता हो तो उन्हे निकाल देने मे सच्ची शोभा है। 'सेवक

वास्तव मे तीर्थंकर मल्लिनाथ सम्यग्दृष्टि बनने से पहले राग-द्वेषादि को अपने आत्मीय मानते थे, बाद में समझ आने पर एक मल्ल (पहलवान) की तरह आत्मा का अहित करने वाले, की-कराई साधना को चौपट करने और चारगतियों मे भटकने वाले उन रागद्वेषादि को शत्रुसा कार्य करने वाले समझ कर उनसे भिड पडे और उन्हे बिलकुल पछाड दिया, जडमूल से उखाड कर फैंक दिया। उन पुराने तथाकथित सेवको के उन अपराधो-दोषों को देख कर वीतराग भगवान् उनकी सेवकों मे गणना कैसे कर सकते थे? उन्होने अवगणना की और अपने तीर्थ के अनुयायियों को भी उनसे सावधान रहने का निर्देश किया। उनका यह कार्य शोभास्पद ही है।

इसीलिए उन पुराने तथाकथित 18 सेवको (वैभाविक गुणो और आत्मा के अहित करने वाले दोषों) को चुन-चुन कर वीतराग प्रभु ने फैक दिये, उनके पैर उखाड दिये, अपने पास तक नही फटकने दिये।

भगवान् ने उन अठारह दोषो को किस प्रकार, किस क्रम से और कैसे निकाल दिये? उनके निकालने पर क्या प्रतिक्रिया हुई? इसका विवरण श्री आनन्दघनजी ने इस स्तुति मे दिया है।

सर्वप्रथम आशा-तृष्णा का त्याग

श्री आनन्दघनजी ने **'अवर जेहने आदर अति दीए, तेने मूल निवारी'** इस पद में यह वीतराग परमात्मा के द्वारा आशा-तृष्णा-त्याग का भाव द्योतित कर दिया है। दूसरे (छद्मस्थ) लोग जिस आशा (तृष्णा) को अत्यन्त आदर-सत्कार देते है, उसे आपने मूल से ही रोक दी, अपने पास तक फटकने नही दी। आपको किसी भी सांसारिक वस्तु या व्यक्ति के प्रति आशा, स्पृहा या तृष्णा-लालसा नही रही। यहॉ तक कि आपने मुक्ति तक की आशा छोड दी थी। वीतरागप्रभु के जिन 18 दोषों का त्याग इस स्तुति मे बताया गया है, उनमे आशा का त्याग सर्वप्रथम दोष का त्याग है। पराई आशा हमेशा निराशा मे परिणत हो जाती है। हममे जो कुछ सत्त्व हो,उसी से पूरा-पूरा जी-तोड पुरुषार्थ करके काम लेना चाहिए, परन्तु दूसरा मेरा काम कर देगा, यह सोचना ही गलत है। इसी कारण वीतरागप्रभु ने आशादासी का जडमूल से त्याग कर दिया, वह यहॉ तक कि जब वे 12वे गुणस्थानक पर चढे, तब तो आपने मोक्ष की आशा भी छोड दी। इस प्रकार आप मूल से आशा के त्यागी है, इस पर जब मै सोचता हूँ और अपनी ओर या दुनिया की ओर देखता हूँ तो मुझे आप से एक प्रश्न पूछने

का विचार हो उठता है कि आप इस सेवक की अवगणना क्यो करते हैं? कहॉ तो आपका आशा-त्याग का गुण और कहॉ लोगो की आशा? इन दोनो का मेल कहॉ? इसलिए आशा पर आपकी विजय मुझे आश्चर्य-चकित कर देती है कि आपकी शोभा मेरे जैसे नम्र सेवक का त्याग करने मे नही, किन्तु उसे अपने बराबर बनाने मे है। अतः श्रीआनन्दघनजी प्रभु से अपने हृदय की बात निवेदन करके चुप हो जाते हैं और आगे किन दोषो (तथाकथित सेवको) का कैसे-कैसे त्याग किया यह बताने मे लग जाते है–

ज्ञानस्वरूप अनादि तमारूं ते लीधुं तमे ताणी।
जुओ अज्ञानदशा रिसावी, जातां काण न आणी, हो।।
मल्लि.।।2।।

_अर्थ_–प्रभो! आपका अनादिकाल से ज्ञानमय (ज्ञानचेतना) स्वरूप था। (परन्तु अज्ञानदशा के कारण वह दबा हुआ था) उसे अपने केवलज्ञान प्राप्त करके खींच लिया (ऊपर ले लिया)। उसके कारण, देखिये जो आपकी अज्ञानदशा (अज्ञानपन में जो अवस्था) थी, उसे आपने इतना अधिक रुष्ट (क्रुद्ध) कर दिया कि वह रुष्ट हो कर सदा के लिए चली गई, फिर आपने उसके जाने का कोई अफसोस (शोक) नहीं किया। वास्तव में सर्वज्ञता प्राप्त होते ही आपकी अज्ञानदशा का चले जाना, पूरा शोभारूप था।

_भाष्य_–अज्ञानरूप दोष का त्याग

श्रीआनन्दघनजी इस गाथा में बताते हैं कि प्रभु दूसरे दोष=अज्ञानदशा का त्याग किस तरह करते है और उसकी क्या प्रतिक्रिया होती है? प्रभु ने जब यह देखा कि यह 'अज्ञान' मेरे साथ बहुत-बहुत समय से लगा हुआ है और इसी कारण मैं जीवादि तत्त्वो के यथार्थ बोध नही कर पाता। अतः उन्होने अज्ञानदोष को दूर करने का प्रयत्न किया।

वास्तव मे आत्मा के साथ लगा हुआ यह अज्ञानदोष अनादिकालीन है। उसके रहते आत्मा क्या है? शरीर क्या है? ये सुख-दु ख किन कारणों से आते हैं? प्राणी शरीर के कारण, कुटुम्ब के दु ख को देख कर दु खी होता है, सुगुरु, सुदेव और सुधर्म को क्रमशः कुगुरु, कुदेव और कुधर्म मान कर तथा पाँचो इन्द्रियो के विषयो मे लुब्ध हो कर दु ख पाता है। धन, कुटुम्ब आदि जो पर-वस्तुएँ है, उन्हे अपनी मान कर दु ख पाता है; वह कर्म क्या है, वे क्या और कैसे उदय मे आते है? उन्हे कैसे काटा जा सकता है? प्राणी इन सब

वास्तव मे तीर्थंकर मल्लिनाथ सम्यग्दृष्टि बनने से पहले राग-द्वेषादि को अपने आत्मीय मानते थे, बाद मे समझ आने पर एक मल्ल (पहलवान) की तरह आत्मा का अहित करने वाले, की-कराई साधना को चौपट करने और चारगतियों में भटकने वाले उन रागद्वेषादि को शत्रुसा कार्य करने वाले समझ कर उनसे भिड पडे और उन्हें बिलकुल पछाड दिया, जडमूल से उखाड कर फैक दिया। उन पुराने तथाकथित सेवको के उन अपराधो-दोषो को देख कर वीतराग भगवान् उनकी सेवको मे गणना कैसे कर सकते थे? उन्होने अवगणना की और अपने तीर्थ के अनुयायियो को भी उनसे सावधान रहने का निर्देश किया। उनका यह कार्य शोभास्पद ही है।

इसीलिए उन पुराने तथाकथित 18 सेवको (वैभाविक गुणो और आत्मा के अहित करने वाले दोषो) को चुन-चुन कर वीतराग प्रभु ने फैक दिये, उनके पैर उखाड दिये, अपने पास तक नही फटकने दिये।

भगवान् ने उन अठारह दोषो को किस प्रकार, किस क्रम से और कैसे निकाल दिये? उनके निकालने पर क्या प्रतिक्रिया हुई? इसका विवरण श्री आनन्दघनजी ने इस स्तुति मे दिया है।

सर्वप्रथम आशा-तृष्णा का त्याग

श्री आनन्दघनजी ने **'अवर जेहने आदर अति दीए, तेने मूल निवारी'** इस पद मे यह वीतराग परमात्मा के द्वारा आशा-तृष्णा-त्याग का भाव द्योतित कर दिया है। दूसरे (छद्मस्थ) लोग जिस आशा (तृष्णा) को अत्यन्त आदर-सत्कार देते है, उसे आपने मूल से ही रोक दी, अपने पास तक फटकने नहीं दी। आपको किसी भी सांसारिक वस्तु या व्यक्ति के प्रति आशा, स्पृहा या तृष्णा-लालसा नहीं रही। यहाँ तक कि आपने मुक्ति तक की आशा छोड दी थी। वीतरागप्रभु के जिन 18 दोषो का त्याग इस स्तुति में बताया गया है, उनमे आशा का त्याग सर्वप्रथम दोष का त्याग है। पराई आशा हमेशा निराशा मे परिणत हो जाती है। हममे जो कुछ सत्त्व हो,उसी से पूरा-पूरा जी-तोड पुरुषार्थ करके काम लेना चाहिए, परन्तु दूसरा मेरा काम कर देगा, यह सोचना ही गलत है। इसी कारण वीतरागप्रभु ने आशादासी का जडमूल से त्याग कर दिया, वह यहाँ तक कि जब वे 12वें गुणस्थानक पर चढे, तब तो आपने मोक्ष की आशा भी छोड दी। इस प्रकार आप मूल से आशा के त्यागी हैं, इस पर जब मैं सोचता हूँ और अपनी ओर [illegible]या की ओर देखता हूँ तो मुझे आप से एक प्रश्न पूछने

का विचार हो उठता है कि आप इस सेवक की अवगणना क्यो करते है? कहॉ तो आपका आशा-त्याग का गुण और कहॉ लोगो की आशा? इन दोनो का मेल कहॉ? इसलिए आशा पर आपकी विजय मुझे आश्चर्य-चकित कर देती है कि आपकी शोभा मेरे जैसे नम्र सेवक का त्याग करने मे नही, किन्तु उसे अपने बराबर बनाने मे है। अतः श्रीआनन्दघनजी प्रभु से अपने हृदय की बात निवेदन करके चुप हो जाते हैं और आगे किन दोषो (तथाकथित सेवको) का कैसे-कैसे त्याग किया यह बताने में लग जाते है–

ज्ञानस्वरूप अनादि तमारूं ते लीधुं तमे ताणी।
जुओ अज्ञानदशा रिसावी, जातां काण न आणी, हो।।
मल्लि.।।2।।

अर्थ–**प्रभो! आपका अनादिकाल से ज्ञानमय (ज्ञानचेतना) स्वरूप था। (परन्तु अज्ञानदशा के कारण वह दबा हुआ था) उसे अपने केवलज्ञान प्राप्त करके खींच लिया (ऊपर ले लिया)। उसके कारण, देखिये जो आपकी अज्ञानदशा (अज्ञानपन में जो अवस्था) थी, उसे आपने इतना अधिक रुष्ट (क्रुद्ध) कर दिया कि वह रुष्ट हो कर सदा के लिए चली गई, फिर आपने उसके जाने का कोई अफसोस (शोक) नहीं किया। वास्तव में सर्वज्ञता प्राप्त होते ही आपकी अज्ञानदशा का चले जाना, पूरा शोभारूप था।**

भाष्य–**अज्ञानरूप दोष का त्याग**

श्रीआनन्दघनजी इस गाथा मे बताते है कि प्रभु दूसरे दोष=अज्ञानदशा का त्याग किस तरह करते है और उसकी क्या प्रतिक्रिया होती है? प्रभु ने जब यह देखा कि यह **'अज्ञान'** मेरे साथ बहुत-बहुत समय से लगा हुआ है और इसी कारण मै जीवादि तत्त्वो के यथार्थ बोध नहीं कर पाता। अतः उन्होने अज्ञानदोष को दूर करने का प्रयत्न किया।

वास्तव मे आत्मा के साथ लगा हुआ यह अज्ञानदोष अनादिकालीन है। उसके रहते आत्मा क्या है? शरीर क्या है? ये सुख-दु ख किन कारणो से आते है? प्राणी शरीर के कारण, कुटुम्ब के दु ख को देख कर दु खी होता है; सुगुरु, सुदेव और सुधर्म को क्रमशः कुगुरु, कुदेव अैर कुधर्म मान कर तथा पॉचो इन्द्रियो के विषयो मे लुब्ध हो कर दु ख पाता है। धन, कुटुम्द आदि जो पर-वस्तुऍ हैं, उन्हे अपनी मान कर दु ख पाता है; वह कर्म क्या है, वे क्यों और कैसे उदय मे आते हैं? उन्हे कैसे काटा जा सकता है? प्राणी इन सब

बातो के अज्ञानवश अनेक बुरे (पाप) कर्म करते है, षट्द्रव्य को न पहिचानने के कारण स्वपर का भेदज्ञान नही हो पाता। इस प्रकार अज्ञानदशा से ग्रस्त जीव अनादिकाल से ससार में परिभ्रमण करता आ रहा है। इस अज्ञानदशा का सर्वथा त्याग करके ज्ञानगुण का स्वीकार करना बहुत ही महत्त्वपूर्ण बात है। ज्ञान से लोकालोक प्रगट हो जाता है और जो विचार केवलज्ञानी प्रगट कर सकता है, वही श्रुतज्ञान से श्रुतानी कह सकता है। ज्ञान से जीवाजीवादि पदार्थो का यथार्थ बोध हो जाता है। ज्ञान आत्मा का लक्षण है, अनुजीवी गुण है। जहाँ तक आत्मा अपना स्वरूप नही जानता, वहाँ तक उसे बारबार ससार मे ठोकरे खानी पडती है, इसी कारण जीव ज्ञानावरणीय कर्मप्रकृति का सचय कर लेता है। जब आत्मा अपना ज्ञानस्वरूप धर्म समझ लेता है, तब ज्ञानावरणीय आदि कर्मप्रकृति से अपने आप छुटकारा पा लेता है। इसीलिए श्रीआनन्दघन जी कहते है–**ज्ञानस्वरूप अनादि तमारूं, ते लीधुं तमे ताणी।** अर्थात् आपने अपना जो अनादि-स्वरूप स्वभाव अज्ञानदशा के नीचे दबा हुआ था, अज्ञान की एडी तले कुचला जा रहा था, उसे जान कर ऊपर खींच लिया। मतलब यह है कि अज्ञान के चगुल से ज्ञान को आपने छुडा लिया और अज्ञान को छुट्टी दे दी। जब वह आपका अनादिकालीन साथी अज्ञान रूठ कर चला जा रहा था, तब भी आपने उसे मनाया नहीं। आप विचार तो करिए। अज्ञानदशा को आपने रुष्ट कर दिया। वह आपसे रुष्ट हो कर सदा के लिए चली गई, फिर भी आप उसके लिए अफसोस नही करते। अपना कोई स्नेहीजन किसी को छोड कर चला जाता हो, तो लौकिक व्यवहार मे उसके वियोग में लोग अश्रुपात करते है, शोक मनाते है, छाती कूटते है, पर आप तो किसी प्रकार का शोक करते ही नहीं, क्योकि शोक आदि सब अज्ञान के कारण होता है, आपने अज्ञान को समूल नष्ट कर दिया है और केवलज्ञान को अपना लिया, इसलिए शोक आदि का तो कोई सवाल ही नही है। आपने अज्ञानदशा का त्याग करके ज्ञानदशा अपनाई, यह भी मामूली काम नही है। आपने ज्ञान से स्वय को और ससार को प्रकाशित किया, महापुरुष बने, परन्तु इस सेवक की अवगणना क्यो कर रहे है? भूल क्यो रहे है? इसे भी अपनाइए, यह प्रार्थना है। आपकी यह गुणसरणी देख कर मुझे आनन्द होता है।

निद्रा सुपन जागर उजागरता, तुरीय अवस्था आवी।
निद्रा सुपन दशा रीसाणी, जाणी न नाथ! मनावी हो.।।

म.।।3।।

_अर्थ_-निद्रावस्था, स्वप्नावस्था, जागृत अवस्था और उजागरता=सदा जागृत-अवस्था (केवलदर्शनमय अवस्था), इन चार अवस्थाओं में से आपको तुरीय (केवलदर्शनमय-उजागर) अवस्था प्राप्त हुई, (इसे देख कर निद्रावस्था और स्वप्नदशा और उपलक्षण से जागृत अवस्था ये तीनों आपसे बिलकुल नाराज हो गई। आपने उन्हें रुष्ट होते जान लिया, फिर भी नाथ! आपने उन्हें मनाई नहीं।

_भाष्य_-निद्रा और स्वप्न दोनों दोषों का त्याग

वीतराग सदा जागृत रहते है। उनमे द्रव्य और भाव दोनो प्रकार से सतत् जागृति रहती है। इसीलिए श्रीआनन्दघनजी ने इस गाथा मे स्पष्ट कर दिया कि-**'निद्रा सुपन जागर........ तुरीय अवस्था आवी'** वीतराग प्रभु के ज्ञानावरणीय कर्म के साथ-साथ दर्शनावरणीय कर्म भी नष्ट हो जाता है। दर्शनावरणीय कर्म की 9 प्रकृतियॉ होती है-1 निद्रा, 2 निद्रानिद्रा, 3 प्रचला, 4 प्रचला-प्रचला 5 स्त्यानर्द्धिनिद्रा, 6 चक्षुदर्शनावरणीय 7 अचक्षुदर्शनावरणीय, 8 अवधिदर्शनावरणीय और 9 केवलदर्शनावरणीय। इनमे से प्रथम **निद्रादशा** है, जिसमे 5 प्रकार की निद्रा का समावेश हो जाता है। **निद्रा**=सरलता से प्राणी जागृत हो जाय, वह निद्रा है, **निद्रानिद्रा**-जिसमे प्राणी बहुत ही हिलाने, झकझोरने या जोर से आवाज देने पर जागे, उसे निद्रानिद्रा कहते है, **प्रचला**-उठते बैठते नीद आए, उसे प्रचला कहते है, **प्रचला-प्रचला**-चलते फिरते नींद आए, उसे प्रचला-प्रचला कहते है और **स्त्यानर्द्धिनिद्रा**-दिन को विचारा हुआ काम रात को नींद ही नींद मे कर ले, उसे स्त्यानर्द्धिनिद्रा कहते है। निद्रा की ही दूसरी अवस्था **स्वप्नदशा** है, जिसमे विचित्र-विचित्र स्वप्न आते है, यह भी नीद की ही एकदशा है। इसमे भी निद्रादशा की तरह दर्शन एक बिलकुल जाता है। यह निद्रा भी खराब है। निद्रा लेने और जागने के सम्बन्ध मे तीसरी **जागृतदशा** है। मनुष्य जागता हो, तब तो सभी चीजो को देख सकता है। उसका दर्शन भी उस समय जागृत रहता है। यह जागृतदशा निद्रादशा से बिलकुल उलटी है और चौथी तृतीय अवस्था होती है। इस दशा मे सतत् जागृति होती है, सर्वदा सतत् दर्शन भी उपस्थिति रहता है। चारों दशाओ मे से किसकी कौन-सी दशा होती है? यह विशंतिका मे बताया है। [1] मोहअनादिनिद्रा है,

1. मोहो अणाइनिद्दा, सुवणदशा भव्वबोहिपरिणामो।
अपमत्तमुणी जागर, जागर उजागर वीयराउत्ति।।

भव्यबोधि परिणाम स्वप्नदशा है। जागतृदशा अप्रमत्तमुनियो की होती है और उजागरदशा वीतराग को प्राप्त होती है। तीर्थकरों और सिद्धो को उजागरदशा हमेशा रहती है। वे नींद चाहते ही नहीं। रातदिन सतत् जागृत रहते है। यहाँ श्री आनन्दघनजी प्रभु को मीठा उपालम्भ देते हुए कहते है-'' नाथ! आपने जब उजागरदशा (केवलदर्शनमय अवस्था) अपना ली तब आपकी चिरसंगिनी निद्रादशा और स्वप्नदशा ये दोनो आपसे पूरी तरह रुष्ट हो गई, उनके साथ आपको चिरकालीन परिचय होते हुए भी आपने उन्हे मनाने का प्रयास भी नही किया।

मतलब यह कि जीव की जागृत, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीया, इन चारो अवस्थाओ में से जागृत मे व्यक्ति चर्मचक्षुओ से तमाम पदार्थो को यथार्थ (यथावस्थित) रूप मे देख सकता है, स्वप्न मे जागृत अवस्था में देखी हुई वस्तुओं को देखता है, सुषुप्ति दशा में व्यक्ति गाढ निद्रा का अनुभव करता है, देखी-सुनी हुई किसी चीज को निद्रा मे नहीं देख पाता और चौथी तुरीयावस्था होती है, जिसे केवलावस्था या समाधि-अवस्था भी कहा जाता है। इसमे समस्त सांसारिक भाव नष्ट हो कर आत्मभाव की जागृति हो जाती है। तभी इस अवस्था का अनुभव होता है। इस अवस्था में तमाम वस्तुओ के गुणदोष देखे जा सकते है, इसलिए वस्तु के अवश्य मूलस्वरूप की ओर उसकी दृष्टि रहती है, यही अवस्था साक्षात्कार की है।

इस तुरीय अवस्था के समय जीव की जागृत और स्वप्नदशा चली जाती है। आत्मा तब केवलज्ञान-दर्शन का साक्षात्कार कर लेती है। तब उसका अनादि अनात्म-स्वभाव निद्रा-स्वप्न आदि प्रकृति नष्ट हो जाती है। इन दोनो अवस्थाओ के चले जाने पर फिर आत्मा उनको मनाने और वापिस मोड कर लाने का प्रयास नही करता।

त्याज्य अठारह दोषो मे से तीसरे दोष-निद्रादशा और चौथे दोष स्वप्नदशा के त्याग की बात आती है। वीतरागप्रभु इन ने दोनो दोषो का त्याग करके दो गुणो को अपनाया तो उपर्युक्त दोनो दोष रुष्ट हो कर चले गए। आपने उन्हें मनाने का प्रयास नहीं किया। आपके लिए यही शोभास्पद है।

समकित साथे सगाई कीधी, सपरिवारशुं गाढ़ी।
मिथ्यामति अपराधण जाणी, वरथी काढ़ी, हो।।

म.।।4।।

_अर्थ_–आपने तो परिवारसहित शुद्ध सम्यक्त्व के साथ गाढ़ सम्बन्ध (सगाई) कर लिया, यानी शुद्ध क्षायिक सम्यक्त्व (सम्यग्दर्शन) और उसके परिवार के साथ अविच्छिन्न सम्बन्ध जोड़ लिया। इस कारण मिथ्यामति (सत्य को असत्य मानने वाली बुद्धि) को अपराधिनी (गुनहगार) जान कर घर (आत्मरूपी गृह या मनमन्दिर) से बाहर निकाल दी।

_भाष्य_–प्रभु ने मिथ्यात्वदोष का कैसे निवारण किया?

प्रभो! अपने पॉचवे मिथ्यात्वदोष का निवारण कैसे किया? इसकी कहानी भी आश्चर्यजनक है। ज्ञानावरणीय और दर्शनावरणीय के साथ मोहनीयकर्म अवश्य होता है, जिसकी मूल प्रकृति दो है–मिथ्यामति और मिथ्याविचारणा। प्रभु (शुद्धआत्मा) जब आत्मभाव मे स्थिर होते है, तब स्वपर की यथार्थ प्रतीति होती है और तभी से वे अपने कुटुम्बियो के साथ सम्बन्ध जोडते है एवं दुःख तथा व्यामोह उत्पन्न करने वाले परस्वभावी सम्बन्धियो से सदा के लिए नाता तोड देते है–सम्बन्धविच्छेद कर लेते है। आत्मा की आत्मीय सम्यग्दृष्टि है। सम्यग्दृष्टि का परिवार है–शम, संवेग, निर्वेद, अनुकम्पा, आस्तिक्य और भेदविज्ञान, विवेक आदि। अथवा सम्यक्त्व के 67 बोलो का समावेश भी परिवार मे शुमार है।

भगवान् मल्लिनाथ जब वीतराग हो कर स्वरूप मे स्थिर हुए, क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त किया, तब क्षायिक सम्यक्त्व और उसके समस्त परिवार के साथ उन्होने ऐसा गाढ सम्बन्ध जोडा कि फिर वह कभी टूट न सके। सादि–अनन्त भंग की दृष्टि से उन्होने जब अटूट सम्बन्ध जोड लिया तो मिथ्याबुद्धि (मिथ्यादृष्टि-मिथ्यात्व) ने आपत्ति उठाई और अपने हक का दावा करने लगी। किन्तु जब तक क्षायिकसम्यक्त्व नहीं था, तब तक तो वह चुपके–चुपके घुस जाती और अपनी मोह-माया को फैला कर आत्मा को चक्कर मे डाल देती थी, लेकिन जब भगवान् ने क्षायिक सम्यक्त्व पा लिया तो उसकी पोलपट्टी का पता लगा, आत्मा के अहित करने वाले विविध अपराधो का भी पता चला। अतः वीतराग परमात्मा ने कुदृष्टि (मिथ्यामति) के कारण बारबार होने वाले आत्मगुण के अवरोधों को दूर करने हेतु उसे अपराधिनी सिद्ध करके उससे सदा के लिए सम्बन्ध-विच्छेद कर डाला और उसे अन्तरात्मारूपी घर से बाहर निकाल दी। मतलब यह है कि क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त होते ही भगवान् ने मिथ्यादृष्टि का आत्यन्तिक क्षय कर डाला। बाद मे उसकी कोई परवाह नहीं

की। इससे प्रभु के स्वभाव का पता लग गया कि वे गुणो का आदर और अवगुणों का अनादार करते है।

मिथ्यात्व के द्वारा होने वाले अपराध

मिथ्यादर्शन (दृष्टि) आत्मा का विविध प्रकार से अहित करता है। शास्त्रो मे मिथ्यात्व के अनेक भेद बताए गए है—धर्म को अधर्म और अधर्म को धर्म मानना, साधु को असाधु और असाधु को साधु मानना, मोक्षमार्ग को ससार का मार्ग और ससार के मार्ग को मोक्षमार्ग समझना, आठ कर्मो से मुक्त को अमुक्त और अमुक्त को मुक्त समझना, जीव को अजीव और अजीव को जीव मानना, ये सब मिथ्यात्व है, जो आत्मा को वस्तु का असली स्वरूप समझने-मानने नही देते। खरे को खोटा और खोटे को खरा मानना ही वस्तुतः मिथ्यात्व है। इसी प्रकार मिथ्यात्व के मुख्य 5 एव 25 भेद है। 5 भेद इस प्रकार है—आभिग्रहिक, अनाभिग्रहिक, आभिनिवेशक, सांशयिक एव अनाभोगिक मिथ्यात्व।

1. **आभिग्रहिक**—कुदेव को सुदेव, कुगुरु को सुगुरु एवं कुधर्म को सुधर्म माने, पकडी हुई जिद्दछोडे नही, वहाँ यह मिथ्यात्व है। 2. **अनाभिग्रहिक**—सभी देव, सभी गुरु और सभी धर्मो को बिना सोचे-समझे एक सरीखे माने, वहाँ यह मिथ्यात्व होता है। 3.**आभिनिवेशिक**—सच्चे देव आदि को न माने, पर बाप-दादो ने जो किया, उसे ही किया करे, गतानुगतिक हो, वहाँ यह मिथ्यात्व होता है। 4. **सांशयिक**—वीतराग आप्तपुरुषो के वचनो पर कुशंका करे, सशय-निवारण न करे, वहाँ ऐसा मिथ्यात्व होता है। 5. **अनाभोगिक मिथ्यात्व**—मूढता और बौद्धिक जडता के कारण अच्छे-बुरे का या हिताहित का भान न हो, धर्माधर्म का भी कुछ पता न चले, जहाँ एकेन्द्रियादि जीवो की तरह ओघसज्ञा से प्रवृत्ति हो, वहाँ यह मिथ्यात्व होता है।

मिथ्यात्व के इन प्रकारो को देखते हुए सहज ही यह पता लग जाता है कि मिथ्यात्व आत्मा का सबसे ज्यादा अहित करता है, वह सारी साधना को, सद्ज्ञान को, सद्बुद्धि को चौपट कर देता है। आत्मा जिन अच्छे विचारो को कार्यरूप मे परिणत करना चाहती है, मिथ्यात्व उन सब कार्यक्रमो को उलटा कर देता है। यही कारण है कि वीतराग प्रभु इसे अपराधी एव अहितकर समझ कर सर्वथा बहिष्कृत कर देते है।

अब अगली गाथा मे भगवान् ने हास्यादि 6 दोषो का कैसे निवारण किया, इस विषय मे कहते है—

हास्य, अरति, रति, शोक, दुगुंछा, भय पामर करसाली।
नोकषाय गजश्रेणी चढ़तां, श्वानतणी गति झाली हो।।
म.5।।

अर्थ–हास्य, अरति (चित्त का उद्वेग), रति (पाप में प्रीति), शोक (अनिष्ट के संयोग और इष्ट के वियोग से होने वाली ग्लानि), दुगुंछा (जुगुप्सा=घृणा, मानसिक ग्लानि), भय। इन 6 पामर एवं कर्म की खेती करने वाले कृषक अथवा कर्मों को बटोर कर संग्रह करने वाली दंताली (करसाली) रूप नोकषायों (आत्मा को थोड़ी मात्रा में बिगाड़ने वाली कषायभावना) के क्षय करके आत्मगुणों पर आरोहण कराने वाले क्षपकश्रेणीरूपी हाथी पर आपके चढ़ते ही इन सब नोकषायों ने कुत्ते की चाल पकड़ ली। यानी उस क्षपकश्रेणीरूपी हाथी को देखकर भौंकने लगे और जब वह नजदीक आया तो दुम दबा कर भाग गए।

_भाष्य_–हास्यादि षड्दोषों के निवारण के बाद

अप्रमत्त-अवस्था मे प्रभु मे ये 6 दोष थे। परन्तु जब उन्होने देखा कि इन नोकषायरूपी (हास्यादि 6 और 3 वेद) कुत्तो को ज्यों-ज्यो पुचकारते है, त्यो-त्यो नजदीक आते है और जब इन्हे दुत्कारते है तो ये भौकने लगते है। अतः आपने इन 6 को आत्मा के प्रति गैरवफादार देख कर इन्हे दूर करने का प्रयत्न किया। जब तक आपको वृत्ति और आत्मस्वभाव में रमणता का मुझे पता न था, वहॉ तक मै अपने मन मे यह समझता था कि हास्यादि नौ नोकषाय आपके सेवक होगे, मै भी हास्यादि मे सुख मानता था, लेकिन जब से आपके वास्तविक स्वरूप और सुख को मैंने समझा, मुझे असलियत का पता चल गया कि नौ नोकषायो मे सुख मानना तो पागलपन है, ये तो कषाय के ही छोटे भाई हैं, मोहनीय कर्म के बेटे है, इसलिए बडे भयकर है, ये सुख के ही नही, आत्मगुणो के घातक है।

और मैने देखा कि जब से आपने अपना स्वरूप संभाला, उग्र तप-सयम द्वारा आपने क्षपकश्रेणी पर चढना शुरू किया, तब मुझे ऐसा लगा मानो कोई विजयी पुरुष हाथी पर चढा जा रहा है और उसके पीछे कुत्ते भौंक रहे हैं। सचमुच जब आप क्षपकश्रेणी रूपी हाथी पर चढे तो ये हास्यादि छह कुत्तो की तरह भौंकने लगे, परन्तु आपने उनकी ओर देखा तक भी नही, आप तो चुपचाप मोक्षपुरी के दरवाजे के सामने पहुॅच गए। बेचारे कमजोर हास्यादि नौ कषायो की जब दाल नहीं गली तो चुपचाप दुम दबा कर भाग गए। किन्तु इन सबका

स्वभाव कुत्ते की नाई खिंच आने का (करसाली) है, कुत्ते को जितना पुचकारेंगे, उतना नजदीक खिचता चला जाएगा, वैसे ही ये है।

हास्यादि 6 नोकषाय प्रत्येक आत्मा का बहुत बडा अहित करते है, वीतराग प्रभु के भी ये शत्रु बने थे। हास्य इन सबका अगुआ है। हॅसी-मजाक कितना बडा नुकसान कर बैठती है, उससे मित्र भी किस प्रकार शत्रु बन जाते है और एक दूसरे के प्राण लेने पर उतारू हो जाते है, यह किसी से छिपा नही है। इसलिए हास्यकषाय आत्मार्थी के लिए त्याज्य है। रति भी दूसरा नोकषाय है, इससे व्यक्ति अनुकूल पौद्गलिक पदार्थ या पद, प्रतिष्ठा आदि मिलते ही मन मे प्रसन्न हो उठता है। इससे भी कर्मबन्ध करता है। इसी तरह तीसरा नोकषाय अरति है, जिससे व्यक्ति प्रतिकूल पदार्थ, व्यक्ति वा पदादिपा कर घृणा कर बैठता है, घबरा जाता है। चौथा है-शौक, जिससे प्रियवस्तु या व्यक्ति के वियोग मे या अप्रिय के सयोग मे व्यक्ति हाय-तौबा मचाता है, अफसोस करता है, छाती-माथा कूटता है। इसके बाद का नोकषाय है-भय, जो आत्मा को अपने स्वभाव से बहुत जल्दी विचलित कर देता है। वह भी जब अपने दल बल सहित आता है, तो व्यक्ति किसी गदी, घिनौनी या अपवित्र वस्तु को, शरीर को या जगह को देख कर घृणा से मुॅह मचकोड लेता है। यह भी वस्तुस्वरूप की नासमझी का परिणाम है। परन्तु वीतरागप्रभु को क्षपकगज पर देखते ही ये भाग गए। ज्यो-ज्यो प्रभु सयमस्थान पर चढते गए, त्यो-त्यो इन छहो को चले जाना पडा। कमजोर को देख कर तो ये उस पर हावी हो जाते है। परन्तु भगवान् के आगे जब अनन्तानुबन्धी आदि बडे-बडे दिग्गज हार मान कर चले गए तो इन बेचारो की क्या बिसात थी? इनका चले जाना भगवान् के लिए शोभारूप ही हुआ।

प्रभो! आपका यह अद्भुत तेजस्वी स्वभाव देख कर मुझे भी यह प्रेरणा मिली है कि मुझे हास्यादि 6 दोषों से सावधान रहना चाहिए, इन्हे जरा भी मुॅह नही लगाना चाहिए। आप मेरे आदर्श है, इसलिए मुझे भी आपकी तरह गजगति पकड कर इन नोकषायो पर विजय पाना चाहिए।

इसके बाद श्रीआनन्दघनजी चारित्रमोहनीय कर्म के दिग्गज सुभटो को भगवान् के द्वारा पराजित करने की कहानी लिख रहे है-

राग, द्वेष, अविरतिनी परिणति, ए चरण मोहना योद्धा।
वीतराग-परिणति परिणमतां, उठी नाठा बोधा, हो।।

मल्लि.।।6।।

कहता है कि [illegible] को नहीं [illegible]. राग-द्वेष के नशे में [illegible] और इन्द्रियों के अनुकूल संयोगों में इतना मशगूल हो जाता है कि [illegible], वह अपना सर्वस्व होमने को तैयार हो जाता है, अपमान सह लेता है, भूख, प्यास और नींद तक को हराम कर बैठता है। इस प्रकार [illegible] से साधक की आत्मा अपने स्वभाव से गिर जाती है, वह पनप नहीं पाती। बार-बार जन्म-मरण के चक्कर में डाल देते हैं, ये ही हमलावर! मोहनीयकर्म के ये बड़े जबर्दस्त लड़ाकू योद्धा हैं। तीसरा है—अविरति नामक दोष। जब साधक के जीवन और अन्तर्मन मे अविरति पैदा हो जाती है तो वह आत्मा को विरूप बनाने वाले भावो का त्याग नहीं कर पाता, हिंसादि पॉचों आश्रवों को वह आत्मघातक समझते हुए भी छोड नहीं पाता, हिंसादि को छोडने का विचार करते ही कभी तो अभिमान बीच मे आ कर रोक देता है, कभी अपनी गलत आदत, दुर्व्यसन, कुदेव या कुप्रकृति उसमें रोडे अटकाती है, कभी-कभी क्रोध, कपट या लोभ आ कर विरति का हाथ पकड लेते हैं और उसे पीछे धकेल देते है। मोहराजा का आदेश होते ही ये तीनो एकदम आत्मा की स्वाभावपरिणति पर धावा बोल देते है। सामान्य साधक को तो ये झटपट पराजित कर बैठते है, उसकी स्वभावपरिणति की साधना को मिनटो मे चौपट कर देते हैं; परन्तु वीतरागप्रभु यह सब [illegible] जानबूझ कर कैसे सह सकते थे? उन्होंने वीतराग-(शुद्ध आत्मभाव) की परिणति पकडी। इनको जरा भी मुंह नहीं लगाया, [illegible] को वीतरागपरिणति मे रमण करते करते देख कर राग, द्वेष और मोह [illegible] तीनो परिणतियो के कान खड़े हुए, वे झटपट भागे और [illegible]

खरगोश के सींग की तरह उनका कोई अता-पता ही नही चला। प्रभु ने उन्हे जाते देख कर बुलाए या अपनाए नही। प्रभो! आपके इस स्वभाव को देख कर मुझे भी बडी प्रेरणा मिली है कि आपने जिस प्रकार मन मजबूत करके हिम्मत के साथ इन तीनों महादोषो की ओर जरा भी नहीं देखा, न इन्हे तरजीह दी, और डट गए अपने शुद्ध आत्मभावों में, इसी प्रकार मै भी अपनी स्वभावपरिणति में डटा रहूँ, अडिग रहूँ, बशर्ते कि आप इस सेवक की अवगणना न करे!

अब श्री आनन्दघनजी वीतराग परमात्मा के द्वारा त्यक्त काम्यक रसनाम के 15वे दोष की कथा अकित करते है–

वेदोदय कामा परिणाम, काम्यकरस[1] सहु त्यागी।
निष्कामी करुणारससागर अनन्त-चतुष्क-पद पागी, हो।।
म. 7।।

अर्थ–**स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसकवेद के उदय से काम के जो परिणाम होते हैं (कामभोग या काम वासना के प्रति विषय की जो लहरें उठती हैं) उन्हें तथा समस्त काम्यकरस काम के अनुकूल विषयास्वाद अथवा कामनाजनित अनुकूल विषयों, कर्मो या पदार्थो के आस्वाद का आपने त्याग कर दिया और निष्कामी काम=इच्छा काम-मदनकाम दोनों से रहित हो गए। इन समस्त कामरसों का त्याग करने के बावजूद भी आप करुणारस के सागर बन गए। निष्काम होने के कारण आप में अनन्तज्ञान-दर्शन-सुख वीर्यरूप अनन्तचतुष्टय-पद पनपा, प्रगट हुआ।**

***भाष्य*–काम्यकरसदोष का त्याग क्यों और कैसे?**

वीतरागप्रभो! आपने वेदोदयजनित चौदहवे दूषण समस्त काम अथवा काम्यकरस का त्याग कर दिया, परन्तु सवाल यह होता है कि वेद क्या है? काम क्या है? उससे आत्मा की क्या हानि होती है? इस बात को समझ लेने पर काम पर विजय प्राप्त करना आसान होता है। काम का एक मदनकाम के रूप में आविर्भूत होना वेद है। कामवासना जब उदित या उत्तेजित होती है, तो बडो-बडो के काबू मे नही आती,उस समय मन मे कामभोगो की प्रबल इच्छाओ का वेदन=अनुभव होता है, कामोत्तेजना का मानसिक वेदन ही वेद है, चाहे वह क्रियान्वित हो, चाहे न हो और काम का दायरा तो इससे भी बढकर व्यापक

1. 'काम्यकरस' के बदले किसी प्रति में 'काम्यकरम' शब्द मिलता है, उसका *अर्थ होता है–कामना (इच्छा) से जनित कर्म का प्रभु ने सर्वथा त्याग कर* दिया।

है। जैसे इच्छाएँ आकाश के समान अनन्त है, वैसे ही इच्छा-काम भी अनन्त है। उन सब पर विजय पाना बडी टेढी खीर है। पाँचो इन्द्रियो के विषयों से जनित विकार भी इच्छाकाम के अन्तर्गत है। कोई सुन्दर एव मनोज्ञ वस्तु उपलब्ध न हो, उसकी इच्छा को दबा लेना, फिर भी आसान है, किन्तु वस्तु उपलब्ध हो सकती हो, फिर भी उसकी इच्छा को दबाना ही नही उत्पन्न ही न होने देना, बहुत ही कठिन काम है। परन्तु वीतराग परमात्मा ने पूर्वोक्त दोनो ही प्रकार के कामो के स्वाद का ही जडमूल से त्याग कर दिया, कामो को पूर्ण करना तो दूर रहा, उनका मन मे परिणाम (भाव) ही नही पैदा होने दिया। इसीलिए श्रीआनन्दघनजी ने कहा–**"वेदोदय कामा परिणामा, काम्यकरस सहु त्यागी रे।"**

वास्तव मे वेद मोहनीय कर्म के अग है, नोकषायो मे से तीन है। इससे पहले हास्यादि छह दोषो का त्याग का वर्णन किया था। एक कामशब्द मे ही इन तीनो वेदो का समावेश हो जाता है। तीन प्रकार के वेद ये है–स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुसकवेद। मोहनीय कर्म (वेद) के उदय से जब किसी पुरुष को स्त्री के साथ भोग भोगने की इच्छा पैदा हो, उसे पुरुषवेद; स्त्री को पुरुष के साथ रतिसहवास की इच्छा हो, तब स्त्रीवेद एव पुरुष और स्त्री दोनो के साथ सहवास की इच्छा हो, तब नपुंसकवेद कहलाते है। इसी प्रकार पाँचो इन्द्रियो के विविध विषयो, वस्तुओ या सम्मानादि की कामनाओ का उत्पन्न होना इच्छा काम है। किसी वस्तु, विषय या सम्मान आदि को प्राप्त करने की लालसा मन को गुदगुदाने लगती है, मनुष्य इच्छाओं से व्याकुल हो कर उन्हें पूरी करने मे तन, मन, धन सर्वस्व लगा देता है, फिर भी बीमारी, विघ्न, इन्द्रियनाश आदि कारणवश उसकी वे इच्छाएँ पूरी नहीं हो पाती। इच्छाएँ मनुष्य को व्याकुल कर देती है, उन्हे पूरी करने के लिए मनुष्य उतावला हो उठता है। एक इच्छा पूरी होते न होते, दूसरी आ धमकती है। फिर इच्छा पूरी न होने पर मनुष्य निराश और दु खी होकर कई बार आत्महत्या तक कर बैठता है। दूसरे की इच्छाए पूरी होते देख कर उसके प्रति ईर्ष्या, द्रोह और द्वेष का भाव मनुष्य के मन मे आ जाता है। अभीष्ट इच्छा की पूर्ति हो जाने पर भी उसके वियोग मे मनुष्य तडपता है, फिर उसे पाने की इच्छा बलवती हो उठती है, कनक और कामिनी ये काम के स्थूल प्रतीक है, जिसके लिए मनुष्य ने बडे-बडे युद्ध किए, और पतगे की तरह अपने प्राणों को होम दिया।

वीतरागप्रभु ने इन दोनो प्रकार के कामो को इसलिए मन से भी त्याग दिये कि ये आत्मा का बहुत बडा अहित करते है। जन्म-जन्म में प्राणी को ये रूलाते है, दु·खी करते है, इनका गुलाम बना हुआ व्यक्ति अपने धर्म, अपना आत्मस्वभाव, अपनी नैतिक मर्यादा, अपनी विकास की सब बाते ताक मे रख देता है। जिसमे मदनकाम (वेदोदय) तो इतना प्रबल है कि बडे-बडे साधको को पछाड देता है। बाहर से किसी प्रकार से उपलब्ध न होने या न हो सकने पर भी साधक मन ही मन उसे पाने की धुन मे उधेडबुन करता रहता है। आग मे घी डालने पर कैसे आग शान्त होने के बदले अधिकाधिक भड़कती है, वैसे ही काम को भोगने पर वह शात होने के बदले अधिक भडकता है। इसीलिए दशवैकालिक सूत्र मे कहना पडा–'जो काम (दोनों प्रकार के काम) का निवारण नहीं कर पाता, वह श्रमणधर्म का कैसे पालन कर सकता है? वह पद-पद पर संकल्पो के वशीभूत होकर दुःख पाता रहता है। यही कारण है कि वीतरागप्रभु के (मल्लिनाथ) ने दोनो प्रकार कामो और उनके परिणाम के रसास्वाद को बिल्कुल तिलाजलि दे दी और निष्कामी बन गए।

कोई यह प्रश्न उठा सकता है जब भगवान् कामरस से बिलकुल खाली हो गए तो सूखे, मनहूस और नीरस बन गए होगे, किन्तु यह बात नही है। वे वीतराग हो जाने पर सर्वथा उदासीन या उपेक्षाग्रस्त नहीं होते। उन्होने ससारी जीवों को अज्ञानवश दु ख मे पडे देख कर तीर्थस्थापना की, संघ व्यवस्था की, साधु-साध्वियो के विकास के लिए उनके द्वारा पुरुषार्थ हुआ, दया और करुणा से प्रेरित हो कर ही उन्होने उपदेश दिया। इसलिए वे नीरस नहीं, अपितु करुणारस से परिपूर्ण समुद्र हो गए। उन्होने अपने अनुभव भव्यजीवो को दिये। स्वय अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख और अनन्तवीर्य (शक्ति) इन चारो पदरूप मोक्षपद के अधिकारी बने। प्रभो! सचमुच, आप जब इतने अनन्तचतुष्कवान बने है तो अपने इस सेवक को मत भूलिए।

अपने आध्यात्मिक विकास के मार्ग मे जो भी विघ्न है, उन्हे प्रभु कैसे दूर करते है, यह अगली गाथा मे देखिए–

---

1. **कहं न कुज्जा सामण्णं, जो कामे न निवारए।**
   पए-पए विसीयंतो, संकप्पस्स वसं गओ।।

–दशवै अ.2, गा. 1

दान-विघन वारी सहु जन ने, अभयदान-पददाता।
लाभ-विघन, जग-विघन-निवारक, परमलाभरस-माता, हो।।
म.।।8।।

वीर्यविघन पंडितवीर्ये हणी, पूरणपदवी योगी।
भोगोपभोग दोय विघन निवारी, पूरणभोग सुभोगी हो।।
म.।।9।।

अर्थ-दान देने में विघ्न (दानान्तराय) का निवारण करके प्रभो! आप सबको (दानों में सर्वश्रेष्ठ) अभयदान (भयनिवारणरूप दान) के पद (अधिकार) अथवा निर्भयपद (स्थान)=मोक्ष के देने वाले बने। लाभ (पदार्थ मिलने) में जो अन्तराय (विघ्न) था; उसके तथा जगत् के जीवों के अन्तराय (सारी दुनिया के लाभ में जो अन्तराय आए, उसे रोकने वाले हो कर स्वयं परमलाभ (सर्वोच्च लाभ) के पद= मोक्षप्राप्तिरूपी परमपद में मस्त (लीन) बने। और फिर वीर्यान्तराय (आत्मशक्ति की स्फुरणा=प्रकटीकरण को रोकने वाले विघ्न) को भी पण्डितवीर्य (आत्मज्ञान की शक्ति) से नाश करके पूर्ण पदवी (मोक्षपद) के साथ जुड़ गए। यानी मोक्षपदयोगी बन गए। इसी प्रकार भोगान्तराय एवं उपभोगान्तराय इन दोनों अन्तरायकर्मों को निवारण (रोक) कर पूर्णरूप से आत्मसुख के भोग और उपलक्षण से उपभोग के भोगी (भोगने वाले) बन गए।

भाष्य-प्रभु पॉच प्रकार के अन्तरायदोष के त्यागी बने

वीतराग परमात्मा के लिए जिन दोषो से रहित होना अनिवार्य है, उनमे से पूर्वगाथा तक 14 दोष से रहित होने तक की बात कही गई है। अब इन दो गाथाओ मे 4 अन्तरायजनित दोषो से प्रभु के रहित होने की बात बताई गई है। वे चार दोष इस प्रकार है-दानान्तराय, लाभान्तराय, भोगान्तराय, (उप-लक्षण से उपभोगान्तराय भी) और वीर्यान्तराय।

अन्तरायकर्म भी मूल मे घातीकर्म का अंग है। उसका लक्षण है- आत्म द्वारा की जानी वाली दान, लाभ, भोगोपभोग एवं वीर्य की उपलब्धि में अन्तराय (विघ्न) डालना। अभयदान तथा अन्य जो भी आत्मा से सम्बन्धित उपलब्धियॉ ह, आत्मगुण हैं, उनमे रुकावट डालना, उनके विकास को रोकना है। ये अन्तरायकर्म पॉच प्रकार के हैं, जो सिवाय वीतराग के प्रत्येक संसारी आत्मा के साथ लगे हुए हैं। दान देने वाला मौजूद है, फिर भी आदाता को दान नही दिया अथवा दान लेने वाला सामने खडा है, दाता भी दान देना चाहता हैं।

लेने वाला इस दानान्तरायकर्म के फलस्वरूप दान ले नही सकता, ये दोनो प्रकार दानान्तराय के हैं। वैसे तो दान 5 प्रकार का है- 1. अभयदान, 2. सुपात्रदान, 3 अनुकम्पादान, 4 कीर्तिदान और 5 उचितदान। इनमें अभयदान सर्वश्रेष्ठ है, सुपात्रदान भी उत्कृष्ट है, अनुकम्पादान भी किसी हद तक उचित है, किन्तु कीर्तिदान (कीर्ति=प्रतिष्ठा के बदले दान देना) और उचित दान (अपने परिवार-समाज आदि के योग्य व्यक्ति को पुरस्कार आदि देना) से दोनों दान आत्मा से सम्बन्धित दान की कोटि मे नही है। इन पॉचो प्रकार के दानो मे से बहुत से व्यक्तियो को हम देखते है कि वे स्वय किसी को नहीं देते सो नहीं देते, दूसरो को भी देने से भी किसी न किसी से इन्कार कर देते है। अथवा गुणवान् व्यक्ति मे दुर्गुण का आरोपण करके उसे दान से वचित कर देते है। ऐसा व्यक्ति दानान्तरायकर्म के उदय से देने वाले पर रुष्ट हो कर उससे द्वेष करने लगता है। दानो मे सर्वश्रेष्ठ अभयदान है, उसमे बाहर से कोई वस्तु देते लेते हुए दिखाई नहीं देती, लेकिन अभयदान वही दे सकता है, जो स्वयं निर्भय हो, जिसमे आत्मशक्ति या अन्तःप्रेरणा का बल हो, मन मजबूत हो। प्रभु ने देखा कि दानान्तरायकर्म ने मेरी आत्मा का बहुत बडा नुकसान किया है, इसलिए पहले दीक्षा लेने के एक वर्ष पहले से लगातार एक वर्ष तक दान दिया और खूब उमग से, बहुत ही मुक्त मन से दान दिया, और मुनि बनते ही अभयदान की साधना शुरू कर दी, जो वीतरागपद प्राप्त होते ही परिपक्व हो गई। इसीलिए श्रीआनन्दघनजी ने कहा- **'अभयदानपददाता'** अर्थात् प्रभु ने जगत् के समस्त जीवो को उपदेश और ज्ञान का दान करके उन्हे निर्भयता सिखाई तथा बाद मे जो भव्य जीव थे, उन्हे अभयदानपद=निर्भय स्थान (मोक्ष) के दाता **(अभयदयाणं)** बने। इसी प्रकार उपलक्षण से चक्षु (ज्ञान) दानदाता तथा मार्गदर्शक बने।

दानान्तराय के बाद आत्मा के गुणो का घात करने वाला, लाभान्तराय बचा, जो आत्मा का बहुत बडा अहित करने वाला एवं आत्मा को ज्ञान, दर्शन, चारित्र और आत्मसुख का लाभ नही लेने देता था। यह कर्म ऐसा है कि ज्ञानादि का लाभ होता हो तो रोडे अटकता है। प्रभु ने लाभान्तराय कर्म को समूल नष्ट करके जगत् की आत्माओ के लाभ मे जो विघ्न थे, उन्हे मिटाए और स्वय संसार मे सर्वोच्च लाभ के पद (मोक्षप्राप्तिरूप परमपद) मे लीन (मस्त) हो गए।

प्रश्न होता है कि वीतरागप्रभु जगत् के लाभान्तराय के निवारक कैसे हो सकते हैं? उनके द्वारा जगत् के लोगो की सांसारिक लाभ की पूर्ति करने का मतलब है-उनकी भौतिक इच्छाओ या कामनाओं की पूर्ति करना। जैनधर्म में वीतराग परमात्मा को इस प्रकार कर्त्ता-हर्त्ता या सांसारिक लाभदाता नहीं माना गया है, फिर इस पद की संगति कैसे होगी? इसके उत्तर में यही निवेदन है कि लाभ दो प्रकार के होते हैं-सासारिक लाभ और आत्मिक लाभ। वैसे तो प्रभु किसी भी प्राणी के सांसारिक लाभ तो क्या आत्मिक लाभ के भी सीधे कर्त्ता-धर्त्ता नहीं बनते, न किसी को हाथ पकड कर वे सीधा लाभ देते हैं। परन्तु जहाँ तक सांसारिक जीवो का सवाल है, वे किसी सांसारिक व्यक्ति के कर्म मे हस्तक्षेप नही करते, न कर सकते हैं। इसलिए सांसारिक लाभ में आने वाले विघ्नो को दूर करने मे वे हाथ नही डालते। अब रहा आत्मिक लाभ। सांसारिक प्राणियो को आत्मिक लाभ होने में जो-जो विघ्न होते हैं, उन्हें वे बता देते हैं, उन विघ्नों को नष्ट करने के लिए जप-तप या अन्य संयमादि साधना का वे निर्देश कर देते हैं, इससे अर्जुनमाली, चण्डकौशिक, चन्दनबाला आदि को जैसे भगवान् महावीर के निमित्त से आत्मिक लाभ मिल गया, वैसे ही जगत् के भव्य जीवो के विघ्न दूर होकर उन्हें आत्मिक लाभ मिले। इस प्रकार वीतरागप्रभु जग के जीवो का विघ्न निवारण स्वयं नही करते, करते तो वे जीव स्वय ही हैं, परन्तु भगवान् की प्रेरणा या निर्देश से करते हैं। इसलिए वीतराग परमात्मा को निमित्तकर्त्ता कहा जा सकता है। अतः जगत् को आत्मलाभ मिलने में जो विघ्न हैं, उन्हे मिटाने के लिए भगवान् प्रेरक हैं। हॉ, भगवान् ने अपने लिए तो दोनो प्रकार के लाभो के अन्तरायो को दूर कर दिये हैं। स्वस्थ शरीर, इष्टविद्या वस्तु आदि का लाभ भी आपको मिला है और सर्वोच्च अनन्तसुखादि का आत्मिक लाभ भी। इसलिए श्रीआनन्दघनजी ने आपके लिए कह दिया-'**परमलाभ-रसमाता!**' इसी तरह भगवान् ने आत्मशक्ति को नाश करने वाले वीर्यान्तरायकर्म का क्षय पण्डितवीर्य (आत्मज्ञान व आत्मविकास के लिए आत्मबल को जागृत करके तदनकूल मन-वचन-काया की प्रवृत्ति करके सर्वथा योगरहित होने के बल, तप संयम, आदि के जोर) से सम्पूर्ण पदवी जो मोक्ष मे मिलती है, उसका योग आपने साध लिया आप उस स्थान पर पहुँच गए है। उस शक्ति को आपने आत्मसात् [illegible] है। अथवा आपने सम्पूर्ण आत्मबल और आत्म-ऋद्धि-सिद्धि प्राप्त [illegible]

से ही तीर्थकर बने। इससे अतिरिक्त एक बार भोग्य पदार्थ को पुन -पुन भोगने मे रुकावट डालने वाले उपभोगरान्तराय कर्म को आपने स्व-उपयोग स्वसुखास्वाद से दूर कर दिये। इससे आप अनन्त आत्मसुख के भोक्ता बने।

वीर्यान्तराय कर्म के उदय से लोग इधर-उधर मटरगश्ती करते फिरेगे, पर धर्मकार्य, स्वाध्याय, ध्यान आदि करने मे अपनी शक्ति के न होने का बहाना बनाएँगे। तपस्या करने में असमर्थता बताएँगे, किन्तु यों किसी मतलब के लिए भूखे-प्यासे रह लेगे। धर्मश्रवण के लिए अवकाश नहीं मिलेगा, कितु गप्पे मारने मे घंटो बिता देंगे। यो मन को कमजोर बना लेते हैं। इस सबसे वीर्यान्तराय कर्म का बन्ध होता है। परन्तु प्रभु ने पूरी शक्ति अजमा कर इस अन्तराय का क्षय किया है। सासारिक जीवो को पौद्गलिक वस्तु न मिले तो भोगान्ताराय समझना चाहिए। यही बात उपभोगान्तराय के सम्बन्ध मे है। दोनो को एक दोष न कर 18वा दोष भगवान् के द्वारा त्यक्त बताया है। ये दोनो अन्तरायकर्म इन वस्तुओ के देने वाले की मजाक उडाने से, स्वय न देने तथा दूसरो को भी न देने की सलाह देने से देने वाले की निन्दा करने से बंधते है। प्रभो! आपने तो आत्मिक और पौद्गलिक दोनों वस्तुओ मे अन्तराय न पडे, इस रूप में भोग- उपभोगान्तराय कर्म रूप दोष को जीत लिया। मुझे आपके ही आदर्श का अनुसरण करना है। आपने दुनिया को अपने उदाहरण द्वारा सही रास्ता बता दिया है।

ए अढारदूषणवर्जित तनु, मुनिजनवृन्दे गाया।
अविरति-रूपक-दोष-निवारण, निदूर्षण मन भाया हो।।
म.।।10।।

_अर्थ_–इन उपर्युक्त 18 दोषों से रहित आपकी असंख्यप्रदेशी आत्मा या काया का पंच-महाव्रतधारी गणधरादिमुनि वृन्द ने वर्णन किया है। अविरति वगैरह दोषों से आच्छादित आत्मा का रूपक दे कर दयास्वरूप बता कर दोषों का निवारण कराने वाले (आप ही हैं तथा आप स्वयं) सब दोषों से रहित हैं। मेरे मन को आप अच्छे लगे हैं।

_भाष्य_–अठारह दोष से रहित भगवद्रूप

जब छद्मस्थावस्था छोड कर वीतराग बनते है, तब वे स्वतः ही निम्नलिखित 18 दोषो से रहित हो जाते हैं–1 आशा-तृणा, 2. अज्ञान, 3 निद्रा या निन्दा, 4 स्वप्नदशा, 5 मिथ्यात्व, 6. हास्य, 7 रति, अरति, 8

शोक, 9 भय, 10 जुगप्सा 11 राग, 12 द्वेष, 13 अविरति 14 काम्यकदशा, 15 दानान्तराय, 16 लाभान्तराय, 17 भोगोपभोगान्तराय और 18 वीर्यान्तराय। प्रभु की काया (अथवा असख्यप्रदेशी आत्मा) इन 18 दोषों से सर्वथा रहित है। आत्मा को दूषित बनाने वाले इन बहिरात्मभावो को छोड कर प्रत्याख्यान न करने रूप मे अविरति (मिथ्यात्व का यथार्थ कथन करने वाले होने से आपके गुणो के कारण ही त्यागी, वैरागी व तपस्वीवृन्द) ने आपका गुणगान किया है। श्रीआनन्दघनजी भी अन्तिम गाथा मे इसी दृष्टि से प्रभु का गुणगान करते हुए इस स्तुति का उपसंहार करते है–

इणविध परखी मन विसरामी, जिनवरगुण जे गावे।
दीनबन्धुनी मेहर नजर थी, 'आनन्दघनपद' पावे हो।।
म. 11।।

अर्थ–**इस प्रकार अष्टादशदोषरहित एवं अनन्तचतुष्टययुक्त श्रीमल्लिनाथप्रभु को भलीभॉति देख परख कर उन अन्तःकरण के विश्राम रूप श्रीजिनवर के ज्ञानादिगुणों का जो मुमुक्षु गुणगान करता है, आठ प्रकार के दुःखों से दीन बने हुए जीवों को भाव से आत्मगुणों से समृद्ध करने में बन्धुसमान श्री तीर्थकरदेव की परमकृपादृष्टि से वह आनन्दघन पद (मोक्षपद) प्राप्त करता है।**

भाष्य–**प्रभु का गुणगान और उससे लाभ**

यह एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि जो जिस पर श्रद्धा रखता है, वह वसा ही हो जाता है, उसके मन पर अपने आराध्य, आदर्श के गुणो की छाप बार-बार गुणगान से अकित हो जाती है। मन ऐसा टेपरिकार्डर है, जिस पर बार-वार उच्चारण एव श्रद्धा के स्पन्दनो की छाप अकित हो जाती ह। इसी दृष्टि से श्रीआनन्दघनजी कहते ह–**'जिनवरगुण जे गावे...' 'आनन्दघन पद पावे।'**

परन्तु प्रभु या भगवान् के नाम पर दुनिया मे बहुत-से अन्धविश्वास पनप रहे है। बहुत से लोग स्वयं जीते-जी भगवान् तीर्थकर या पैगम्वर के नाम से पूजा-प्रतिष्ठा पा रहे है, इसीलिए आनन्दघनजी परीक्षाप्रधानी बन कर बाह्य चमत्कारो या आडम्बरो से प्रभावित न हो कर कहते हैं–**'इणविध परखी मन विसरामी।'** पूर्वोक्त अठारहदोषो से रहित के रूप मे वीतरागप्रभु या भगवान् कहलाने वाले की भलीभाति परीक्षा करके हृदय को विश्राम दे सकने का स्वीकार करे और तब गुणगान करे। जैसे जौहरी रत्न की परीक्

उसे अपनाता है, सर्राफ सोने की अच्छी तरह परीक्षा करने के बाद खरा उतरने पर अपनाता है। इसी तरह भगवान् या प्रभु कहलाने वाले महानुभावो को 18 दोषरहितता की कसौटी पर कसना चाहिए। हमारे बाप-दादे या पूर्वज उन्हे मानते-पूजते आए है, बहुजन इन्हे मानता है। इसलिए हम भी इन्हे पूजते है, यह तो गतानुगतिकता है, अन्धविश्वास है, इससे आत्मा का बहुत बडा अहित होता है। इसलिए परीक्षा करके, अपनी परीक्षा मे जो 18 दोषारहित जचें, उनकी ही पूजा करनी, उनके ही गुणगान करने चाहिए।

परीक्षापूर्वक प्रभु का स्वीकार करने और तदनुरूप उनके गुणगान करने से दीनबन्धु भगवान् की कृपादृष्टि हो जाय तो बेडा पार हो जाय, संसारसागर को पार करके मुक्ति के परमानन्दधाम मे वह उनकी कृपा से जा विराजता है।

मल्लिनाथ प्रभु के स्वरूप (की तरह तमाम वीतरागी पुरुषो का स्वरूप) आगम में 18 दोषों से रहित और अनन्त-चतुष्टयसहित बताया है। इस प्रकार का स्वरूपकथन नरेन्द्र, देवेन्द्र और मुनियो की परिषद् मे निश्चित किया हुआ है। फिर भी **देवागम-स्तोत्र** मे कथित परीक्षा-प्रधान तरीके को अपना कर तथाकथित भगवान् की परीक्षा से परख कर प्रभुगुणो के प्रति अनुरागपूर्वक का गुणानुवाद करने से मन पर वे संस्कार दृढरूप से जम जाते है, इस प्रकार से गुणगान के बाद उन दीनबन्धु की अहैतुकी कृपादृष्टि हो जाने पर अवश्य ही मोक्ष प्राप्त हो जाता है।

इसका रहस्य यही है कि प्रभु की कृपादृष्टि यानी काल की परिपक्वता ऐसा भव्य एवं सम्यग्दृष्टि जीव समय आते ही अवश्य मोक्ष को प्राप्त कर लेता है। जैनदर्शन के पंचकारण-समवायी सिद्धान्त की दृष्टि से काल की परिपक्वता बहुत महत्त्वपूर्ण है। प्रभु हाथ से किसी को कुछ देते लेते नही, न किसी पर कृपादृष्टि डालते है, क्योकि वे निरंजन-निराकार है। स्वयं के पुरुषार्थ से ही मोक्षपद की प्राप्ति करनी चाहिए।

***सारांश*—**इस स्तुति में श्रीआनन्दघनजी ने इन दोषों को पुराने तथाकथित सेवक और साथी के रूप में गिना कर उनके प्रति प्रभु द्वारा अवगणना के लिए उन्हे मधुर उपालम्भ दिया है, स्वय के प्रति अवगणना का भी उपालम्भ है। परन्तु बाद में स्वत समाधान प्राप्त करके प्रभु के सच्चे स्वरूप को जाने कर उन्होने

उनके द्वारा क्रमशः 18 दोषो के निवारण की कथा कह दी है और अन्त मे समस्त साधको को हिदायत दे दी है कि भगवान् या प्रभु आदि के नाम से तथाकथितमहानुभावों को केवल 'आडम्बर चमत्कार, या गतानुगतित्व से मत मानो।' उनकी 18 दोषो रहित होने की कसौटी कसो। पास होने पर ही उन्हे मानो। इस प्रकार यह परीक्षा करके भक्ति या पूजा करने की बात ही फलित होती है।

***

20. श्री मुनिसुव्रतजिन-स्तुति–

परमात्मा से आत्मतत्त्व की जिज्ञासा

(तर्ज–राग काफी 'आधा आम पधारो पूज्य!')

श्रीमुनिसुव्रत-जिनराज! एक मुझ विनति निसुणो।। मु.।।ध्रुव।।
आतमतत्त्व कयुंजाण्युं[1] जगद्गुरु! एह विचार मुझ कहियो।
आतमतत्त्व जाण्या विण निर्मल-चित्तसमाधि न वि लहियो।।
श्रीमुनिसुव्रत.।।1।।

_अर्थ_–इस अवसर्पिणीकाल के बीसवें तीर्थकर श्रीमुनिसुव्रतदेव! जिनराज! प्रभो! मेरी एक प्रार्थना सुनिये! हे जगद्गुरो! आपने शुद्ध आत्मतत्त्व (परमात्मस्वरूप) किसे जाना? अथवा मैं किसे जानूं? यह तत्त्वज्ञान (विचार) मुझे कहिए। क्योंकि शुद्ध आत्मत्त्व को जाने बिना मैं अपने मन की निर्मल निरूपाधिक समाधि, स्थिरता, एकाग्रता या धीरता नहीं प्राप्त कर सकता।

_भाष्य_–आत्मतत्त्व की जिज्ञासा क्यों और किससे?

पूर्व स्तुति मे सर्वज्ञ वीतरागप्रभु की पहिचान के लिए 28 दोष से रहित होने की कसौटी बताई थी, किन्तु जब तक उस शुद्ध आत्मा की पहिचान न हो, उसका स्वरूप क्या है? और उसके विषय मे विभिन्न अध्यात्मवादी क्या-क्या मानते है? यह प्रश्न हल न हो जाय तब तक सर्वज्ञता और वीतरागता की बात कैसे हल हो सकती है? इसलिए इस स्तुति मे परमात्मा के सामने भक्त योगी ने अपनी जिज्ञासा प्रस्तुत की है–**आत्मतत्त्व कयुं जाण्युं?** वीतराग प्रभो! आपने आत्मतत्त्व किसे या कैसे समझा? अथवा मै उस आत्मतत्त्व को कैसे समझूॅ? अथवा किसे मानूॅ? कारण यह है कि योगी श्री आनन्दघनजी **'मुखमस्तीति वक्तव्यम्'** (मुॅह है, इसलिए बोलना ही चाहिए), अपनी उपस्थिति बतानी ही चाहिए, इस दृष्टि से नही बोल या पूछ रहे है। उनके अन्तर से सच्ची लगन लगी है। वे आत्मा की उस अवस्था मे, विषय में या उस शुद्ध आत्मा के

---

1 **'जाण्युं'** के बदले किसी प्रति में **'जाणूं'** शब्द भी मिलता है, उसका अर्थ होता है, प्रभो! मै आत्मतत्त्व किसे जानूॅ?

सम्बन्ध में जानना चाहते है, जो मोक्षरूप या परमात्मरूप बन सकती है?

वास्तव मे किसी वस्तु की तह तक पहुँचने और उसके सम्बन्ध मे जितने भी मुद्‌दे उपस्थित हो सकते है, उसकी छानबीन करके तत्त्वज्ञान का सिरा पाने के लिए शंका (जिज्ञासा) प्रस्तुत करनी चाहिए। भगवती सूत्र मे भगवान् महावीर स्वामी से गणधर इन्द्रभूति गौतम के द्वारा किये हुए 36 हजार प्रश्नोत्तरों का उल्लेख है। यह जो जैनदर्शन की प्राचीनशैली है कि जिज्ञासा, शका या पृच्छा प्रस्तुत किये बिना उत्तमरूप से तत्त्वज्ञान प्राप्त नही हो सकता। इसी तरह किसी भी वस्तु का सांगोपाग ज्ञान प्राप्त करने के लिए प्राचीन जैन दार्शनिको ने बताया था–[1]प्रमाणों और नयो से ज्ञान होता है, इसी प्रकार निर्देश, स्वामित्व, साधन, अधिकरण, विधान, सत्, सख्या, क्षेत्र, स्पर्शन, काल, अन्तर, भाव, अल्पबहुत्व, आदि प्रश्नो के द्वारा प्रत्येक वस्तु का तलस्पर्शी ज्ञान हो जाता है। इसलिए इस प्रकार के प्रश्न-प्रतिप्रश्न एवं शका-समाधान की पद्धति बहुत ही उत्तम है, तत्त्वज्ञान की प्राप्ति के लिए आसान भी है, शिष्य-प्रतिशष्य-परम्परा से लाभ के लिए समीचीन भी है। इसीलिए श्रीआनन्दघनजी ने आत्मतत्त्व के सम्बन्ध मे अपनी जिज्ञासा प्रस्तुत कर दी है।

आत्मतत्त्व के सम्बन्ध में ही जिज्ञासा क्यों?

प्रश्न होता है कि योगी श्रीआनन्दघनजी ने आत्मतत्त्व के विषय मे शंका प्रस्तुत क्यो की? इसका परमात्मा की स्तुति से क्या ताल्लुक है? इस जिज्ञासा का एक (समाधानरूप) कारण तो स्वय श्रीआनन्दघनजी ने इसी गाथा मे उत्तरार्द्ध मे बताया है। परन्तु समाधान का मुख्य मुद्‌दा यह नही है। मुख्य मुद्‌दा तो यह है कि जैनधर्म की तमाम साधनाओ, व्रतो, नियमो एवं क्रियाओ अथवा तत्त्वज्ञान प्राप्ति या शास्त्रो के अध्ययन आदि के मूल मे आत्मतत्त्व का ज्ञान होना अनिवार्य है। आत्मा का स्वरूप भलीभाति जाने बिना किसी भी धर्मतत्त्व का आचरण, क्रिया, शास्त्राध्ययन या व्रतनियमपालन का कोई अर्थ नही रहता। अगर आत्मा को जाने बिना ही किसी क्रिया को मात्र देखा-देखी या गतानुगतिकता अथवा लकीर के फकीर बन कर परम्परागतरूप से की जाएगी, अथवा अन्धविश्वास या शुभभावना से की जाएगी, तो वह केवल

1 'प्रमाणनयैरधिगम, निर्देश-स्वामित्व-साधनाधिकरण-विधानत.।'
'सत्संख्याक्षेत्रस्पर्शनकालान्तर-भावाल्पबहुत्वैश्च' ।। -त॰

स्वर्गादि शुभफल दे कर समाप्त हो जाएगी, परन्तु वह जन्म-मरण के बधन काट कर मोक्षफल–दायिनी नही हो सकेगी। इसीलिए आत्मस्वरूप जानने के बाद ही कोई भी साधना या प्रवृत्ति अथवा धर्मक्रिया आदि सार्थक प्रतिफल दे सकती है और उसी का फल मोक्ष है। इसीलिए भगवान् महावीर ने फरमाया था–'जो आत्मवादी है, वही लोकवादी (लोकपरलोक को मानने वाला) है, जो आत्मवादी है, वही कर्मवादी (कर्मो के कर्तृव्य भोक्तृत्व-बन्ध और मोक्ष के सम्बन्ध मे विश्वस्त) है तथा जो कर्मवादी होता है, वही क्रियावादी (कर्म-बन्धन से बचने और कर्मो से मुक्त होने के लिए आत्मस्वरूपलक्षी पुरुषार्थ करने वाला)[1] होता है। इस दृष्टिकोण से योगी-श्री द्वारा सर्वप्रथम आत्मतत्त्व की जिज्ञासा प्रस्तुत करना न्यायोचित है।

आत्मतत्त्व की जिज्ञासा का दूसरा कारण, जो श्रीआनन्दघनजी ने स्वय प्रस्तुत किया है, वह यह है कि आत्मतत्त्व का जानना सर्वप्रथम इसलिए जरूरी है कि जिनशासन का यह नियम है कि मोक्षप्राप्ति के लिए आत्मतत्त्व का सर्वप्रथम सम्यग्ज्ञान और सम्यग्दर्शन अनिवार्य है। आत्मतत्त्व की सम्यक् जानकारी और सच्ची तत्त्वश्रद्धा के बिना निर्मल (शुद्ध) चित्तसमाधि (मनःस्वस्थता) नही होती। मनःस्वस्थता के बिना किसी भी प्रवृत्ति, क्रिया या ज्ञान प्राप्ति आदि को साधक बिना मन से, सूने मन से बिना भावो का तार जोडे ही करेगा, उससे उस क्रिया या प्रवृत्ति से सजीवता, स्फूर्ति या चेतना नही आएगी। इसीलिए श्रीआनन्दघनजी कहते है–'**आतमतत्त्व जाण्या विण निर्मल चित्त-समाधि न वि लहियो।**' निष्कर्ष है कि पवित्र चित्तशान्ति के लिए और पवित्रचित्तसमाधि से शुद्धात्मा (परमात्मा) की प्राप्ति के लिए सर्वप्रथम आत्मतत्त्व का ज्ञान होना जरूरी है।

परमात्मा से आत्मतत्त्व की जिज्ञासा क्यों?

अब सवाल यह होता है, कि ठीक है, आत्मतत्त्व का ज्ञान होना सर्वप्रथम जरूरी है, पर किसी धर्मगुरु, दार्शनिक या मतपथवादी से ही आत्मतत्त्व का ज्ञान हो सकता था, परमात्मा से ही आत्मतत्त्व का ज्ञान पाने की इच्छा क्यो प्रगट की? इसका समाधान यह है कि धर्मगुरु, दार्शनिक या

---

1. जे आयावाई से लोयावाई, जे लोयावाई से कम्मावाई, जे कम्मावाई से किरियावाई। –आचारांसूत्र प्रथम श्रु

मतपथवादी वीतराग या सर्वज्ञ नहीं हुए, तब तक वे छद्मस्थ या अल्पज्ञ ही कहे जा सकते है, भले ही वे पद, प्रतिष्ठा और वैभव मे कितने ही महान् हो। इसलिए उनके कथन मे, कहीं जरा-सा भी पंथराग, परम्पराराग, गुरुराग आदि आ सकता है, भले ही वह प्रशस्तराग ही क्यो न हो! इसलिए छद्मस्थ द्वारा कथित आत्मतत्त्वज्ञान मे कही स्वत्वमोह, परम्परामोह आदि के कारण यथार्थ वस्तुस्वरूप के यथार्थ कथन मे कहीं दोष आ सकता है। इसलिए पूर्वस्तुति मे कथित 18 दोषरहित, वीतराग, अपक्षपाती, यथार्थ वक्ता, आप्तसर्वज्ञ के समक्ष ही श्री आनन्दघनजी ने अपनी आत्मतत्त्व की जिज्ञासा प्रस्तुत की है, ताकि उन्हे यथातथ्यरूप से आत्मतत्त्व का सागोपाग मिल सके।

परमात्मा के समक्ष शुद्ध आत्मतत्त्व की जिज्ञासा इसलिए भी प्रस्तुत की है कि वीतराग परमात्मा इस मार्ग के यथार्थ अनुभवी है। सच्चा मार्गदर्शक वही हो सकता है, जिसने मार्ग को स्वयं तप किया हो। जिसने मार्ग का स्वय अनुभव नहीं किया, वह मार्गज्ञ न होने पर भी विविध धर्मग्रन्थो या शास्त्रो के अध्ययन पर से उस मार्ग के सम्बन्ध मे जानकारी भी दे देगा, लेकिन उसकी वह जानकारी स्वतः अनुभूत नहीं होगी, परन्तु ग्रन्थो या शास्त्रो से अनुभूत होगी। वीतराग परमात्मा तो आत्मा के साथ लगे हुए रागद्वेषादि विकारो से जूझ कर एक दिन आत्मा के परमशुद्धस्वरूप (परमात्मतत्त्व को पा चुके हैं, इसलिए आत्मा के शुद्धतत्त्व का उनका ज्ञान उधार लिया हुआ नही है, स्वतः अनुभूत है,) स्वयसाक्षात्कृत है। यही कारण है कि श्रीआनन्दघनजी वीतराग परमात्मा से सीधा ही प्रश्न पूछते है—प्रभो! आपने किस आत्मतत्त्व को यथार्थ जाना है? अथवा कौन-सा आत्मतत्त्व आपकी दृष्टि मे यथार्थ है? अथवा शुद्ध आत्मतत्त्व को आपने कैसे जाना था? मै उसे कैसे जान सकता हूँ? इस प्रश्न मे 'कयुं' शब्द से यह भी द्योतित होता है कि आत्मा के सम्बन्ध मे उस युग मे विभिन्न मान्यताएँ (या दर्शन व मत) प्रचलित थीं, उन्हें देखते हुए वीतरागप्रभु को निष्पक्ष वक्ता मान कर उन्हे न्यायाधीश के रूप मे समझ कर उनसे निर्णय माँगा गया है कि कौन-सा आत्मतत्त्व यथार्थ है? यानी आत्मा के सम्बन्ध मे प्रचलित विभिन्न दर्शनो के मतो को देखते हुए आपने कौन-सा मत (तत्त्व) यथार्थ जाना है? वास्तव में श्रीआनन्दघनजी ने तत्त्वज्ञान के एक मूल सिद्धान्त (Fundamental Point) जिज्ञासा के रूप मे प्रस्तुत किया है।

इसी के सन्दर्भ में वे अगली गाथाओ मे विभिन्न दार्शनिको के मन्तव्य क्रमशः प्रस्तुत कर रहे है–

कोई अबन्ध आतमतत माने, किरिया करतो दीसे।
किरियातणं फल कहो कुण भोगवे, इम पूछ्युं चित्त रीसे।।मु.2।।
जड़चेतन ते आतम एकज, स्थावरजंगम सरिखो।
सुख-दुःख-संकर दूषण आवे, चित्त विचार जो परिखो।।मु.3।।
एक कहे नित्य ज आतमतत, आतमदरसण लीनो।
कृतिविनाश अकृतागम दूषण, नवि देखे मतिहीणो ।। मु. 4।।
सौगतमतरागी कहे वादी, क्षणिक जे आतम जाणो।
बन्ध-मोक्ष, सुख-दुःख, नवि घटे, एह विचार मन आणो।। मु.5।।
भूतचतुष्कवर्जित आतमतत, सत्ता अगली न घटे।
अंध शकट जो नजर न देखे, तो शुं कीजे शकटे?।।मु.।।6।।

अर्थ–कोई-कोई दार्शनिक (वेदांती और सांख्यमतवादी) आत्मतत्त्व को कर्मबन्ध रहित (अबन्ध) मानते हैं, फिर भी वे शुभाशुभ मानसिक आदि क्रियाएँ (जप, तप, दान, सेवा आदि) करते देखे जाते हैं। जब उनसे पूछा जाता है कि बताइए, जब आत्मा बन्धरहित है तो, इन क्रियाओं का फल कौन भोगता है? तब वे मन में गुस्से हो (कुढ़) जाते हैं।।2।।

कोई दार्शनिक (अद्वैतवादी) यों मानते हैं–पौद्गलिक जड़ (चैतन्यरहित) पदार्थ और चेतन (चैतन्यशक्ति सहित) ये दोनों स्थावर (पृथ्वीकायादि) और (जंगम) चलने फिरने त्रसकायादि) के समान हैं, सब में एक ही आत्मा है; इन सबमें कोई अन्तर नहीं है। किन्तु ऐसा मानने पर सुख और दुःख का सांकर्य दोष आएगा, (यानी एक-दूसरे का सुख-दुःख एक-दूसरे को भोगने का प्रसंग आएगा।) अगर इस बात पर ठंडे दिल से विचार करेंगे तो हमारी बात में सत्यता की परीक्षा कर सकेंगे।।3।।

एक दार्शनिक (अद्वैतवादी वेदान्ती) कहता है–आत्मतत्त्व सदा एकान्त (कूटस्थ) नित्य है। इस प्रकार नित्यात्म वादी अपने माने हुए आत्मदर्शन में लीन (ओत-प्रोत) रहता है, परन्तु अपने कृत (किये हुए कर्म के फल) का विनाश और अकृत (नहीं किये हुए कर्मो का आगम फल) मिलने लगेगा, इस दोष को मान्यता वाला मंदबुद्धि नहीं देखता।।4।।

पॉचवी और छठी गाथा मे प्रस्तुत की है।

सर्वप्रथम आत्मा के सम्बन्ध मे सांख्यादि दर्शनो की मान्यता प्रस्तुत करते हुए वे कहते है–'**कोई अबंध आतमतत माने।**' अर्थात् सॉख्यदर्शन आदि कुछ दर्शन आत्मा को निर्लेप, नि·सग एव निर्बन्ध मानते है। वे कहते है, '**असंगो ह्ययं पुरुष:**' आत्मा कर्मो आदि से बिल्कुल निर्लेप है, इसलिए **विगुणो न बध्यते न मुच्यते,** इस वेदवाक्य के अनुसार आत्मा सत्त्व, रज, तम, इन तीन गुणो से रहित है, निर्लेप है, वह कुछ करता धरता नहीं है, सब कर्मो से बिलकुल अलग-थलग असग रहता है। जो असंग रहता है, उसके बन्ध भी नही होता। प्रकृति ही त्रिगुणात्मिका है, वही सब कार्य करती-धरती है, कर्म का बन्ध उसी को होता है, इस मान्यता मे दोष बताते हुए योगीश्री कहते है–आत्मा को निर्लेप निर्बन्ध मानने वाले अपने सम्प्रदाय मे प्रचलित विविध क्रियाऍ (दान देना, काशी मे जा कर गगास्नान करना आदि) करते हुए प्रत्यक्ष दिखाई देते है। अथवा प्रत्यक्ष अनुभव से दिखाई देता है कि वे मानसिक शुभाशुभ विचार, वाचिक सत्यासत्यवाणी का व्यापार, कायिक हलचल आदि स्पन्दमान क्रियाऍ करते है। सवाल होता है कि जब आत्मा अबन्ध है, तो ये क्रियाऍ कौन और किसके लिए करता है? जो क्रिया की जाती है, उसके करने वाले को फल भी अवश्य मिलता है। उनके शास्त्र का वचन है–'**करेगा सो भोगेगा, सर्वा क्रिया फलवती प्रसिद्धा**' (सभी क्रियाऍ फल देनेवाली होती है।) तब उनसे पूछा जाता है कि जब आप ये धार्मिक क्रियाए करते है अथवा आत्मा मन, वाणी और शरीर द्वारा स्थूल-सूक्ष्म क्रियाऍ करता नजर आता है, यह मेरा, आपका और सबका अनुभव है, तब यह बताइये कि इन क्रियाओ के फलस्वरूप पुण्य और पाप को कौन भोगता है?

इसी प्रकार वेदान्ती भी आत्मा को निर्गुण मानते है। निश्चयनय से तो जैन-दर्शन भी आत्मा को ज्ञान-दर्शन-चारित्रमय एवं अकर्त्ता मानता है, व्यवहार नय से कर्मो का कर्त्ता-भोक्ता भी मानता है। परन्तु वेदान्ती तो आत्मा को अबन्ध मानते है। तब जप, तप, अनुष्ठान वगैरह क्रियाऍ वे किसके लिए किस प्रयोजन से करते है? आत्मा और क्रिया का सम्बन्ध क्या? और फिर उन क्रियाओ का फल कौन भोगेगा? पूर्वोक्त दोनो दार्शनिको के सामने इस प्रकार का प्रति प्रश्न रखा जाता है कि वेदान्ती या साख्यो की इन क्रियाओ का फल कौन भोगेगा? आत्मा तो कर्म बांधता या तोडता नहीं, फिर भी आपकी क्रियाऍ

चालू है, ऐसी परस्पर असंगत बाते क्यो करते है? तब वे निरुतर हो कर रोष मे आ जाते है और मन मे कूढने लगते है। अतः प्रभो! इसका यथार्थ उत्तर आपसे मिलेगा, तभी मुझे सत्यतत्त्व की प्राप्ति होगी।

ब्रह्मैकत्ववादी की दृष्टि में आत्मा

ब्रह्माद्वैतवादी कहते है कि जड और चेतन दोनों ही ब्रह्म (आत्मा) रूप है। इसी प्रकार पृथ्वीकायादि स्थावर तथा त्रसकायादि जंगम इन दोनो में आत्मा की दृष्टि से समानता है। सारा चराचर जगत् ब्रह्म (आत्म) मय है। उनके सूत्र है- **'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म, सर्वखल्विदं ब्रह्म नेह नानाऽस्ति किंचन' 'एकं ब्रह्म द्वितीयं नास्ति' 'जलेविष्णुस्थले विष्णुः विष्णुः पर्वतमस्तके'** सारी सृष्टि मे एक ही ब्रह्मा (आत्मा) है, ब्रह्म के सिवाय और कुछ भी नहीं है। यह सारा चराचर जगत ब्रह्मा है, यहाँ नाना दिखाई देने वाला कुछ भी नही है। आत्मा एक है, वह सर्वत्र व्यापक है, नित्य है। इस चराचर मे सब कुछ ब्रह्मा है और कुछ भी नही है। जल में, स्थल मे और पर्वतशिखर पर भी विष्णु (शुद्ध आत्मा) है।

इस प्रकार अद्वैतवादी की दृष्टि मे जड और चेतन, चर और अचर समस्त पृथक्-पृथक् जीवो का अस्तित्व नही है, तथैव जड का अस्तित्व भी अलग नही है। सभी जड और समस्त चेतन मिल कर ही आत्मा (ब्रह्मा) इस जगत् मे है। तथा सभी चराचर आत्माओ का एक ही स्वभाव है, एवं सारा जगत् ब्रह्ममय होने से जड भी चेतन मे मिल जाता है और चेतन भी जड मे मिल जाता है, तब दोनों एकमेक हो जाते है। इस अद्वैतमत के तीन प्रकार हैं- (1) शुद्धाद्वैत, (2) द्वैताद्वैत और (3) विशिष्टाद्वैत।

आत्मतत्त्व को अद्वैतमत की दृष्टि से स्वीकार करने पर अनेक आपत्तियाँ आती हैं। यो मानने पर प्रत्यक्षप्रमाण से पृथक्-पृथक् प्रतीत होने वाले स्थावर और जंगम, जड और चेतन दोनो प्रकार के पदार्थ एक सरीखे हो जायेगे। ऐसा होने पर सकर[1] (एक दूसरे मे परस्पर मिश्रण) दोष (न्यायशास्त्र का दोष) आएगा। जैसे-जड को सुख-दु ख का अनुभव नही होता, चेतन को दोनो का अनुभव होता है। जड और चेतन के लक्षण और उनकी व्यवस्था मे अन्तर है। जडचेतन-एकत्वमत को मानने पर ये लक्षण और व्यवस्था दोनो समान हो

1 सकरदोष वह है, जिसमे अलग-अलग पदार्थो के लक्षण किसी एक ही [illegible] जाय। अत. लक्षणो को परस्पर एक दूसरे मे मिल जाना सकरदोष है।

पॉचवी और छठी गाथा में प्रस्तुत की है।

सर्वप्रथम आत्मा के सम्बन्ध में साख्यादि दर्शनो की मान्यता प्रस्तुत करते हुए वे कहते है–**'कोई अबंध आतमतत माने।'** अर्थात् सॉख्यदर्शन आदि कुछ दर्शन आत्मा को निर्लेप, नि·सग एव निर्बन्ध मानते है। वे कहते है, **'असंगो ह्ययं पुरुष:'** आत्मा कर्मो आदि से बिल्कुल निर्लेप है, इसलिए **विगुणो न बध्यते न मुच्यते,** इस वेदवाक्य के अनुसार आत्मा सत्त्व, रज, तम, इन तीन गुणो से रहित है, निर्लेप है, वह कुछ करता धरता नहीं है, सब कर्मो से बिलकुल अलग-थलग असग रहता है। जो असंग रहता है, उसके बन्ध भी नही होता। प्रकृति ही त्रिगुणात्मिका है, वही सब कार्य करती-धरती है, कर्म का बन्ध उसी को होता है, इस मान्यता मे दोष बताते हुए योगीश्री कहते है–आत्मा को निर्लेप निर्बन्ध मानने वाले अपने सम्प्रदाय मे प्रचलित विविध क्रियाएँ (दान देना, काशी मे जा कर गगास्नान करना आदि) करते हुए प्रत्यक्ष दिखाई देते है। अथवा प्रत्यक्ष अनुभव से दिखाई देता है कि वे मानसिक शुभाशुभ विचार, वाचिक सत्यासत्यवाणी का व्यापार, कायिक हलचल आदि स्पन्दमान क्रियाएँ करते है। सवाल होता है कि जब आत्मा अबन्ध है, तो ये क्रियाएँ कौन और किसके लिए करता है? जो क्रिया की जाती है, उसके करने वाले को फल भी अवश्य मिलता है। उनके शास्त्र का वचन है–**'करेगा सो भोगेगा, सर्वा क्रिया फलवती प्रसिद्धा'** (सभी क्रियाएँ फल देनेवाली होती है।) तब उनसे पूछा जाता है कि जब आप ये धार्मिक क्रियाए करते है अथवा आत्मा मन, वाणी और शरीर द्वारा स्थूल-सूक्ष्म क्रियाएँ करता नजर आता है, यह मेरा, आपका और सबका अनुभव है, तब यह बताइये कि इन क्रियाओ के फलस्वरूप पुण्य और पाप को कौन भोगता है?

इसी प्रकार वेदान्ती भी आत्मा को निर्गुण मानते है। निश्चयनय से तो जैन-दर्शन भी आत्मा को ज्ञान-दर्शन-चारित्रमय एवं अकर्त्ता मानता है, व्यवहार नय से कर्मो का कर्त्ता-भोक्ता भी मानता है। परन्तु वेदान्ती तो आत्मा को अबन्ध मानते है। तब जप, तप, अनुष्ठान वगैरह क्रियाएँ वे किसके लिए किस प्रयोजन से करते है? आत्मा और क्रिया का सम्बन्ध क्या? और फिर उन क्रियाओ का फल कौन भोगेगा? पूर्वोक्त दोनो दार्शनिकों के सामने इस प्रकार का प्रति प्रश्न रखा जाता है कि वेदान्ती या सांख्यो की इन क्रियाओ का फल कौन भोगेगा? आत्मा तो कर्म बांधता या तोडता नहीं, फिर भी आपकी क्रियाएँ

चालू है, ऐसी परस्पर असंगत बाते क्यो करते हैं? तब वे निरुत्तर हो कर रोष मे आ जाते है और मन मे कुढने लगते है। अतः प्रभो! इसका यथार्थ उत्तर आपसे मिलेगा, तभी मुझे सत्यतत्त्व की प्राप्ति होगी।

ब्रह्मैकत्ववादी की दृष्टि में आत्मा

ब्रह्माद्वैतवादी कहते है कि जड और चेतन दोनो ही ब्रह्म (आत्मा) रूप है। इसी प्रकार पृथ्वीकायादि स्थावर तथा त्रसकायादि जगम इन दोनो मे आत्मा की दृष्टि से समानता है। सारा चराचर जगत ब्रह्म (आत्म) मय है। उनके सूत्र हैं– 'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म, सर्वंखल्विदं ब्रह्म नेह नानाऽस्ति किंचन' 'एकं ब्रह्म द्वितीयं नास्ति' 'जलेविष्णुस्थले विष्णुः विष्णुः पर्वतमस्तके' सारी सृष्टि मे एक ही ब्रह्म (आत्मा) है, ब्रह्म के सिवाय और कुछ भी नहीं है। यह सारा चराचर जगत ब्रह्म है, यहां नाना दिखाई देने वाला कुछ भी नहीं है। आत्मा एक है, वह सर्वत्र व्यापक है, नित्य है। इस चराचर मे सब कुछ ब्रह्म है और कुछ भी नही है। जल मे, स्थल मे और पर्वतशिखर पर भी विष्णु (शुद्ध आत्मा) है।

इस प्रकार अद्वैतवादी की दृष्टि मे जड और चेतन, चर और अचर समस्त पृथक्-पृथक् जीवो का अस्तित्व नही है, तथैव जड़ का अस्तित्व भी अलग नही है। सभी जड़ और समस्त चेतन मिल कर ही आत्मा (ब्रह्म) इस जगत् मे है। तथा सभी चराचर आत्माओ का एक ही स्वभाव है, एव सारा जगत् ब्रह्ममय होने से जड भी चेतन मे मिल जाता है और चेतन भी जड मे मिल जाता है, तब दोनो एकमेक हो जाते हैं। इस अद्वैतमत के तीन प्रकार है– (1) शुद्धाद्वैत, (2) द्वैताद्वैत और (3) विशिष्टाद्वैत।

आत्मतत्त्व को अद्वैतमत की दृष्टि से स्वीकार करने पर अनेक आपत्तियाँ आती हैं। यो मानने पर प्रत्यक्षप्रमाण से पृथक्-पृथक् प्रतीत होने वाले स्थावर और जगम, जड और चेतन दोनो प्रकार के पदार्थ एक सरीखे हो जायेगे। ऐसा होने पर संकर[1] (एक दूसरे में परस्पर मिश्रण) दोष (न्यायशास्त्र का दोष) आएगा। जैसे–जड को सुख-दुःख का अनुभव नही होता, चेतन को दोनो का अनुभव होता है। जड और चेतन के लक्षण और उनकी व्यवस्था मे अन्तर है। जडचेतन–एकत्वमत को मानने पर ये लक्षण और व्यवस्था दोनो समाप्त हो

1 सकरदोष वह है, जिसमे अलग–अलग पदार्थों के लक्षण किसी एक ही लक्ष्य मे घटित हो जाय। अतः लक्षणो को परस्पर एक दूसरे मे मिल जाना सकरदोष है।

जाएँगी। क्योंकि जड को भी चेतन की तरह सुख-दु:ख मानने पडेंगे और चेतना को भी जड के तरह सुख-दु:ख रहित मानना पडेगा और स्थावर जीवो का परिणाम जगमजीवो को और जगमजीवो का परिणाम स्थावरजीवो को भोगना पडेगा, परन्तु वस्तुतः ऐसा होता नहीं। जगत् के सभी प्राणियो को ऐसा अनुभव नही होता। अतः यह संकरदोष भी आएगा। और फिर सुख (साता) का मीठा और दु ख (असाता) का कडवा अनुभव सर्वत्र सब जगह एक ब्रह्म मे ही मानने से अच्छे-बुरे अनुभवो का घोटाला हो जाएगा। दोनो प्रकार के अनुभव मिश्रण हो जाएँगे। पशु और पक्षी, कीडा और रेगने वाले सर्पादि सबका लक्षण (सांकर्य) एक हो जाएगा। यह घोटाला भारी उलझन पैदा करेगा। इसलिए इसमें हेत्वाभास दोष तो स्पष्ट दिखाई देना चाहिए। इसलिए श्रीआनन्दघनजी उन अद्वैतवादियो से कहते है–**'चित्त विचार जो परिखो।'** अर्थात् अपने मत (विचारधारा) पर ठडे (शांत) चित्त से विचार करके परखो तो सही। ऊपर बताए हुए तीन प्रकार के अद्वैतमत मे से विशिष्टाद्वैत विष्णु-उपासक है। वे स्थावर-जगम सभी वस्तुओ में विष्णु को देखते है। उनके मत से जीवात्मा कभी परमात्मा नही होता। इसी प्रकार द्वैताद्वैत (निम्बार्क) मत मे सुख और दु ख दोनो को एक माना जाता है, यह बात किसी तरह गले नही उतरती। इसीलिए श्रीआनन्दघनजी परमात्मा से वास्तविक आत्मतत्त्व को बताने की प्रार्थना करते है।

यद्यपि द्रव्यत्व की दृष्टि से सामान्यधर्म को स्वीकार करने वाले सग्रहनय की अपेक्षा से जड और चेतन जरूर एक है, परन्तु व्यवहारनय की अपेक्षा से वे पृथक्–पृथक् भी है, मगर एकान्तरूप से दोनो को एक मानने पर साकर्यदोष आता है।

आत्मतत्त्व को एकान्त नित्य मानें तो

अब श्रीआनन्दघनजी आत्मा को एकान्त कूटस्थनित्य मानने वाले अद्वैतवादी वेदान्त अथवा सांख्यदर्शन की परीक्षा करते है। अद्वैतवादी वेदान्त की एकान्त मान्यता है कि आत्मा सदोदित एक समान रहता है, वह कूटस्थ (घन की तरह स्थिर) है, उसमे कही भी परिवर्तन नही होता। इस प्रकार आत्मदर्शन करने मे लीन हुए वेदान्ती अपनी मान्यता मे उपस्थित होने वाले दोषो को मतिहीन बन कर देख नही सकते। इ[illegible] मे दोष ये है–इस जीवन मे प्राणी को सुख-दु ख [illegible] मीठे या [illegible] अनुभव होता [illegible]। एकान्तरूप से स्वरूप [illegible] करणी-

किया नहीं कर सकता, तथापि आत्मा तो अच्छे-बुरे परिणाम भोगता है, यह तो हम प्रतिदिन देखते है। हम सृष्टि मे बड़े-बड़े दानकर्त्ताओं को देखते हैं, तपजपादि अनुष्ठान करते भी देखते हैं। आत्मदर्शन मे लीन आत्मा तो भोक्ता नहीं हो सकता! तथापि हम राजा और रंक, धनाढ्य और दरिद्र का अन्तर देखते है। ये सब बाते एकान्त नित्य आत्मा मे घटित नहीं हो सकती।

आत्मा को एकान्त नित्य मानने से सर्ववादीसम्मत और प्रत्यक्षादि से ज्ञात होने वाला कार्य-कारण भाव कदापि किसी भी काल मे घटित नही हो सकता! क्योकि कार्य-कारणभाव मे एक पदार्थ कार्यरूप में होता है, जबकि दूसरा पदार्थ कारणरूप होता है। अथवा एक ही पदार्थ की एक पर्याय (अथवा) कारणरूप और दूसरी पर्याय कार्यरूप बनती है। जैसे लोहे नामक एक पदार्थरूप कारण से ताररूप कार्य उत्पन्न हुआ और उस तार मे से एक कड़ा बना लिया गया। इस तरह तार अब पर्याय होते हुए भी कारण बन गया और कडा हो गया कार्य। परन्तु अगर लोहा सदैव, नित्य एक अखण्डस्वरूप मे ही रहे तो उसमें से तार का कडा कैसे बना सकते हें? इसी प्रकार प्रत्यक्ष भौतिक विज्ञान के अनुसार घटित होने वाले कार्य-कारणों को देखते हुए कुछ न कुछ संगति बिठानी ही पड़ेगी। जिस किसी भी तरह से आप (एकान्त नित्यवादी) कार्यकारणभाव बताएगे, उसमें आपको अपने एकान्त नित्यवाद की मान्यता को काल्पनिकरूप से, चाहे वास्तविक रूप से बदलना ही होगा। इसके बिना कोई चारा ही नहीं है। आत्मा को नित्य मानने में हमें कोई आपत्ति नही है, लेकिन उनमे जरा भी परिवर्तन किये बगैर एकान्त नित्य मानने मे आप सफल नही हो सकेगे। अतः विश्व मे प्राणियो मे होने वाले परिवर्तनो की संगति बिठाने के लिए आत्मा को कथचित् अनित्य मानना ही पड़ेगा। अगर कथंचित् अनित्य नही मानेंगे तो कार्यकारणभाव से इन्कार करना पड़ेगा। यह तो बीज के बिना फल पैदा करने के समान होगा। एक जाति के नर और मादा प्राणियो से दूसरे प्राणियो की उत्पत्ति तथा बीज से अन्न वगैरह की उत्पत्ति प्रत्यक्ष होती देखी जाती है, उसके (फल के) बिना ही काम चला लेना होगा।

यदि कहे कि ये सब बाते काल्पनिक है, भ्रम है, स्वप्नवत् आभास या अविद्याजनित अध्यास है, तब तो सारी दृश्यमान सृष्टि अविद्याभासित भ्रान्ति हो जाएगी। फिर सवाल होगा कि ब्रह्म के सिवाय आपके मत मे और कुछ नहीं है तो यह भ्रान्ति या माया कहाँ से आ गई? यदि कहे कि यह तो मन की भ्रमणा

जाएँगी। क्योकि जड को भी चेतन की तरह सुख-दु:ख मानने पडेगे और चेतना को भी जड के तरह सुख-दु:ख रहित मानना पडेगा और स्थावर जीवो का परिणाम जंगमजीवों को और जगमजीवो का परिणाम स्थावरजीवो को भोगना पडेगा, परन्तु वस्तुतः ऐसा होता नही। जगत् के सभी प्राणियों को ऐसा अनुभव नहीं होता। अतः यह सकरदोष भी आएगा। और फिर सुख (साता) का मीठा और दु.ख (असाता) का कडवा अनुभव सर्वत्र सब जगह एक ब्रह्मा मे ही मानने से अच्छे-बुरे अनुभवो का घोटाला हो जाएगा। दोनो प्रकार के अनुभव मिश्रण हो जाएँगे। पशु और पक्षी, कीडा और रेगने वाले सर्पादि सबका लक्षण (साकर्य) एक हो जाएगा। यह घोटाला भारी उलझन पैदा करेगा। इसलिए इसमे हेत्वाभास दोष तो स्पष्ट दिखाई देना चाहिए। इसलिए श्रीआनन्दघनजी उन अद्वैतवादियो से कहते है– **'चित्त विचार जो परिखो।'** अर्थात् अपने मत (विचारधारा) पर ठडे (शात) चित्त से विचार करके परखो तो सही। ऊपर बताए हुए तीन प्रकार के अद्वैतमत मे से विशिष्टाद्वैत विष्णु-उपासक है। वे स्थावर-जगम सभी वस्तुओ मे विष्णु को देखते है। उनके मत से जीवात्मा कभी परमात्मा नही होता। इसी प्रकार द्वैताद्वैत (निम्बार्क) मत मे सुख और दु ख दोनो को एक माना जाता है, यह बात किसी तरह गले नही उतरती। इसीलिए श्रीआनन्दघनजी परमात्मा से वास्तविक आत्मतत्त्व को बताने की प्रार्थना करते है।

यद्यपि द्रव्यत्व की दृष्टि से सामान्यधर्म को स्वीकार करने वाले सग्रहनय की अपेक्षा से जड और चेतन जरूर एक है, परन्तु व्यवहारनय की अपेक्षा से वे पृथक्–पृथक् भी है, मगर एकान्तरूप से दोनो को एक मानने पर साकर्यदोष आता है।

आत्मतत्त्व को एकान्त नित्य मानें तो

अब श्रीआनन्दघनजी आत्मा को एकान्त कूटस्थनित्य मानने वाले अद्वैतवादी वेदान्त अथवा साख्यदर्शन की परीक्षा करते है। अद्वैतवादी वेदान्त की एकान्त मान्यता है कि आत्मा सदोदित एक समान रहता है, वह कूटस्थ (घन की तरह स्थिर) है, उसमे कही भी परिवर्तन नहीं होता। इस प्रकार आत्मदर्शन करने मे लीन हुए वेदान्ती अपनी मान्यता मे उपस्थित होने वाले दोषो को मतिहीन बन कर देख नही सकते। इस मान्यता मे दोष ये है–इस जीवन मे प्राणी को सुख-दु ख के कारण मीठे या कडवे फल का अनुभव होता है। एकान्तरूप से स्वरूप मे लीन कूटस्थनित्य आत्मा तो कुछ भी करणी-

क्षण नही रहता। पहले क्षण जो आत्मा विचार करता है, वह अलग और दूसरे क्षण विचार करता है, वह आत्मा अलग है। पृथक्-पृथक् विचार करने वाला प्रतिक्षण बदलता रहता है। बौद्ध विज्ञानस्कन्ध को आत्मा कहते हैं, उससे ज्ञान होता है। अर्थात् अहं (मैं) का ज्ञान जिससे होता है। वह स्कन्ध और दूसरे स्कन्ध क्षण-क्षण मे बदलते हैं, क्योंकि ज्ञान तो क्षण-क्षण में बदलता है। जब आत्मा क्षणिक है तो सुख-दु ख का अनुभव जरा-सी देर में कैसे सम्भव हो सकता है? जब आत्मा एक ही क्षण टिकती है तो प्रत्येक बौद्ध शुभाशुभ अध्यवसायपूर्वक क्रिया करते हैं, चार आर्यसत्य, अष्टाग सत्य आदि के पालन की बात भी वे करते हैं, तब फिर शुभाशुभ कर्मबन्ध कैसे घटित होगे? क्योकि कर्म बंधने वाला तो क्षणभर मे नष्ट हो गया तथा कर्म से छुटकारा पाने के लिए जो प्रयत्न किया जाता है, वह प्रयत्न करने वाला आत्मा भी नष्ट हो गया, तब कर्मो से मुक्ति किसकी होगी? पुण्यकर्म या पापकर्म करने वाला आत्मा जब क्षणभर मे नष्ट हो गया तो फिर उसका शुभाशुभ फल कौन भोगेगा? 'बुद्धदेव ने 49 दिन तक समाधिसुख का उपभोग किया ऐसा उनके सम्प्रदाय द्वारा मान्य पुस्तकों मे है। वह क्षणिक आत्मा मानने वाले के लिए कैसे सम्भव हो सकता है? क्योकि 49 दिनो मे तो कई आत्माएँ बदल चुकी है।'

दूसरी दृष्टि से देखे तो क्रिया से आत्मा के साथ कर्मरज लगते हैं। आत्मा के साथ उन कर्मो का क्षीरनीरन्यायेन बंध होता हैं, आत्मा-आत्मा मे स्थिर हो कर ज्ञान-दर्शन-चारित्र तप आदि क्रिया करता तथा स्वरूपरमण करता है, उससे पूर्वबद्धकर्मो का आत्यन्तिक छुटकारा (मोक्ष) हो जाता है, भला आत्मा को क्षणिक मानने पर बन्ध और मोक्ष कैसे घटित होगे?

इस प्रकार एकान्त क्षणिक आत्मा मानने पर उसका बन्ध, मोक्ष, पुण्यजनित कर्मफलस्वरूप सुख या पापजनित अशुभफलरूप दुःख उसमे घटित नही हो सकेगा। क्षणिकवादी बौद्ध आत्मा को एक ओर तो क्षणिक मानते है, दूसरी ओर आत्मा के बन्ध और मोक्ष को भी मानते है। यह वदतो व्याघात जैसी परस्पर विरुद्ध बात है, जो गम्भीरतापूर्वक विचारणीय है, बौद्ध दार्शनिको के लिए। इसीलिए श्रीआनन्दघनजी प्रभु से प्रार्थना करते है–प्रभो! किस प्रकार का आत्मतत्त्व सचा मानू, यह कृपा करके मुझे बताइए।

चतुर्भूतवादियों की दृष्टि में आत्मतत्त्व

अब श्रीआनन्दघनजी कहते है कि दुनिया मे चार भूतवादी भी आत्मा

है तो मन की भ्रमणा और मन की शुद्धि ये कहॉ से आ गए, एक ही ब्रह्म होने के बावजूद? यदि ये सब ब्रह्म (आत्मा) मे आए है, तब तो बह्म एक और एकस्वरूप (नित्य) नही रह सका। इसलिए आत्मा परिणामी होते हुए भी नित्य माने बिना कोई छुटकारा नही है। इतनी आपतियॉ होते हुए भी एकान्त नित्य मानेगे तो आपके मत मे अविद्या (अज्ञान) का नाश करने के लिए जो वेदान्त विधिशेषत्व का उपयोग करते है, विधि भी बताते है। अगर बह्म सदा नित्य ही हो तो उसमे अविद्या से जनित अशुद्धि को दूर करने की विधिशेषत्व की प्रवृत्ति कैसे हो सकती है? एकान्तनित्य आत्मा मानने पर जो कुछ भी प्रवृत्ति अविद्यानाशादि के लिए करेगे, उसका फल तो आपको मिलेगा नही, इस दृष्टि से[1] कृत (फल) का नाश होगा और अकृत का आगम (दोष) होगा। आत्मा एकान्त नित्य एकरूप रहेगी, तो शुभाशुभ जो कर्म वेदान्ती करेगा, उसका तो नाश हो जाएगा और व्रत नियमादि शुद्ध कर्त्तव्य नहीं करते हुए भी उनका फल मिला करेगा। यानी ऐसी स्थिति मे कृतकर्म का फल नष्ट हो जाएगा और अकृतकर्म का फल मिलने लगेगा। अथवा अविद्या का नाश था ही, ब्रह्म ही अकेला था। वह आज भी है। अविद्या का नाशरूप फल तो विधिशेषत्व किए बिना भी था। इस तरह किये हुए पुरुषार्थ का नाश और नहीं करे हुए, की प्राप्ति ये दूषण अवश्यमेव आऐगे। आत्मा को नित्य मानने वाले की नजरों मे मनुष्य मनुष्य के बीच में जो आज राई और पर्वत का-सा अन्तर है, वह क्यो नही आता? क्या ये धनवान-गरीब, मदबुद्धि-तीव्रबुद्धि आदि भेद नित्य आत्मा मे हो सकते है, परन्तु व्यवहार मे दोनो ही है। अपनी बुद्धि मे इस निष्पक्ष विचार का गज डाल कर देखे तो तुरन्त समस्या हल हो सकती है। अतः एकान्त नित्य आत्मतत्त्व का विचार दिमाग मे जचता ही नहीं है, इसीलिए प्रभो! मै आपसे निर्विवाद सत्य शुद्ध आत्मतत्त्व जानना चाहता हूँ।

आत्मा क्षणिकवाद की दृष्टि में

क्षणिकमतवादी बौद्धमतानुरागी लोग कहते है-आत्मा क्षणविध्वसी है, प्रतिक्षण उत्पन्न-विनष्ट होता रहता है। प्रत्येक का आत्मा सदा एक समान नहीं रहता, वह प्रतिक्षण बदलता रहता है। पहले क्षण में जो आत्मा था, वह दूसरे

1 कृतनाश का अर्थ है-'पूर्ण कारण-सामग्री मिलने पर भी कार्योत्पत्ति न होना तथा अकृतागम का अर्थ है-कारण के बिना ही कार्य उत्पत्ति होना।'

है तो मन की भ्रमणा और मन की शुद्धि ये कहाॅ से आ गए, एक ही ब्रह्म होने के बावजूद? यदि ये सब ब्रह्म (आत्मा) मे आए है, तब तो बह्म एक और एकस्वरूप (नित्य) नहीं रह सका। इसलिए आत्मा परिणामी होते हुए भी नित्य माने बिना कोई छुटकारा नही है। इतनी आपतियाॅ होते हुए भी एकान्त नित्य मानेगे तो आपके मत में अविद्या (अज्ञान) का नाश करने के लिए जो वेदान्त विधिशेषत्व का उपयोग करते है, विधि भी बताते है। अगर बह्म सदा नित्य ही हो तो उसमे अविद्या से जनित अशुद्धि को दूर करने की विधिशेषत्व की प्रवृत्ति कैसे हो सकती है? एकान्तनित्य आत्मा मानने पर जो कुछ भी प्रवृत्ति अविद्यानाशादि के लिए करेगे, उसका फल तो आपको मिलेगा नहीं, इस दृष्टि से[1] कृत (फल) का नाश होगा और अकृत का आगम (दोष) होगा। आत्मा एकान्त नित्य एकरूप रहेगी, तो शुभाशुभ जो कर्म वेदान्ती करेगा, उसका तो नाश हो जाएगा और व्रत नियमादि शुद्ध कर्त्तव्य नहीं करते हुए भी उनका फल मिला करेगा। यानी ऐसी स्थिति मे कृतकर्म का फल नष्ट हो जाएगा और अकृतकर्म का फल मिलने लगेगा। अथवा अविद्या का नाश था ही, ब्रह्म ही अकेला था। वह आज भी है। अविद्या का नाशरूप फल तो विधिशेषत्व किए बिना भी था। इस तरह किये हुए पुरुषार्थ का नाश और नहीं करे हुए, की प्राप्ति ये दूषण अवश्यमेव आऐगे। आत्मा को नित्य मानने वाले की नजरो मे मनुष्य मनुष्य के बीच मे जो आज राई और पर्वत का-सा अन्तर है, वह क्यो नही आता? क्या ये धनवान-गरीब, मदबुद्धि-तीव्रबुद्धि आदि भेद नित्य आत्मा मे हो सकते है, परन्तु व्यवहार मे दोनो ही है। अपनी बुद्धि मे इस निष्पक्ष विचार का गज डाल कर देखे तो तुरन्त समस्या हल हो सकती है। अतः एकान्त नित्य आत्मतत्त्व का विचार दिमाग मे जचता ही नही है, इसीलिए प्रभो! मै आपसे निर्विवाद सत्य शुद्ध आत्मतत्त्व जानना चाहता हूॅ।

आत्मा क्षणिकवाद की दृष्टि में

क्षणिकमतवादी बौद्धमतानुरागी लोग कहते है–आत्मा क्षणविध्वसी है, प्रतिक्षण उत्पन्न-विनष्ट होता रहता है। प्रत्येक का आत्मा सदा एक समान नहीं रहता, वह प्रतिक्षण बदलता रहता है। पहले क्षण में जो आत्मा था, वह दूसरे

1 कृतनाश का अर्थ है–'पूर्ण कारण–सामग्री मिलने पर भी कार्योत्पत्ति न होना तथा अकृतागम का अर्थ है–कारण के बिना ही कार्य उत्पत्ति होना।'

तो मानता है, मगर वह कहता है कि पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु, इन चार महाभूतों के सिवाय आत्मा नाम का कोई पदार्थ जगत् मे है ही नही। इसलिए चार भूतो का समूह ही आत्मा है। यह चार्वाक का मत है। चार्वाक प्रत्यक्षवादी है। वह कहता है–आत्मा नाम का कोई पदार्थ प्रत्यक्ष दिखाई तो देता नही। न कोई परलोक वगैरह प्रत्यक्ष दिखाई देते है और उक्त 4 भूत तो प्रत्यक्ष दिखाई देते है। जैसे गौबर, गोमूत्र आदि पदार्थो के एकत्र होते से ही बिच्छु बन जाता है, अथवा Chemical Compound के मिलने से एक दवा बन जाती है। वैसे ही इन चार भूतों का सयोग होते ही आत्मा का प्रादुर्भाव इनमे कैसे होता है और इन्हीं चारभूतो के खत्म होते ही आत्मा भी खत्म हो जाता है। बस, यही आत्मा है। इसके अलावा कोई आत्मा प्रत्यक्ष नहीं दिखाई देता। उनसे पूछा जाय कि आत्मा जब भूतों के नष्ट होते ही यही नष्ट हो जाता है तो उसने जो शुभाशुभ कर्म किये है, उनका फल कब, और किसको मिलेगा? अगर कहे कि फल यही मिल जाता है, तब तो मुक्ति के लिए की जाने वाली या असत्यादि से निवृत्त होने और न होने वाले व्यक्तियो का धर्माचरण, जप-तप आदि व्यर्थ है, फिर तो पापकर्म करने वाले को भी कोई खटका नहीं रहेगा, क्योकि आत्मा का फिर कुछ खेल है; वह यहीं पर है, परलोक मे नही, ऐसा आश्वासन मिल जाने के कारण व्यक्ति क्यो धर्माचरण शुद्धात्मरमण आदि करेगा? वह नि शक हो कर पापकर्म करेगा। क्योकि चार्वाक की उक्ति उन्हे प्रेरणा देती है–"जब तक जीओ। सुख से जीओ। कर्ज करके घी पीओ। मृत शरीर के राख हो जाने पर उसका पुनः आगमन नही होता, यही खेल खत्म हो जाता है।[1]"

इसका खण्डन श्रीआनन्दघनजी इसी गाथा के उत्तरार्द्ध से करते है कि अधा आदमी एक गाडी पर बैठ कर मुसाफरी कर रहा है। रास्ते मे ही उससे किसी ने पूछा–"क्यो सूरदासजी! गाडी देख रहे हो न?" अगर वह गाडी से इन्कार करता है, अथवा उसकी नजरो मे गाडी नही दिखाई देती तो क्या गाडी नहीं है? इसमे गाडी का तो कोई दोष नहीं है। किन्तु तर्क यह है कि उस गाडी को चाहे वह अंधा ऑखो से न देख सकता हो, परन्तु हाथ के स्पर्श से, गाडी की खड-खड आवाज से, अथवा किसी विश्वस्त सत्यवादी मनुष्य के द्वारा

1. **यावज्जीवेत् सुखं जीवेत्, ऋणं घृतं पिबेत्।
भस्सीभूतस्य देहस्य, पुनरागमनं कुत.?॥**

बतलाने पर कि गाड़ी पास में ही है, इससे उस अंधे को मालूम हो जाता है कि गाड़ी मेरे पास ही है। क्या वह अंधा तब उस गाड़ी के अस्तित्व से इन्कार कर सकता है? कदापि नहीं। क्योंकि, स्पर्श से, आवाज से, प्रामाणिक पुरुष के वचन से, शब्दप्रमाण से एवं अनुमानप्रमाण से उसने गाड़ी की जानकारी कर ली है। इसके बावजूद वह आँखों से गाड़ी न देखने के कारण हठपूर्वक इन्कार करता है, तो उसकी जिद्द ही कही जाएगी। इसी प्रकार चार्वाकमतवादी नास्तिक की नजर में कदाचित् पंचभूतों से अतिरिक्त आत्मा न आए, परन्तु उससे आत्मा के अस्तित्व या उपस्थिति से इन्कार कैसे किया जा सकता है। क्योंकि आत्मा अनुमान, आगम आदि प्रमाणों अनुभव आदि से ज्ञात होता है? चारभूत को ही आत्मा मानने से अनेक दोष आते हैं। इसलिए आत्मा के लिए चाहे वे हठपूर्वक इन्कार करें, क्या उससे दुनिया में आत्मतत्त्व अभाव या अस्तित्व हो जाएगा। मृत मनुष्य या पशु में चारों भूत होते हुए भी वह चलता फिरता क्यों नहीं?" इससे मालूम होता है, उन चार भूतों से अतिरिक्त कोई आत्मा नाम का पदार्थ है, जिसकी शक्ति से इन्द्रियाँ, मन या शरीरादि काम करते हैं।

वर्तमान भौतिक विज्ञान भी प्रायः प्रत्यक्ष को मान कर चलता है, परन्तु वह पूर्वज आप्तपुरुषों की रची हुई थ्योरी पर से पहले-पहले प्रेक्टिकल एक्सपेरिमेंट (प्रयोग) करता है, अनुमानप्रमाण से भी काम लेता है, इसलिए वह आत्मा का सर्वथा इन्कार करे, ऐसा जिद्दी नही है। युक्तियो से समझाने पर आधुनिक विज्ञान आत्मतत्व के विषय मे मान भी सकता है। अतः इन भौतिकवादियो के प्रवाह मे न वह कर प्रत्येक अध्यात्मसाधक को आत्मतत्त्व की छानवीन अवश्य करनी चाहिए।

इस प्रकार श्रीआनन्दघनजी आत्मा के विषय में विविध दार्शनिको की अटपटी मान्याताओ को प्रस्तुत करके उनकी वात क्यो सच नही लगती? क्यो गले नही उतरती? इसे भी साथ ही साथ निवेदन करके पुनः भगवान् के चरणो मे प्रार्थना करते हैं–"आपने जिस प्रकार के आत्मतत्व को सच माना हो, उसके विषय मे वताइए, अव श्रीवीतराग परमात्मा इसके उत्तर मे क्या कहते है, यह अगली गाथा मे पढिए"–

एम अनेक वादी मतविभ्रम संकट पड़ियो न लहे।
चित्त समाध ते माटे पूछुं, तुमबिण तत कोई न कहे।।

मु. 7।।

तो मानता है, मगर वह कहता है कि पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु, इन चार महाभूतों के सिवाय आत्मा नाम का कोई पदार्थ जगत् मे है ही नही। इसलिए चार भूतों का समूह ही आत्मा है। यह चार्वाक का मत है। चार्वाक प्रत्यक्षवादी है। वह कहता है–आत्मा नाम का कोई पदार्थ प्रत्यक्ष दिखाई तो देता नही। न कोई परलोक वगैरह प्रत्यक्ष दिखाई देते हैं और उक्त 4 भूत तो प्रत्यक्ष दिखाई देते हैं। जैसे गौबर, गोमूत्र आदि पदार्थो के एकत्र होते से ही बिच्छु बन जाता है, अथवा Chemical Compound के मिलने से एक दवा बन जाती है। वैसे ही इन चार भूतो का सयोग होते ही आत्मा का प्रादुर्भाव इनमे कैसे होता है और इन्हीं चारभूतो के खत्म होते ही आत्मा भी खत्म हो जाता है। बस, यही आत्मा है। इसके अलावा कोई आत्मा प्रत्यक्ष नहीं दिखाई देता। उनसे पूछा जाय कि आत्मा जब भूतो के नष्ट होते ही यहीं नष्ट हो जाता है तो उसने जो शुभाशुभ कर्म किये है, उनका फल कब, और किसको मिलेगा? अगर कहे कि फल यही मिल जाता है, तब तो मुक्ति के लिए की जाने वाली या असत्यादि से निवृत्त होने और न होने वाले व्यक्तियो का धर्माचरण, जप-तप आदि व्यर्थ है, फिर तो पापकर्म करने वाले को भी कोई खटका नही रहेगा, क्योकि आत्मा का फिर कुछ खेल है,' वह यही पर है, परलोक मे नही, ऐसा आश्वासन मिल जाने के कारण व्यक्ति क्यो धर्माचरण शुद्धात्मरमण आदि करेगा? वह नि शक हो कर पापकर्म करेगा। क्योंकि चार्वाक की उक्ति उन्हे प्रेरणा देती है–"जब तक जीओ। सुख से जीओ। कर्ज करके घी पीओ। मृत शरीर के राख हो जाने पर उसका पुनः आगमन नही होता, यही खेल खत्म हो जाता है।[1]"

इसका खण्डन श्रीआनन्दघनजी इसी गाथा के उत्तरार्द्ध से करते है कि अधा आदमी एक गाडी पर बैठ कर मुसाफरी कर रहा है। रास्ते मे ही उससे किसी ने पूछा–"क्यों सूरदासजी! गाडी देख रहे हो न?" अगर वह गाडी से इन्कार करता है, अथवा उसकी नजरो मे गाडी नही दिखाई देती तो क्या गाडी नहीं है? इसमे गाडी का तो कोई दोष नहीं है। किन्तु तर्क यह है कि उस गाडी को चाहे वह अंधा ऑखो से न देख सकता हो, परन्तु हाथ के स्पर्श से, गाडी की खड-खड आवाज से, अथवा किसी विश्वस्त सत्यवादी मनुष्य के द्वारा

1. यावज्जीवेत् सुखं जीवेत्, ऋणं घृतं पिबेत्।
भस्सीभूतस्य देहस्य, पुनरागमनं कुत·?।।

परस्पर विरोधी एव अपनी-अपनी युक्तियो की छटा से युक्त बाते सुन कर स्वाभाविक है कि आम जनता, जो विभिन्न दर्शनशास्त्रो का अध्ययन नही है, जो जैनतत्त्व ज्ञान से अनभिज्ञ है, सहसा सशय मे पड जाता है कि यह मत सच्चा है या वह मत? आज भी पाश्चात्य संस्कृति या कामभोगोत्तेजक विचारधारा सुन कर बडे-बडे प्रभावित हो जाते है, जैसे भावुकजन किन्तु भगवान्, पैगम्बर आदि पदो से विभूषित तथाकथित वाक्पटु लोगो की लच्छेदार और अटपट गले उतर जाने वाली युक्तियो, हेतुओ, दृष्टान्तो तथा आडम्बरो को देख कर वे हतप्रभ हो जाते है। हजारो-लाखो लोगो की भीड देख कर वे सोचने लगते है— इतने लोग इनकी बात सुनते है, तो क्या ये सब मूढ है? इस प्रकार उनकी बुद्धि अटपट डावाडोल हो उठती है। उनके दिमाग मे तूफान खडा हो जाता है कि इतने बडे माने जाने वाले व्यक्ति की बाते मिथ्या या सब कुछ असत्य कैसे हो सकती है? जब तक उनके मन का प्रबल युक्तियो से यथार्थ समाधान न कर दे, तब तक उन्हे शान्ति नही होती और यथार्थ समाधान तो निःस्पृह, निष्पक्ष, वीतराग आप्तपुरुष ही कर सकता है। पहले कहा जा चुका है कि छद्मस्थ व्यक्ति चाहे कितने ही महान् पद पर हो, बाहर से कितना ही त्यागी कहलाता हो, उसके द्वारा बेलाग और बेदाग कहा जाना कठिन है। इसीलिए आनन्दघनजी ने अपनी नम्रता प्रदर्शित करने के साथ-साथ जगत् के आम साधको को आत्मतत्त्व की सच्ची राह मालूम कराने हेतु अथवा सर्वसाधारण की बुद्धि को ऐसे वाक्पटु लोगो के जाल से निकालने के लिए वीतराग परमात्मा से यथार्थ आत्मतत्त्व कौन-सा है? पूर्वोक्त दर्शनो की बातो मे सचाई कितनी है? यह जिज्ञासा पुनः प्रकट की है और यह भी प्रकट कर दिया है कि आपके (वीतराग) के सिवाय आत्मतत्त्व का यथार्थ ज्ञान कोई नही कह सकता। इसका कारण भी पुनः उन्होने दोहराया है कि यथार्थ आत्मतत्त्व जाने बिना चित्तसमाधि (मन.शान्ति) प्राप्त नही हो सकती।

मुमुक्षु एव आत्मार्थी साधक की मन·शान्ति जहाँ तक नही होती, वहाँ तक वह शुद्धात्मस्वरूप मे रमणता, या परमात्मा मे तन्मयता कर नही सकता। इसलिए श्रीआनन्दघनजी ने अपनी और समस्त मुमुक्षु साधको की मन:शान्ति के लिए यह जिज्ञासा न्यायोचित ही प्रस्तुत की है।

जैनदर्शन के अनुसार यथार्थ आत्मतत्त्व कौन-सा और कैसा है? वह कैसे प्राप्त हो सकता है? यह अगली गाथाओ मे पढिए—

अर्थ–इस प्रकार अनेक एकान्तवादियों (दार्शनिकों) ने (आत्मतत्त्व के विषय में अपनी-अपनी एकान्त बातें कह कर) मेरी बुद्धि भ्रम में डाल दी है। इस कारण मैं धर्मसंकट में पड़ गया हूँ। मेरा चित्त समाधि (समाधान) नहीं कर पाया, इसलिए मैं आपसे (अपने मन की, खासतौर से शान्ति के लिए) इसके बारे में पूछता हूँ। मुझे विश्वास है कि आपके बिना (निष्पक्ष रूप से) कोई आत्मा के विषय में सत्यतत्त्व क्या है? इसे नहीं कह सकता।

भाष्य–श्रीआनन्दघनजी की उलझन और तत्त्वज्ञान की तीव्र जिज्ञासा

श्रीआनन्दघनजी आत्मतत्त्व के विषय मे परमात्मा के समक्ष इतने दार्शनिको के विविध परस्पर विरोधी मन्तव्यो को प्रस्तुत करके तथा उनकी विचार धारा क्यो नहीं जंचती ? इस बात का स्पष्ट निवेदन करने के बाद भी पुनः निवेदन कर रहे है कि "प्रभो! इस प्रकार मै अनेक मतवादियो की एकान्त विचारधारा आत्मतत्त्व के विषय मे सुन कर वेदान्त, साख्य, बौद्ध और चार्वाक आदि दर्शनो के पृथक्-पृथक् अभिप्रायो को जानकर मेरी बुद्धि ऐसे भ्रमजाल के संकट मे पड गई है, कि कोई भी साधक ऐसे सकट मे पड कर मन में किसी प्रकार की समाधि या शान्ति प्राप्त नहीं कर सकता। मै भी अपने मन की शांति, स्थिरता और एकाग्रता को खो बैठा हूँ। अतएव निरूपाय हो कर मुझे आपको पूछना पडा है। क्योकि चित्तसमाधि या आत्मतत्त्व के सच्चे जिज्ञासुओ को आपके सिवाय कोई भी तत्त्व (यथार्थ स्वरूप कह नही सकता।) आप ही आत्मा का यथार्थ तत्त्व समझाइए और मेरे चित्त का समाधान कीजिए।"

कोई यहाँ सवाल उठा सकता है कि अध्यात्मयोगी श्रीआनन्दघनजी ने पूर्वगाथाओ मे आत्मतत्त्व के सम्बन्ध मे प्रतिपादित विविध दार्शनिको का मत प्रस्तुत करके स्वयमेव उनका खण्डन किया है, इस पर से ऐसा प्रतीत नही होता कि श्रीआनन्दघनजी किसी प्रकार के भ्रम मे हो और उनकी बुद्धि कुण्ठित होकर वास्तविकता को न समझ पा रही हो। तब परमात्मा के समक्ष इन गाथाओं मे उन्होने जो कहा है–'**इम अनेकवादी मतिविभ्रम संकट पड़ियो न लहे,**' इस बात के साथ कैसे संगति बैठेगी! इसका समाधान मेरी दृष्टि से यह है कि यहाँ जो कहा गया है, वह योगीश्री ने अपने लिए नही कहा है, ऐसा मालूम होता है। यह उन्होने आम अध्यात्मजिज्ञासुओ और मुमुक्षुओ के लिए कहा है कि इस प्रकार अनेक अध्यात्मवादियों की आत्मा के संबध मे पृथक्-पृथक् राय सुन कर बुद्धि चकरा जाती है, वह घपले में पड जाती है। अनेक लोगो की

अर्थ–इस प्रकार अनेक एकान्तवादियों (दार्शनिकों) ने (आत्मतत्त्व के विषय में अपनी-अपनी एकान्त बातें कह कर) मेरी बुद्धि भ्रम में डाल दी है। इस कारण मैं धर्मसंकट में पड़ गया हूँ। मेरा चित्त समाधि (समाधान) नहीं कर पाया, इसलिए मैं आपसे (अपने मन की, खासतौर से शान्ति के लिए) इसके बारे में पूछता हूँ। मुझे विश्वास है कि आपके बिना (निष्पक्ष रूप से) कोई आत्मा के विषय में सत्यतत्त्व क्या है? इसे नहीं कह सकता।

भाष्य–श्रीआनन्दघनजी की उलझन और तत्त्वज्ञान की तीव्र जिज्ञासा

श्रीआनन्दघनजी आत्मतत्त्व के विषय मे परमात्मा के समक्ष इतने दार्शनिकों के विविध परस्पर विरोधी मन्तव्यो को प्रस्तुत करके तथा उनकी विचार धारा क्यो नहीं जचती ? इस बात का स्पष्ट निवेदन करने के बाद भी पुनः निवेदन कर रहे है कि "प्रभो! इस प्रकार मै अनेक मतवादियो की एकान्त विचारधारा आत्मतत्त्व के विषय मे सुन कर वेदान्त, साख्य, बौद्ध और चार्वाक आदि दर्शनो के पृथक्-पृथक् अभिप्रायो को जानकर मेरी बुद्धि ऐसे भ्रमजाल के संकट मे पड गई है, कि कोई भी साधक ऐसे सकट मे पड कर मन मे किसी प्रकार की समाधि या शान्ति प्राप्त नहीं कर सकता। मै भी अपने मन की शाति, स्थिरता और एकाग्रता को खो बैठा हूँ। अतएव निरूपाय हो कर मुझे आपको पूछना पडा है। क्योकि चित्तसमाधि या आत्मतत्त्व के सच्चे जिज्ञासुओ को आपके सिवाय कोई भी तत्त्व (यथार्थ स्वरूप कह नहीं सकता।) आप ही आत्मा का यथार्थ तत्त्व समझाइए और मेरे चित्त का समाधान कीजिए।"

कोई यहाँ सवाल उठा सकता है कि अध्यात्मयोगी श्रीआनन्दघनजी ने पूर्वगाथाओ मे आत्मतत्त्व के सम्बन्ध मे प्रतिपादित विविध दार्शनिको का मत प्रस्तुत करके स्वयमेव उनका खण्डन किया है, इस पर से ऐसा प्रतीत नही होता कि श्रीआनन्दघनजी किसी प्रकार के भ्रम मे हो और उनकी बुद्धि कुण्ठित होकर वास्तविकता को न समझ पा रही हो। तब परमात्मा के समक्ष इन गाथाओं में उन्होने जो कहा है–'**इम अनेकवादी मतिविभ्रम संकट पड़ियो न लहे,**' इस बात के साथ कैसे सगति बैठेगी! इसका समाधान मेरी दृष्टि से यह है कि यहाँ जो कहा गया है, वह योगीश्री ने अपने लिए नही कहा है, ऐसा मालूम होता है। यह उन्होंने आम अध्यात्मजिज्ञासुओ और मुमुक्षुओ के लिए कहा है कि इस प्रकार अनेक अध्यात्मवादियो की आत्मा के सबध मे पृथक्-पृथक् राय सुन कर बुद्धि चकरा जाती है, वह घपले मे पड जाती है। अनेक लोगों की

अर्थ—इस प्रकार अनेक एकान्तवादियों (दार्शनिकों) ने (आत्मतत्त्व के विषय में अपनी-अपनी एकान्त बातें कह कर) मेरी बुद्धि भ्रम में डाल दी है। इस कारण मैं धर्मसंकट में पड़ गया हूँ। मेरा चित्त समाधि (समाधान) नहीं कर पाया, इसलिए मैं आपसे (अपने मन की, खासतौर से शान्ति के लिए) इसके बारे में पूछता हूँ। मुझे विश्वास है कि आपके बिना (निष्पक्ष रूप से) कोई आत्मा के विषय में सत्यतत्त्व क्या है? इसे नहीं कह सकता।

भाष्य—श्रीआनन्दघनजी की उलझन और तत्त्वज्ञान की तीव्र जिज्ञासा

श्रीआनन्दघनजी आत्मतत्त्व के विषय मे परमात्मा के समक्ष इतने दार्शनिकों के विविध परस्पर विरोधी मन्तव्यो को प्रस्तुत करके तथा उनकी विचार धारा क्यो नहीं जचती ? इस बात का स्पष्ट निवेदन करने के बाद भी पुनः निवेदन कर रहे है कि "प्रभो! इस प्रकार मै अनेक मतवादियो की एकान्त विचारधारा आत्मतत्त्व के विषय मे सुन कर वेदान्त, साख्य, बौद्ध और चार्वाक आदि दर्शनो के पृथक्-पृथक् अभिप्रायो को जानकर मेरी बुद्धि ऐसे भ्रमजाल के संकट मे पड गई है, कि कोई भी साधक ऐसे सकट मे पड कर मन मे किसी प्रकार की समाधि या शान्ति प्राप्त नही कर सकता। मै भी अपने मन की शांति, स्थिरता और एकाग्रता को खो बैठा हूँ। अतएव निरूपाय हो कर मुझे आपको पूछना पडा है। क्योंकि चित्तसमाधि या आत्मतत्त्व के सच्चे जिज्ञासुओ को आपके सिवाय कोई भी तत्त्व (यथार्थ स्वरूप कह नही सकता।) आप ही आत्मा का यथार्थ तत्त्व समझाइए और मेरे चित्त का समाधान कीजिए।"

कोई यहाँ सवाल उठा सकता है कि अध्यात्मयोगी श्रीआनन्दघनजी ने पूर्वगाथाओ में आत्मतत्त्व के सम्बन्ध मे प्रतिपादित विविध दार्शनिको का मत प्रस्तुत करके स्वयमेव उनका खण्डन किया है, इस पर से ऐसा प्रतीत नही होता कि श्रीआनन्दघनजी किसी प्रकार के भ्रम मे हो और उनकी बुद्धि कुण्ठित होकर वास्तविकता को न समझ पा रही हो। तब परमात्मा के समक्ष इन गाथाओ मे उन्होने जो कहा है—**'इम अनेकवादी मतिविभ्रम संकट पड़ियो न लहे,'** इस बात के साथ कैसे सगति बैठेगी! इसका समाधान मेरी दृष्टि से यह है कि यहाँ जो कहा गया है, वह योगीश्री ने अपने लिए नहीं कहा है, ऐसा मालूम होता है। यह उन्होने आम अध्यात्मजिज्ञासुओ और मुमुक्षुओ के लिए कहा है कि इस प्रकार अनेक अध्यात्मवादियो की आत्मा के संबंध मे पृथक्-पृथक् राय सुन कर बुद्धि चकरा जाती है, वह घपले मे पड जाती है। अनेक लोगो की

अर्थ–इस प्रकार अनेक एकान्तवादियों (दार्शनिकों) ने (आत्मतत्त्व के विषय में अपनी-अपनी एकान्त बातें कह कर) मेरी बुद्धि भ्रम में डाल दी है। इस कारण मैं धर्मसंकट में पड़ गया हूँ। मेरा चित्त समाधि (समाधान) नहीं कर पाया, इसलिए मैं आपसे (अपने मन की, खासतौर से शान्ति के लिए) इसके बारे में पूछता हूँ। मुझे विश्वास है कि आपके बिना (निष्पक्ष रूप से) कोई आत्मा के विषय में सत्यतत्त्व क्या है? इसे नहीं कह सकता।

भाष्य–श्रीआनन्दघनजी की उलझन और तत्त्वज्ञान की तीव्र जिज्ञासा

श्रीआनन्दघनजी आत्मतत्त्व के विषय मे परमात्मा के समक्ष इतने दार्शनिको के विविध परस्पर विरोधी मन्तव्यो को प्रस्तुत करके तथा उनकी विचार धारा क्यों नहीं जंचती ? इस बात का स्पष्ट निवेदन करने के बाद भी पुनः निवेदन कर रहे है कि "प्रभो! इस प्रकार मै अनेक मतवादियो की एकान्त विचारधारा आत्मतत्त्व के विषय मे सुन कर वेदान्त, साख्य, बौद्ध और चार्वाक आदि दर्शनों के पृथक्-पृथक् अभिप्रायो को जानकर मेरी बुद्धि ऐसे भ्रमजाल के सकट मे पड गई है, कि कोई भी साधक ऐसे सकट मे पड कर मन मे किसी प्रकार की समाधि या शान्ति प्राप्त नही कर सकता। मै भी अपने मन की शाति, स्थिरता और एकाग्रता को खो बैठा हूँ। अतएव निरूपाय हो कर मुझे आपको पूछना पडा है। क्योंकि चित्तसमाधि या आत्मतत्त्व के सच्चे जिज्ञासुओ को आपके सिवाय कोई भी तत्त्व (यथार्थ स्वरूप कह नही सकता।) आप ही आत्मा का यथार्थ तत्त्व समझाइए और मेरे चित्त का समाधान कीजिए।"

कोई यहाँ सवाल उठा सकता है कि अध्यात्मयोगी श्रीआनन्दघनजी ने पूर्वगाथाओ मे आत्मतत्त्व के सम्बन्ध मे प्रतिपादित विविध दार्शनिको का मत प्रस्तुत करके स्वयमेव उनका खण्डन किया है, इस पर से ऐसा प्रतीत नही होता कि श्रीआनन्दघनजी किसी प्रकार के भ्रम मे हो और उनकी बुद्धि कुण्ठित होकर वास्तविकता को न समझ पा रही हो। तब परमात्मा के समक्ष इन गाथाओ मे उन्होने जो कहा है–**'इम अनेकवादी मतिविभ्रम संकट पड़ियो न लहे,'** इस बात के साथ कैसे संगति बैठेगी! इसका समाधान मेरी दृष्टि से यह है कि यहाँ जो कहा गया है, वह योगीश्री ने अपने लिए नहीं कहा है, ऐसा मालूम होता है। यह उन्होने आम अध्यात्मजिज्ञासुओ और मुमुक्षुओ के लिए कहा है कि इस प्रकार अनेक अध्यात्मवादियो की आत्मा के संबंध मे पृथक्-पृथक् राय सुन कर बुद्धि चकरा जाती है, वह घपले मे पड जाती है। अनेक लोगो की

अर्थ–इस प्रकार अनेक एकान्तवादियों (दार्शनिकों) ने (आत्मतत्त्व के विषय में अपनी-अपनी एकान्त बातें कह कर) मेरी बुद्धि भ्रम में डाल दी है। इस कारण मैं धर्मसंकट में पड़ गया हूँ। मेरा चित्त समाधि (समाधान) नहीं कर पाया, इसलिए मैं आपसे (अपने मन की, खासतौर से शान्ति के लिए) इसके बारे में पूछता हूँ। मुझे विश्वास है कि आपके बिना (निष्पक्ष रूप से) कोई आत्मा के विषय में सत्यतत्त्व क्या है? इसे नहीं कह सकता।

_भाष्य_–श्रीआनन्दघनजी की उलझन और तत्त्वज्ञान की तीव्र जिज्ञासा

श्रीआनन्दघनजी आत्मतत्त्व के विषय मे परमात्मा के समक्ष इतने दार्शनिकों के विविध परस्पर विरोधी मन्तव्यो को प्रस्तुत करके तथा उनकी विचार धारा क्यो नहीं जचती ? इस बात का स्पष्ट निवेदन करने के बाद भी पुनः निवेदन कर रहे है कि "प्रभो! इस प्रकार मै अनेक मतवादियो की एकान्त विचारधारा आत्मतत्त्व के विषय मे सुन कर वेदान्त, साख्य, बौद्ध और चार्वाक आदि दर्शनो के पृथक्-पृथक् अभिप्रायो को जानकर मेरी बुद्धि ऐसे भ्रमजाल के संकट मे पड़ गई है, कि कोई भी साधक ऐसे सकट मे पड कर मन मे किसी प्रकार की समाधि या शान्ति प्राप्त नही कर सकता। मै भी अपने मन की शाति, स्थिरता और एकाग्रता को खो बैठा हूँ। अतएव निरूपाय हो कर मुझे आपको पूछना पडा है। क्योकि चित्तसमाधि या आत्मतत्त्व के सच्चे जिज्ञासुओ को आपके सिवाय कोई भी तत्त्व (यथार्थ स्वरूप कह नहीं सकता।) आप ही आत्मा का यथार्थ तत्त्व समझाइए और मेरे चित्त का समाधान कीजिए।"

कोई यहाँ सवाल उठा सकता है कि अध्यात्मयोगी श्रीआनन्दघनजी ने पूर्वगाथाओं मे आत्मतत्त्व के सम्बन्ध मे प्रतिपादित विविध दार्शनिको का मत प्रस्तुत करके स्वयमेव उनका खण्डन किया है, इस पर से ऐसा प्रतीत नही होता कि श्रीआनन्दघनजी किसी प्रकार के भ्रम मे हो और उनकी बुद्धि कुण्ठित होकर वास्तविकता को न समझ पा रही हो। तब परमात्मा के समक्ष इन गाथाओ मे उन्होने जो कहा है–'**इम अनेकवादी मतिविभ्रम संकट पड़ियो न लहे,**' इस बात के साथ कैसे सगति बैठेगी! इसका समाधान मेरी दृष्टि से यह है कि यहाँ जो कहा गया है, वह योगीश्री ने अपने लिए नहीं कहा है, ऐसा मालूम होता है। यह उन्होने आम अध्यात्मजिज्ञासुओ और मुमुक्षुओ के लिए कहा है कि इस प्रकार अनेक अध्यात्मवादियों की आत्मा के संबध में पृथक्-पृथक् राय सुन कर बुद्धि चकरा जाती है, वह घपले मे पड जाती है। अनेक लोगो की

परस्पर विरोधी एवं अपनी-अपनी युक्तियो की छटा से युक्त बाते सुन कर स्वाभाविक है कि आम आदमी जिसका विविध दर्शनशास्त्रो का अध्ययन नही है, जो जैनतत्त्व ज्ञान से अनभिज्ञ है, सहसा संशय मे पड जाता है कि यह मत सच्चा है या वह मत? आज भी पाश्चात्य संस्कृति या कामभोगोत्तेजक विचारधारा सुन कर बडे-बडे प्रभावित हो जाते हैं, वैसे भोगपरायण किन्तु भगवान्, पैगम्बर आदि पदो से विभूषित तथाकथित वाक्पटु लोगो की लच्छेदार और झटपट गले उतर जाने वाली युक्तियो, हेतुओ, दृष्टान्तो तथा आडम्बरों को देख कर वे हतप्रभ हो जाते हैं। हजारो-लाखो लोगों की भीड़ देख कर वे सोचने लगते हैं- इतने लोग इनकी बात सुनते हैं, तो क्या ये सब बुद्धु हैं? इस प्रकार उनकी बुद्धि झटपट डांवाडोल हो उठती है। उनके दिमाग में तूफान खडा हो जाता है कि इतने बड़े माने जाने वाले व्यक्ति की बातें मिथ्या या सब कुछ असत्य कैसे हो सकती है? जब तक उनके मन का प्रबल युक्तियो से यथार्थ समाधान न कर दे, तब तक उन्हे शान्ति नही होती और यथार्थ समाधान तो निःस्पृह, निष्पक्ष, वीतराग आप्तपुरुष ही कर सकता है। पहले कहा जा चुका है कि छद्मस्थ व्यक्ति चाहे कितने ही महान् पद पर हो, बाहर से कितना ही त्यागी कहलाता हो, उसके द्वारा बेलाग और बेराग कहा जाना कठिन है। इसीलिए आनन्दघनजी ने अपनी नम्रता प्रदर्शित करने के साथ-साथ जगत् के आम साधको को आत्मतत्त्व की सच्ची राह मालूम कराने हेतु अथवा सर्वसाधारण की बुद्धि को ऐसे वाक्पटु लोगो के जाल से निकालने के लिए वीतराग परमात्मा से यथार्थ आत्मतत्त्व कौन-सा है? पूर्वोक्त दर्शनो की बातो मे सच्चाई कितनी है? यह जिज्ञासा पुनः प्रकट की है और यह भी प्रकट कर दिया है कि आपके (वीतराग) के सिवाय आत्मतत्त्व का यथार्थ ज्ञान कोई नही कह सकता। इसका कारण भी पुनः उन्होने दोहराया है कि यथार्थ आत्मतत्त्व जाने बिना चित्तसमाधि (मन शान्ति) प्राप्त नहीं हो सकती।

मुमुक्षु एवं आत्मार्थी साधक की मन.शान्ति जहाँ तक नही होती, वहाँ तक वह शुद्धात्मस्वरूप मे रमणता, या परमात्मा मे तन्मयता कर नही सकता। इसलिए श्रीआनन्दघनजी ने अपनी और समस्त मुमुक्षु साधको की मन.शान्ति के लिए यह जिज्ञासा न्यायोचित ही प्रस्तुत की है।

जैनदर्शन के अनुसार यथार्थ आत्मतत्त्व कौन-सा और कैसा है? वह कैसे प्राप्त हो सकता है? यह अगली गाथाओ मे पढिए-

अर्थ–इस प्रकार अनेक एकान्तवादियों (दार्शनिकों) ने (आत्मतत्त्व के विषय में अपनी-अपनी एकान्त बातें कह कर) मेरी बुद्धि भ्रम में डाल दी है। इस कारण मैं धर्मसंकट में पड़ गया हूँ। मेरा चित्त समाधि (समाधान) नहीं कर पाया, इसलिए मैं आपसे (अपने मन की, खासतौर से शान्ति के लिए) इसके बारे में पूछता हूँ। मुझे विश्वास है कि आपके बिना (निष्पक्ष रूप से) कोई आत्मा के विषय में सत्यतत्त्व क्या है? इसे नहीं कह सकता।

भाष्य–श्रीआनन्दघनजी की उलझन और तत्त्वज्ञान की तीव्र जिज्ञासा

श्रीआनन्दघनजी आत्मतत्त्व के विषय मे परमात्मा के समक्ष इतने दार्शनिकों के विविध परस्पर विरोधी मन्तव्यो को प्रस्तुत करके तथा उनकी विचार धारा क्यो नहीं जंचती ? इस बात का स्पष्ट निवेदन करने के बाद भी पुनः निवेदन कर रहे है कि "प्रभो! इस प्रकार मै अनेक मतवादियों की एकान्त विचारधारा आत्मतत्त्व के विषय मे सुन कर वेदान्त, साख्य, बौद्ध और चार्वाक आदि दर्शनो के पृथक्-पृथक् अभिप्रायो को जानकर मेरी बुद्धि ऐसे भ्रमजाल के सकट मे पड गई है, कि कोई भी साधक ऐसे सकट मे पड कर मन मे किसी प्रकार की समाधि या शान्ति प्राप्त नहीं कर सकता। मै भी अपने मन की शाति, स्थिरता और एकाग्रता को खो बैठा हूँ। अतएव निरूपाय हो कर मुझे आपको पूछना पड़ा है। क्योकि चित्तसमाधि या आत्मतत्त्व के सच्चे जिज्ञासुओ को आपके सिवाय कोई भी तत्त्व (यथार्थ स्वरूप कह नहीं सकता।) आप ही आत्मा का यथार्थ तत्त्व समझाइए और मेरे चित्त का समाधान कीजिए।"

कोई यहाँ सवाल उठा सकता है कि अध्यात्मयोगी श्रीआनन्दघनजी ने पूर्वगाथाओ मे आत्मतत्त्व के सम्बन्ध मे प्रतिपादित विविध दार्शनिको का मत प्रस्तुत करके स्वयमेव उनका खण्डन किया है, इस पर से ऐसा प्रतीत नही होता कि श्रीआनन्दघनजी किसी प्रकार के भ्रम मे हो और उनकी बुद्धि कुण्ठित होकर वास्तविकता को न समझ पा रही हो। तब परमात्मा के समक्ष इन गाथाओं मे उन्होंने जो कहा है–'**इम अनेकवादी मतिविभ्रम संकट पड़ियो न लहे,**' इस बात के साथ कैसे संगति बैठेगी! इसका समाधान मेरी दृष्टि से यह है कि यहाँ जो कहा गया है, वह योगीश्री ने अपने लिए नहीं कहा है, ऐसा मालूम होता है। यह उन्होने आम अध्यात्मजिज्ञासुओ और मुमुक्षुओ के लिए कहा है कि इस प्रकार अनेक अध्यात्मवादियो की आत्मा के संबध मे पृथक्-पृथक् राय सुन कर बुद्धि चकरा जाती है, वह घपले मे पड जाती है। अनेक लोगो की

परस्पर विरोधी एवं अपनी-अपनी युक्तियो की छटा से युक्त बाते सुन कर स्वाभाविक है कि आम आदमी जिसका विविध दर्शनशास्त्रो का अध्ययन नही है, जो जैनतत्त्व ज्ञान से अनभिज्ञ है, सहसा सशय मे पड़ जाता है कि यह मत सच्चा है या वह मत? आज भी पाश्चात्य सस्कृति या कामभोगोत्तेजक विचारधारा सुन कर बडे-बड़े प्रभावित हो जाते हैं, वैसे भोगपरायण किन्तु भगवान्, पैगम्बर आदि पदो से विभूषित तथाकथित वाक्पटु लोगो की लच्छेदार और झटपट गले उतर जाने वाली युक्तियों, हेतुओ, दृष्टान्तो तथा आडम्बरों को देख कर वे हतप्रभ हो जाते हैं। हजारो-लाखो लोगो की भीड देख कर वे सोचने लगते हैं— इतने लोग इनकी बात सुनते हैं, तो क्या ये सब बुद्धु हैं? इस प्रकार उनकी बुद्धि झटपट डांवाडोल हो उठती है। उनके दिमाग में तूफान खडा हो जाता है कि इतने बडे माने जाने वाले व्यक्ति की बाते मिथ्या या सब कुछ असत्य कैसे हो सकती है? जब तक उनके मन का प्रबल युक्तियो से यथार्थ समाधान न कर दे, तब तक उन्हे शान्ति नहीं होती और यथार्थ समाधान तो निःस्पृह, निष्पक्ष, वीतराग आप्तपुरुष ही कर सकता है। पहले कहा जा चुका है कि छद्‌मस्थ व्यक्ति चाहे कितने ही महान् पद पर हो, बाहर से कितना ही त्यागी कहलाता हो, उसके द्वारा बेलाग और बेराग कहा जाना कठिन है। इसीलिए आनन्दघनजी ने अपनी नम्रता प्रदर्शित करने के साथ-साथ जगत् के आम साधको को आत्मतत्त्व की सच्ची राह मालूम कराने हेतु अथवा सर्वसाधारण की बुद्धि को ऐसे वाक्पटु लोगो के जाल से निकालने के लिए वीतराग परमात्मा से यथार्थ आत्मतत्त्व कौन-सा है? पूर्वोक्त दर्शनो की बातो मे सचाई कितनी है? यह जिज्ञासा पुनः प्रकट की है और यह भी प्रकट कर दिया है कि आपके (वीतराग) के सिवाय आत्मतत्त्व का यथार्थ ज्ञान कोई नही कह सकता। इसका कारण भी पुनः उन्होने दोहराया है कि यथार्थ आत्मतत्त्व जाने बिना चित्तसमाधि (मन.शान्ति) प्राप्त नही हो सकती।

मुमुक्षु एवं आत्मार्थी साधक की मन शान्ति जहाँ तक नहीं होती, वहाँ तक वह शुद्धात्मस्वरूप मे रमणता, या परमात्मा मे तन्मयता कर नही सकता। इसलिए श्रीआनन्दघनजी ने अपनी और समस्त मुमुक्षु साधको की मन शान्ति के लिए यह जिज्ञासा न्यायोचित ही प्रस्तुत की है।

जैनदर्शन के अनुसार यथार्थ आत्मतत्त्व कौन-सा और कैसा है? वह कैसे प्राप्त हो सकता है? यह अगली गाथाओ मे पढिए—

अर्थ–इस प्रकार अनेक एकान्तवादियों (दार्शनिकों) ने (आत्मतत्त्व के विषय में अपनी-अपनी एकान्त बातें कह कर) मेरी बुद्धि भ्रम में डाल दी है। इस कारण मैं धर्मसंकट में पड़ गया हूँ। मेरा चित्त समाधि (समाधान) नहीं कर पाया, इसलिए मैं आपसे (अपने मन की, खासतौर से शान्ति के लिए) इसके बारे में पूछता हूँ। मुझे विश्वास है कि आपके बिना (निष्पक्ष रूप से) कोई आत्मा के विषय में सत्यतत्त्व क्या है? इसे नहीं कह सकता।

भाष्य–श्रीआनन्दघनजी की उलझन और तत्त्वज्ञान की तीव्र जिज्ञासा

श्रीआनन्दघनजी आत्मतत्त्व के विषय मे परमात्मा के समक्ष इतने दार्शनिको के विविध परस्पर विरोधी मन्तव्यो को प्रस्तुत करके तथा उनकी विचार धारा क्यों नहीं जचती ? इस बात का स्पष्ट निवेदन करने के बाद भी पुनः निवेदन कर रहे है कि "प्रभो! इस प्रकार मै अनेक मतवादियों की एकान्त विचारधारा आत्मतत्त्व के विषय मे सुन कर वेदान्त, साख्य, बौद्ध और चार्वाक आदि दर्शनो के पृथक्-पृथक् अभिप्रायो को जानकर मेरी बुद्धि ऐसे भ्रमजाल के सकट मे पड गई है, कि कोई भी साधक ऐसे सकट मे पड कर मन मे किसी प्रकार की समाधि या शान्ति प्राप्त नही कर सकता। मै भी अपने मन की शांति, स्थिरता और एकाग्रता को खो बैठा हूॅ। अतएव निरूपाय हो कर मुझे आपको पूछना पडा है। क्योकि चित्तसमाधि या आत्मतत्त्व के सच्चे जिज्ञासुओ को आपके सिवाय कोई भी तत्त्व (यथार्थ स्वरूप कह नही सकता।) आप ही आत्मा का यथार्थ तत्त्व समझाइए और मेरे चित्त का समाधान कीजिए।"

कोई यहॉ सवाल उठा सकता है कि अध्यात्मयोगी श्रीआनन्दघनजी ने पूर्वगाथाओ मे आत्मतत्त्व के सम्बन्ध मे प्रतिपादित विविध दार्शनिको का मत प्रस्तुत करके स्वयमेव उनका खण्डन किया है, इस पर से ऐसा प्रतीत नही होता कि श्रीआनन्दघनजी किसी प्रकार के भ्रम मे हो और उनकी बुद्धि कुण्ठित होकर वास्तविकता को न समझ पा रही हो। तब परमात्मा के समक्ष इन गाथाओ मे उन्होने जो कहा है–'**इम अनेकवादी मतिविभ्रम संकट पड़ियो न लहे,**' इस बात के साथ कैसे सगति बैठेगी! इसका समाधान मेरी दृष्टि से यह है कि यहॉ जो कहा गया है, वह योगीश्री ने अपने लिए नही कहा है, ऐसा मालूम होता है। यह उन्होने आम अध्यात्मजिज्ञासुओ और मुमुक्षुओ के लिए कहा है कि इस प्रकार अनेक अध्यात्मवादियो की आत्मा के संबंध में पृथक्-पृथक् राय सुन कर बुद्धि चकरा जाती है, वह घपले मे पड जाती है। अनेक लोगों की

वलतुं जगगुरु इणि परे नखे, पक्षपात सब छंडी।
राग-द्वेष-मोह-पखवर्जित आतमशुं रढ़ मंडी।। श्री मु.।।8।।

आत्मध्यान करे जे कोऊ, सो फिर इण में ना ऽऽ वे।
वाग्जाल बीजुं सहु जाणे[1], एह तत्व चित्त[2] चावे।। श्री मु.।।9।।

जेणे विवेक धरी ए पख ग्रहियो, ते तत (त्व) ज्ञानी कहिये।
श्रीमुनिसुव्रत कृपा करो तो, आनन्दघन-पद लहिये।। श्री मु. ।।10।।

अर्थ—पूर्वोक्त प्रश्न के उत्तर में जगद्गुरु वीतराग प्रभु इस प्रकार (निम्नलिखित रूप में) कहते हैं। सब प्रकार का पक्षपात (एक मत का एकान्त आग्रह) छोड़कर राग (मनोऽनुकूल इष्ट अनात्मपदार्थ के प्रति मोह-आसक्ति) द्वेष (मन के प्रतिकूल अनिष्ट अनात्मपदार्थ के प्रति घृणा या अरुचि) मोह (ममत्व के कारण होने वाला उत्कट राग) तथा सभी प्रकार के पक्षपात से रहित जो अनन्तगुणमय आत्मा है, यों विचार करके उसके साथ दृढ़तापूर्वक एकाग्र हो जाओ, जुट जाओ।।8।।

जो कोई साधक उस आत्मा का निर्विकल्प समाधिरूप—द्रव्यार्थिक दृष्टि से ध्यान करता है, वह फिर राग-द्वेष, मोह, पक्षपात आदि के चक्कर में नहीं जाएगा, वास्तव में वह आत्ममय बन जाएगा। इसके सिवाय और जो भी वर्णन है, अलग-अलग विचार है, वह सब वाग्जाल है, वाणीविलास है। मन या आत्मा में इसी तत्त्व का बार-बार मनन-चिन्तन करे, यही बात हृदय में भलीभांति जमा लें, इसी में तन्मय हो जाय।।9।।

जिसने सत्यासत्य का विवेक करके ऊपर बताए हुए पक्ष (मार्ग या अभिप्राय) का ग्रहण (स्वीकार) कर लिया, उसे ही वास्तविक तत्त्वज्ञानी कहना चाहिए। हे मुनि सुव्रतनाथ! आप कृपा करें तो हम (इस आत्मतत्त्व को आपके बताए अनुसार समझ कर) आनन्दघन (सच्चिदानन्दमय) पद (मोक्षस्थान) प्राप्त कर सकते हैं।

भाष्य—वीतरागप्रभु का उत्तर

यों तो वीतरागप्रभु निःस्पृह और निर्लेप है, वे किसी के प्रश्न का सीधा उत्तर दें, यह वस्तु उनके तीर्थकरकाल मे तो सम्भव हो सकती है, लेकिन सिद्धत्वकाल मे नही। अतः श्रीआनन्दघनजी वीतराग द्वारा प्ररूपति शास्त्रो पर

1 'जाणे' के बदले किसी–किसी प्रति मे 'जाणो' है, तथा 'चावे' के बदले 'लावे' पद भी है।

वलतुं जगगुरु इणि परे नखे, पक्षपात सब छंडी।
राग-द्वेष-मोह-पखवर्जित आतमशुं रढ़ मंडी।। श्री मु.।।8।।

आत्मध्यान करे जे कोऊ, सो फिर इण में ना ऽऽ वे।
वाग्जाल बीजुं सहु जाणे[1], एह तत्व चित्त[2] चावे।। श्री मु.।।9।।

जेणे विवेक धरी ए पख ग्रहियो, ते तत (त्व) ज्ञानी कहिये।
श्रीमुनिसुव्रत कृपा करो तो, आनन्दघन-पद लहिये।। श्री मु. ।।10।।

अर्थ–पूर्वोक्त प्रश्न के उत्तर में जगद्गुरु वीतराग प्रभु इस प्रकार (निम्नलिखित रूप में) कहते हैं। सब प्रकार का पक्षपात (एक मत का एकान्त आग्रह) छोड़कर राग (मनोऽनुकूल इष्ट अनात्मपदार्थ के प्रति मोह-आसक्ति) द्वेष (मन के प्रतिकूल अनिष्ट अनात्मपदार्थ के प्रति घृणा या अरुचि) मोह (ममत्व के कारण होने वाला उत्कट राग) तथा सभी प्रकार के पक्षपात से रहित जो अनन्तगुणमय आत्मा है, यों विचार करके उसके साथ दृढ़तापूर्वक एकाग्र हो जाओ, जुट जाओ।।8।।

जो कोई साधक उस आत्मा का निर्विकल्प समाधिरूप–द्रव्यार्थिक दृष्टि से ध्यान करता है, वह फिर राग-द्वेष, मोह, पक्षपात आदि के चक्कर में नहीं जाएगा, वास्तव में वह आत्ममय बन जाएगा। इसके सिवाय और जो भी वर्णन है, अलग-अलग विचार है, वह सब वाग्जाल है, वाणीविलास है। मन या आत्मा में इसी तत्त्व का बार-बार मनन-चिन्तन करे, यही बात हृदय में भलीभांति जमा लें, इसी में तन्मय हो जाय।।9।।

जिसने सत्यासत्य का विवेक करके ऊपर बताए हुए पक्ष (मार्ग या अभिप्राय) का ग्रहण (स्वीकार) कर लिया, उसे ही वास्तविक तत्त्वज्ञानी कहना चाहिए। हे मुनि सुव्रतनाथ! आप कृपा करें तो हम (इस आत्मतत्त्व को आपके बताए अनुसार समझ कर) आनन्दघन (सच्चिदानन्दमय) पद (मोक्षस्थान) प्राप्त कर सकते हैं।

भाष्य–वीतरागप्रभु का उत्तर

यो तो वीतरागप्रभु निःस्पृह और निर्लेप है, वे किसी के प्रश्न का सीधा उत्तर दें, यह वस्तु उनके तीर्थकरकाल मे तो सम्भव हो सकती है, लेकिन सिद्धत्वकाल मे नही। अतः श्रीआनन्दघनजी वीतराग द्वारा प्ररुपति शास्त्रो पर

1 'जाणे' के बदले किसी–किसी प्रति मे 'जाणो' है, तथा 'चावे' के बदले 'लावे' पद भी है।

से आत्मतत्त्व के विषय मे जो स्फुरणा हुई, उसे उन्ही का उत्तर समझ कर उन्ही के श्रीमुख से उत्तर दिलाते है, इसमे उनकी नम्रता, समर्पणवृति और जिज्ञासा बुद्धि परिलक्षित होती है। भगवान् वीतराग होने से सब प्रकार का पक्षपात छोडकर बिना किसी लागलपेट, मुलाहिजे अथवा किसी एक ओर झुकाव के सबकी समझ मे आ सके, इस प्रकार (वीतराग-मुनिसुव्रतप्रभु) उत्तर देते है- भव्य जिज्ञासु! वेदान्त, साख्य, बौद्ध और नास्तिक आदि सभी एकान्तवादियो के पक्ष को छोड कर, साथ ही अपने अन्दर रहे हुए राग, द्वेष, मोह (स्वत्वमोह, कालमोह) का त्याग कर अथवा राग-द्वेष-मोह-पक्षरहित शुद्ध (निर्दोष) निजात्मस्वरूप मे तल्लीन तन्मय होकर तीव्रता से जुट जाने से चित्तसमाधि अवश्य प्राप्त होगी। अर्थात् राग-द्वेष-मोह-पक्ष-जनित कर्मपुद्‌गलो से रहित आत्मस्वरूप मे पूर्ण प्रीति करना आवश्यक है। इसका एक स्पष्ट अर्थ यह है कि आत्मा के अनुजीवी गुणो ज्ञान-दर्शन-चारित्र मे लीन हो जाना चाहिए।

यथार्थ आत्मतत्त्वज्ञान के लिए राग-द्वेष-मोह-पक्ष का त्याग जरूरी

सच्चा आत्मतत्त्वज्ञान कुछ त्याग की अपेक्षा रखता है। वह केवल पोथियो, ग्रन्थो, शास्त्रो या गुरुओ से नही हो पाता। उसका कारण यह है कि पोथियॉ, ग्रन्थ या शास्त्र अपने आप मे मूक होते है, वे किसी को बोल कर कुछ नही कहते, परन्तु अपनी निर्मल प्रज्ञा, जिज्ञासा एव सरल बुद्धि ही सत्यासत्य का निर्णय कर सकती है। जब बुद्धि पर राग, द्वेष, मोह, पक्षपात, स्वार्थ या लोभ का पर्दा पडा रहता है, तब तक तत्त्व का सही निर्णय नही हो सकता। जैसे वैद्य द्वारा रोगी को रसायण दिये जाने से पहले उसकी मलशुद्धि की जानी आवश्यक होती है, वैसे ही शुद्ध आत्मतत्त्व को जानने के लिए आत्मा, मन एव बुद्धि पर लगे हुए विभिन्न आवरणो-मलो को दूर करना आवश्यक है। आत्मा मे (मन, बुद्धि एव हृदय मे) जब तक राग का जोर रहता है, तब तक व्यक्ति निष्पक्ष निर्णय नही कर पाता। राग के कारण वह हर वस्तु पर अपनेपन की या अपने पुरानेपन की छाप लगाने लगता है, अपनेपन मे ममत्व, मेरेपन, अहंत्व, अहकार, अपनी जाति आदि का मद, स्वार्थ आदि गर्भित होते है। अतः उसके कारण बडे-बडे साधक यथार्थ तत्त्वनिर्णय नहीं कर पाते। यह राग की ही कृपा है कि जामाली जैसे उच्च साधक ने अपने मत की अलग प्ररूपणा करके आवेश मे आ कर स्वमत की स्थापना की। यही हाल गोशालक आदि का था। आत्मतत्त्वज्ञान मे दूसरा बडा बाधक कारण द्वेष है। जब व्यक्ति को किसी

अमनोज्ञ या अनिष्ट वस्तु या व्यक्ति के प्रति एकान्तरूप से घृणा, उपेक्षा, उदासीनता या रूखापन अथवा अरुचि हो जाती है अथवा किसी व्यक्ति या संस्था के प्रति ईर्ष्या या पूर्वाग्रह हो जाता है, तो वह उसके प्रति बेरूखी या द्वेषदृष्टि रखने लगता है और नही तो उसकी तरक्की देख कर तेजोद्वेष पैदा होता है। इसलिए द्वेष भी आत्मतत्त्व के जानने मे विघ्न है। तीसरा बाधककारण है—मोह। मोहमोहित, मानव कल्याण-अकल्याण भले-बुरे या कर्त्तव्याकर्त्तव्य का भाव नही कर सकता। वह मोहवश बुराई को भी अच्छाई मानता है, जहर को भी अमृत मानता है, कुरुढि को भी सुरुढि व अनिष्ट को ईष्ट मानने लगता है। जैसे ऑख मे रतोंधी हो जाने पर सब चीजे लाल लाल या रंगीन दिखाई देती है, वैसे ही आत्मा पर मोह का रोग लग जाता है, उसे आत्मा के विषय मे सीधी और सच्ची बात उलटी लगती है, दु खकारी परिग्रह उसे सुखकारी लगता है, विषयो की आसक्ति, जो दुःखकारक है, वह सुखदायक-सी लगती है, कषायो का शत्रुताभरा स्वभाव उसे मैत्री-पूर्ण लगता है। इसलिए आत्मतत्त्व के जिज्ञासु को मोह से दूर रहना चाहिए। पक्षपात भी मोह का ही एक प्रकार है। पानी मे मुॅह तभी दिखाई दे सकता है, जब वह शान्त हो, चचल न हो, गंदा न हो, मटमैला न हो, स्वच्छ हो, स्थिर हो। इसी प्रकार उसी आत्मारूपी दर्पण पर आत्मस्वरूप का यथार्थ चित्र दिख सकता है। जो स्वच्छ हो, मोह, राग, द्वेष आदि के मलिन, चचल या पूर्वाग्रह से रहित हो। यही कारण है कि प्रभु ने अपने उत्तर मे सीधी-बात कह दी है—जिसे यथार्थ आत्मतत्त्व का ज्ञान करना हो, उसे किसी भी एकान्तवाद का पक्ष नही लेना चाहिए, साथ ही राग, द्वेष, मोह आदि से रहित हो कर निष्पक्षभाव से आत्मस्वरूप रमण मे जुट जाना चाहिए।

शास्त्रों, विकल्पों, पक्षों, मतों आदि से इन्कार

प्रश्न होता है कि वीतरागप्रभु पक्षो एव राग-द्वेष-मोह आदि को छोडने का कहते है; लेकिन अब तक जिन संस्कारो मे पले-पुसे है, जिस सम्प्रदाय से शिक्षा-दीक्षा पाई है, पहले से जिस मत, पथ आदि को स्वीकार कर रखा है, जो विकल्प अब तक सुन-समझ रखे है, उन्हे कहॉ फैक दे? उन्हे कैसे दफना दे? उन्हे फैके या दफनाए बिना तो शुद्ध आत्मा का ज्ञान नही होगा, यह तो भारी धर्मसकट आ पडा है, "जगद्गुरो! इसका कोई अनुकूल समाधान दीजिए, जिससे मेरे चित्त मे समाधि हो।"

इसका समाधान भगवान यो करते हैं—**आतमध्यान करे जो कोऊ, सो**

फिर इण में नावे। बात यह है कि सम्प्रदाय, मत, पथ आदि के पूर्वसस्कार या लगाव वैसे तो छूट नही सकता; कोरी बाते करने से या थोथी डीग हाकने से ये सब नही छूट सकते। इनके छोडने का सीधा और सच्चा उपाय यही है कि आत्मा को ध्येय बना कर जो व्यक्ति उसी का ध्यान करता है, उसी मे तल्लीन हो जाता है, बाह्य व्यवहारो के समय निखालिस आत्मस्वरूप का ही चिन्तन करने लगता है, और यो करते-करते जब उसका अभ्यास इतना प्रबल हो जाता है कि आत्मा के सिवाय दूसरी ओर मन-वचन-काया जाते ही नही, तब वह फिर राग, द्वेष, मोह आदि के चक्कर में नही आएगा। यह स्वाभाविक है कि जब व्यक्ति निखालिस आत्मा की ओर ध्यान देगा तो अपने-आप ही राग-द्वेषादि की ओर से उसकी वृत्ति विमुख हो जायेगी और राग-द्वेषादि को जब मुँह नहीं लगाया जाएगा, उनके प्रति उपेक्षाभाव रखा जाएगा, तो वे स्वयमेव उपेक्षित हो कर चले जाएँगा। अब दूसरा एक सवाल यह खडा होता है कि साख्य, वेदान्त आदि दर्शन तो अपनी-अपनी ओर से वजनदार युक्तियॉ तर्क और हेतु दे कर आत्मतत्त्व के विषय मे अपना-अपना मन्तव्य प्रस्तुत करते है, क्या राग-द्वेषरहित हो कर समभावपूर्वक उनकी बात को भी यथार्थ मान ली जाए? इसके उत्तर मे प्रभु कहते है–रागद्वेषरहित होने का अर्थ यह नही है कि विवेक छोड दिया जाय और सबकी जीहजूरी की जाय, गगा गए गगादास और यमुना गए यमुनादास की तरह सब की हॉ से हॉ मिलाई जाए। इसके लिए तो वे साफ कहते है–'**जेणे विवेक धरी ए पख ग्रहियो, ते तत्त्वज्ञानी कहिए**' अर्थात् जो अपने विवेक की ऑखे खुली रख कर मेरे (परमात्मा के) बताए हुए इस विचार-परामर्श को ग्रहण करेगा और तदनुसार चलेगा, वही असल मे तत्त्वज्ञानी कहलाएगा) बाकी तो जो समता या वीतरागता की लबी-चौडी बाते करके प्रसिद्धि के चक्कर मे पडे हुए है, जिनका मकसद अपनी नामबरी करने के लिए दुनिया की ऑखों मे धूल झौकना है, वे लोग नकली या फसली तत्त्वज्ञानी है। उनसे बहुत ही सावधान रहना चाहिए।

रही बात उनके द्वारा प्रतिपादित मन्तव्यो को मानने की, सो हमने पहले ही कह दिया है कि जितने भी एकान्तवादी, मिथ्याग्रही या कोरी आत्मा की बाते बघारने वाले है, उनका पिंड छोडो, उनके चंगुल मे मत
मत-पक्ष के घेरे मे फसने से कोई लाभ नही है, सिवाय
बहसबाजी के कुछ भी पल्ले पडने वाला नहीं है। साथ ही प्रभु ने

स्पष्ट कर दी है कि जिस आत्मतत्त्व को पाना है, उसे दुनियादारो या मत-पक्षवालो की बाते [1] वाग्-जाल और चित्तभ्रम का कारण समझनी चाहिए। उनके शब्दजाल मे कतई नही फंसना चाहिए।

केवल आत्मतत्त्व के ध्यान में डूब जाओ

इससे यह फलित होता है कि जो व्यक्ति आत्मतत्त्व के ध्यान मे लीन हो जाता है, उसे फिर लम्बे चौडे शास्त्रज्ञान की, पैनी बुद्धि करके तर्क-वितर्क प्रस्तुत करने की, या बहस-मुवाहिसे की अथवा किसी सम्प्रदाय, मत, पथ, पक्ष या परम्परा का आश्रय लेने की आवश्यकता नही। उसे इन सबको गौण करके केवल आत्मा के विषय मे चिन्तन-मनन-निदिध्यासन करना चाहिए। फिर यह स्वभाविक है कि जब उस महाभाग का ध्यान मुख्यता आत्मतत्त्व की ओर ही होगा तो धन-सम्पत्ति, व्यापार-व्यवसाय, कुटुम्ब-परिजन, मित्र, पुत्र, पत्नी, माता, भगिनी, घर, ग्राम, देश, शरीर, अहंता-ममता, मोह, स्वार्थ, मिथ्यात्व, राग, द्वेष, किसी सम्प्रदाय-मत-पक्ष का पक्षपात, वादविवाद, शास्त्रचर्चा, व्यवहारदृष्टि-ज्ञान-चारित्र, क्रियाकाण्ड या दुनियादारी की, चेलाचेली की या पथ बढाने की सब बाते गौण हो जाएगी। वह आत्मा के ध्यान मे ही तल्लीन हो कर गुण-पर्यायो के भेदो को गौण करके एक आत्मा का ही निश्चयदृष्टि से ध्यान करेगा। निश्चयनय (द्रव्यार्थिक) दृष्टि से आत्मा ही एक तत्त्व है, उसी तत्त्व मे चित्त को तन्मय बना लेगा, इसके सिवाय सब वाणीविलास है, शब्दजालवत् है, शब्दादि का जाल है।

निष्कर्ष यह है कि यथार्थ आत्मतत्त्व की पहिचान के लिए तीन शर्ते है–उसमे ही (1) राग, द्वेष, मोह और पक्ष का त्याग करना, (2) आत्मा का ध्यान करना, उसमे ही एकाग्र हो जाना, (3) एक बार रागद्वेषादि का कर्म छोडने के बाद ससार मे कभी लौट कर न आना।

परमात्मा की कृपा : साधक के लिए महालाभ

श्रीआनन्दघनजी ने परमात्मा से आत्मतत्त्व प्राप्त करने की जिज्ञासा का समाधान पा कर अपने को धन्य और कृतकृत्य समझा और अपनी नम्रता पूर्वक प्रार्थना भगवच्चरणो मे की है–'**श्रीमुनिसुव्रत! कृपा करो तो, आनन्दघन पद लहीए।**' परमात्मा की कृपायाचना भक्ति की भाषा मे सीधी प्रार्थना है,

1. 'शब्दजालं महारण्यं चितभ्रमणकारणम्'– शंकराचार्य

इसका तात्पर्यार्थ यह है कि आप मेरे आत्मविकास मे परमावलम्बन बन कर प्रबल निमित्त बन जायें तो मै आपकी आत्मा के साथ (पूर्वगाथा मे कहे अनुसार) अभिन्नभाव से रहूँ। अगर मुझे अपनी आत्मा मे स्थिर होने की शक्ति मिल जाय तो अवश्य ही आनन्दमय स्वरूप वाला शुद्धात्मपद परमात्मपद प्राप्त हो जाय। फिर मै ऐसे सच्चिदानन्दपद मे प्रविष्ट हो जाऊँगा कि वहाँ से फिर लौट कर जन्म-मरण के चक्र मे नही आना पडेगा।

सारांश–इस स्तुति मे योगीश्री ने सर्वप्रथम प्रभु के सामने आत्मतत्त्व की जिज्ञासा प्रस्तुत की है। प्रभु से इस जिज्ञासा के समाधान का कारण भी उन्होने बताया है। फिर वेदान्त, साख्य, अद्वैतनित्यवादी एव नास्तिक आदि दर्शनो के मन्तव्य प्रस्तुत करके पुनः प्रभु के सामने अपनी उलझन रखी है। जिसका उत्तर प्रभु ने निष्पक्षरूप से दिया कि रागद्वेष-मोह आदि से दूर हो कर केवल आत्मतत्त्व मे डुबकी लगाओ, सभी वादविवादो को छोड कर एकमात्र आत्मध्यान मे लीन हो जाओ। अन्त मे, श्रीआनन्दघनजी ने प्रभु से आत्मतत्त्व को पाने की कृपा-प्रार्थना की। जिस कृपा से सच्चिदानन्दमय शुद्धात्मस्वरूप मोक्षपद का लाभ प्राप्त होने की आशा भी प्रगट की है।

* * *

21. श्री श्रीनमिजिन-स्तुति–

वीतराग परमात्मा के चरण-उपासक

(तर्ज–धन धन सम्प्रति राजा साचो, राग–आशावरी।)

षड्दर्शन जिन-अंग भणीजे, न्यास षड्ंग जो साधे रे।
नमिजिनवरना चरण-उपासक षड्दर्शन आराधे रे।।

।।षड्.।।1।।

***अर्थ*–सांख्य, योग, बौद्ध, मीमांसक, लोकायतिक और जैन आदि 6 दर्शन जिन (वीतराग परमात्मा) के 6 अंग हैं, बशर्ते कि छही अंगों की स्थापना ठीक ढंग से की जाय। जो नमिजिनवर (वीतरागप्रभु) के परम चरण उपासक हैं, वे छही दर्शनों की यथार्थ आराधना करते हैं। उन्हें सत्कारपूर्वक अपनाते हैं।**

***भाष्य*–वीतराग-उपासक का दर्शन : उदारदृष्टिपूर्ण**

पूर्वस्तुति मे श्रीआनन्दघनजी ने प्रभु से आत्मा के स्वरूप के विषय मे पूछा था, उसमें आत्मा के सम्बन्ध मे विविध दार्शनिको के मत बताकर एकान्त मतवादियो के मत मे क्या-क्या दोष है? यह बताया था। उसी सिलसिले मे एक प्रश्न गर्भित है कि तो फिर वीतराग-परमात्मा के उपासक के दर्शन कैसा होगा? आत्मा–परमात्मा, जीवन और जगत् के सम्बन्ध मे विचार करने वाले विविध दर्शनो के विषय मे उसका क्या दृष्टिकोण होगा? वीतराग परमात्मा के अनेकान्तवाद का उपासक अपनी दृष्टि से उन छहो दर्शनो मे से किसको कहाँ स्थान देगा? ये और इन्हीं कुछ उठने वाले प्रश्नो के उत्तर मे श्रीआनन्दघनजी ने इक्कीसवे तीर्थकर श्रीनमिजिनवर की स्तुति के माध्यम से परमात्मा के चरण-उपासक के उदार विचारदर्शन को स्पष्ट किया है। साथ ही यहाँ यह भी ध्वनित कर दिया है कि वीतराग-परमात्मा का सच्चा चरण-उपासक कौन हो सकता है?

संसार मे विचार बहुत से लोग करते है, पर वे दीर्घदर्शिता तथा व्यापकदृष्टि से विचार नही करते, उनका विचार एकागी, एकपक्षीय होता है, अपने मत-पक्ष की चहारदीवारी मे सीमित होता है। संसार की प्रचलित विचारधाराओ की छानबीन करने मे उनकी सत्यग्राही जिज्ञासा नही होती, इसी

और न ही उस तथाकथित प्रभुभक्त के आचरण की कोई कसौटी निर्धारित करते है। परन्तु जैनदर्शन में वीतराग-परमात्मा का भक्त या चरण उपासक वश परम्परा से, पैतृकपरम्परा से, अन्धभक्ति से, भगवान की महिमा बढाने के लिए सिर्फ धन खर्च कर देने से, या किसी अमुक उच्च माने जाने वाले कुल, वश, जाति, धर्मसम्प्रदाय या राष्ट्र मे पैदा होने से अथवा किसी सत्ता को हथिया लेने से या लौकिक पद को पा लेने मात्र से नही हो सकता। यहाँ तो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ही वीतराग के चरणसेवक, परमात्मा, उपासक या श्रावक के लिए सर्वप्रथम अनिवार्य माने जाते है। यहाँ तो किसी भी जाति, कुल, वश आदि की परम्परा से नही, रत्नत्रय के आचरण से ही किसी को भक्त या उपासक माना गया है। हरिकेशीबल–मुनि जाति से चाण्डाल थे, धर्मपरम्परा से भी शायद वे अपने पूर्व जीवन-गृहस्थाश्रम मे जैनधर्म-परम्परा के नही रहे, किन्तु उनका दर्शन, ज्ञान और चारित्र उज्ज्वल था, अर्जुनमालाकार का पूर्वजीवन भी हिसक बना हुआ था, न वह जातिपरम्परा से जैन था, लेकिन अपने जीवन मे उसने रत्नत्रय को अपनाया और क्षमाशील बन कर अपूर्व श्रद्धा के साथ चारित्रपालन किया, जिसके कारण वीतराग तीर्थकर महावीर का वह परम उपासक साधु बना। लेकिन कौणिक सम्राट् जैसे व्यक्ति सत्ता, जाति, कुल परम्परा या अन्धभक्तिवश भगवान् वीतराग का भक्त बनने चले, वे सच्चे माने मे प्रभुभक्त बनने मे सफल न हुए। इसी प्रकार जिन्होने अपने अहत्व और ममत्व (मेरा धर्म, मेरे भगवान, मेरा पथ आदि) की दृष्टि से भगवान् का आश्रय लिया, अपने पापो पर पर्दा डालने या अपनी नामबरी या प्रसिद्धि के लिए अथवा जनता मे अपनी धाक जमाने के लिए वीतराग प्रभु के नाम और स्थूल चरण को पकडा, वे भी यहाँ सफल न हो सके। सफल वे ही हुए, जिन्होने सम्यग्दर्शनपूर्वक सम्यक् धर्माचरण (चारित्रपालन) के लिए अपने को तैयार किया; ऐसे महानुभाव चाहे जिस देश, वेष, जाति, कुल, धर्म-सम्प्रदाय या दर्शन के रहे हो, वे गृहस्थाश्रम मे रहे हो; वे स्त्री हो, पुरुष हों, या चाहे नपुसक, उन्होने अपने आप बोध प्राप्त किया हो; या वे किसी की प्रेरणा से प्रतिबुद्ध हुए हो; जैन दर्शन ने उन सत्य के पुजारियों को कभी पराये नहीं माने और न उन्हे प्रभु के भक्त, श्रावक, उपासक या साधु कहने से इन्कार किया है और न ही उनके मोक्ष (परमात्ममिलन), मुक्ति या कर्मबन्धन से छुटकारे की साधना पर कोई प्रतिबंध लगाया है; न किसी प्रकार की अपने माने हुए तथाकथित नामो की

ही पाबदी लगाई है। यही कारण है कि जैनदर्शन मे 15 प्रकार मे से किसी भी प्रकार से मुक्त (परमात्मा) होने को मुक्त माना है, जबकि दूसरे दर्शनो मे अपने माने जाने वाले धर्मसम्प्रदाय; भगवान् या प्रवर्तक (मसीहा या पैगम्बर) के मानने वालो या अमुक जाति, कुल या वेष वालो को ही मुक्त; परमात्मभक्त, या साधक माना है; दूसरो को नही। इसलिए श्रीआनन्दघनजी ने परमात्मा के चरण उपासक की सर्वप्रथम कसौटी यह बताई है कि परमात्मा-वीतराग के चरण उपासक की दृष्टि इतनी व्यापक, सत्यग्राही, उदार और सहिष्णु हो कि वह छही दर्शनो को वीतराग (परमसत्य) प्रभु के अग माने, कहे और उनका समायोजन या स्थापन इतने सुन्दर ढंग से करे कि सबको यथायोग्य स्थान मिल जाय; सबको जिनवर के दर्शन मे समाविष्ट कर सके। कोई भी दर्शन उसके लिए पराया न रहे और ऐसा तभी हो सकता है; जब मनुष्य अनेकान्त की केवल बाते न करे, अपितु अनेकान्त को जीवन में आचरित करके बताए।

बहुधा ऐसा होता है कि जैन और वीतरागभक्त कहलाने वाले तथाकथित आचार्य, धर्मोपदेशक, मुनिपुगव, श्रमणोपासक या जिनभक्त जनता के सामने तो समता और अनेकान्त की बडी-बडी बाते करेगे, किन्तु जहॉ आचरण का प्रश्न आएगा, वहा वे पीछे हट जाएगे, वहॉ वे बगले झाकने लगेंगे और कहेंगे अपना अपना है, पराया पराया है। जरा से विचारभेद के कारण दूसरे को मिथ्यादृष्टि, नास्तिक या न जाने क्या-क्या घृणासूचक शब्दों से पुकारेंगे, वहॉ उनका समतादर्शन या अनेकान्त-दर्शन छूमतर हो जाएगा। इतना ही नही, बल्कि तथाकथित सम्यग्दृष्टि जिनभक्त अंदर ही अंदर अपने भक्तों या अनुयायियो मे जरा-सी विचार-आचारभिन्नता को ले कर चलने वालो की निन्दा, झूठी आलोचना और व्यर्थ छीछालेदर मे घंटो बिता देगे, अनेक समत्व को, मानसिक सन्तुलन को, अपने सम्यग्दर्शन की व्यापक सर्वभूतात्मदृष्टि को ताक में रख कर जैनधर्म और दर्शन की मिट्टी पलीद करने लगेगे। इसी कारण वीतराग के चरण-उपासक की कसौटी मे योगी श्रीआनन्दघनजी की अनुभूति के स्वर फूट पडे–"**षड्दर्शनजिन-अंग भणीजे, न्यास षड्ंग जे साधे रे, नमिजिनवरना चरण-उपासक षड्दर्शन आराधे रे।**" तात्पर्य यह है कि इस गाथा मे वीतराग-चरण-उपासक की सभी कसौटियॉ आ जाती हैं।

कई तथाकथित जिनभक्त यह तर्क प्रस्तुत किया करते हैं कि ऐसा करने से तो गुडगोबर सब एक हो जाएगा, कहॉ वीतराग का शासन, धर्म या

दर्शन और कहाँ ये क्षुद्राशय मत या दर्शन! इन सबको एक ही पलडे मे रखना कैसे ठीक रहेगा? क्या वीतरागभक्त या सम्यग्दृष्टि के लिए अपना-पराया कुछ नहीं रहेगा?

फिर दूसरी युक्ति यह देते है कि इन एकागी और एकान्तवादी मतो या दर्शनों को हम सच्चे दर्शन या वीतराग के अंग कैसे कह सकते है? कदाचित् हम ऐसा कह भी दे तो वे लोग (विभिन्न दर्शनो के अनुयायी या मानने वाले लोग) तो अपने ही धर्म-सम्प्रदाय, मत-पथ या दर्शन को सच्चा और अन्य सबको झूठे मानते है, ऐसी दशा मे हम उन्हे जिनवर के अग कैसे कह दे? कैसे उन्हे अपने दर्शन की तरह मान ले?

इसका समाधान यो किया जा सकता है, जिसे इस स्तुति मे आगे श्रीआनन्दघनजी ने स्पष्टरूप से द्योतित भी किया है कि वीतरागपरमात्मा का उपासक संकीर्ण, राग-द्वेषवर्द्धक, ममत्ववर्द्धक दृष्टि का नही हो सकता। वह अपना सो सच्चा, इस सिद्धान्त के बदले 'सच्चा सो अपना' इस सिद्धान्त का हिमायती होगा और इस सिद्धान्त की दृष्टि से वह सत्यग्राही होगा, जिज्ञासु होगा, नम्र होगा, जहाँ-जहाँ सत्य (सम्यग्ज्ञान) मिलता होगा, बिना किसी सकोच के छही दर्शनो मे जो सत्य निहित है, उसे नम्र बन कर अपनाएगा, उसकी दृष्टि अनेकान्त की स्पष्ट, उदार, व्यापक, सर्वागी और सबको अपने मे समाने की होगी। उसमे विचार-आचारसहिष्णुता होगी। जब 363 पाषण्ड-मतो का समन्वय जैनधर्म और जैनदर्शन मे किया गया है, तब इन छह दर्शनो का समावेश करना, समन्वय करना कौन-सी बडी बात है? परन्तु वीतराग प्रभु का चरण-उपासक सबकी जी-हजूरी करने वाला, सबकी हाँ मे हाँ मिलाने वाला, अविवेकी नही होगा, वह सबको विविध नयो की दृष्टि से अपना-अपना उचित स्थान मिले, सबको न्याय मिले, किसी एक के प्रति या अपने माने जाने वाले के ही प्रति पक्षपात न हो, यही समता का यथार्थ अर्थ मानता है। इस दृष्टि से समता का अर्थ सबको एक सरीखा मानना और सबकी एक ही दृष्टि समझना, गलत है। ऐसा होना भी असम्भव है। यही कारण है कि तीर्थकरो ने 15 प्रकार के सिद्ध (मुक्त) होने का जो निर्देश किया है, उसमे किसी के प्रति किसी प्रकार का पक्षपात नहीं किया, अपितु यथायोग्य न्याय दिया है, न कि सबको राजी रखने की नीति अपनाई है। उसी दृष्टिकोण से श्रीआनन्दघनजी नमिजिनवर (वीतराग के चरण-उपासक की दृष्टि, व्यवहार, आचरण और विचार को यहाँ

पूर्णतया स्पष्ट कर देते है कि वह छही दर्शनो का आराधक (आदरपूर्वक अपनाने वाला) होगा, सभी दर्शनो को यथायोग्य स्थान पर स्थापित (न्यस्त) करेगा और छही दर्शनो मे निहित सत्य के कारण उन्हे जिनवर के अग मानेगा। वही नमिजिनवर का चरण-उपासक होगा।

अब रहा सवाल, दूसरो के द्वारा अपने दर्शन के सिवाय अन्य सबको झूठे मानने और एकान्त एकपक्षीय मत वाले दर्शन को जिनवर के अग कहने का। हो सकता है कि दूसरे दर्शनो वाले ईर्ष्यावश या अन्य राग-द्वेषादि विकारवश अनेकान्तदृष्टि से हमारी तरह सब दर्शनो को न माने, न समन्वय करे और एकान्तमत की ही प्ररूपणा करे, परन्तु वीतराग के चरणो का उपासक ऐसा नही कर सकता। यहॉ तो स्पष्ट आराधना-सूत्र बताया गया है–**'उवसमसारं खु सामण्णं'** श्रमण सस्कृति का सार कषायो (रागद्वेषो) का उपशमन (शान्त) करना है। दूसरा कोई उसकी बात सुने या न सुने, माने या न माने, सत्यग्राही दृष्टि वाला अपनी अनेकान्त और नयप्रधान दृष्टि से सबको उचित स्थान देगा, वह दूसरे दर्शनो की देखा-देखी अपने मत को ही सच्चा और दूसरे सब मतो को झूठा कहने का पक्षापातपूर्ण, राग-द्वेषयुक्त रवैया नही अपनाएगा। जैसे कल्पसूत्र के आज्ञाराधना सूत्र मे बताया गया कि दो व्यक्तियो मे परस्पर विवाद, कलह या मनमुटाव खडा हो गया है, तो उनमे से जो आराधक होगा, वह सामने चला कर दूसरे से क्षमायाचना करके, उसका मन समाधान करने का प्रयत्न करेगा, यदि दूसरा व्यक्ति उसके द्वारा की गई क्षमायाचना को स्वीकार नही करता, बात सुनी-अनसुनी कर देता है, तो आराधक को इस बात का ख्याल नही करना चाहिए, उसे अपनी ओर से उपशमन कर लेना चाहिए। यही बात वैचारिक क्षेत्र मे वीतराग के चरण-उपासक के लिए समझ लेनी चाहिए। उसे अपनी दृष्टि से प्रत्येक दर्शन के सत्याश को कथंचित् रूप मे अमुक नय की दृष्टि से ग्रहण करके उसे यथायोग्य स्थान देना चाहिए, दूसरे चाहे उस रूप मे माने या न माने।

सत्यग्रहण करने के लिए वीतराग-उपासक को इतना नम्र, मृदु और सरल होना चाहिए कि वह चाहे जहॉ से भी सत्य मिलता हो, ग्रहण कर ले।

भगवती सूत्र आदि आगमो मे अनेक विचारधाराओ एव आचारधाराओ का समन्वय किया गया है, जो वीतरागदर्शन की परम उदारता का यहॉ भी श्रीआनन्दघनजी ने जैनदर्शन के सिवाय छही दर्शन परमात्मा के अंग बता कर यह भी सूचित कर दिया है कि ये स'.

अंग है। जैसे–दो हाथ, दो पैर, पेट और मस्तक ये शरीर के 6 अग है, वैसे ही छह दर्शन जिनवर के एक-एक अंग है। जैसे शरीर के इन अंगो मे से कोई भी अग काटने पर प्राणी अपाहिज कहलाता है, वैसे ही 6 दर्शनो मे से किसी भी दर्शन को काट डालना–खण्डन करना जिनवर के अग को काटना है। यह दुर्भवी का लक्षण है। मुख्यतः दर्शन ये है–बौद्ध, नैयायिक, सांख्य, वेदात लोकायतिक (चार्वाक) और जैन। इन छही दर्शनो मे से प्रत्येक के मुद्दो को भलीभांति समझ कर उनकी किसी प्रकार की निन्दा, खोटी आलोचना या व्यर्थ की टीका-टिप्पणी न करना। जितने अंशो मे जिस दर्शन ने सत्य की प्ररूपणा की है, उतने अश मे उसे अपना कर उसे उचित स्थान देना। बल्कि वाणी से भी यह प्रगट करना कि 6 दर्शन वीतरागप्रभु के पृथक्-पृथक् अग है और अमुक अंग के रूप मे ही उपयोगी है, उसे उतने अंश-सत्य के रूप मे उपयोगी समझ कर उसकी यथायोग्य स्थान पर स्थापना करना और उसे अपनाना उचित है। किन्तु द्वेष-घृणावश अन्य दर्शनो की खोटी आलोचना करना, अथवा उनका खण्डन करना अनुचित है। सत्य दो प्रकार के है–सर्वसत्य और दृष्टिबिन्दुसत्य। जैनेत्तर दर्शनों मे सर्वसत्य नहीं है, परन्तु दृष्टिबिन्दु तक तो वे सच्चे है ही, ऐसा मानने मे व्यवहारदक्षता है। वीतरागप्रभु का चरणसेवक इस प्रकार षड्दर्शन को स्वीकार करता है। वीतरागप्रभु की भी परमकारुणिकता है कि वे 6 ही नही, दुनिया की तमाम विचारधाराओ को अपने दर्शन मे समाविष्ट कर लेते है। साथ ही यह भी स्पष्ट कर दिया है कि छही दर्शनो की आराधना करने मे वीतराग के चरण-सेवको (जैनो) को कोई हर्ज नही है। इसके पीछे दृष्टिकोण यह है कि नैगमादि सात नयो मे से दूसरे नयो की अपेक्षा रख कर एक नय से कथन करने वाला जैनदर्शन का आराधक है। इसके विपरीत 7 नयो मे से सिर्फ एक नय पर आग्रह रख कर अन्य नयो के प्रति उपेक्षादृष्टि रखना, जिनाज्ञा से विरुद्ध है।

अत अगली गाथाओ मे श्रीआनन्दघनजी यह विवेक बताते है, जिन प्रवचनतत्त्वज्ञान के षड्दर्शनरूप अगो मे से किस दर्शन का किस अवयव पर किस नय की दृष्टि से न्यास (स्थापन) करना चाहिए।

जिनसुरपादप पाय बखाणो, सांख्य-योग दीय भेदे रे।
आतमसत्ता विवरण करतां, लहो दुग अंग अखेदे रे।।

_अर्थ_–राग-द्वेषविजेता वीतराग परमात्मारूपी या जैनदर्शन के समयपुरुषरूपी कल्प वृक्ष के दो मूल अथवा वीतराग परमात्मा के कल्पवृक्ष-समान दो पैर के तुल्य सांख्यदर्शन और योगदर्शन इन दोनों को कहना चाहिए। ये दोनों आत्मा की सत्ता (आत्मा के अस्तित्व) का विवरण (ब्योरा=विवेचन) करते हैं। इसलिए इन दोनों की जोड़ी को बिना किसी खेद या संकोच के जिनमत या जिनभगवान् के दो अंग (दो पैर) समझो अथवा स्वीकार कर लो।

_भाष्य_–जिन-कल्पवृक्ष के दो मूल अथवा दो पैर

'जिन-सुर-पादप-पाय' पद के दो अर्थ निकलते है–एक तो यह है कि जिनेश्वररूपी कल्पवृक्ष दो पैर (मूल) और दूसरा अर्थ यह होता है कि जिन-वीतराग के कल्पवृक्षरूप दो पैर। कल्पवृक्ष का दोनो के साथ सम्बन्ध है। कल्पवृक्ष वह दिव्यतरु होता है, जिसके नीचे बैठ कर मनोवाछित पदार्थ प्राप्त किया जा सकता है। जिन भगवान् कल्पवृक्ष के समान है, उनमे सभी दर्शनो का अस्तित्व है, अथवा जिन शब्द से यहाँ उपलक्षण से जिनेश्वर का अनेकान्त दृष्टियुक्त तत्त्वज्ञान-समयपुरुष अर्थ गृहीत करने पर भी यह अर्थ घटित हो सकता है। जिनतत्त्व ज्ञान अनरूप या समयपुरुषरूप इस कल्पवृक्ष मे समस्त प्रमाणो और नयो का समावेश है, सभी द्रव्यो या पदार्थो का सामान्य-विशेष रूप से द्रव्य-क्षेत्र-काल-भावानुसार वर्णन समाविष्ट है क्योकि सभी प्रमाणो और नयो से इसमे आत्मादि तत्त्वो का विवेचन है, सभी पदार्थो का सामान्य विशेष आदि सभी दृष्टियो से कथन है, इसलिए कल्पवृक्ष की तरह यह समस्त पदार्थो के अस्तित्व का भडार है। इस दृष्टि से इसे कल्पवृक्ष कहने मे कोई अत्युक्ति नही है।

वृक्ष का सर्वश्रेष्ठ या सर्वोपरि आधार मूल (पैर) होता है। मूल न हो तो कोई भी वृक्ष टिक नही सकता। मूल से रहित वृक्ष एक ही हवा के झोके से धराशायी हो जाता है। अगर मूल हो तो ऊपर से पत्ते आदि झड जाते है या डालियाँ काट ली जाती है, तो भी एक दिन वह वृक्ष फलदाता बन जाता है। अतः यहाँ मूलभूत वस्तु आत्मा को दोनो दर्शन मानते है, दोनो दर्शनो के आत्मवादी होने से दोनो, को जिनतत्त्वज्ञान या वीतरागरूपी कल्पवृक्ष के दो मूल उचित ही कहा है। समस्त दर्शनो का मूल आधार आत्मा है और के अस्तित्व को माने बिना ये दोनो दर्शन आगे नही चलते हैं। जिनतत्त्वज्ञानरूपी कल्पवृक्ष को स्थायी और मजबूत रखने के लिए

वृक्ष के मूल की तरह खडे है।

दूसरे अर्थ की दृष्टि से सोचे तो सांख्यदर्शन और योगदर्शन को वीतराग (जैनतत्त्वज्ञान या समयपुरुष) के कल्पवृक्ष के समान दो पैर कहे है। वीतराग के तत्त्व-ज्ञान को मजबूती से टिकाए रखने के लिए साख्य और योग दोनो दो पैर का काम देते है। मनुष्य के पैर हो तो वह स्थिरता एव मजबूती से खडा रह सकता है। इसी प्रकार वीतराग (समय) पुरुष या वीतराग तत्त्वज्ञान के दोनो पैरो को मजबूत और स्थिर रखने के लिए ये दोनो दर्शन है। आत्मा को न मानने वालों को आत्मा का अस्तित्व समझाने का काम करके ये दोनो दर्शन वीतराग-परमात्मा के या वीतरागतत्त्वज्ञान के पैर मजबूत बनाते है; उसे स्थिर रखने का काम बखूबी करते है। आत्मा के अस्तित्व के बिना कोई भी आत्मवादी-दर्शन खडा ही नही हो सकता, न खडा रहा सकता है। इसलिए इन दोनो दर्शनो को वीतराग परमात्मा (या उनके तत्त्वज्ञान) के कल्पवृक्ष के समान दो पैर कहने मे कोई अतिशयोक्ति नहीं है।

सांख्य और योग वीतरागतत्त्वज्ञान के मूलाधार

साख्यदर्शन और योगदर्शन दोनो को जिनवर-जिनतत्त्वज्ञान-कल्पवृक्ष के दो पैर क्यो बताए है? इनका मेल जैनतत्त्वज्ञान के साथ कहॉ-कहॉ खाता है? इस पर जब तक विचार न कर लिया जाय, तब तक उपर्युक्त बात गले नही उतरेगी।

वीतरागरूप-कल्पवृक्ष के मूल अथवा वीतरागतत्त्वज्ञान (समयपुरुष) के पैर के समान ये दोनों अंग है। क्रमशः हम इन दोनो पर विचार कर ले।

वीतराग-परमात्मा ने निश्चयरूप से कहा है-'आत्मा है और वह अनन्त है, निश्चयदृष्टि से आत्मा स्वय कर्म का कर्त्ता नही है। अगर आत्मा को कर्त्ता-भोक्ता मानना हो तो वह स्वस्वभाव का कर्त्ता और भोक्ता माना जा सकता है। यद्यपि शुद्धस्वरूप सिद्धात्मा (परमात्मा) मे अनन्तज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्तवीर्य और अनन्तसुख है, परन्तु मोक्षदशा मे आत्मा अकरणवीर्य होने से वह इनका उपयोग नही करता, इस अपेक्षा से उसे अकर्त्ता माना है।

साख्यदर्शन भी आत्मा को मानता है, परन्तु उसे कर्मो से असग (निर्लेप) एव अकर्त्ता मानता है। साख्यदर्शन के अनुसार आत्मा कर्त्ता नही है, भोक्ता भी नहीं है, वह तो सिर्फ द्रष्टा है, साक्षीभाव से सब कुछ जानता देखता है। कर्त्ता प्रकृति है, राग-द्वेष वगैरह सब प्रकृति के कार्य है। साख्यदर्शन मे मूल

25 तत्त्व माने गए हैं। उनमें से 24 तत्त्व (5 ज्ञानेन्द्रियाँ, 5 कर्मेन्द्रियाँ, 5 महाभूत, 5 तन्मात्रा, मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार; ये प्रकृतिजन्य हैं और पच्चीसवां सबसे भिन्न, आत्मतत्त्व है। आत्मा नि.संग, अकर्ता, साक्षीभूत एवं चेतनायुक्त है। ज्ञान से ही क्लेश का नाश और ज्ञान से ही मोक्ष (दुखः त्रयविनाश) होता है।

जैनशास्त्रानुसार सांख्यदर्शन के प्रणेता (संस्थापक) कपिल-मुनि माने जाते हैं। वर्तमान इतिहासकार आज से लगभग 2700 वर्ष पूर्व ईस्वीसन्-पूर्व छठी-सातवीं शताब्दी में कपिलमुनि और सांख्यदर्शन की स्थापना मानते हैं। परन्तु जैन-आगमानुसार तो कपिल आदितीर्थकर भगवान् ऋषभदेव समकालीन माने जाते हैं, इस दृष्टि से तो हजारों लाखो वर्ष पूर्व इनका अस्तित्व सिद्ध होता है। जैन आगमिक कथन पर से प्रतीत होता है-कपिलमुनि मरीचिमुनि के शिष्य थे। मरीचिमुनि निर्ग्रन्थमुनिधर्म के आचार का पालन पूर्णतया न कर सकने के कारण मुनित्व की स्मृति के रूप में पृथक् वेष धारण करके लगभग उन्हीं सिद्धान्तों की प्ररूपणा करते हुए भगवान ऋषभदेव के साथ विचरण करते रहे। अपने द्वारा प्रतिबोधित शिष्यों को भी वे ऋषभदेवप्रभु के पास भेजते थे। किन्तु जब कपिल (शिष्य) आया तो उन्हे मरीचिमुनि का वेश और उपदेश दोनों रुचिकर लगे; इस कारण शिष्यलालसावश कपिल को अपना शिष्य बनाया। गृहस्थाश्रमपक्ष में मरीचिमुनि श्री ऋषभदेव प्रभु के पुत्र भरतचक्रवर्ती के पुत्र थे और भगवान् महावीर स्वामी के जीवरूप में अनेक भवो मे भटकते हुए तीसरे भव मे तीर्थकर नामकर्म बॉध कर अन्त मे भगवान् महावीर स्वामी के रूप में 24वे तीर्थकर हुए और मोक्ष में पधारे। अतः जैनागमो के अनुसार साख्यदर्शन - सस्थापक कपिल मरीचिमुनि के शिष्य सिद्ध होते है।

जो भी हो, हमे इतिहास की गहराई मे न उतर कर तत्त्वज्ञान की दृष्टि से ही सांख्यदर्शन पर विचार करना है। तत्त्वज्ञान की दृष्टि से निश्चयनय की अपेक्षा से जैनतत्त्वज्ञान द्वारा मान्य आत्मा की बात साख्यदर्शन में हूबहू उतरती है। जैनदर्शन की निश्चयदृष्टि से साख्यदर्शन बहुत ही निकट है। सांख्य और योग दोनो दर्शन तत्त्वो की दृष्टि से एक दूसरे से मिलते-जुलते हैं। योगद॰ ... ईश्वरतत्त्व को अधिक मानता है, जबक साख्यदर्शन ईश्वरतत्त्व ... नही मानता, पुरुष (आत्मा) मे ही उसका समावेश कर लेता है। दर्शनशास्त्र के इतिहास मे ये दोनो क्रमश. निरीश्वरसांख्य और से...

नाम से प्रसिद्ध है। अपनी सांख्य निरीश्वरवादी है। जैनदर्शन की तरह वह ईश्वरतत्त्व को पृथक् न मान कर आत्मा में ही समाविष्ट कर देता है, आत्मा की परमशुद्ध-मुक्तदशा को ही वह ईश्वर मानता है, जिसका जैनदर्शन से बहुत अधिक साम्य है। जैनदृष्टि से मोक्षदशा मे आत्मा मे अनन्तवीर्य माना है, परन्तु मुक्त-मोक्ष प्राप्त आत्मा कभी उस वीर्य का प्रस्फुरण-प्रयोग नहीं करते। सांख्यदर्शनोक्त पुरुष (आत्मा) भी अकर्त्ता, निष्क्रय और नि सग माना गया है। वही भी वीर्यप्रस्फुरण करके कुछ कर्त्ता-धर्त्ता नही है, इसलिए अन्ततोगत्वा निश्चयदृष्टि से दोनों दर्शन एक ही लक्ष्य पर पहुँच जाते है।

योगदर्शन के प्रतिपादक प्रवर्तक महर्षि पतंजलि है। ये भी कपिल मुनि के समकालीन मानते जाते है। योगदर्शन मे भी सांख्यदर्शन-प्रतिपादित 25 तत्व माने जाते है और 26वा ईश्वरतत्त्व अधिक माना जाता है। इसके अतिरिक्त योगदर्शन न्यायदर्शन दोनो ने 9 तत्त्व माने है–पचमहाभूत, काल, दिशा आत्मा और मन। आत्मा को आठवॉ तत्त्व माना है। तथाचित्तवृत्ति का सम्पूर्ण विरोध करने से क्लेश-कर्मरहित आत्मा मुक्ति को प्राप्त करती है। चितवृत्ति को ज्ञान द्वारा रोकने से मोक्ष होता है, ईश्वर कर्त्ता है, आत्मा कार्य का कारण है। चित्तवृत्ति के विरोध के लिए यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि ये आठ अग है, जिनका सम्बन्ध हठयोग, जपयोग और राजयोग आदि से है।

साख्य और योग दोनो ही दर्शन आत्मा का अस्तित्व पृथक्-पृथक् मानते है। दोनों ही आत्मा को अकर्त्ता, द्रष्टा, साक्षी और असंग मानते है पतजलिमुनिप्रणीत योगदर्शन का मुख्य-ग्रन्थ-योगदर्शन (योगसूत्र) है। उसमे आत्मा, आत्मा का आध्यात्मिक विकास, उसका क्रम, उसके यम-नियमादि उपाय, आत्मा की विभूतियॉ-कैवल्य और मोक्ष आदि बातो का व्यवस्थितरूप से विवरण आता है। परन्तु वह कहॉ अपूर्ण है? उसकी अपेक्षा विशेष क्या–क्या सम्भव है? अथवा वर्तमान मे है? इस विषय मे उपाध्याय यशोविजयजी ने योग-दर्शन के कई सूत्रो पर अपनी टिप्पणी लिख कर तथा द्वात्रिशत्-द्वात्रिशिकाओ मे से कुछ मे अध्यात्म-योग पर विवेचन लिख कर जैन-दर्शन के साथ योगदर्शन की तुलना की है। यही नही, समदर्शी आचार्य हरिभूद्रसूरि ने पतजलिऋषि को आध्यात्मिक विषय के ऐसे व्यवस्थित शास्त्र की रचना की योग्यता के कारण तथा तीर्थकर देवो के अनेक तत्त्वो के बहुत से अशो पर निरूपण करने

के कारण एवं मोक्षाभिलाषी होने पर ही ऐसा आध्यात्मिक शास्त्र की रचना करने की इच्छा हो सकती है, इत्यादि गुणो से आकर्षित हो कर सम्यग्दृष्टि तो (निश्चय से) नहीं, परन्तु सम्यग्दृष्टि के पूर्वाभास के रूप मे मार्गानुसारी तो मान ही लिये है।

परन्तु इतना निश्चित है कि दोनो दर्शन आत्मा के अस्तित्व (Existance) को स्वीकार करते है, जो बुनियादी बात है। इसीलिए श्रीआनन्दघनजी ने कहा– **"आतम-सत्ता-विवरण करतां, लहो दुग अंग अखेदे रे"** (अखेदे) को अग के साथ भी जोड कर भी कई लोग अर्थ करते है–इन दोनों दर्शनो का खेदरहित अग-पैर को मानो। जो पैर थकान एवं खेद से रहित होते है, वे ही मजबूती से खडे व जमे रह सकते है। 'लहो' के साथ अखेद को जोडने से अर्थ निकलता है–बिना किसी खेद (चिन्ता) या सकोच के इन दोनो को अग (चरणयुगल) मान लो। यह अर्थ विशेष उचित लगता है। सत्ता का अर्थ अस्तित्व भी होता है, शक्ति भी। आत्मा की शक्तियो का विवरण दोनो दर्शन प्रस्तुत करते है, यह कहना भी यथार्थ है।

किन्तु ये दोनो दर्शन व्यवहार से भी आत्मा को अकर्त्ता मानते है, वहाँ जैन दर्शन के साथ इनका विरोध आता है। फिर जैनदर्शन मे हठयोग का स्थान बिल्कुल नगण्य है, जबकि योगदर्शन इसे अधिक महत्त्व देता है, तथापि राजयोग को दोनो स्वीकार करते है।

इस प्रकार परमतसहिष्णु जैनदर्शन के अनुसार जिनकल्पवृक्ष के एक देशीय तत्त्व (अमुक दृष्टि से सत्य) को ग्रहण करने वाले आत्मवादी साख्य योग दर्शनो को जिन भगवान् के या वीतराग तत्त्वज्ञानरूप कल्पवृक्ष के पैर (मूल) के स्थान पर स्थापित किया है।

अगली गाथा मे आत्मा के अन्य रूपो के उपासक दो दर्शनो का समन्वय जैनतत्त्वज्ञान के साथ करते हुए कहते है–

भेद-अभेद-सुगत-मीमांसक, जिनवर दोय कर भारी रे।
लोकालोक आलम्बन भजिये, गुरुमुखथी अवधारी रे।।

षड्.।।3।।

_अर्थ_–सुगत=बौद्धदर्शन आत्मा की भेदरूप (पृथक्-पृथक्) मानता है और मीमांसक वेदान्ती आत्मा को अभेदरूप (अभिन्न-एकतत्त्व) मानते हैं। ये दोनों वीतराग परमात्मा के तत्त्वज्ञान (समय पुरुष) के दो बड़े-बड़े हाथ है।

इन दोनों के अवलम्बन को यथार्थ तत्त्ववेत्ता गुरु की उपासना गुरुगम से जान कर निश्चय करके मानिये। इसका आश्रय लीजिए।

***भाष्य*–जिनेश्वर (समयपुरुष) के दो हाथ : बौद्ध और मीमांसक**

इस गाथा मे श्रीआनन्दघनजी ने आत्मा को भिन्न और अभिन्नरूप मे मानने वाले बौद्ध और मीमांसक दर्शन को वीतरागपरमात्मा के तत्त्वज्ञानरूप कल्पवृक्ष के दो बडे-बडे हाथ माने है। जैसे मनुष्य के दोनो हाथ सारे शरीर पर फिरते है और शरीर के कार्यो के अलावा अन्य जो भी करने योग्य कार्य है, उन्हे भी करते है। हाथ पुरुषार्थी और क्रिया करते रहने से बलिष्ठ होते है, वैसे ही वीतराग परमात्मा के तत्त्वज्ञानरूपी पुरुष के दोनो कर (हाथ) रूपी दोनो नय (द्रव्यास्तिक और पर्यायास्तिक नय) समस्त लोकालोक के यथार्थ तत्त्वज्ञान को बताते है। हाथ जैसे मार्गदर्शन देते है, वैसे ही ये दोनो नय (कर) भी सारे जगत् को मार्गदर्शन देते हैं। इन्हे बडे हाथ इसलिए कहा कि ये केवल एक क्षेत्र या प्रदेश मे नही, सारे विश्व मे और लोक के बाहर अलोक मे भी मार्गदर्शन व प्रेरणा देते है। बौद्धदर्शन आत्मा को भेदरूप (पृथक्-पृथक्) मानता है, यानी उसका कहना है कि आत्मा भिन्न-भिन्न है, खण्ड-खण्डरूप है एव क्षणिक है। आत्मा विज्ञानवन है, लेकिन वह प्रति व्यक्ति मे भिन्न-भिन्न है तथा प्रत्येक क्षण में बदलता रहता है। दुनिया की प्रत्येक नाशवान् वस्तु अलग-अलग है। इस क्षण जो घडा है, वही दूसरे क्षण नष्ट हो जाता है, फिर दूसरे ही क्षण वह उत्पन्न हो जाता है, फिर नष्ट होता है, यो उत्पत्ति और नाश की परम्परा चलती है, सामान्य व्यक्ति को ऐसा मालूम होता है कि 'एक ही घडा है'; परन्तु कितने ही घडे उत्पन्न हुए और नष्ट हो गए, अतः वे उत्पन्न और नष्ट होने वाले घडे अनेक है, वे प्रत्येक पृथक्-पृथक् है, परन्तु द्रव्य को छोड कर पर्याय भिन्न नहीं है **'जलतरंगवत् स्वर्णाकारवत्'** यानी पानी और उसकी तरगो की तरह, अथवा सोना और उसके आकार की तरह पहले क्षण जो आत्मा था, वही दूसरे क्षण बदल जाता है, इस प्रकार बौद्धदर्शन भेदवादी पर्यायवादी है, एकान्तपर्यायास्तिक नय के आधार पर चलता है, वह अनित्यवादी है और जैनदृष्टि से ऋजुसूत्रनयवादी है।

जैनदर्शन मे अपेक्षा से यह भी बताया है कि ज्ञेय के ज्ञानस्वरूप-स्वभाव है और विभाव मे कर्माश्रित पौद्गलिक देह मे भी प्रतिक्षण बदलते हुए देह में पर्याये बदलती रहती है, इस कारण भेद दिखाई देता है। इस प्रकार की

जैनमान्यतानुसार बौद्धदर्शन को भी पर्यायार्थिक नय (प्रमाण) की दृष्टि से देखा जाय तो बौद्धदर्शन सत्य है, यो मान कर इसे समयपुरुष के अग (हाथ) के रूप मे समझना चाहिए।

मीमासादर्शन को वीतराग परमात्मा के अग का बाया हाथ माना गया है। मीमासा दर्शन के दो भेद है–पूर्वमीमासा और उत्तरमीमासा। पूर्व मीमासादर्शन के नियमानुसार सस्थापक जैमिनी है, जिनका जीवनकाल ई पू तीसरी या चौथी शताब्दी मे माना जाता है। पूर्वमीमासादर्शन वेदो को ही सर्वस्व आधार मानता है। इस दर्शन का विषय मुख्यतया वैदिक कर्मकाण्ड है, जिसमे यज्ञादि कर्मकाण्ड द्वारा इस लोक और परलोक मे स्वर्गादि के सुख दुःखादि प्राप्त करने का विधान है। इस प्रकार पूर्व–मीमासादर्शन अत्यन्त सूक्ष्मविचार करके वेद के शब्दो पर से ही समग्र आध्यात्मिक जीवन की व्यवस्था का निरूपण करता है।

उत्तरीमीमासा का दूसरा नाम 'वेदान्तदर्शन' है, वह मुख्यतया ज्ञानवादी और आत्मवादी है। उसके क्रमिक व्यवस्थाकर्त्ता बादरायण (व्यासजी) है, जो ई पू तीसरी या चौथी शताब्दी मे हुए माने जाते है। इसके मुख्यग्रन्थ उपनिषद् है, ब्रह्मसूत्र है, जिन पर आद्यशकराचार्य ने व्यवस्थितरूप से भाष्य लिखे है। इस दर्शन को व्यवस्थितरूप से प्रस्तुत करने का श्रेय भी आद्यशकराचार्य जी को है। वेदान्तदर्शन मानता है कि प्रत्येक पदार्थ व्यष्टि से पृथक्-पृथक् होते हुए भी समष्टि से एकतत्त्वसूत्र मे पिरोया हुआ है। वह एकः तत्त्व-ब्रह्मरूप है। ब्रह्म (आत्मा) एक है, वही सर्वत्र व्यापक है–'**एकः सर्वगतो नित्यः विगुणो न बध्यते न मुच्यते**' ब्रह्म (आत्मा) एक है, सर्वव्यापक है, नित्य है, गुणातीत है, बन्धन–मुक्तारहित है। वेदान्तदर्शन के सामने जब यह प्रश्न उपस्थित होता है कि तब फिर जगत् में भिन्न आत्माएँ दृष्टिगोचर होती है, इसका क्या समाधान है? तब वह कहता है–एक ही आत्मा (ब्रह्म) प्राणिमात्र में व्यवस्थित है, जैसे एक चन्द्रमा होते हुए भी जल में अनेक चन्द्रमा दिखाई देता है, वैसे ही आत्मा एक होते हुए भी जलचन्द्र की तरह अनेक रूप मे दिखाई देता है। तात्पर्य यह[1] है कि एक ही ब्रह्म सकल पदार्थो के रूप मे परिणमित व प्रतिभासित होता है। इस दृष्टि से वेदान्त (उत्तरमीमांसा) दर्शन अभेदवादी है, द्रव्यवादी है, द्रव्यार्थिक

1. एक एव हि भूतात्मा भूते–भूते व्यवस्थितः।
एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत्।।

नय की एकान्त दृष्टि रखता है, परमसग्रहवादी और नित्यवादी जैनदर्शन के निश्चयनय (शुद्धसग्रहनय) की दृष्टि से **'एगे आया'** आत्मा एक ही है, क्योकि आत्मा के असंख्यप्रदेश सर्वप्राणियों मे समान है तथा सर्वप्राणियों के आत्मा का लक्षण उपयोग (ज्ञाताद्रष्टा) एक समान है। समस्त आत्माओ की सत्ता एक है, सब आत्माओ मे द्रव्य-गुण-पर्यायरूप धर्म एक ही है। निश्चयनय आत्मा के बन्ध को नही मानता। परन्तु आत्मा मुक्त भी नही होता, यह बात निश्चयदृष्टि से इस प्रकार घटित हो सकती है, शुद्ध आत्मा न तो बन्धता है, न मुक्त होता है, क्योकि जो बधता ही नहीं, उसके मुक्त होने की भी जरूरत नही रहती, वस्तुतः आत्मा सर्वथा सर्वदा मुक्त ही है। निश्चयनयानुसार यह बात सत्य है। इसलिए इसे जिनवरतत्त्वज्ञानरूपी कल्पवृक्ष का एक हाथ कहना उचित ही है। यद्यपि वेदान्त की पूर्वोक्त बाते अशसत्य है, अशसत्य को सर्वसत्य नहीं समझना चाहिए।

भेद और अभेद में लोक-अलोक का आलम्बन कैसे?

जैनदर्शन की विश्व-व्यवस्था भेद और अभेद दोनो तत्त्वो पर व्यवस्थित है। जगत् मे कोई भी पदार्थ ऐसा नही है, जिसमे भेद और अभेद दोनो न हो। दीपक से ले कर आकाश तक तमाम पदार्थ भेद और अभेद से युक्त है। उदाहरणार्थ–नट एक होते हुए भी वह अलग-अलग वेश धारण करता है तब पृथक्-पृथक् (भिन्न-भिन्न) वेश मे, भिन्न-भिन्न नाम से पहचाना जाता है। इस प्रकार उसमे पृथकत्व और एकत्व दोनो दिखाई देते है। पुस्तक एक होते हुए भी उसके पन्ने अलग-अलग होते है। पुस्तक यदि सर्वथा एक ही हो तो अलग-अलग पन्ने क्यो पढे जाते ? और पन्ने अगर सर्वथा अलग-अलग होते तो एक पन्ने के विषय-सम्बन्ध दूसरे पन्ने के साथ न मिलता, पुस्तक भी एक नही कहलाती। दूसरी दृष्टि से देखे तो द्रव्यास्तिकनय जीवादि तत्व का प्रतिपादन करता है, पर्यायास्तिकनय जीवादि तत्त्व को अनन्तपर्याय से प्रतिपादन करता है। द्रव्य और पर्याय पर समस्त लोकालोक का आधार है।[1] द्रव्यास्तिकनय का आलम्बन अलोक (आकाशास्तिकाय) है, जबकि पर्यायास्तिकनय का आलम्बन लोक (पचास्तिकायात्मक) है अथवा लोक रूपीद्रव्यरूप होने से

1 इस विषय मे इस विषय के विशेष विद्वान् गुरु से अथवा जैनन्याय के अनेकान्त-जयपताका, अनेककान्तमतव्यवस्था, स्याद्वादमजरी, स्याद्वाद्-कल्पलता, आदि ग्रन्थो का अध्ययन करके समझ लेना चाहिए।

पर्यायार्थिकनय का आलम्बन है, जबकि अलोक अरूपी होने से द्रव्यार्थिकनय का आलम्बन हुआ। इस दृष्टि से भेद का आलम्बन लोक और अभेद का आलम्बन अलोक हुआ। अथवा लोक और अलोक के अवलम्बन के साथ श्रीआनन्दघनजी ने यह भी स्पष्ट कर दिया है–**'गुरुगमथी अवधारीए'** अर्थात् तत्त्वज्ञानी को गुरुदेव की उपासना से इसका रहस्य समझ लेना चाहिए।

'परमार्थ' के लेखक ने इस पर लिखा है–'ब्रह्मरन्ध्र से नीचे का भाग 'लोक' है और ब्रह्मरन्ध्र से ऊपर का भाग 'अलोक' है। इस प्रकार लोकालोक की कल्पना करके सालम्बन–निरालम्बन ध्यान सूचित किया गया है। रेचक-पूरक-कुम्भक आदि क्रियापूर्वक किया गया ध्यान सालम्बन है और निरालम्बन ध्यान का विषय गम्भीर एव वेदान्तदर्शन मे प्रतिपादित होने से इसमे जहाँ समझ मे न आए, वहाँ ध्यान के अभ्यासी महान् योगी तत्त्वज्ञ गुरुदेव से जान (समझ) लेना चाहिए।

अब अगली गाथा मे चार्वाकदर्शन का समावेश जिनेश्वर के तत्त्वज्ञान के एक अग के रूप मे बताते है।

लोकायतिक कूख जिनवरनी, अंशविचार जो कीजे रे।
तत्त्वविचार सुधारसधारा गुरुगम-विण किम पीजे रे?
षड्. 4॥

अर्थ–**नास्तिक बृहस्पति-प्रणीत चार्वाक (लोकायतिक) दर्शन वीतरागदेव (समयपुरुष) की कुक्षि (उदर) है। इस दर्शन के एक खास हिस्से पर यदि ध्यान से विचार किया जाय तो इस बात की (आंशिक) सत्यता समझ में आ सकती है। लेकिन सद्गुरु द्वारा प्रदत बुद्धि-ज्ञानशक्ति के बिना तत्त्वज्ञानविचाररूपी अमृतरस की धारा का पान कैसे हो सकता है?**

भाष्य–**लोकायतिक को वीतराग की कुक्षि की उपमा क्यों?**

लोकायतिक का अर्थ है–लोक मे विस्तृत-फैला हुआ दर्शन। इसे नास्तिक दर्शन या बृहस्पति-आचार्यप्रणीत चावकिदर्शन भी कहते हैं क्योकि इस दर्शन वाले परलोक, स्वर्ग-नरक, पुण्य-पाप, धर्म-अधर्म, आत्मा-परमात्मा और बंध-मोक्ष को नहीं मानते। वे तो यथाशक्ति इन्द्रियसुख भोग लेने मे ही यानी वर्तमान पौद्गलिक सुखो को प्राप्त करने मे ही जीवन की इतिश्री हैं। क्योकि चार्वाकदर्शन का मूलसूत्र है–'**जब तक जीओ, सुख से जीओ**

कर्ज करके घी पीओ। शरीर की राख होने पर फिर पुनरागमन कहाँ?[1] वर्तमानयुग मे इन्हे भौतिकवादी (Materialists) कह सकते है। इस प्रकार नास्तिकदर्शन वालो ने सिर्फ प्रत्यक्षप्रमाण को पकड लिया, अन्य प्रमाणो को छोड दिया। प्रत्यक्ष मे भी इन्द्रियार्थ प्रत्यक्ष को ही माना, आत्मप्रत्यक्ष प्रमाण को सर्वथा छोड दिया है, चार्वाकदर्शन पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि और आकाश इन 5 भूतो को मानता है और इनके संयोग से चेतनायुक्त प्राणी दिखाई देते है। आत्मा नाम का स्वतंत्र कोई पदार्थ नहीं है।

प्रश्न यह होता है कि चार्वाक जैसे नास्तिकदर्शन को श्रीआनन्दघनजी ने जिनवर के उदर का स्थान क्यो दिया? यानी इसे जैनतत्त्वज्ञानरूप कल्पवृक्ष का उदररूप अग क्यो माना?

इस शंका के समाधान के लिए हमें जरा तत्त्व की गहराई मे उतरना पडेगा।

जैनदर्शन मे पॉच ज्ञान प्रमाण माने है–1 प्रत्यक्ष, 2 परोक्ष, 3 आगम, 4 उपमान, और 5 अनुमान। इन पॉच प्रमाणो के नयो का सत्यार्थ विवेचन है। चार्वाकदर्शन द्वारा इन्द्रियप्रत्यक्ष (जैनदर्शनमान्य साव्यवहारिक प्रत्यक्ष) को स्वीकार करने के कारण उसे अंशतः जिनवर के उदर की उपमा दी।

शरीर मे पेट का स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। वह सारे शरीर मे भोजन पहुॅचाता है, विविध अगो को यथायोग्य भोजन पहुॅचा कर शक्ति देता है और मलहरणी नाडी द्वारा मल को धकेल देता है। उदर मे तो भोजन का अशभर ही शेष रहता है। इस दृष्टि से लोकायतिक दर्शन भी दुनिया मे अध्यात्मवाद के नाम पर ठगे गए, अथवा अध्यात्मवाद के नाम पर मचाई गई लूट के कारण ऊबे हुए लोगो को पेट की तरह अपने मे स्थान देता है, तथा उन्हें यह भी आश्वासन देता है कि परलोक का स्वर्ग-नरक थोडी देर के लिए न मानो तो भी इहलोक मे जो कुछ प्रत्यक्ष गलत काम करोगे, उसका फल भी प्रत्यक्ष यही पर मिल जाएगा। परलोक मे नरक के डर से और स्वर्ग के प्रलोभन से जो दानादि धर्म या अहिसादि पालन करते हो, वह भी उचित नही है, क्योकि भय और प्रलोभन के कारण हटते ही या भय-प्रलोभन का विचार दिमाग से निकलते ही तुम

---

1. यावज्जीवेत्, सुखं जीवेत्, ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्।
   भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः।।

अधर्म के कार्य करने पर उतारू हो जाओगे। इसलिए हम कहते है, समाज, परिवार, सघ या राष्ट्र की व्यवस्था सुचारूरूप से चलाए रखने के लिए विवेकयुक्त सस्कारो-प्रत्यक्षहृदय मे जमे हुए सुसस्कारो से प्रेरित हो कर धर्म या कर्त्तव्य, नीति या पथ्य (हितकर) बातो का पालन करो। जैसे पेट अपने पास कुछ भी न रख कर बिना किसी बदले की आशा से सारे अगो को दे देता है, वैसे ही तुम अपने पास अधिक न रख कर समाज, राष्ट्र आदि को निःस्वार्थ भाव से दे दो। पेट, शरीर के दूसरे अवयवो को सब कुछ देने पर जब खाली हो जाता है, तभी तो भोजन की रुचि जागती है, पेट मे एक दिन से अधिक दिन भोजन जमा पडा रहे तो कब्ज, अपच आदि अनेक रोग हो जाते है, वैसे ही जीवन मे त्याग न करने पर यानी परोक्षज्ञान आदि अधिक जमा होने पर विचारो का अजीर्ण, अहकार, सडान एव परिग्रह हो जाता है। अतः परोक्षज्ञान का सग्रह न करके लोकायतिक दर्शन प्रत्यक्षज्ञान पर ही दारोमदार रख कर परोक्ष विचारो को निकाल कर प्रत्यक्ष उपयोगी व्यवहारिक विचारो को रखता है, इसी कारण आध्यात्मिक विचारो की भूख जागती है। यह दर्शन अध्यात्मविचार के भोजन की रुचि जगाता है। आज अमेरीका, जर्मन आदि भौतिकवादी देशो मे इन्द्रियजन्य सुखाभासो एव तज्जनित रोगो व दु खो से ऊब (घबरा) कर वहाॅ की जनता मे आध्यात्मिक रुचि जगी है। इस कारण यह दर्शन भी जगत् मे विस्तृत है। जगत् के अनेक लोगो की नीति का पाठ पढा कर यह अध्यात्म की भूख जगाता है। इसलिए इस दर्शन को जिनवर तत्त्व-ज्ञान का उदर कहा है।

तत्त्वज्ञान के प्राथमिक अभ्यास के लिए प्रवेश करने वाले जिज्ञासु को शरीर और आत्मा, इन दोनो मे से शरीर ही निकटवर्ती एव प्रत्यक्ष दिखाई देने से इसके पचभौतिक स्थूलरूप का सर्वप्रथम ज्ञान चार्वाक दर्शन करा देता है, इस प्रकार विश्व का सर्वप्रथम तत्त्वज्ञान होने पर उस पर से जिज्ञासु आगे बढ सकता है, किन्तु प्राथमिक तत्त्वज्ञान मे ही प्रवेश न हो तो वह आगे कैसे बढ सकता है? इस दृष्टि से चार्वाकदर्शन भी प्राथमिक तत्त्वज्ञान प्रवेश मे सहायक होने से जिनवर-दर्शन का उदररूप एक अग माना गया है। भले ही वह अनुमानादि-प्रमाणो को न माने, सिर्फ एक प्रत्यक्षप्रमाण को माने, परन्तु एक प्रमाण को भी प्रमाणरूप में मानेगा तो उसे कभी न कभी दूसरे प्रमाणो को मानने-समझने का मौका मिलेगा, इतना भर यह जैनदर्शन का अंग माना जाय तो अनुचित नही होगा।

योगदृष्टि से जब उदर पर विचार करते है तो एक महत्त्वपूर्ण बात प्रतीत होती है। उदर में नाभि एक ऐसा केन्द्रस्थान है, जहां से कुडलिनी जागृत होने पर छही चक्रो का भेदन हो सकता है। आत्मा के विकास का साक्षी एवं प्रमाण यही स्थान है, जहॉ से चारों और सभी नाडियां फैली हुई है। सबको यही से बल, बुद्धि और विकास की स्फुरणा मिलती है, इसलिए चार्वाकदर्शन को समयपुरुष का उदररूप अग बताना भी उचित है। वह प्रत्यक्षभूत इस साधना के लिए प्रेरणा करता है और कहता है–अगर इस साधना को सिद्ध कर लोगे तो तुम्हारी पॉचो इन्द्रियो के विषय की तृप्ति अन्दर-ही-अन्दर हो जाएगी, अमृत का वह झरना आनन्द का वह स्त्रोत तुम्हारे अन्दर ही फूट पडेगा, जिससे तुम्हे फिर बाहर की भूख-प्यास नही सताएगी और न ही इन्द्रियों के विविध मोहक विषयो की ओर तुम्हारी रुचि रहेगी। तुम अपने अन्तर मे ही तृप्त हो जाओगे। हालाकि यह सब अनुभव की बातें है, लेकिन ये सब परोक्ष नही है। इसलिए चार्वाक कहता है–यही और इसी जन्म मे इस साधना के द्वारा आनन्द लूट लो, अन्दर का ही वह खजाना प्राप्त कर के अपने आप मे तृप्त हो जाओ। यही स्वर्ग है, यही से मोक्ष है। ऐसी साधना न करने या मौका चूकने पर (प्रमाद करने पर) यहीं नरक, तिर्यच आदि दुर्गति है। इस दृष्टि से चार्वाकदर्शन को उदररूप अग बताना बहुत ही अर्थपूर्ण है।

उदर का यह भाग बहुत ही उपेक्षित रहता है, कधे के नीचे दबा रहने से दबा हुआ रहा है, इसलिए इसे भी जैन-तत्त्वज्ञान के एक व्यवहारिक अग के रूप मे स्थान दिया गया है।

श्रीआनन्दघनजी ने आगे चल कर इसी गाथा में इसका स्पष्टीकरण भी कर दिया है–**'अंश विचार जो कीजे रे'।**

363 पाखण्डीमतो (क्रियावादी 180, अक्रियावादी 84, अज्ञानवादी 67 और विनयवादी 32=कुल 363) को भी जब जैनदर्शन मे उदारतापूर्वक स्थान दिया है, तब चार्वाकदर्शन को पूर्वोक्त कारणों से स्थान देने मे उदारता की हो, इसमे तो कहना ही क्या है? परन्तु इन सबके तत्त्वो (रहस्यो) पर विचाररूपी अमृतरसधारा का पान किसी योग्य एव अनुभवी उदारचेत्ता गुरुवर के बिना हो नही सकता। इसी कारण श्रीआनन्दघनजी को भी कहना पडा–
'तत्त्वविचार-सुधारसधारा गुरुगम विण किम पीजे रे?'

जैन जिनेश्वर उत्तम अंग, अन्तरंग-बहिरंगे रे।
अक्षर-न्यास धरा आराधक, आराधे धरी संगे रे।।
षड्.।।5।।

अर्थ–जिनेश्वर परमात्मा के तत्त्वज्ञान द्वारा बताया हुआ दर्शन (जैनदर्शन) तीर्थंकर सयोगी केवली जिनका सर्वश्रेष्ठ अंग=मस्तक है। वह अंतरंग और बहिरंग दोनों रूप में उत्तमांग है अथवा अंतरंग शुद्धि (रागद्वेष की मलिनता से रहित आत्मप्रत्यक्ष से) तथा बहिरंगशुद्धि (व्यवहार ज्ञानबलचरित्रबल के शुद्ध अनुभव से प्रदर्शित जैनदर्शन की स्थापना करने वाले, अथवा व्यंजनाक्षर-संज्ञाक्षर का न्यास=ज्ञानार्थ अक्षरस्थापनारूपी धरा=पृथ्वी (अक्षरावली-वर्णमाला) का विन्यास या आज्ञाधर्मरूपी धरा के आराधक (आज्ञापालक) का परिचय करके या प्रत्येक अंग को अपनी आत्मा में रमा कर आराधना करते हैं–आज्ञा पालते हैं। वे ही वास्तव में जैनदर्शन के आराधक होते हैं।

_भाष्य_–जैनदर्शन : वीतराग का उत्तमांग

छठे अग के रूप मे जैनदर्शन को वीतराग-परमात्मा का उत्तमाग= मस्तक कहा गया है। वह समयपुरुष के मस्तक के समान कहा है। इसका कारण यह नही है कि श्रीआनन्दघनजी जैन थे, इसलिए उन्होंने जैनदर्शन को उत्तम अग के रूप में बताया है। अपितु इसका कारण यह है कि जैनदर्शन किसी वस्तु को सिर्फ एक ही, एकांगी दृष्टि से नहीं देखता, किसी भी विषय पर उसके सभी दृष्टिबिन्दुओ को मद्देनजर रख कर तदनुकूल नयसापेक्ष कथन करता है, तथा इस दर्शन मे सभी विचारधाराओ को यथायोग्य स्थान दिया गया है, सभी पर सत्यग्राही दृष्टि से विचार किया गया है, इस कारण इसे उत्तमाग कहा गया है। शरीर के अवयवो मे मस्तिक का सर्वोपरि, अनिवार्य और उत्तम इसलिए बताया गया है कि वह सभी अवयवों को विचार देता है, शरीर मे मस्तिष्क न हो तो सभी अवयव बेकार हो जाते है, इसी प्रकार जैनदर्शन सभी दर्शनो को यथायोग्य स्थापन करने वाला है। यह नही होगा तो सभी दर्शन एकांगी व एकान्त बन कर सापेक्षवाद को भूल कर अपनी-अपनी ढपली और [illegible] अपना राग अलापने लगेगे। इसलिए जैनदर्शन उस उच्चस्थान को अपनी [illegible] के कारण ही पा सका है। इस उच्चता को प्राप्त करने मे उस [illegible] नही की गई है, अपितु उसने वास्तविक रूप में ही इसे प्र[illegible] महिमा और योग्यता भी सिद्ध कर दी है। जैनदर्शन की [illegible]

सभी दृष्टिबिन्दुओ के उपरान्त प्रमाणसत्य को स्वीकार करता है, इस कारण सर्वथा उत्तम है।

जैनदर्शन का अंतरंग और बहिरंग

जैनदर्शन के दो अग है–अंतरंग और बहिरंग। रागद्वेष का सर्वथा त्याग करके आत्मा के गुणो को प्रगट करना इसका अन्तरंग है तथा बाह्यक्रियाएँ करना, समचारी का ऊपर-ऊपर से पालन करना एवं चरणसत्तरी व करणसत्तरी का पालन यह बहिरंग है। इसमें अन्तरगविभाग मे वैराग्य एव आत्मा के अनेक गुण कैसे प्राप्त किये जा सकते है? इस सम्बन्ध में कारण और परिणाम के साथ बताया गया है।

अथवा जैनदर्शन अन्तरंग और बहिरंग-शुद्धि से प्रसिद्ध है। अन्तरगशुद्धि का अर्थ है–राग, द्वेष, मोह, अज्ञान और मिथ्यात्व से अशुद्ध हुए विचारो द्वारा आए हुए बुरे परिणामो से रहित शुद्ध आत्मभाव एवं समत्वयोग से प्रगट हुआ वीतरागभाव। बहिरगशुद्धि का अर्थ है–आरम्भ=षट्कायिक जीवो की हिसा से और कामभोग विषयसेवन से आए हुए विकारी परिणामो से अशुद्ध बने हुए जगत् के व्यवहार को सामायिकादि यथाख्यातचारित्राचरण से शुद्ध करना।

अक्षर-न्यास धरा-आराधक कौन और क्या?

इस प्रकार बताए हुए अन्तरग और बहिरग दोनो रूप जैनदर्शन का स्थान समयपुरुष के उत्तमांग (मस्तिष्क) के रूप मे समझना और दोनो का विभाग जैसा और जिस प्रकार का बताया गया है, नि शक और निष्कांक्ष हो कर, बिना किसी अपवाद के उसका अक्षरशः अनुसरण करना, यह भी अक्षरन्यास-धरा का एक अर्थ है। अक्षरशः न्यास (स्थापन) करने से यह भी तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार वे अक्षर बताए गए है, उसी तरीके से उसकी स्थापना यानी सेवन, आराधन, आचरण करने का आग्रह रखना अक्षरन्यास है। अमुक मुद्रा से नमोत्थुण का पाठ बोलना है, अमुक विधि से '**इच्छामि खमासमणो**' कहना है, इत्यादि जैसी अक्षर-सत्य की स्थापना है, उसी प्रकार से अक्षरन्यासरूप धरा=पृथ्वी का आराधन करना चाहिए।

इसका दूसरा अर्थ यह है–पूर्वोक्त प्रकार से अन्तरंग-बहिरग-शुद्धि से प्रगट हुआ तत्त्वज्ञान अक्षरन्यासरूप है। फिर जिनभाषित आचारांगादि द्वादशागी आगम, जिन स्वर-व्यंजन-अक्षरादि से न्यास किया (रचा) हुआ है, उस द्वादशांगीमय जैनदर्शन की धरा (आज्ञा) को अक्षरन्यासधरा कहते हैं क्योकि

द्वादशगीमय जैनदर्शन ही अक्षरन्यासधरा है, वही सर्वदर्शनो से ऊपर है मस्तक-स्थानीय है। सारे दार्शनिक विचारों का समन्वय–सापेक्षदृष्टि से कथन, अनेकान्त, नय, प्रमाण आदि से स्थापन मस्तिष्क से ही होता है। अतः द्वादशागीमय जैनदर्शनरूप अक्षरन्यासधरा का आराधक=इसी जैनदर्शन की आज्ञा का पालन है। तात्पर्य यह है कि वीतराग परमात्मा के चरण-उपासक को द्वादशांगीमय जैनदर्शनरूप अक्षरन्यास की आज्ञा की आराधना अन्तःकरणपूर्वक करनी चाहिए, क्योकि इसमे हेयोपादेय का यथायोग्य विधान है, समस्त पदार्थो का विवेक है। सर्वदर्शनो का समन्वय नयप्रमाणदृष्टि से किया गया है। अतः **'तमेव सच्चं निसंकं जं जिणेहिं पवहयं'** उसे ही यथार्थ, सत्य, निशक समझ कर उसकी आराधना करनी चाहिए।

तीसरा एक और अर्थ निकलता है–पूर्वोक्त गाथाओ मे जिनवर के 6 अगो मे 6 दर्शनो के न्यास की बात पूरी करने के साथ ही जैनदर्शन का परिचय धारण करके **'अक्षरन्यास'** की ध्यानप्रक्रिया यहाँ सूचित की गई है। इस ध्यानप्रक्रिया के अनुसार शरीर के अलग-अलग अगो मे अक्षरो का न्यास (स्थापना) करके आराधना करनी चाहिए, तभी जिनवर का सर्वागदर्शन होगा। यानी वीतराग-परमात्मा का सर्वागमय सम्पूर्ण दर्शन (झाकी) करने के लिए, परमात्मा की दीक्षा पूर्ण करने हेतु पूर्वधरपुरुषो ने जो अक्षरन्यास के रूप मे महाध्यान की प्रक्रिया बताई है, तदनुसार आराधना करनी चाहिए। इसीलिए अन्त मे कहा गया–**'आराधे धरी संगे रे।'**

यही कारण है कि जैनदर्शन को अन्तरग-बहिरग दोनो दृष्टियो से जिनेश्वर का उत्तमाग कहा है।

जिनवरमां सघलां दर्शन छे, दर्शने जिनवर भजना रे।
सागरमां सघली तटिनी सही, तटिनीमां सागर भजना रे।।

षड्.।।6।।

अर्थ–जिनवर (वीतराग पुरुष के तत्त्वज्ञानरूप दर्शन) में समस्त दर्शनों का समावेश हो जाता है, परन्तु दूसरे प्रत्येक दर्शन में जिनवरप्रणीत जैनदर्शन का समावेश हो भी सकता है, नहीं भी हो सकता है, निश्चित नहीं है। जैसे समुद्र नदियों का समावेश हो जाता है, परन्तु किसी एक नदी में सागर का एकान्त निश्चित नहीं होता। हो भी सकता है, नहीं भी।

भाष्य–वीतरागप्ररूपित जैनदर्शन में सबका समावेश

पूर्वोक्तगाथाओ मे वीतरागपरमात्मा के चरण-उपासक को उदार एव सर्वदर्शनसमन्वयी बनने की बात कही गई है। परन्तु जब तक साधक के मनमस्तिष्क मे यह बात न जम जाय कि जिनेश्वर या जिनवर का क्या अर्थ है? क्या यह कोई व्यक्तिविशेष है या गुणवाचक सज्ञा है? जिनेश्वर मे सभी दर्शनो का समावेश क्यो किया जाय? उनकी ऐसी क्या विशेषता है, जिससे उनके द्वारा प्ररूपित दर्शन को उत्तमाग माना जाय? ये और ऐसे अनेक प्रश्न उठते है। इससे पूर्वगाथाओ के विवेचन मे हम जिनवर की चरण-उपासना के सन्दर्भ में भलीभांति विवेचन कर आए है कि जिनवर की चरण-उपासना के लिए कितनी उदारता, परमसहिष्णुता, विचारकता, समता और व्यापक समन्वयदृष्टि होनी चाहिए। जिनवर कोई एक व्यक्तिविशेष नही है, वह एक गुणवाचक सज्ञा है। जो सर्वोच्च उदार, निरपेक्ष, निःस्पृह, सत्यग्राही है। रागद्वेषरहित होकर सबको अपने में समाने की ओर महाकारुणिक बन कर जगत् के सामने वस्तुतत्त्व को प्रकाशित करने की व्यापक दृष्टि है, वही जिनवर हो सकते है। चाहे उनका नाम कोई भी हो। जैनदर्शन को मानने की बात का समाधान पहले हो चुका है।

पूर्वोक्त गाथाओ मे जिनवर के 6 दर्शनो का समावेश किया गया है, उसके अलावा विश्व मे और भी अनेक दर्शन है, विभिन्न विचारधाराएँ है, मत-मतान्तर है, उन सबका समावेश जिनवर (सर्वदर्शनयुक्त वीतरागदर्शन) मे हो सकता है।

जैसे अनेक गड्ढो, टीलो, घाटियो आदि को पार करती हुई अनेक नदियाँ समुद्र मे मिल जाती है, परन्तु किसी नदी मे समुद्र कदाचित् ही मिलता है, प्रायः नही मिलता। जब समुद्र मे ज्वार आता है, तब नदी के मुख मे थोडे-बहुत अशो मे सागर दिखाई देता है। उसी प्रकार जैनदर्शनरूपी समुद्र इतना विशाल है कि उसमे समस्त दार्शनिक विचारधाराएँ व दृष्टियाँ समा जाती है, वह अपनी अनेकान्तदृष्टिरूपी राजहसी चोच से समस्त दर्शनो को विभिन्न नयो, प्रमाणो और हेतुओ-युक्तिओ से यथायोग्य स्थान पर स्थापित कर देता है। परन्तु अन्यदर्शन नदी के समान है। जैनदर्शन मे किसी-न-किसी एक नय या प्रमाण से सभी दर्शनो का समावेश हो जाता है, जबकि अन्यदर्शनो मे किसी-किसी स्थल, पर जैनदर्शन का एकाध अश दिखाई देता है, बशर्ते कि अनेकान्तदृष्टि से देखा जाय यदि एकान्तदृष्टि से देखा जाय, तो अन्य दर्शनो मे जैनदर्शन का अंश भी नही दिखाई देता। इसका कारण यह है कि जैनदर्शन ने

अपनी एकदेशीयता मिटा कर सर्वदेशीयता स्वीकारी है, जबकि अन्य दर्शनो मे से किसी ने भी इस प्रकार की सर्वदेशीयता स्वीकृत नही की। नदियाँ जैसे अनेक गड्ढो, टीलो और घाटियो को पार करती हुई समुद्र मे मिलती है, वे गड्ढे, टीले और घाटियाँ विविध क्रियाएँ है, विविधपरम्पराएँ है। उन्हें छोड देने पर ही नदियाँ समुद्र मे मिल सकती है। इसी प्रकार अन्य दृष्टियाँ या विचारधाराएँ भी ऊपरी आवरणो, परम्पराओ, क्रियाओ आदि को त्याग करके ही जैनदर्शनरूपी समुद्र मे तत्त्वदृष्टि से समाविष्ट होती है। जैनदर्शन इतना विशाल और व्यापक है।

श्रीआनन्दघनजी इस गाथा के बहाने से सूचित कर देते है कि जैनदर्शन को इतना विशाल, व्यापक तथा सर्वदर्शनशिरोमणि बताने का यह मतलब नही है कि किसी भी अन्य मत, दर्शन की मान्यता का द्वेषभाव से खण्डन या तिरस्कार करे, उसे हीन बता कर निन्दा करे। ऐसा करना वीतरागता और समता के मार्ग से विरुद्ध होगा और कोरा दिखावा होगा–समता का, अनेकान्तवाद का। हाँ, किसी दर्शन का कोई अश प्रतिकूल हो तो उसके प्रति माध्यमस्थ्यभाव रखना चाहिए। अतः जैनदर्शन को भी यथार्थरूप मे समझ कर आत्मीयभाव से यथार्थरूप से उसकी आराधना करनी चाहिए।

जिनस्वरूप थई जिना आराधे, ते सही जिनवर होवे रे।
भृंगी ईलिकाने चटकावे, ते भृंगी जग जोवे रे।।

षड्.।।7।।

अर्थ–**जो इस प्रकार रागद्वेषविजेता वीतरागपरमात्मा के तुल्य हो कर (यानी-रागद्वेष को उपशान्त करके जिनसमान हो कर) जिनभाव की आराधना करता है, वह महान् आत्मा अवश्य (निश्चय) ही वीतरागदेव बन जाता है। जैसे भौंरी ईलिका (लट) नामक कीड़े के डंक मारती है, उसके सामने गुंजारव करती है तो वह ईलिका कुछ ही दिनों में भ्रमरी के रूप में जगत् के लोग देखते हैं, अनुभव करते हैं।**

_भाष्य_–वीतराग बनने का नुस्खा : वीतराग आराधना

पूर्व गाथाओ मे जिनवर के चरणोपासक बनने के लिए वैचारिक दृष्टि से विचार-सहिष्णुता, समता, निष्पक्षता, उदारता आदि गुणों को लेकर को जिनाग मानने की शर्त थी, परन्तु चरण-उपासक बनने का सुफल व इसके उत्तर मे श्रीआनन्दघनजी कहते है–'जिनस्वरूप थई जिन सही जिनवर होवे रे।' अर्थात् जिनेश्वर भगवान् जैसे बन कर (द

निवारण करके) जो साधक आज्ञापालनसहित मन-वचन-काया से निर्वद्य भक्तिपूर्वक तन्मय होकर आराधना करते है, वे अवश्य ही जिन (वीतराग) बन जाता है।

इसके लिए वे लौकिक दृष्टान्त दे कर समझाते है–शरद् ऋतु मे भौंरी को जब मद चढता है, तब वह मिट्‌टी का घरोदा बनाती है, फिर हरे घास मे भौरी ईलिका (लट) को ला कर उसे डक मार कर के मिट्‌टी के घरोदे मे डाल देती है, फिर उस घरोदे के आस-पास गुजारव करती है। ईलिका डक की पीडा और भ्रमरी का गुजारव याद करती-करती प्राण त्याग देती है और कहते है, मोहसंज्ञावश वह उसी कलेवर द्वारा भ्रमरीरूप बन जाती है। कम से कम 17वे दिन बाहर निकालती है–हूबहू भौरी बन कर यह सब एकाग्रतापूर्वक ध्यान करने का परिणाम है। ज्ञानी पुरुष इसे, **'कीटभ्रमरन्याय'** कहते है। शास्त्र मे बताया गया है– **'कीटोऽपि भ्रमरी ध्यानम्, लभते तादृशं वपुः।'** बस यही न्याय जहाँ जिन-भक्तो के लिए है। **यो यच्छ्रद्धः स एव सः।** जिसकी जैसी श्रद्धा, भावना होती है, वह वैसा ही बन जाता है। मुमुक्षु को सर्वप्रथम यह निश्चय होना चाहिए कि मेरी आत्मा सिद्धस्वरूप है, दोनो के बीच केवल रागद्वेषादि के कारण ही मेरी भगवान् से दूरी बढती जा रही है। अब मुझे अपना मूलस्वरूप प्राप्त करना है। यो निश्चय करके स्वात्मा मे जिनेश्वरदेव की प्रतिष्ठा करके उसे ध्येयरूप मे सामने रख कर-स्वात्मा को भी जिनेश्वरूप मे देखने लगता है, जिनदेव मे एकाग्रता करता है, धर्म-शुक्लध्यान द्वारा एक ध्यान से स्थिरचित हो कर जिन-जिन यो रटन करता है। वह आत्मा अन्त मे राग-द्वेष-कषाय-मोह से मुक्त हो कर अवश्य ही वीतराग परमात्मा बन जाता है। तात्पर्य यह है कि निर्विकारी जिनदेव का दत्तचित्त हो कर ध्यान करने से साधक जन्ममरण तथा उससे सम्बन्धित असख्य दुःखो का निवारण करके स्वय जिन हो जाता है।

चूर्णि, भाष्य, सूत्र, नियुक्ति, वृत्ति, परम्पर-अनुभव रे।
समय पुरुषना अंग कह्या ए, जे छेदे ते दुर्भव रे।।

षड्.।।8।।

---

1. उदधाविव सर्वसिन्धवः समुदीर्णास्त्वयि सर्वदृष्टयः।
न चा ता सु भवानुदीक्ष्यते, प्रविभक्तासु सरित्स्विवोदधिः।।
–सिद्धसेन दिवाकर चौथी द्वात्रिंशिका

_अर्थ_–चूर्णि, भाष्य, सूत्र, निर्युक्ति, वृत्ति और परम्परा का अनुभव, इन सबको समयपुरुष के अंग कहे हैं। जो इनका उच्छेद करता है (इन्हें नहीं मानता) वह दुर्भव यानी दूरभव्य (बहुत लम्बे काल बाद मोक्षगमन के योग्य) हैं।

_भाष्य_–समयपुरुष के छह अंगों की आराधना

जैनदर्शन को वीतरागपरमात्मा का उत्तमाग कहा है। उत्तमाग मे ही विविध विचारधाराएँ, तत्त्वज्ञान या दृष्टियाँ भरी पडी है, परन्तु उन विचारधाराओ के परिपक्व बनाने और गहराई से चिन्तन करके उनका विकास कर सके, परम्पर सामजस्य व समन्वय बिठा सके, इसके लिए जैनदर्शनरूपी उत्तमांग के विविध अवयवरूप इन छह अंगो की यथायोग्य आराधना करनी चाहिए।

प्रश्न होता है–इन 6 अगो की आराधना करने का क्या उद्देश्य है? इन 6 अगो की आराधना कैसे और किस तरीके से करनी चाहिए? वास्तव में ये छह अग ज्ञान प्राप्त करने के महत्त्वपूर्ण अग है। मूलसूत्र न होते तो परापूर्व से तीर्थकरो से ले कर गणधरो और कुछ प्रभावक आचार्यो का ज्ञान कहाँ से प्राप्त होता? इसी तरह मूलसूत्रो पर व्याख्या, टीका, नियुक्ति, चूर्णि और गुरुपरम्परा से प्राप्त अनुभवो की रचना न होती तो इतने आध्यात्मिक ज्ञान का विकास कैसे होता? इसलिए सूत्र से ले कर परम्परानुभव तक का जो ज्ञानवैभव है, बोध की अपूर्व सामग्री है, उसको ठुकराना, उसका अनादर करना, उसके लाभ से वचित रखना कहाँ की बुद्धिमानी है? जो व्यक्ति ज्ञान के इन उत्तम निमित्तो की उपेक्षा कर देता है या इनका खण्डन व अपलाप करता है, वह इस जन्म मे तो उस अमूल्यनिधि से वचित रहता ही है, अगले अनेक जन्मों मे भी उसे वैसी अभूतपूर्व ज्ञाननिधि नहीं मिलती। इसीलिए श्रीआनन्दघनजी कहते हैं–**'जे छेदे ते दुर्भदे'** अर्थात् जो समय पुरुष के इन अंगो को काटता है (इनका छेदन करता है।) वह ज्ञान (सम्यक्बोध) मे रहित हो कर संसार में दुर्गति में, परिभ्रमण करता है। इसलिए प्रत्येक वीतराग-चरण-उपासक को इन छह अंगो की विधिवत् आराधना करनी चाहिए।

सूत्रादि षडंग क्या है? उनकी ...है?

जैनदर्शन को समझने के लिए मूलसूत्रों अंगोपागो बहुत ही आवश्यक है। परन्तु मूलसूत्र प्राकृत अर्धमागधी भाषा मे आदि के वे दुरूह आगम समझ में नही आ सकते। इसलिए

निवारण करके) जो साधक आज्ञापालनसहित मन-वचन-काया से निर्वद्य भक्तिपूर्वक तन्मय होकर आराधना करते है, वे अवश्य ही जिन (वीतराग) बन जाता है।

इसके लिए वे लौकिक दृष्टान्त दे कर समझाते है–शरद् ऋतु मे भौंरी को जब मद चढता है, तब वह मिट्टी का घरोदा बनाती है, फिर हरे घास मे भौरी ईलिका (लट) को ला कर उसे डक मार कर के मिट्टी के घरोदे मे डाल देती है, फिर उस घरोदे के आस-पास गुजारव करती है। ईलिका डंक की पीडा और भ्रमरी का गुंजारव याद करती-करती प्राण त्याग देती है और कहते है, मोहसंज्ञावश वह उसी कलेवर द्वारा भ्रमरीरूप बन जाती है। कम से कम 17वें दिन बाहर निकालती है–हूबहू भौरी बन कर यह सब एकाग्रतापूर्वक ध्यान करने का परिणाम है। ज्ञानी पुरुष इसे, **'कीटभ्रमरन्याय'** कहते है। शास्त्र मे बताया गया है– **'कीटोऽपि भ्रमरी ध्यानम्, लभते तादृशं वपुः।'** बस यही न्याय जहॉ जिन-भक्तो के लिए है। **यो यच्छ्रद्धः स एव सः।** जिसकी जैसी श्रद्धा, भावना होती है, वह वैसा ही बन जाता है। मुमुक्षु को सर्वप्रथम यह निश्चय होना चाहिए कि मेरी आत्मा सिद्धस्वरूप है, दोनो के बीच केवल रागद्वेषादि के कारण ही मेरी भगवान् से दूरी बढती जा रही है। अब मुझे अपना मूलस्वरूप प्राप्त करना है। यो निश्चय करके स्वात्मा मे जिनेश्वरदेव की प्रतिष्ठा करके उसे ध्येयरूप मे सामने रख कर-स्वात्मा को भी जिनेश्वरूप मे देखने लगता है, जिनदेव मे एकाग्रता करता है, धर्म-शुक्लध्यान द्वारा एक ध्यान से स्थिरचित हो कर जिन-जिन यो रटन करता है। वह आत्मा अन्त मे राग-द्वेष-कषाय-मोह से मुक्त हो कर अवश्य ही वीतराग परमात्मा बन जाता है। तात्पर्य यह है कि निर्विकारी जिनदेव का दत्तचित्त हो कर ध्यान करने से साधक जन्ममरण तथा उससे सम्बन्धित असख्य दुःखो का निवारण करके स्वय जिन हो जाता है।

चूर्णि, भाष्य, सूत्र, निर्युक्ति, वृत्ति, परम्पर-अनुभव रे।
समय पुरुषना अंग कह्या ए, जे छेदे ते दुर्भव रे।।

षड्.।।8।।

1. उदधाविव सर्वसिन्धवः समुदीर्णास्त्वयि सर्वदृष्टयः।
न चा ता सु भवानुदीक्ष्यते, प्रविभक्तासु सरित्स्विवोदधिः।।
–सिद्धसेन दिवाकर चौथी द्वात्रिंशिका

_अर्थ_-चूर्णि, भाष्य, सूत्र, निर्युक्ति, वृत्ति और परम्परा का अनुभव, इन सबको समयपुरुष के अंग कहे हैं। जो इनका उच्छेद करता है (इन्हें नहीं मानता) वह दुर्भव यानी दूरभव्य (बहुत लम्बे काल बाद मोक्षगमन के योग्य) हैं।

_भाष्य_-समयपुरुष के छह अंगों की आराधना

जैनदर्शन को वीतरागपरमात्मा का उत्तमाग कहा है। उत्तमांग मे ही विविध विचारधाराएँ, तत्त्वज्ञान या दृष्टियाँ भरी पडी है, परन्तु उन विचारधाराओ के परिपक्व बनाने और गहराई से चिन्तन करके उनका विकास कर सके, परम्पर सामजस्य व समन्वय बिठा सके, इसके लिए जैनदर्शनरूपी उत्तमांग के विविध अवयवरूप इन छह अंगो की यथायोग्य आराधना करनी चाहिए।

प्रश्न होता है-इन 6 अंगों की आराधना करने का क्या उद्देश्य है? इन 6 अगो की आराधना कैसे और किस तरीके से करनी चाहिए? वास्तव मे ये छह अंग ज्ञान प्राप्त करने के महत्त्वपूर्ण अग है। मूलसूत्र न होते तो परापूर्व से तीर्थकरो से ले कर गणधरो और कुछ प्रभावक आचार्यो का ज्ञान कहाँ से प्राप्त होता? इसी तरह मूलसूत्रो पर व्याख्या, टीका, नियुक्ति, चूर्णि और गुरुपरम्परा से प्राप्त अनुभवो की रचना न होती तो इतने आध्यात्मिक ज्ञान का विकास कैसे होता? इसलिए सूत्र से ले कर परम्परानुभव तक का जो ज्ञानवैभव है, बोध की अपूर्व सामग्री है, उसको ठुकराना, उसका अनादर करना, उसके लाभ से वचित रखना कहाँ की बुद्धिमानी है? जो व्यक्ति ज्ञान के इन उत्तम निमित्तो की उपेक्षा कर देता है या इनका खण्डन व अपलाप करता है, वह इस जन्म मे तो उस अमूल्यनिधि से वंचित रहता ही है, अगले अनेक जन्मो में भी उसे वैसी अभूतपूर्व ज्ञाननिधि नही मिलती। इसीलिए श्रीआनन्दघनजी कहते हैं-**'जे छेदे ते दुर्भदे'** अर्थात् जो समय पुरुष के इन अंगो को काटता है (इनका छेदन करता है।) वह ज्ञान (सम्यक्बोध) में रहित हो कर संसार मे दुर्गति मे, परिभ्रमण करता है। इसलिए प्रत्येक वीतराग-चरण-उपासक को इन छह अंगो की विधिवत् आराधना करनी चाहिए।

सूत्रादि षडंग क्या है? उनकी विशेषता क्या है?

जैनदर्शन को समझने के लिए मूलसूत्रो अंगोपागों का पठन-पाठन बहुत ही आवश्यक है। परन्तु मूलसूत्र प्राकृत अर्धमागधी भाषा मे है। बिना टीका आदि के वे दुरूह आगम समझ मे नही आ सकते। इसलिए समयपुरुष के ये

छहो अग अत्यन्त उपयोगी है। स्वपरहितकारी हैं और ज्ञानगुण के विकास के लिए प्रबल निमित्त है। यद्यपि जैनतत्त्व-ज्ञान का विपुल अमूल्य साहित्य-जिसे पूर्व कहते है, कालक्रम से अनुपलब्ध हो गया है, फिर भी जितना सूत्रादि साहित्य उपलब्ध है, उसी का उपयोग किया जाय तो बहुत ज्ञान-लाभ हो सकता है। अब हम क्रमशः इन छहों की सक्षेप मे परिभाषा दे रहे है-

चूर्णि-पूर्वधरों द्वारा अर्धमागधी मे किये हुए कठिन प्रकीर्णक पदो के अर्थ, भावार्थ।

भाष्य-चौदह पूर्वधरो या गणधरो द्वारा रचित मूलसूत्रो पर अर्धमागधी या वर्तमान प्रचलित भाषाओं मे सम्पूर्ण पद का विस्तृत अर्थ।

सूत्र-तीर्थकरो के गणधरो द्वारा रचित मूल सूत्र। 11 अग वर्तमान मे उपलब्ध है, जो श्रीसुधर्मास्वामी द्वारा रचित है।

निर्युक्ति-व्युत्पत्ति के द्वारा शब्दो का अर्थ करना। वह प्रायः अर्ध-मागधी भाषा मे होती है।

वृत्ति-सूत्र पर संस्कृत टीका, चाहे जिस पूर्वाचार्य द्वारा लिखित हो, बहुत ही प्रकाश डालती है-मूलसूत्रोक्त बातो पर।

परम्परागत अनुभव-गुरुशिष्यपरम्परा से प्राप्त अनुभवज्ञान, धारणाओ का ज्ञान।

समयपुरुष के ये 6 अग है। अगर जैनदर्शन की आराधना करनी हो तो उपर्युक्त छहीं अगो को समझना, पठन-पाठन, अध्ययन-मनन करना और उनका आदरपूर्वक अनुसरण करना चाहिए। छही अग अपने-अपने स्थान पर महत्त्वपूर्ण है, उपयोगी है। आध्यात्मिक विज्ञान के लिए इनसे बढकर और कोई धर्मशास्त्र-सग्रह नजर नहीं आता। बौद्ध साहित्य मे भी प्राय मध्यमकोटि के धर्मोपदेश है। वैदिक साहित्य मे उपनिषद्विभाग महत्त्वपूर्ण है, उसके सिवाय किसी पदार्थ की ब्योरेवार स्पष्टता वेदो, पुराणो आदि मे नही प्रतीत होती। इससे कुरान बाइबिल, अवेस्ता, ग्रन्थसाहब आदि अन्य धर्मो के मूलभूत धर्मग्रन्थ प्रायः अपने-अपने धर्म-सम्प्रदाय तक के सीमित दायरे का ही विचार करके इतिसमाप्ति कर देते हैं। वैसे तो जैनदर्शन इतना उदार है कि उन धर्मग्रन्थो मे जो भी थोडी-बहुत अच्छी आत्महितकारी यथातथ्य बाते होती है, उन्हे आदरपूर्वक स्वीकार करता है, जैसा कि पहले 6 दर्शनो को जिन-अग बता कर उनका यथायोग्य मूल्यांकन करने का जोर-शोर से प्रयत्न किया गया है।

भगवान् की चरण-उपासना के सन्दर्भ मे छही दर्शनो की आलोचना या निन्दा किये बिना तहदिल से अपनाने पर बल दिया है। किन्तु जब तक उनका कोई उच्च सालम्बन ध्यान न बता दिया जाय, तब तक पूर्णतः भगवच्चरणोपासक कोई कैसे बन सकता है? इसी बात को लक्ष्य मे रख कर इस गाथा मे समयपुरुष के अग बता कर उनकी आराधना करने की बात कही गई, अगली गाथा मे इसी शास्त्रज्ञान पर सालम्बन पदस्थध्यान की प्रक्रिया बताते हुए कहा है–

मुद्रा, बीज, धारणा, अक्षर न्यास अर्थविनियोगे रे।
जे ध्यावे ते नवि वंचीजे, क्रिया-अवंचक भोगे रे।।

षड्.।।9।।

***अर्थ*–मुद्रा (विविध आराधनाओं के लिए शरीर की पृथक्-पृथक् आकृति), बीज (मंत्र का मूल बीजाक्षर या बीजक), धारणा (इन्द्रियजय के बाद और ध्यान की पूर्वभूमिकारूप पार्थिवी आदि धारणाएँ), अक्षरन्यास (अष्टकमलदल या अन्यत्र क, च, ट, त, प इत्यादि मंत्राक्षरों की स्थापना करना), अर्थ (अर्थ, भावार्थ का आलम्बन), विनियोग (स्वयं यानी जानी हुई चीज योग्य पात्र को बता कर बोध कराना, गुरुपूर्वक देना) इस प्रकार इन 6 आलम्बनों द्वारा (श्री वीतरागदेव रूप या समयपुरुषरूप ध्येय का) जो भव्यसाधक ध्यान करता है, वह वंचित (ठगाता) नहीं होता और वह क्रियाऽवंचकत्व का उपभोग करता है, अर्थात् उसे वह प्राप्त हो जाता है।**

***भाष्य*–जिनवर या समयपुरुष को सालम्बनपदस्थध्यान**

जिनवर के चरण-उपासक बनने के लिए समयपुरुष (जैनदर्शनरूप) को ध्येय बना कर 6 या 7 आलम्बनो द्वारा ध्यान करके वीतरागत्व प्राप्त करने की प्रक्रिया इस गाथा मे श्रीआनन्दघनजी ने बताई है।

यह गाथा मुख्यतया योगक्रिया से सम्बन्धित है। योग मे ध्यान की प्रक्रिया सर्वोत्तम है। 'पदस्थ' ध्यान जिसे करना हो, उसके लिए आलम्बन लेना परम आवश्यक है। प्रत्येक साधक को पहले उसका अर्थ समझ लेना चाहिए। अतः सक्षेप मे अर्थ नीचे दिया जाता है।

सर्वप्रथम ध्यान, ध्येय और ध्याता तीनो की त्रिपुटी का योग्य होना चाहिए। अगर इस ध्यान के योग्य पात्र न हो तो, उसे पहले पात्र बनने का अभ्यास करना चाहिए। तदनन्तर यह चयन करना चाहिए कि मुझे कौन–सा

ध्यान करना है? ध्यान के 4 प्रकार है–पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत। इन चारों मे यहाँ निर्दिष्ट ध्यान पिण्डस्थ है। इसलिए ध्याता साधक को मन मे निश्चित कर लेना चाहिए कि मुझे पिण्डस्थ ध्यान करना है और उपर्युक्त 6 या 7 आलम्बन लेने है। तत्पश्चात् उसे ध्येय का भी चुनाव करना चाहिए। ध्येय वही चुनना चाहिए, जो ध्यान द्वारा प्राप्त होना सम्भव हो। यहाँ प्रसंगवश जिनदेव के कल्पवृक्षसम पदरूप समयपुरुष को ध्येय रूप मे चुनना है और ध्येय के साथ ही ध्याता को भी तदनुकूल ध्यान मुद्रा आदि मे बैठना आवश्यक है। वे 6 या 7 अग इस प्रकार है–मुद्रा-ध्यान करते समय पद्मासन या सिद्धासन से बैठ कर अपने स्थूलशरीर को शान्त व एकाग्र बनाने के लिए शरीर की विविध आकृतियो (पोज) मे रखना होता है, उसे ही मुद्रा (पोज) कहते है। जैसे शखावर्त, पद्मावर्त, आवर्त, नवपदवर्त, ह्रीवर्त, नन्दावर्त, ऊवर्त, आदि जप करते समय की मुद्राए है। इसी तरह हाथ, पैर, मुख, सिर आदि की मुद्राएँ भाष्य मे बताई गई है।

बीज-प्रत्येक मत्र के कुछ मूल बीज या बीजाक्षर होते है, उन्ही के आधार पर मंत्र सिद्ध होता है, मत्र द्वारा जो साध्य करना होता है, वह बीजमत्र के द्वारा होता है। जैसे 'ॐ' 'ह्रीं' 'श्री' 'क्ली', 'ब्लूँ' 'ऐ आदि बीजमत्राक्षर है।

धारणा–ध्यान करने से पूर्व योग के अष्टागोक्त धारणा करनी पडती है। जो इन्द्रियजय के बाद और ध्यान से पहले ध्यान की पूर्वभूमिकारूप मे होती है। ये धारणाएँ कई प्रकार की होती है–जैसे पार्थिवी, वारुणी आदि अथवा अपने भावो में 12 गुणो सहित अरिहन्त की या 8 गुणसहित सिद्ध की, 36 गुणो सहित आचार्य , 25 गुणो सहित उपाध्याय की अथवा 27 गुणो सहित मुनिवर की धारणा (भावना) करनी चाहिए। अथवा बीजाक्षर-धारणा एक शब्द है, इसके अनुसार कौन-सी मुद्रा धारण कर के कौन-से अक्षर का कैसे ध्यान किया जाय? इसे बीजाक्षरधारणा कहते है। ध्येय पर चित्त को स्थापन करके उसमे एकाग्र करना पातंजलयोग के अनुसार धारणा है, जो बाह्य मे सगुण (साकार) ईश्वर का ध्यान तथा आभ्यन्तर मे नासिका, जिह्वा आदि सात चक्रो की व्यवस्था बताई गई है।

अक्षर-न्यास–अ, इ, उ, आदि अक्षरो की शास्त्रसम्मत्त विधि से स्थापना करना और उन्ही स्थापित अक्षरो पर चित्त को एकाग्र करना अक्षरन्यास कहलाता है। मन्त्रशास्त्र मे इसकी अनेक विधियाँ बताई गई है अथवा अक्षर और

अर्थ–आचारांगादि शास्त्रों (सूत्रों) में जिस प्रकार कहा है, उसके अनुसार जब विचार करके बोलता हूँ तो तथाविध (जैसे होने चाहिए, वैसे) सुगुरु ढूंढने पर भी नहीं मिलते। (सुगुरु के मर्गदर्शन के बिना) अपनी इच्छानुसार क्रिया करते रहें तो जिस साध्य को साधना चाहते हैं, उसे साध नहीं सकते। अथवा ऐसे किसी सद्गुरु का योग मिला नहीं है, जिनके सहयोग से पूर्वोक्त क्रियाऽवंचकयोग साध सकें। यह सब विषवाद (विषाद या दुःख) सभी मुमुक्षुओं के चित्त में है अथवा मन में सब जगह ऐसी दुविधा-सी स्थिति रहा करती है।

भाष्य–**क्रियावंचकयोग के लिए सुयोग के अभाव का हार्दिक खेद**

पूर्वगाथा मे जिस क्रियाऽवचकता की प्राप्ति का उल्लेख था, उस पर विचार करते हुए श्रीआनन्दघनजी गहरे विषाद मे डूब गये। वे अपना हार्दिक दु ख इस गाथा के द्वारा वीतरागपरमात्मा के सामने व्यक्त करते है। स्वच्छ-सरल-सरसहृदय साधक प्रभु के सामने अपने मन मे कोई गाठ नही रखता, वह अपने अबोध बालक की तरह प्रभु को माता–पिता समझ कर उनके सामने अपना हृदय खोल कर रख देता है। अपनी जैसी स्थिति, शक्ति, गति, मति है, उसे वह प्रभु के सामने प्रगट कर देता है। श्रीआनन्दघनजी ने जब उपर्युक्त साधना के विषय मे मथन किया तो वे प्रभु के सामने पश्चात्तापपूर्वक पुकार उठे–'प्रभो! जब मैने आचारागादि शास्त्रो का गहराई से अध्ययन किया तथा सम्यक् श्रुतज्ञान के सामर्थ्य से जो कुछ अनुभव हुआ है, उसे देखते हुए उस पर से जब मै बोलता हूँ तो उक्त साधना के लिए जैसे सुगुरु चाहिए, वैसे अब तक मुझे नही मिले। मार्गदर्शन के बिना क्रियावचकता आदि कोई भी साधना यथार्थरूप से नही हो सकती। विश्वव्यापी ज्ञान की बडी-बडी बाते करने वाले, लच्छेदार भाषण देने वाले आत्मज्ञान की डीग हाकने वाले अनेक तथाकथित गुरु मिलते है, परन्तु शास्त्रो मे सुगुरुओ का जैसा वर्णन मिलता है, जो लक्षण आगमो मे बताए गए है। उनके अनुसार जब मे हृदय की कसौटी पर उन्हे कस कर जॉचता-परखता हूँ तो मेरी कसौटी मे वे खरे नहीं उतरते। यह मै कोई अभिमानवश नही कह रहा हूँ, नम्रतापूर्वक मै अपने दुर्भाग्य को प्रगट कर रहा हूँ। गुरु तो सबको मिलते है, परन्तु शास्त्रो मे बताए (जिनके लक्षण आदि के सम्बन्ध मे) **'आगमधर गुरु समकिती....'** आदि के रूप में शान्तिनाथभगवान्

1 'श्रुत' के बदले कहीं कहीं 'सूत्र' शब्द मिलता है।

की स्तुति के प्रसग मे हम पर्याप्त विवेचन कर आए है। लक्षणो या गुणो के अनुसार वैसे सुगुरु का योग इस पचम (कलि) काल मे नही मिलता, एक प्रकार से ऐसे सुगुरुओ का तो दुष्काल-सा ही है।

मालूम होता है, योगी श्रीआनन्दघनजी के समय मे तथाकथित नामधारी सूरी, आचार्य, उपाध्याय, गणी, साधु आदि की कमी नही थी, परन्तु उन सबमे उन्हे प्रायः धनिकभक्तो की गुलामी, क्रियाकाण्डपरायणता, रूढिग्रस्तता, सत्त्वश्रद्धारहित क्रियाहीनता और आडम्बर, पद, प्रसिद्धि आदि की महत्त्वाकाक्षा दिखाई दी होगी, जिसके कारण अथवा उन्हे स्वय को उस समय के गुरुओ से बहुत ही कटु अनुभव हुआ होगा। तभी खेद के ये उदगार निकाले होगे– **'सुगुरु तथाविध न मिले रे।'**

प्रश्न होता है–यदि श्रीआनन्दघनजी को अपनी परख के अनुसार वैसे सुगुरु न मिले तो न सही, वे अपने अन्तःकरण से सत्य समझ कर क्रिया या साधना करते, क्या जरूरत थी उन्हे सुगुरु की या सुगुरु के सम्बन्ध मे विचार करने की? अपनी मस्ती मे रहते और यथेष्ट साधना करते । इसका उत्तर स्वय वे ही दे देते है– **'किरिया करी नवि साधी शकीए।'** श्रीआनन्दघनजी वर्तमानयुग के तथाकथित साधको की तरह उच्छृखल नही थे, न स्वेच्छाचारवादी थे, वे योग्य गुरु के मार्गनिर्देशन मे साधना के पक्ष मे थे सुगुरु के योग्य-मार्गदर्शन मे साधना करने से समय-समय पर साधना के मार्ग मे आई हुई अडचने दूर हो सकती है, वे योग्य मार्गदर्शन दे कर मार्गभ्रष्ट साधक को ठिकाने ला सकते है। परन्तु श्रीआनन्दघनजी को ऐसे सुगुरु की ओर से मार्गदर्शन, यथार्थ परम्परानुभव नही मिल सका, इसी बात का खेद वे प्रभु के सामने प्रगट कर रहे है। सद्गुरु के अभाव मे योग्य मार्गदर्शन या प्रेरणा न मिलने से मोक्षफलदायिनी क्रिया करके वे लक्ष्यसिद्धि नही कर सके। परिणामस्वरूप साध्य को सिद्ध न करके, बाह्यक्रियाएँ करके पुण्यबन्ध से संसार भ्रमण ही कर पाए। वास्तव मे ऐसी थोथी क्रियाओ से सिवाय पुण्यप्राप्ति के अधिक प्रायः मिलता नही, इसी बात का खेद या विषवाद रहा करता है। ऐसा लगता है कि इतनी सब क्रियाएँ करते हुए भी उनसे मोक्षप्राप्तिरूप फल तो सिद्ध नही होता; सिर्फ सांसारिक पौद्गलिक प्राप्ति मिल जाती है। यानी मेहनत पहाडभर है, फल राई के दानेभर हैं। इनका कारण सद्गुरुदेव की कृपादृष्टि या सत्प्रेरणा का अभाव है।

ऐसे सद्गुरु के अभाव की खटक केवल मेरे मन में ही

साधक साथियो या मुमुक्षुओ के दिल मे भी इसकी बडी खटक है। प्रभो! आप अन्तर्यामी है, आपके सामने अपनी गलती या विषाद की बात का स्वीकार करने मे मुझे जरा भी सकोच नही है। मुझे स्वय इस बात का खेद है। अतः अब आप ही सुझाइए कि मुझे क्या करना चाहिए? इस प्रकार की प्रार्थना वे अन्तिम गाथा मे करते है–

ते माटे ऊभो कर जोड़ी, जिनवर आगल कहीए रे।
समय-चरणसेवा शुद्ध देजो, जिम 'आनन्दघन' लहिए रे ।।

षड्.।।11।।

***अर्थ*–पूर्वोक्त अभावद्वय के कारण करयुगलबद्ध होकर हम आप जिनवर के समक्ष (शुद्धहृदय से) निवेदन करते हैं, हमें समयपुरुष की या सिद्धान्तसम्मत (शास्त्रोक्त) रूप जिनवर की शुद्धचरणसेवा देना (पवित्र चारित्रसेवन की कृपा करना) ताकि हम भी आनन्दघन परमानन्दस्वरूप) पद प्राप्त कर सकें।**

***भाष्य*–भक्त की प्रभु वीतराग से चरणसेवा की प्रार्थना**

भक्त के हृदय में जब विषाद का भार बढ जाता है, तब उसे हलका करने के लिए वह भगवान् के सामने अपना दिल खोलता है। इस प्रकार भगवान् के सामने हृदय की बात कह डालने से हलकापन तो महसूस होता ही है, कभी-कभी हृदय का कालुष्य धुल जाने से निर्मल अन्तःकरण पर अद्भुत आध्यात्मिक प्रेरणाएँ अकित हो जाती हॅ, उस स्वतः प्रेरणा को भक्त प्रभुप्रेरणा मान कर शिरोधार्य करता है। यही बात यहॉ श्रीआनन्दघनजी के सम्बन्ध मे है। वे शुद्ध अन्त करण से करबद्ध होकर मन मे प्रभु की छवि अकित करके खडे हुए और प्रभु के सामने अपने अन्तर की पुकार करने लगे–''मेरे हृदयेश्वर! अब जब कि मुझे सद्गुरु की प्रेरणा मिलने का कोई अवसर (Chance) नहीं दिखता और उसके अभाव मे मेरी साधना शुद्धमोक्षदायक नही हो सकती, तब निरुपाय हो कर आपसे नम्रतापूर्वक प्रार्थना करता हूॅ कि मुझे आपके (वीतरागप्रभु के समयपुरुष के) शुद्ध चरणो (स्वरूपरमणरूप या स्वात्मानुभवरूप चारित्र) की सेवा (आराधना) का अवसर द, जिससे मै सच्चिदानन्दरूप (आनन्दघन) प्राप्त कर सकूॅ।

यहॉ श्रीआनन्दघनजी ने प्रभु से शुद्ध चारित्र की मॉग की है, इसके पीछे निम्नोक्त कारण प्रतीत होते है, एक तो यह कि शुद्ध चारित्र होगा, वहॉ सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान अवश्य होगे ही। परन्तु अगर वे सम्यग्ज्ञान मागते तो सम्यक्चारित्र नही प्राप्त होता। इसलिए सम्यक्चारित्र मॉगने के साथ-साथ

उन्होने उक्त दोनो रत्न मांग लिए है। दूसरा कारण यह है कि प्राणी को तथा-प्रकार के शुद्ध चारित्र की प्राप्ति के लिए अर्धपुद्गलपरावर्तन-काल शेष रहे तब तक प्रतीक्षा करनी पडती है। किन्तु प्रभुकृपा हो जाय और अन्तःकरण मे तीव्र सवेग प्राप्त हो जाय तो इतना लम्बा काल भी झपाटे के साथ पार हो जाता है। समय-चारित्र की माग की है, इसमे फलितार्थ निकलता है कि वे समयपुरुष की चरणसेवा के पूर्वोक्त उपायो को जानते है, केवल तदनुसार आचरण करना ही शेष है, वह आचरण (चारित्र) ही अतल समुद्र को पार करने के समान बहुत दुष्कर है, कोई सद्गुरु भी साथ मे मार्गदर्शक नहीं है, इसलिए प्रभु का हाथ पकड कर उनके अन्तर्निर्देश मे वे चारित्ररूपी महासमुद्र को पार होने के लिए उद्यत है। देखिए, कब उनकी आशा पूर्ण होती है।

सारांश–इस स्तुति मे वीतराग परमात्मा के चरण-उपासक के लिए सर्वप्रथम छह दर्शनो को जिनवर के अग मान कर उनको यथायोग्य स्थान पर स्थापित करना जरूरी बताया है। यहाँ तक कि लोकायतिक दर्शन को भी जिनवर का उदर माना है। इस प्रकार की विवेकपूर्ण श्रद्धा के स्वीकार के बाद छह दर्शनो को नदियो की और जैनदर्शन को समुद्र की उपमा दे कर जैनदर्शन के उत्तमाग होने की बात को और पुष्ट किया है। इसके बाद चरण-उपासना को नया मोड देकर उपासना के अनुरूप उपासना की उच्चरीति बताई है। इसके पश्चात ज्ञान, दर्शन और चारित्र तीनो की उपासना को चरणोपासना मे गतार्थ करके उसकी उत्तम विधि बताई है। तदनन्तर चारित्र की उच्च कक्षा पर पहुँचने के लिए मार्ग-दर्शक सुगुरु के अभाव मे खेद व्यक्त करके प्रार्थना की है। कुल मिला कर वीतरागप्रभु के चरणउपासक बनने का सुन्दर तत्त्व श्रीआनन्दघनजी ने इस स्तुति मे प्रगट कर दिया है।

***

22. श्री श्रीनेमिनाथ-जिन-स्तुति–

ध्येय के साथ ध्याता और ध्यान की एकता

(तर्ज : धणरा ढोला, राग–मारुणी)

अष्टभवान्तर वालही रे, तुं मुझ आतमराम, मनरा व्हाला!
मुगति-स्त्रीशुं आपणे रे, सगपण कोई न काम ॥
मनरा.॥1॥

अर्थ–राजमती श्रीनेमिनाथस्वामी से कहती है–"आठ भवों (जन्मों) तक मैं आपकी प्रियतमा पत्नी थी और आप मेरी आत्मा (आत्मा के अन्दर के भाग) में रमण करने वाले या सतत् प्रेमपूर्वक आत्मा में स्थान=आराम पाये हुए नाथ थे। हे मेरे मन के प्रियतम! मुक्तिरूपी स्त्री (शिवसुन्दरी) के साथ अपनी सगाई-सम्बन्ध जोड़ने (बांधने) से कोई काम (प्रयोजन) नहीं है।"

भाष्य–**इस परमात्म-स्तुति का प्रयोजन और रहस्य**

इस बावीसवे तीर्थकर श्रीअरिष्टनेमिनाथस्वामी की स्तुति मे श्रीआनन्दघनजी ने जो विषय छेडा है, उसे ऊपर से देखने वाले को यही प्रतीत होता है कि सासारिक पति-पत्नी का कोई प्रेम सवाद और खासकर पत्नी की ओर से पति को उपालम्भ और उपदेश दिया जा रहा हो इस प्रकार का दाम्पत्यराग है, इसमे आध्यात्मिकता का एक छीटा भी नही है। परन्तु इस स्तुति का गहराई से अध्ययन करने पर बताया गया है कि इसमे ध्येय (परमात्मा) के साथ ध्याता की एकता सततध्यान के कारण जुडती है, लेकिन बहिर्मुखी चित्तवृत्ति की तरफ आत्मारूपी पति के आकर्षित हो जाने पर परमात्मा से दूरी बढती चली जाती है। प्रारम्भ मे 10 गाथाओ तक श्रीराजीमती के द्वारा श्रीनेमिनाथ स्वामी को मोहाविष्ट, रागातुर एव सासारिक प्रीति की ओर आकृष्ट करने के लिए उपालम्भ-वचन आदि युक्तियो से प्रयत्न किया जाता है, फिर एक नया मोड लिया जाता है, परमात्मा के वीतरागस्वरूप को पहिचानते हुए भी रागाविष्ट करने की कोशिश की जाती है, फिर 14वी गाथा से राजीमती की मोहदशा कम हो जाती है, वह परमात्मा की वीतरागदशा का ध्यान करके स्वकर्त्तव्य का विचार करती है, स्वय परमात्मपद का ध्यान करके ध्येय के

निकट पहुँच कर परमात्मा मे लीन हो जाती है, भगवान् नेमिनाथ की मुक्ति से 54 दिन पहले राजीमती सती मुक्ति मे पहुँच जाती है। अर्थात् ध्याता राजीमती अपने स्वामी नेमिनाथ के चरणो का अनुसरण करके उनसे पहले ही अपने ध्येय परमात्मा मे विलीन हो जाती है।

योगी श्रीआनन्दघनजी इसी प्रकार मोहादि षड्विकारो से पर हो कर मुक्तिपदप्राप्ति के इच्छुक भव्यमुमुक्षु आत्माओ को इस स्तुति द्वारा यही बोध दे रहे है कि बाह्य ध्येय तो निमित्त रूप ही होता है, सच्चा और अन्तिम ध्येय तो ध्याता के शरीर मे रहा हुआ आत्मतत्त्व है। इसलिए इस निमित्त का नाममात्र का अवलम्बन लेकर भी भव्यात्मा को स्व-आत्मतत्त्व के साथ एकता साधनी है। ऐसा होने से ध्याता और ध्येय की एकरूपता हो जाती है, जो इस स्तुति का खास प्रयोजन है।

दूसरी एक महत्त्व की वस्तु इस स्तुति मे गुप्त रहस्य के रूप में शुद्धनिश्चयनय की दृष्टि से यह मालूम होती है कि आत्मा जब भैतिक इन्द्रियो के भोगोपाभोगो का त्याग करके आत्मदृष्टि मे स्थिर होने का प्रयत्न करता है, वह बहिर्मुखी इन्द्रियरूपी चित्तवृत्ति उसे अपने मे रमण करते रहने के लिए ललचाती है, विविध मोहक प्रलोभनो (वचनो) से उसे खीचने का प्रयास करती है। परन्तु स्थितप्रज्ञ आत्मा जब उन बहिर्मुखी इन्द्रियो के भ्रामक मोह (वाग्) जाल मे नही फॅस कर आत्मदृष्टि मे ही स्थित होने का दृढ प्रयत्न करती है, तब बहिर्मुखी बनी हुई वह चित्तवृत्ति ही अन्तर्मुखी हो जाती है। यह चित्तवृत्ति भी आत्मा के इस ऊर्ध्वगामी पद को प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील हो जाती है। फलतः वह अन्तर्मुखी चित्तवृत्ति आत्मा के परमानन्द मे मिलने से पहले ही आतमस्थित बन कर परमानन्द प्राप्त कर लेती है।

इस तथ्य को महात्मा आनन्दघनजी ने इस स्तुति मे रूपक के माध्यम से कथ्य के रूप मे बहुत ही सुन्दर ढंग से प्रस्तुत किया है। बहिर्मुखीवृत्ति वाली राजीमती के मुख से बहिर्मुखी बनी हुई चित्तवृत्ति सरीखे ही ताने, आक्षेपभरे उपालम्भ और मोहक एवं भ्रामक शब्द कहलाए जाने पर भी श्रीनेमिनाथ स्वामी वापिस नही लौटते हैं, तब राजीमती स्वयं ही भगवान् नेमिनाथस्वामी के मार्ग का अनुसरण करके अन्तर्वृत्ति में स्थिर हो जाती है।

यहाँ एक शंका होनी स्वाभाविक है कि पहले की स्तुतियों में और इस स्तुति से आगे की स्तुतियों में किसी भी स्थल पर श्रीआनन्दघनजी ने दूसरे के

मुँह से स्तुति नहीं कराई? तो फिर यहाँ राजीमती के मुख से स्तुति क्यों कराई गई? इसके समाधान मे हम यो कह सकते है कि मुमुक्षु भव्यात्मा अथवा श्रीआनन्दघनजी ने स्वय ने ही राजीमती के बहाने से परमात्मा नेमिनाथ के चरित्र का स्मरण करने के लिए ही ऐसा किया है।

इन्ही पूर्वोक्त गूढ अर्थो के प्रकाश मे इस स्तुति की विभिन्न गाथाओ का अर्थ समझने का प्रयत्न करना चाहिए।

राजीमती–बहिर्मुखी चित्तवृत्ति द्वारा स्थितप्रज्ञ आत्मा-रूप नेमिनाथ को प्रार्थना

यह सारी स्तुति स्तुतिकार ने उग्रसेनपुत्री राजीमती के मुख से करवाई है। दूसरे तीर्थकरो की अपेक्षा नेमिनाथ प्रभु का चरित्र अद्भुत है। वे आजीवन बालब्रह्मचारी के रूप मे ही रहे है, किन्तु श्रीकृष्णजी की प्रेरणा से विवाह के लिए उन्होने मौन सम्मत्ति दे दी। लेकिन जब वे राजीमती के साथ विवाह करने के लिए बारात ले कर स्वय रथारूढ हो कर श्वसुरग्रह की ओर प्रस्थान करते है, तो रास्ते में ही उन्होने बरातियो को मांसभोज देने के लिए एक बाडे मे बद पशुपक्षियो को आर्त्तनाद करते हुए देखे। नेमिनाथ उनकी पुकार को समझ गए और उन सब भद्रप्राणियो को बन्धनमुक्त करवा दिये। उन्हे यह खेद हुआ कि मेरे विवाह के निमित्त से इन सब निर्दोष प्राणियो की हत्या होती, अतः वे इस विवाह से ही विरक्त हो कर विवाह किये बिना ही वापिस लौटने लगे। सारे बारातियो में खलबली मच गई। राजीमती ने जब अपने भावी पति (वरराज नेमिनाथ) को विवाह किये बिना ही वापिस लौटते देखा तो उसके मन में भूकम्प का-सा झटका लगा। मोहवश वे एक बार तो वह मूर्च्छित हो गई, परन्तु फिर होश मे आकर अपने साथ किये हुए सगाई (वाग्दान) सम्बन्ध को याद दिला कर वह नेमिनाथ से पुकार करने लगी। इस स्तुति की 13 गाथाओ तक स्तुतिकार ने सती राजीमती के मुख से जो पुकार (प्रार्थना) नेमिनाथस्वामी के प्रति कराई है, वह बहुत ही सुन्दर ढग से प्रस्तुत की गई है। खासतौर से श्रीराजीमती के ताने और उपालम्भो ने उस अद्भुतता मे और वृद्धि कर दी है। राजीमती कहती है–"हे स्वामिन्! पिछले आठभवो मे मै आपकी प्राणवल्लभा थी, आप मेरे प्रियतम थे, मेरी आत्मा के एकमात्र आरामस्थल आप थे। आपने मुझे अपनी प्राणप्यारी समझ कर मेरे मन के तमाम मनोरथ पूर्ण किये। अब इस भव मे आप क्या कर रहे हैं? मैने तो जब से आपके साथ मेरा वाग्दान हुआ,

तभी से आपको अपने आत्माराम समझ लिये है। परन्तु गजब की बात है कि आपने मेरे हृदय को न पहिचान कर, मेरी प्रीति को तोड कर मुझे अधबीच मे छटका कर, निष्ठुरतापूर्वक ठुकरा कर मुक्तिरूपी शिवसुन्दरी के साथ विवाह करने चल पडे। मै तो आपकी प्रतीक्षा मे यहॉ बैठी हूँ और आप है, जो मेरी पुकार को अनसुनी करके मुक्तिसुन्दरी से सगाई सम्बन्ध जोडने जा रहे है। क्या आपका यह कदम उचित है? उपयोग की दृष्टि से सोचे तो मेरे साथ आठ-आठ जन्मो का पुराना सम्बन्ध था, उसे छोड कर मुक्तिसुन्दरी के साथ नया सम्बन्ध जोडने मे आपको क्या लाभ होगा? सगाई सम्बन्ध तो समानता का सम्बन्ध है, लेकिन मुक्तिसुन्दरी के साथ आपकी कौन-सी समानता है? फिर उसके साथ तो आपकी कोई जान-पहिचान भी नही है! मेरे साथ तो इस जन्म की नही, पिछले 8 जन्मो की जान-पहिचान है। भला मुझ जानी-मानी और सब तरह से चाहती आपकी प्रिय चरणसेविका को छोड कर आप बिना कुछ सोचे-विचारे, अज्ञातशीला मुक्तिसुन्दरी के साथ सम्बन्ध जोडने जाऍ, यह तो अनुचित है। इससे आपका कोई भी प्रयोजन नहीं सिद्ध होगा। अतः मेरी ओर देखकर मेरे साथ के सम्बन्धो को याद करिये और अजानी मुक्तिसुन्दरी के साथ सम्बन्ध जोडने का विचार छोडिये। अगली गाथाओ मे फिर वह प्रार्थना करती है–

घर आवो हो, बालम! घर आवो, मारी आशाना विशराम।
रथ फेरो हो, साजन! रथ फेरो, मारा मनरा मनोरथ साथ।।

म.2।।

अर्थ–**हे वल्लभ, प्रियतम! आप मेरे (पिता का घर मेरा घरा मेरा है, इसलिए) घर पर पधारो, मेरे रहने के स्थान पर पधारो, क्योंकि आप तो मेरी आशा के विश्रामस्थल हैं। हे सज्जनपुरुष! आप रथ को वापिस मेरे घर की ओर मोड़िए। मेरे मन के मनोरथ को साथ ले कर आप रथ वापिस मोड़ कर घर पधारिए!**

भाष्य–**घर पर पधारने और रथ को मोड़ने की प्रार्थना**

अतः हे प्राणावल्लभ स्वामिन्! आप मेरे घर (पीहर) पधारे। आप तो मेरी तमाम आशाओ के केन्द्रस्थान है, आपको पाकर ही मेरे द्वारा संजोई हुई आशाओ के स्वप्न विश्राम पायेंगे, अन्यथा उन सब आशाओ पर पानी फिर जाएगा। आशाओ के महल उजड जाएंगे और फिर आप सज्जन हैं, इसलिए की आशाओ (बंधी हुई मनोकामनाओ) को ठुकरा कर आप नहीं जा

सज्जन किसी को पहले आश्वासन (वाग्दान) देकर आशा बधा कर फिर उसे तोडते नही। इसलिए हे सज्जन! आप रथ को वापिस मेरे घर की ओर मोडिए और मेरे मनोरथो को ध्यान मे रख कर वापिस लौटिए। आपका रथ चला जा रहा है, साथ मे मेरा मनोरथ भी चला जा रहा है। आपके साथ 8 भवो के प्रेम के कारण अब जो सगाई सम्बन्ध हुआ, उसके बाद मन में जो-जो आशा के महल बाधे थे, वे सब टूट रहे है, आप रथ वापिस मोडेंगे तभी वे टिक सकेंगे। आपके रथ के जाने आने पर मेरे मनोरथो का जाना-आना निर्भर है। क्योकि आप ही मेरे मन के माने हुए विश्राम है। भारतीय आर्यकन्या के लिए वाग्दान से ही भावी वर पति हो जाता है, वही आजन्म पति रहता है। एक बार प्रियतम स्वीकार कर चुकने के बाद वह जीवनभर के लिए पति हो चुकता है। कुवारी कन्या की समस्त आशाओ का दारोमदार भावी पति पर है। वह जागृत अवस्था मे अनेक सपने संजोती है, उन सब स्वप्नो की साकारता पति पर अवलम्बित रहती है। इसीलिए राजीमती नेमिनाथस्वामी से आग्रहपूर्वक उक्त प्रार्थना कर रही है।

इस गाथा का अध्यात्मगर्भित अर्थ

राजीमती को आध्यात्मिक दृष्टि से बहिर्मुखी चित्तवृत्ति मान कर इसका अर्थ करते है तो यों होता है। वह कहती है–"मेरे प्रियतम आत्मन्! मेरे यहाँ पधारो! मै तो तुम्हारी पुरानी सेविका हूँ, मेरी आशा के तुम्हीं तो विश्राम (आधार) हो। अगर तुम्ही (स्थितप्रज्ञ आत्मा) मुझे ठुकरा दोगे, तो मेरा क्या हाल होगा ? अतः हे सज्जन! रथ (सांसारिक भाव-मनोरथरूपीरथ) वापिस मोडो। मेरे अनेकविध मनोरथो के साथ तुम वापिस आओ और मेरे घर मे आ कर मेरी सुध लो।

नारी का प्रेम क्षणिक मान कर उपेक्षणीय नही है, इसी बात को अगली गाथा में राजीमती कहती है–

नारी-पखो श्यो नेहलो रे, साच कहे जगनाथ; मन.।।
ईश्वर अर्धांगे धरी रे, तुं मुझ झाले न साथ;।।
मन.।।3।।

अर्थ–**नारीपक्ष का इकतरफी प्रेम (स्नेह) कौन-सा प्रेम है? 'हे जगन्नाथ! अगर आप सचमुच ऐसा कहते हैं तो मुझे सत्य कहना पड़ेगा कि महादेव जैसे ईश्वर कहलाने वाले बड़े देव ने पार्वती को अपने आधे अंगों में धारण की थी, इसलिए वे अर्धनारीश्वर कहलाए। लेकिन तुम तो मेरा हाथ भी नहीं पकड़ते, वाग्दान दे**

कर भी अब पिंड छुड़ाते हो?'

भाष्य—नारी के प्रति स्नेह का मूल्य

इस गाथा मे राजीमती दूसरा मुद्दा उठाती है। वह कहती है–"यदि आप यह कहते है कि स्त्रीपक्ष के क्षणिक स्नेह की क्या कीमत है?" अत स्त्री के साथ प्रेम क्यों किया जाय? इस प्रश्न में एक बात और गर्भित है कि राजीमती यह भी कहना चाहती है कि कदाचित् कोई स्त्री अपने पति के साथ स्नेह न करती हो, तब तो उस पति के लिए उचित है कि वह ऐसा प्रश्न उठाए और ऐसे पति ने कदाचित् अपनी स्त्री के साथ सम्बन्ध विच्छेद किया हो, तब भी ठीक है, लेकिन मेरे और आपके बीच तो ऐसी कोई बात नही हुई, स्वामिन्! यदि सच कहूँ तो आप मेरे एक जन्म से नहीं आठ-आठ जन्मों से परिचित नाथ हैं। मेरा तो इस जन्म में भी आपके प्रति स्नेह अत्यन्त अधिक है। पर वह स्नेह एकपक्षीय है, पत्नी के मन मे स्नेह हो, और पति के मन मे स्नेह जरा भी न हो, तो वह स्नेह कैसे निभ सकता है? अतः मेरे स्नेह के बदले में आपको भी स्नेह करना चाहिए। आपको भी स्नेह का जवाब स्नेह से देना चाहिए। जब पति के प्रति पत्नी का प्रेम हो तो पति भी पत्नी के प्रति अवश्य प्रेम करता है और उसके मनोरथ पूर्ण करता है। अन्यथा एकपक्षी-नारीपक्षीय स्नेह कैसे निभेगा? परन्तु प्राणेश्वर! क्या आप भूल गये हैं–पार्वती के स्नेहवश शकर ने उसे अपने अर्धाग मे स्थान दे दिया था। आज भी जगत् उन्हे अर्धनारीश्वर के नाम से पहिचानता है। अतः आप तो मेरा हाथ भी नही पकडते, मुझे अर्धागिनी बनाने की बात ही दूर रही। आपको जाना हो तो भले ही जांय पर एक बार मेरा हाथ पकड कर मेरे साथ पाणिग्रहण करके मुझे अपनी अर्धागिनी बना कर फिर जांय। मेरा हाथ छिटका कर न जांए। मेरे नाथ नहीं बनते तो आप जगन्नाथ कैसे कहलाएंगे? मेरी इतनी-सी प्रार्थना नहीं मानेंगे तो क्या लोगों मे आप अच्छे कहलाएंगे?

अध्यात्मदृष्टि से किसके साथ स्नेह?

इस गाथा के आध्यात्मिक दृष्टिपरक अर्थ पर विचार करने [illegible] मालूम होता है कि बहिर्मुखी चित्तवृत्ति (अज्ञानचेतना) स्थितप्रज्ञ [illegible] से कहती हैं–"मेरे प्रति प्रेम का हाथ बढाओ तो मुझे छिटकाओ [illegible] सम्बन्ध-विच्छेद न करो; परन्तु स्थितप्रज्ञ उसके बहकावे मे [illegible] शुद्ध आत्मा मे स्थिर रहता है, स्त्री का स्पर्श तो [illegible]

बहिर्मुखी चित्तवृत्तिरूपी नारी का भी स्पर्श नही करता। शकर-पार्वती के दाम्पत्यप्रेम को आध्यात्मिक शुद्ध आत्मप्रेम नहीं कहा जा सकता। ऐसा वेदोदयजनित रागवर्द्धक प्रेम वीतरागप्रभु मे कैसे हो सकता है? साधक के लिए सचमुच श्रीनेमिनाथ का यह आदर्श प्रेरणादायक है! राजीमती तो अपने स्वार्थ के कारण उपालम्भ देती है, साधक को बहिर्मुखी चित्तवृत्तियो के द्वारा दिये जाते हुए प्रलोभन, उपालम्भ आदि को छोड कर आदर्श जीवन जीना हो तो नेमिनाथप्रभु का आदर्श ग्रहण करना चाहिए।

फिर उपालम्भ का दौर चलता है–

पशुजननी करुणा करी रे, आणी हृदय विचार; मन.।
माणसनी करुणा नहीं रे, ए कुण घर आचार? मन.।।4।।

प्रेम कल्पतरु छेदियो रे, धरियो योग धत्तूर; मन.।
चतुराईरो कुण कहो रे, गुरु मिलियो जगशूर; मन.।।5।।

मारुं तो एमां कंई नहीं रे, [illegible] राज, मन.

दिया है! यह तो बताइए, आपको इस प्रकार के चातुर्य का पाठ पढ़ाने वाला जगत् में शूर या शूल के समान कौन गुरु मिल गया?।।5।।

स्वामिन्! मेरा तो इसमें कुछ भी नहीं बिगड़ेगा? मेरी इज्जत इसमें कुछ भी नहीं जाएगी, राजकुमार! आप अपने मन में विचार करिए! जब आप राजसभा में बैठेंगे और लोग आपके सामने इस तुच्छ व्यवहार की चर्चा करेंगे, तो आपकी इज्जत कितनी बढ़ेगी? ।।6।। मैं तो यह समझती हूँ कि संसार में प्रेम तो सभी लोग करते हैं, लेकिन प्रेम करके उसे निबाहने वाले विरले (और) ही होते हैं। जो पुरुष किसी के साथ प्रीति करके छोड़ देते हैं, उन पर प्रेमी का क्या जोर चल सकता है?।।7।। अगर आपके मन में ऐसा (प्रेम जोड़ने के बाद तोड़ने का) विचार था, तो मैं पहले से ही इसे समझ कर सगाई-सम्बन्ध या प्रीति-सम्बन्ध न करती। जब कोई सगाई (प्रीति) सम्बन्ध जोड़ कर फिर उसे छोड़ देता है, तब सामने वाले (दूसरे पक्ष) की कितनी हानि या हैरानी होती है? इस पर आप जरा विचार करके तो देखें।।8।। जब आप संवत्सरी (एकवर्ष तक लगातार एक करोड़ आठ लाख सोनैयों का, दान देते हैं, तो उससे सभी अपने-अपने भाग्य या इच्छा के अनुसार पोषण प्राप्त करते हैं, लेकिन यह सेवक (आपके चरणों की आठ जन्म तक सेवा करने वाली सेविका राजीमती) विवाहदानरूप में मनोवांछित दान नहीं पा सका, इसमें आपका तो क्या दोष है, सेवक के ही कर्मों का दोष समझना चाहिए।।9।। आपको देख कर मेरी सखी ने कहा था कि "यह (नेमिकुमार) तो काले रंग के हैं।" तब मैंने उसे जवाब दिया कि वे (आप) शरीर से भले ही काले हों, लक्षणों, गुणों में श्वेत (गौरे) हैं। परन्तु आपकी अनुदारता और उदासीनता के इन लक्षणों को देखते हुए मेरी सखी ने जो कहा था, वह सच मालूम होता है। अब आप ही इस कथन के कारण पर विचार करिये कि वास्तव में आप कैसे हैं?।।10।।

भाष्य–राजीमती द्वारा नेमिनाथस्वामी को उपालम्भों का दौर

राजीमती नेमिनाथस्वामी को अपनी ओर आकर्षित करने के लिए उपालम्भ के स्वर में कहती है–"स्वामिन्! आप हैं तो बहुत ही दयालु! जब आप बरात ले कर विवाह के लिए पधार रहे थे तो रास्ते मे बरातियो के भोज के लिए बाडे मे अवरुद्ध पशुओं की करुण पुकार सुन कर आपका हृदय दयार्द्र हो उठा। आपने तुरंत सारथी से कह कर उस बाडे के द्वार खुलवा दिये और तमाम पशुओ को मुक्त करवा दिये। यह आपकी पशुजन पर करुणा तो जगत्

बहिर्मुखी चित्तवृत्तिरूपी नारी का भी स्पर्श नही करता। शकर-पार्वती के दाम्पत्यप्रेम को आध्यात्मिक शुद्ध आत्मप्रेम नहीं कहा जा सकता। ऐसा वेदोदयजनित रागवर्द्धक प्रेम वीतरागप्रभु मे कैसे हो सकता है? साधक के लिए सचमुच श्रीनेमिनाथ का यह आदर्श प्रेरणादायक है! राजीमती तो अपने स्वार्थ के कारण उपालम्भ देती है, साधक को बहिर्मुखी चित्तवृत्तियो के द्वारा दिये जाते हुए प्रलोभन, उपालम्भ आदि को छोड कर आदर्श जीवन जीना हो तो नेमिनाथप्रभु का आदर्श ग्रहण करना चाहिए।

फिर उपालम्भ का दौर चलता है-

पशुजननी करुणा करी रे, आणी हृदय विचार; मन.।
माणसनी करुणा नहीं रे, ए कुण घर आचार? मन.॥4॥

प्रेम कल्पतरु छेदियो रे, धरियो योग धत्तूर; मन.।
चतुराईरो कुण कहो रे, गुरु मिलियो जगशूर; मन.॥5॥

मारुं तो एमां कंई नहीं रे, आप विचारो राज, मन.।
राजसभा मां बेसतां रे, किसड़ी वधशी लाज? मन.॥6॥

प्रेम करे जगजन सहु रे, निरवाहे ते और; मन.।
प्रीति करी ने छोड़ी दे रे, तेहशुं न चाले जोर; मन.॥7॥

जो मनमां एहवुं हतुं रे, निसपति करत न जाण; मन.।
निसपति करी ने छांड़तां रे, माणस हुवे नुकशान; मन.॥8॥

देतां दान संवत्सरी रे, सहु लहे वांछित पोष, मन.।
सेवक वांछित नवि लहे रे, ते सेवकनो दोष;मन.॥9॥

सखी कहे-'ए शामलो' रे, हुं कहु लक्षण सेत; मन.।
इण लक्षण साची सखी रे, आप विचारो हेत; मन.॥10॥

अर्थ—आपने पशुसमूह के प्रति हृदय में बहुत दीर्घदृष्टि से विचार करके अत्यन्त दया (करुणा) की; परन्तु आपके हृदय में मनुष्य के (मनुष्यरूप में मेरे=राजीमती के) प्रति जरा भी दया नहीं है। पता नहीं, यह किस घर (परिवार) का यह आचार (रीति-रिवाज या मर्यादापथ) है?॥4॥

आपने तो प्रेमरूपी कल्पवृक्ष को काट डाला और उसके बदले उदासीनता का प्रतीक योगरूपी धतूरे का पेड़ पकड़ लिया है; अथवा धतूरे का वृक्षारोपण कर

दिया है। यह तो बताइए, आपको इस प्रकार के चातुर्य का पाठ पढ़ाने वाला जगत् में शूर या शूल के समान कौन गुरु मिल गया?।।5।।

स्वामिन्! मेरा तो इसमें कुछ भी नहीं बिगड़ेगा? मेरी इज्जत इसमें कुछ भी नहीं जाएगी, राजकुमार! आप अपने मन में विचार करिए! जब आप राजसभा में बैठेंगे और लोग आपके सामने इस तुच्छ व्यवहार की चर्चा करेंगे, तो आपकी इज्जत कितनी बढ़ेगी? ।।6।। मैं तो यह समझती हूँ कि संसार में प्रेम तो सभी लोग करते हैं, लेकिन प्रेम करके उसे निबाहने वाले विरले (और) ही होते हैं। जो पुरुष किसी के साथ प्रीति करके छोड़ देते हैं, उन पर प्रेमी का क्या जोर चल सकता है?।।7।। अगर आपके मन में ऐसा (प्रेम जोड़ने के बाद तोड़ने का) विचार था, तो मैं पहले से ही इसे समझ कर सगाई-सम्बन्ध या प्रीति-सम्बन्ध न करती। जब कोई सगाई (प्रीति) सम्बन्ध जोड़ कर फिर उसे छोड़ देता है, तब सामने वाले (दूसरे पक्ष) की कितनी हानि या हैरानी होती है? इस पर आप जरा विचार करके तो देखें।।8।। जब आप संवत्सरी (एकवर्ष तक लगातार एक करोड़ आठ लाख सोनैयों का, दान देते हैं, तो उससे सभी अपने-अपने भाग्य या इच्छा के अनुसार पोषण प्राप्त करते हैं, लेकिन यह सेवक (आपके चरणों की आठ जन्म तक सेवा करने वाली सेविका राजीमती) विवाहदानरूप में मनोवांछित दान नहीं पा सका, इसमें आपका तो क्या दोष है, सेवक के ही कर्मों का दोष समझना चाहिए।।9।। आपको देख कर मेरी सखी ने कहा था कि "यह (नेमिकुमार) तो काले रंग के हैं।" तब मैंने उसे जवाब दिया कि वे (आप) शरीर से भले ही काले हों, लक्षणों, गुणों में श्वेत (गौरे) हैं। परन्तु आपकी अनुदारता और उदासीनता के इन लक्षणों को देखते हुए मेरी सखी ने जो कहा था, वह सच मालूम होता है। अब आप ही इस कथन के कारण पर विचार करिये कि वास्तव में आप कैसे हैं?।।10।।

भाष्य—राजीमती द्वारा नेमिनाथस्वामी को उपालम्भों का दौर

राजीमती नेमिनाथस्वामी को अपनी ओर आकर्षित करने के लिए उपालम्भ के स्वर में कहती है—"स्वामिन्! आप है तो बहुत ही दयालु! जब आप बरात ले कर विवाह के लिए पधार रहे थे तो रास्ते मे बरातियो के भोज के लिए बाडे मे अवरुद्ध पशुओ की करुण पुकार सुन कर आपका हृदय दयार्द्र हो उठा। आपने तुरंत सारथी से कह कर उस बाडे के द्वार खुलवा दिये और तमाम पशुओं को मुक्त करवा दिये। यह आपकी पशुजन पर करुणा तो जगत्

में प्रसिद्ध हो गई, लेकिन आप पशुदया से भी बढकर मनुष्यदया को क्यो भूल गए? जब से आप रथ वापिस मोड कर लौट गए, तब से मै आपके वियोग मे तडप रही हूँ। मेरा अपमान करके और मुझे अधबिच में धक्का देकर आपने मेरे प्रति इतनी क्रूरता बरती, क्या मनुष्य को और उसमे भी मेरे जैसी आपकी सेविका को मरने देना, यह कहाँ का न्याय है? यह आपकी कैसी करुणा है? अनेक पशुओं पर दया लाकर भी मुझे छोड कर जाने को तैयार हो गए? मेरी दुर्दशा का आपने विचार तक नहीं किया? कुछ समझ मे नहीं आता, आपकी दया का यह कैसा ढंग है? इस वक्रोक्ति मे राजीमती ने तत्त्वज्ञान का एक महासूत्र स्पष्ट कर दिया है कि शास्त्रानुसार पशुपक्षी या एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तिर्यच तक के जीवों की अपेक्षा मनुष्य का महत्त्व अधिक है। इसलिए इस क्रमानुसार भी मनुष्यो के प्रतिदया पहले करनी चाहिए थी। "आपकी करुणा का आचार पूर्वतीर्थकरों के शिक्षण से विरुद्ध है, अतः यह आचार आप को शोभा नहीं देता!"

आध्यात्मिक दृष्टि से जब हम इस पर विचार करते हैं तो इसका समाधान तुरन्त हो जाता है कि पशुओं के प्रति भगवान् की जो दया थी, वह किसी राग या मोह से प्रेरित हो कर नहीं थी, वह तो सर्वजीव हित की दृष्टि से थी, मनुष्य और जिसमे भी रागाविष्ट प्रेमिका के प्रति दाम्पत्यप्रेम के वश हो कर दया करते तो वह रागयुक्त होती। आप रागद्वेष मे आसक्त न होने से वीतराग और महाकरुणालु है। वीतराग स्थितप्रज्ञ पुरुष बाह्यचित्तवृत्ति की ऐसी रागात्मक पुकार को नहीं सुनते है।।4।।

उसके बाद दूसरा उपालम्भ राजीमती का यह है कि आठ-आठ भवो से जिस प्रेमरूपी कल्पवृक्ष को आपने सीच-सीच कर बडा किया था और इस जन्म मे भी मेरे साथ वाग्दान होने एव मेरे साथ विवाह करने की स्वीकृति देने के बाद कई जन्मो से पुष्पित-फलित हुए इस प्रेममय अन्त करणरूपी कल्पतरु को आपको सींचना था, उसके बदले आपने समूल उखाड डाला और उसके बदले उदासीनता के प्रतीक वैराग्य का नशा पैदा करने वाले योगरूपी धतूरे को आप आरोपण करने लगे! बलिहारी है आपकी चतुराई की! आपकी अक्ल भला कैसे गुम हो गई? कौन ऐसा शूरवीर या जगत् का शूल (काटा) गुरु आपको मिल गया, जिसने इस प्रकार की अक्लमदी आपको दिखाई है? ऐसी चतुराई की अक्ल देने वाला कौन जगत् के सूर्यसमान गुरु मिल गया?

राजीमती एक व्यवहारचतुर स्त्री की तरह बात कर रही है, वह वक्रोक्ति की भाषा मे साफ कर रही है, जैसे एक मोहप्रेरित नारी कहती है! कल्पवृक्ष समस्त इच्छाओं को पूर्ण करने वाला होता है। प्रेम को कल्पवृक्ष की उपमा इसलिए दी है कि उससे सभी सांसारिक मनोकामनाएँ (पुत्र, धन, परिवार, स्त्री आदि) पूर्ण होती है और नेमिनाथ के मुक्ति-सुन्दरी के प्रति प्रेम को धतूरा बोने की उपमा दी है। उसका कारण यह है कि मुक्तिसुन्दरी से प्रेम करने पर वह न तो सन्तान सुख दे सकती है, न और कोई सांसारिक कामना ही उसमे पूरी हो सकती है। उल्टे, वह तो वैराग्य का नशा भले ही चढा दे, सो नेमिनाथस्वामी को चढा ही दिया है। उसी नशे में वे अपनी अष्टजन्मपरिचिता जानी-मानी प्रेमदीवानी राजीमती के प्रेम को छोड रहे है, प्रेमकल्पतरु को उखाड रहे है।

तत्त्वज्ञान की दृष्टि से देखा जाय तो दुनियादारी का प्रेम मोहगर्भित तथा ससारवृद्धि करने वाला होने से धतूरे के समान अवश्य हो सकता है, योग-धारण करके मुक्ति के प्रति प्रेम धतूरा नही, कल्पवृक्षसम है, वहाँ किसी प्रकार का रागादि नहीं होता। आप सचमुच वीतराग परमात्मा है और मुक्तिप्रेम तो रागादिरहित कल्पतरुवत् होता है, जिसके फल ज्ञानादि अनन्तचतुष्टयरूप है।

इसके अनन्तर फिर राजीमती सांसारिक प्रेमिका (पत्नी) की तरह मानो नेमिनाथ के प्रति उसको सेविका के नाते कहने का अधिकार है, इस दृष्टि से ताने मारती है-"हे मुनिकुमार! आप मुझे छोड कर चले जायेगे, इसमे मेरा तो कुछ भी बिगडने वाला नहीं, क्योकि मै तो आपके प्रति पूर्ण अनुरक्ता हूँ। आप ही मेरे प्रेम को ठुकरा रहे है। क्योंकि आपने मेरे साथ पाणिग्रहण करने की स्वीकृति दे कर गर्भित प्रतिज्ञा भी कर ली, उसी कारण यादव लोगो की बरात साथ में ले कर रथारूढ होकर आप मेरे साथ विवाह करने के लिए (मुझे लेने के लिए) तोरण तक पधारे थे। लगभग तोरण के पास आकर आप रथ को मोड कर वापिस लौट गए हैं, इसमे मेरा कोई दोष नहीं था, और न है। इसलिए मुझे किसी प्रकार का लांछन नहीं लगेगा। लेकिन आप तो राजकुमार हैं, जब आप राजा-महाराजाओं की सभा में बैठेंगे और लोग आपसे स्पष्टीकरण मागेंगे कि आपने राजीमती को किस कारण छोड दी? तब आप क्या जवाब देंगे? 'आपको उस समय शर्मिंदा हो कर नीचा मुँह करना पडेगा कि व राजीमती कलाहीन थी? उसके रूप-लावण्य मे कोई कमी थी?

या ऐब था? क्या उसके हृदय मे आपके प्रति प्रेम नही था? जिसके कारण सुसज्जित विवाहमडप के पास से ही वापिस लौट आए और उस कन्या का त्याग कर दिया?' उस समय आपको निरुत्तर और सबके सामने लज्जित होना पडेगा। आपकी इज्जत क्या रहेगी उस समय? और जब आपको स्वयं ही अपने प्रेम-विच्छेद की याद आएगी तब आपको अपने इस लज्जाजनक कृत्य से अपने प्रति ग्लानि नही आएगी? क्या अपने कृत्य के प्रति तिरस्कार नहीं पैदा होगा? एक और दृष्टिकोण है इसमे कि 'आप जरा विचार तो कीजिए कि जब आप राजसभा मे बैठेगे तो आप जैसो को पत्नीविहीन देख कर लोग मजाक उडाएगे। बिना पत्नी का व्यक्ति बाडा कहलाता है। बांडे व्यक्ति की न परिवार मे कोई इज्जत होती है, न सभ्य समाज मे। अतः मै कहती हूॅ कि पत्नी से रहित आपकी राजसभा मे कितनी आबरू बढेगी? सचमुच आपकी आबरू चली जाएगी। इस पर आप ठडे दिल से विचार करिए।

आध्यात्मिक दृष्टि से तो यह बहिर्मुखी चित्तवृत्ति (अशुद्ध चेतना) का मोहक ताना है। आध्यात्मिक वीतरागपुरुष तो आत्मसमाधिस्थ होने के लिए बाल ब्रह्मचारी के रूप मे तीनो लोको मे व्याप्त हो जाएगा।।6।।

फिर उलाहनेभरे स्वर मे वह पुकार उठती है-"इस दुनिया मे सभी मनुष्य प्रेम करते है, इस प्रेम मे जुडने वाले तो सभी होते है, परन्तु एक बार प्रेम करने के बाद उसे जिन्दगीभर निभाने वाले विरले ही कोई होते है। ऐसे मनुष्यो की सख्या बहुत ही नगण्य है। जो प्रेममात्र के साथ प्रेम सम्बन्ध जोड कर आजीवन उसे निभाते है। क्योकि प्रेम दोनो ओर से पलता है, एकतरफी प्रेम टिकता नही, उससे प्रेमतरु शीघ्र ही सुख जाता है। अधिकाश लोग तो प्रेम का तार तोडते देर नही लगाते। आप भी उन अधिकाश सामान्यजनो की कोटि मे है। आपने जिस प्रेमतरु को आठ-आठ जन्मो तक सीचा, इस जन्म मे भी वाग्दान होने के बाद प्रेम की दिशा मे प्रयाण तो किया था, मगर अचानक ही सनक मे आकर आपने प्रेमतरु को नष्ट-भ्रष्ट कर डाला। आपने प्रेम जैसी महत्त्वपूर्ण वस्तु को बालक का-सा खेल समझ कर तोड डाला। अतः जो मनुष्य प्रेम बांधने के बाद अकारण ही इस प्रकार प्रेम-भग कर डालता है, उसे क्या कहा जाय? उसके साथ जबर्दस्ती तो की ही नही जा सकती, न इस काम मे जबर्दस्ती चल ही सकती है। क्योकि प्रेम आन्तरिक कारण है, वही प्रेमपात्रों को जोडता है। इसलिए आपके द्वारा किये गए प्रेमभग के खिलाफ न तो

मुकद्दमा किया जा सकता है, न कोई जोर अजमाया जा सकता है। यह तो राजी-राजी का सौदा है। पर आपके खिलाफ कोई जोर नहीं चल सकता। हॉ, इतनी बात जरूर कहूॅगी कि प्रेम बाध कर सहसा अकारण तोडने वाले की जगत मे कितनी कीमत होती है? इस पर जरूर विचार करे। मेरी ओर से आपके प्रति कोई विरूद्ध प्रचार मानहानि करने का नही होगा, मेरे हृदय मे तो वही प्रेम आपके प्रति रहेगा। इसके बावजूद भी आप मेरे प्रेम को नही पहिचान कर उसे ठुकरा देगे तो मेरा कोई बस नही चल सकता। आप स्वय समर्थ है, मै तो केवल प्रार्थना के शब्दो मे ही निवेदन कर सकती हूॅ।

आध्यात्मिक दृष्टि से सोचा जाय तो मोह प्रेरित चित्तवृत्ति की यह उडान है। नेमिनाथस्वामी ने सिर्फ उदय मे आए हुए कर्मो को खपाने के लिए ही राजीमती के साथ पिछले आठ भवो मे प्रीति जोड रखी थी। परन्तु इस भव मे जब वे कर्म नष्ट हो गए और प्रभु वीतराग बन गए, तब राजीमतीरूपी चित्तवृत्ति के साथ राग-प्रेरित प्रीति कैसे कर सकते है? यही कारण है कि वे मुक्तिस्त्री के साथ वीतरागप्रेरित प्रेम बाध कर उसे सादि-अनन्त भग की दृष्टि से निभाने को तैयार हुए है। वास्तव मे रागप्रेरित प्रेमी या प्रेम निभाने वाले तो संसार मे बहुत होते है, लेकिन वीतरागप्ररित आत्मस्वभाव मे अखण्ड लगन को निभाने वाले नेमिनाथप्रभु सरीखे जगत् मे विरले ही होते है।।7।।

अब जरा और कठोर बन कर राजीमती अपने प्रेम का व्यग्यवाण छोडती है–'यदि आपको प्रीति करके इसी तरह मुझे छोड देना था, यदि आपके मन की गहराई मे इसी प्रकार का दगा था या विचार था कि यह विवाह मुझे नही करना है, तो मुझे आपको पहले से ही बता देना चाहिए था, ताकि मैं ऐसा जान कर आपके साथ प्रेमसम्बन्ध बाधती ही नही। न आपकी कुछ शिकायत रहती, न मुझे आपसे कोई शिकायत होती। किन्तु आपने मेरे साथ धोखा ही किया–आप सुसज्जित विवाह-मण्डप के निकट तक बरात लेकर पधारे थे, इससे यह तो स्पष्ट प्रतीत होता था कि आप मेरे साथ विवाह करने पधारे हैं, किन्तु अचानक एक ही झटके मे आप बिना कुछ कहे-सुने प्रेम सम्बन्ध को तोड कर चले गए, यह व्यवहार मे कन्यापक्ष के लिए कितना नुकसानदेह होता है? उस कन्या की हालत कितनी नाजुक हो जाती है? उस पर कितनी आफ्त उतर आती है? इस पर जरा गौर करके विचार तो करिए! इस प्रकार तोरण तक आया हुआ दूल्हा बिना विवाह किसे वापिस लौट जाय, उसमें कन्यापक्ष के प्रति

आम जनता के दिलों में व्यर्थ की कितनी ही शंका कुशकाएं पैदा हो जाती है कि शायद वह विषकन्या हो, या कन्या पक्ष के लोगो ने बरात का सम्मान न किया हो, दहेज पर्याप्त न मिलने की सम्भावना हो। और एक निर्दोष कन्या को इस प्रकार परित्यक्ता की संज्ञा मिल जाने से शायद वह आत्महत्या तक भी कर बैठे, धैर्य खो कर पगली हो जाय, यह हानि क्या कम है? आप मुझ-सी निर्दोष कन्या की दुर्दशा पर तो विचारिए। एक बार प्रेम जुड जाने के बाद उसे तोड डालने से दूसरा प्रेमीपात्र जी ही नहीं सकता। इस नुकसान की तो कोई कल्पना ही नहीं की जा सकती।

आध्यात्मिक दृष्टि से देखा जाय तो नेमिनाथस्वामी इस जंन्म में रागप्रेरित प्रेम करने से संभल गए और राजीमती को भी मानो सावधान करना चाहते हो, इसलिए रागजनित प्रेमसम्बन्ध को तोड डाला। ताकि राजीमती के दिल से यह भ्रम निकल जाय कि "नेमिनाथ भी सांसारिक प्रेम करने वाले है।" और दिलदिमाग मे यह बात भी जम जाय कि मेरा उक्त भ्रम नष्ट हो गया और मै आपके 'विश्ववात्सल्य' को समझ सकी हूॅ। दुनियादारी के प्यार से तो ससारपरिभ्रमण का दु ख सह कर मैने अपना कितना नुकसान किया है। लेकिन नेमिनाथस्वामी द्वारा राजीमती का परित्याग करनेसे उसे फायदा यह होने वाला है, कि उसके अन्त चक्षु खुल जाते है।।8।।

फिर भी अभी मोह का पर्दा पूरी तौर से हटा नहीं है, इसलिए हताश राजीमती को जब तीर्थकरो की परम्परा का पता चला कि स्वामी नेमिनाथ मेरी बात कुछ भी सुने बिना सीधे घर पर जाएगे और परोपकारबुद्धि से पूरे एक वर्ष तक लगातार प्रतिदिन एक करोड आठ लाख स्वर्णमुद्राओ का दान देगे, तब वह अतीव नम्र हो कर मधुर ताना देती है-"नाथ! आप जब एक वर्ष तक उदारतापूर्वक दान देगे तो उससे सभी अर्थीजन यथेष्ट वांछित वस्तु प्राप्त कर लेंगे, खासतौर से आपके सभी सेवक तो अपनी इच्छानुसार वस्तुए पा लेंगे। अतः वे सभी भाग्यशाली होगे, लेकिन अभागी रह गई एकमात्र आपकी यह सेविका, जिसने आठ-आठ जन्मो मे आपकी चरणसेवा की है और इस जन्म मे करने को तैयार है। इस सेविका को अपना मनोवांछित प्रीतिदान आपकी ओर से नही मिलेगा, मुझे प्रीतिदान न मिलने का असन्तोष रहेगा ही और जगत् मे आपकी कीर्ति और दानवीर के रूप में जो प्रसिद्धि है, उसमे आच आएगी कि और सब याचको को तो मनोवाछित पदार्थ दे दिया, लेकिन अपनी सेविका को

यथेच्छ दान नहीं दिया। इसमें आपकी उदारता की कमी प्रतीत होगी। खैर, अब आपको ज्यादा क्या कहना है; आप यह भी कह सकेगे कि इसमे मेरा क्या दोष है, लेने वाले के भाग्य (अन्तराय कर्म) का ही दोष है, मै क्या करूँ? इसलिए मै अब आपको दोष न देकर अपने कर्मो को ही दोष देती हूँ। मै ही भाग्यहीन हूँ, कि मुझे मनोवांछित दान नहीं मिल रहा है! परन्तु प्राणेश! आप तो अपनी ओर से उदारता बताए, निराश न करें, इस सेविका को।

यहाँ राजीमती नेमिनाथ स्वामी पर दोषारोपण न करके पतिव्रतास्त्री की तरह स्वय अपने कर्मो का ही दोष मानती है। इससे कर्मसिद्धान्त का तत्त्वज्ञान राजीमती को हृदयंगम हुआ परिलक्षित होता है।

आध्यात्मिक दृष्टि से विचार करे तो आत्मा की अशुद्ध चेतना इस प्रकार से अपनी ओर खीचने का प्रयत्न करती ही है। राजीमती की आध्यात्मिक भूमिका की दृष्टि से नेमिनाथ के द्वारा विनति न स्वीकारने से उसे लाभ ही हुआ है। वार्षिक दान के समय भले ही भ नेमिनाथ ने उसकी इच्छा सन्तुष्ट न हुई हो, लेकिन परोक्षरूप से मोक्ष में ले जाने वाले आत्मिक धन का दान राजीमती को अवश्य प्राप्त हो गया। इसीलिए आगे चल कर राजीमती के अन्तर से आशीर्वाद निकला–"नाथ! आपकी सेवा का इतना महान् लाभ हो तो मै आपकी सेविका होने मे अपने को धन्य मानती हूँ। सच्चे दानेश्वरी आप ही हैं, धन्य हो, आप सरीखे महादानी को।"

अब सबसे अन्तिम दाव और फैकती है–'हे नेमिकुमार, नाथ! आप की बरात गाजे-बाजे के साथ मेरे पिता के शहर की सीमा मे आ रही थी, तभी आपको देखने के लिए भेजी हुई मेरी सखी ने आपको देख कर आने के बाद मुझे कहा–"सखि! नेमिकुमार तो रंग से काले है। (उपलक्षण से कहूँ तो) वे कुलक्षणी भी मालूम होते है। उनसे सावधान रहना।" मैंने अपनी सखी को डांटते हुए बचाव करने की दृष्टि से कहा–"भले ही वे काले हो, इससे क्या? काली चीजे बहुत गुणवाली भी होती हैं। तू भूल रही है। आपका सारा परिवार भी काला है। कृष्ण काले हैं, आपके रिश्तेदार भी काले हैं। किन्तु उनके आन्तरिक गुणो को देखते हुए वे उज्ज्वल हैं, सफेद हैं।" उस समय मेरी सखी ने कहा–"सामुद्रिकशास्त्र के अनुसार तो ऊपर से काले दिखाई देने वाले मनुष्य प्रायः अन्दर से भी काले सिद्ध हो सकते हैं। उस समय तो मैं चुप हो गई। फिर भी आपके गुणों का स्मरण मुझे आपकी ओर खींच रहा था। इसलिए मैंने

उसके कहने की ओर कोई ध्यान नही दिया। परन्तु कुछ ही समय बाद जब मुझे पता लगा कि नेमिकुमार तो तोरण के पास आ कर अपने रथ को वापिस लौटा ले गए है। मेरे किसी दोष के बिना आपने मेरे साथ प्रीति को तोड डाली, तब मुझे सखी का वह कथन याद आया। मै सोचने लगी कि इस समय के आपके लक्षणो को देखते हुए तथा आप मेरे प्रेम का जवाब नही देते, इसलिए मेरी सखी की जो धारणा थी, वह सच्ची साबित हुई। भले ही वह सामुद्रिकशास्त्र नही जानती थी, लेकिन उसकी शका पर से यह साबित हो गया कि आप जैसे ऊपर से काले है, वैसे लक्षणो से भी काले है क्योकि काले आदमियो के काले काम होते है। आप स्वय मेरे कथन के कारण पर सहानुभूतिपूर्वक विचार करेगे तो आप स्वयमेव मेरी सखी के कथन की सचाई को माने बिना न रहेगे।"

वास्तव मे अध्यात्मदृष्टि से इस पर सोचा जाय तो ऐसा स्पष्ट प्रतीत होगा कि राजीमती की सखी झूठी थी, वह स्वय सच्ची थी। क्योकि वे तो 1008 उत्तम लक्षणो से सुशोभित, विश्ववन्द्य, जगत्पूज्य तीर्थकर के उत्तम गुणो से युक्त है। राजीमती अपने आपको तीर्थकर नेमिनाथ की आध्यात्मिक पथ की सहचरी होने के नाते धन्य मानती है।

अब अगली दो गाथाओ मे राजीमती व्यग्यात्मक भाषा मे नेमिनाथ के जीवन मे परस्पर विरोधाभास स्पष्ट प्रकट करती है-

रागीशुं रागी सहु रे, वैरागी श्यो राग? मन.।
राग बिना किम दाखवो रे, मुगतिसुन्दरी माग;म.।।11।।

एक गुह्य घटतुं नथी रे, सघलो जाणे लोग, म.।
अनेकान्तिक भोगवो रे, ब्रह्मचारी गतरोग, म.।।12।।

अर्थ-राग वाले के साथ तो सभी रागी बन जाते हैं, मगर जो मनुष्य वैरागी हो, वह क्यों किसी के साथ राग करेगा? (आप अपने आपको वैरागी मानते हो;) परन्तु अगर राग नहीं है, तो आप (अपने भक्तों को) मुक्तिसुन्दरी (को पाने) का मार्ग कैसे बताते हो? दूसरो को मार्ग बता कर तो आप स्वयं उसके प्रति राग रखते मालूम होते हैं ।।11।। हे नाथ! आपकी एक गुप्त बात संगति नहीं लगती। उसे सारी दुनिया जानती है। वह यह है कि आप अनेकान्त-बुद्धि-रूपी नारी का उपभोग करते हैं, जबकि आप रोगरहित बाल-ब्रह्मचारी कहलाते हैं।

भाष्य-राजीमती द्वारा श्रीनेमिनाथ के जीवन में विरोधाभास का करारा व्यंग्य

इन दोनो गाथाओ मे राजीमती ने श्रीनेमिनाथजी के प्रति अनहोना आक्षेप लगा कर उनके साथ उपहासात्मक व्यग्य किया है-"प्राणेश्वर! कदाचित् आपके मन मे यह बात हो कि मै (आप) तो वैरागी हूँ", जबकि राजीमती तो स्त्रीस्वभावशाली और रागी है। राग (प्रेम) वाले के साथ संसार मे सभी राग (प्रेम) करते है, परन्तु वैरागी के साथ प्रेम (राग) कैसे सभव हो सकता है? अथवा रागी के साथ वैरागी का प्रेम कैसे सम्भव है?" यो कह कर आप अपने को वैरागी ठहरा कर मेरे साथ प्रेम (राग) करने के मार्ग से छिटक रहे हो और अपने साथ प्रेम (राग) करने से रोक रहे हो तो आपकी बात नहीं मानी जा सकती, क्योकि अगर आप सच्चे मायने मे वैरागी हो तो आप अपने भक्तों पर राग (प्रेम) क्यो रखते है? इसी कारण तो उन्हे आप मुक्तिपथ का उपदेश देते है। मुक्तिसुन्दरी के पास जाने का मार्ग बताते है। इतना ही नहीं, आप मेरे साथ का राग (प्रेम) छोडकर मुक्तिरूपी शिवसुन्दरी के प्रति प्रीति (राग) रखते ही है, इसलिए आप भी रागी है। अगर आपको मुक्तिसुन्दरी से प्रेम (राग) करना हो तो मेरे साथ करिए। मैने क्या गुनाह किया है? बल्कि मेरे साथ तो आपका आठ जन्मो तक लगातार राग (प्रेम) रहा है! अतः जगत् के न्यायानुसार पहले आप मेरे साथ विवाह करके फिर मुक्तिसुन्दरी के साथ प्रीति जोडिए। क्योकि मै आपकी ही हूँ, आपके साथ मेरा पूर्ण अनुराग है।

आध्यात्मिक दृष्टि से इस गाथा का इससे बिलकुल उलटा अर्थ घटित होता है। राजीमती (बाह्यचित्तवृत्ति) सासारिक राग वाली है और नेमिनाथप्रभु सासारिक रागरहित है। इसलिए प्रभु के और राजनीति के बीच अब दुनियादारी का प्रेम जम नहीं सकता। दुनिया की दृष्टि से मुक्ति के रागी है, इसलिए दुनिया से विरक्त (वैरागी) हैं। इसीलिए राजीमतीरूपी सासारिक स्त्री के प्रति विराग और मुक्ति के प्रति राग, यह परमात्मा की वीतरागता सिद्ध करता हैं।

फिर राजीमती श्रीनेमिनाथ को उनके जीवन का एक और विरोधाभास बताती है-"देखिये राजकुमार! आपके प्रत्येक कार्य को सब ज्ञानी लोग जानते हैं। आपका एक भी कार्य गुप्त नही, जिसे लोग न जानते हो। फिर भी एक बात गुप्त है, वह यह है कि आप अनेकान्तदृष्टि (बुद्धिरूपी) स्त्री का सेवन (भोग) प्रतिक्षण करते हैं, फिर भी आप बालब्रह्मचारी कहलाते हैं। यह बहुत ही आश्चर्य

की बात है। फिर ताज्जुब यह है कि स्याद्वादबुद्धिस्त्री के भोगी होते भी आपको कोई रोग नहीं लगा। अन्यथा **'भोगे रोगभयम'** इस नीतिवाक्य के अनुसार आपको रोग होना चाहिए। अथवा अनेकान्तिक न्यायशास्त्रप्रसिद्ध व्यभिचारी दोष का पर्यायवाची है। इसलिए आप ब्रह्मचारी हुए भी व्यभिचार (हेत्वाभास) दोष का सेवन (भोग) करते है। इस प्रकार आपके जीवन मे परस्पर विरोधाभास है। हेत्वाभास के 5 भेद हेतु के 5 दोष के रूप मे माने जाते हैं–असिद्ध, विरुद्ध, सत्प्रतिपक्ष, व्यभिचार, अनेकान्तिक और बाध। यहाॅ 5 मे से चौथा दोष है।

परन्तु दूसरी तरह से अर्थ करने पर यह विरोधाभास दूर हो जाता है। जैसे–अनेकान्तिक का अर्थ जैसे अनेकान्तमतिस्त्री किया है, वैसे अनेकान्तवाद का विश्वप्रसिद्ध रूप मे प्रतिपादन करने वाले है, इस अर्थ के अनुसार अनेकान्त मे अनेकान्त=व्यभिचार नामक दोष नहीं है। इस प्रकार अनेकान्तिक का अर्थ जब अनेकान्तवादी करते है तो वह अनेकान्तिक (व्यभिचारी) अर्थ मे हेत्वाभास नही हो सकता। इसलिए भगवान् के बालब्रह्मचारित्व और रोगरहितत्त्व मे कोई दोष घटित नहीं होता।

अब राजीमती श्रीनेमिनाथस्वामी को आकृष्ट करने और अपने बनाने मे जब सब तरह से निराश हो गई तो अन्तिम दाव और फेंकती है–

जिण जोणी तुमने जोऊं रे, तिण जोणी जुओ राज; मन.।
एक बार मुझ ने जुओ रे, तो सीझे मुझ काज।।
मन.।।13।।

अर्थ–**हे नाथ! जिस दृष्टि से मैं आपको देखती हूॅ, उसी दृष्टि से, हे राजकुमार! आप मुझे देखिए। सिर्फ एक बार ही आप मुझे देख ले तो मेरे सर्व कार्य सिद्ध हो जाय।**

_भाष्य_–राजीमती का अन्तिम दाव : देखने की प्रार्थना

राजीमती अभी मोहबुद्धि मे जकडी हुई है, और वह अपने स्वामी श्री नेमिनाथ को अपनी ओर खींचना चाहती है। सारी आशाऍ निष्फल हो जाने, सारे प्रयत्नो पर पानी फिर जाने के बाद वह अपना अन्तिम दाव फैकती है–"हे नेमिराज! मुझे लगता है कि आपने मुझे पहले कभी देखा नही है। इसी कारण मेरे और आपके बीच मे दृष्टिभेद की खाई पड गई है। अतः मै आपसे प्रार्थना करती हूॅ कि एक बार आप मुझे उसी देखने की पद्धति से जी भरकर देख ले, जिस पद्धति से मै आपको देखती हूॅ। मेरी आपके प्रति प्रेमभरी (रागयुक्त–

सराग) दृष्टि है, उसी रागदृष्टि से आप मुझे एक बार देख ले तो मेरा विश्वास है कि आपको सतोष होगा, आपका दिल बदल जायगा, मेरे प्रति जो पूर्वाग्रह आपके मन मे है, वह समाप्त हो जायगा। इसलिए मेरी और प्रार्थनाएँ आपने ठुकरा दीं तो कोई बात नहीं, अब इस अन्तिम छोटी-सी प्रार्थना को स्वीकार कीजिए और एक बार सिर्फ एक ही बार मुझे अपनी नजर से जी भर कर देख लीजिए। मै निहाल हो जाऊगी। इतने से ही मेरे समस्त मनोरथ सिद्ध हो जायेगे। मेरे रागभरे हृदय में अभी तक जो तडफन है, वह आपके द्वारा देखने भर से शान्त हो जायेगी।'' राजीमती को अपने पर इतना भरोसा है कि अगर नेमिकुमार एक बार मुझे जी भर कर देख लेगे तो फिर मुझ मे उनको बाधने की कला है, फिर वे कही छटक नही सकेगे। परन्तु नेमिनाथ स्वामी इस बात को भलीभाति समझते है कि एक बार राजीमती पर रागदृष्टि से नजर करने का नतीजा क्या आएगा? इसलिए वे ऐसी उलझन मे स्वय किसी भी मूल्य पर पडते नही।

आध्यात्मिक दृष्टि से देखा जाय तो एक बार नेमिनाथ स्वामी अगर राजीमती के कहे अनुसार रागदृष्टि से उसे देख ले तो उनकी वीतरागता ही समाप्त हो जाय! इसलिए आध्यात्मिक साधक इस प्रकार की मोहदशा प्रेरित बाह्यचित्तवृत्ति की प्रार्थना कदापि स्वीकार नही कर सकता। राजीमती भी इस बात को समझ जाती है, फिर भी वह इस बहाने से श्रीनेमिनाथ की वीतराग की भावना की कसौटी कर लेती है, जिस पर वे पूरे खरे उतरते है।

भाष्य–निष्फलता के बाद राजीमती का मंथन

इतना सब कुछ करने के बावजूद भी जब राजीमती को सफलता नही मिलती है, तो उसके मन मे अन्तर्मथन होता है कि स्वामी नेमिनाथ मेरी भावना को जरूर समझते है, फिर भी वे मेरे मन का समाधान क्यो नहीं करते? कोई न कोई कारण अवश्य है, जिसे मै समझ नहीं पा रही हूँ। मैं पतिव्रता स्त्री अपने आपको मानती हूँ, तो पति जिस रास्ते से जा रहे है, उस रास्ते मे मुझे बाधक नही बनना चाहिए, प्रत्युत उनके पदचिन्हों पर चल कर मुझे उनके काम मे सहयोग देना चाहिए। अतः वह मोहदशा हटा कर तत्त्वदृष्टि से विचार करके अपने उद्‌गार प्रगट करती है–

मोहदशा धरी भावना रे, चित्त लहे तत्त्वविचार; मन.।
वीतरागता आदरी रे, प्राणनाथ निरधार; मन.।।14।।

सेवक पण ते आदरे, तो रहे सेवक-माम[1]; मन.।
आशय साथे चालिए रे, एहीज रूडुं काम; मन.।।15।।
त्रिविध योग धरी आदर्यो रे, नेमिनाथ भरतार; मन.।
धारण-पोषण-तारणो रे, नवरस मुक्ताहार; मन.।।16।।

अर्थ–मोहग्रस्त दशा धारण करके मैंने अब तक वैसी स्नेहराग की भावना (विचारणा) ही की। परन्तु अब तत्त्वज्ञान का विचार आया है कि स्वामीनाथ ने वीतरागता (रागद्वेषरहित अवस्था) अपना ली है, (इसलिए) प्राणनाथ के जैसी अवस्था (वीतरागता) धारण करना निश्चय ही आवश्यक है।।14।।

आपका जो सेवक (मैं) हो, वह भी उसे (स्वामी) की तरह वीतरागता अपनाए; तभी सेवक की मानमर्यादा (इज्जत) रह सकती है। अतः जिनकी सेवा करनी है, उनके आशय (हृदयगत भावना) के साथ ही चलना चाहिए। सेवक (मुझ सेविका) के लिए यही अच्छा काम है।।15।

अतः राजीमती ने भी त्रिविध योग (मन-वचन-काया के योगों से योग= साधुत्व अथवा इच्छायोग, शास्त्रयोग और सामर्थ्ययोग या योगावंचकयोग, क्रियावञ्चकयोग, फलावञ्चकयोग) को धारण करके नेमिनाथ (वीतराग परमात्मा या शुद्ध आत्मदेव) को सच्चे माने में पति (स्वामी) के रूप में स्वीकार कर लिया। मन में यह निश्चय कर लिया कि ये ही मेरे धारण (आत्मगुणों को टिकाए रखने) पोषण (आत्मगुणों को पुष्ट करने) तथा तारण (संसारसमुद्र से आत्मा को तारने वाले) हैं। ये ही मेरे नवरसरूप अथवा नवसेरा मौक्तिक हार-सम हैं। यों राजीमती ने मान लिया।

भाष्य–राजीमती का मोहदशात्याग

इससे पूर्व महासती राजीमती की इतनी अभ्यर्थना के बाद भी जब श्रीनेमिनाथ प्रभु वापिस न लौटे, तब राजीमती को वास्तविकता का भान हो जाता है। अब तक वह रथ वापिस लौटाने की बात कर रही थी, उसके बदले अब भावना करती है। उसके अन्तर मे परमात्मा (शुद्ध आत्मा) की ओर से अन्तः स्फुरणा होती है–"राजीमती! मोहनीयकर्मवश पराधीन बन कर तू यह क्या कर रही है? किसको उपालम्भ दे रही है, ताने मार रही है, व्यंग्य कस रही है? प्रभु नेमीश्वर तो पूर्ण वैराग्यवान बन चुके है। उनका निश्चय अटल है।

1 'माम' के बदले कही–कहीं 'मान' शब्द भी है।

वे वीतरागता को अपना चुके है। तेरे शब्द, तेरा मोहक बाह्य भौतिक रूप-सौन्दर्य और तेरे मोहभरे वाक्यबाण उन पर अब कोई असर नहीं कर सकते है। वे अब सर्वात्मभूत बन गए है। ये तेरे से या तेरे सरीखे न बन सके, इसके पीछे यही रहस्य है। अब तू यदि उनकी सच्ची सेविका-प्रेमिका है तो तुझे उनके जैसी बनना पडेगा। तेरे आठ जन्मो के प्रेम की अब इस जन्म मे सच्ची कसौटी प्रभु कर रहे हैं। अतः तू अपने प्राणनाथ भगवान् नेमिनाथ की तरह ही वीतरागभाव को धारण कर।'' राजीमती के हृदय मे तीव्र मन्थन हो चुका और उसने मोहदशा छोड दी, नेमिनाथ की वीतरागता को वह आरपार देखती है। वह एकत्वभावना पर चढ कर सोचती है–''अब तक तो मै मोहदशा धारण करके सोचती थी, परन्तु अब मेरा मन असली वस्तुस्थिति को जान सका है कि प्राणनाथ! आपने दृढतापूर्वक वीतरागता अपना ली है। पहले आपकी सब बाते मुझे उलटी लगती थीं, लेकिन अब सारी बाते सगत जान पडती है। पहले मै मोह के कारण सासारिक दृष्टि से आपके जीवन की घटनाओ का तालमेल बिठाती थी, इसका कारण सब विपरीत प्रतीत होता था, लेकिन अब सभी बाते भलीभांति दिमाग मे जम गई है। मेरे चित्त मे अब आपका तत्त्वविचार जाग्रत हो चुका है। आप अपनी भूमिका मे जो कर रहे है, वह बिलकुल ठीक है।

इस प्रकार पक्का निश्चय कर लिया कि प्राणनाथ ने जब वीतरागता का मार्ग अपना लिया तो मै उनकी पतिव्रता स्त्री तभी कहला सकती हूँ, जब उनके मार्ग का अनुसरण करूॅ। प्राणनाथ ने तो वीतरागता द्वारा अपनाने योग्य मार्ग ही अपनाया है। मुझे भी उनके मार्ग पर ही चलना चाहिए। इस प्रकार वह नेमिनाथ स्वामी के वीतरागता के मार्ग को समझ कर अपनाती है। स्वयं उस रास्ते पर चलने का निश्चय करती है। वह नेमिनाथ को छोड कर दूसरे के साथ शादी करने का विचार नही करती। वह यो नही सोचती कि मेरी तो केवल सगाई ही हुई है, अतः नेमिनाथ नही चाहते तो दूसरा वर पसंद कर लू। वह अपने आपको वाग्दता मानती है और नेमिनाथ स्वामी द्वारा गृहीत मार्ग को ही अपने लिए ठीक समझ कर अपनाती है। इस निर्णय मे राजीमती की सहज सरलता और कृतनिश्चयता है। राजकुमारी होते हुए भी भौतिक विवाह के बदले नेमिनाथ के आत्मिक विचारो को अपना कर सर्वत्याग के मार्ग पर जाने का निश्चय कर चुकी, यह उसके निर्णय की भव्यता है।

ज्यो-ज्यो राजीमती आत्मा की आवाज सुनती गई, त्यो-त्यो वह

एकत्व भावना मे तल्लीन हो कर गहरी उतरती गई–'यह जीव अकेला ही आया है, अकेला ही जाएगा, कोई किसी के साथ नही जाता। भगवान् ने जो मार्ग लिया है, वह वीतराग के लिए उचित व शोभास्पद है। वही मेरे लिए अनुकरणीय है। क्योकि मै प्रभु की सेविका-अनुचरी हूॅ। मेरे प्राणेश्वर श्रीनेमिनाथ की प्रेमिका हूॅ। आठ-आठ जन्मो का हम दोनो का पुराना प्रेम है। परन्तु मेरे और उनके दर्जे मे जो अन्तर है, उस पर मैने विचार नही किया। मेरे भौतिक मोहनीय भावो ने मुझे ऐसा सोचने भी नही दिया। सचमुच मोह का कितना जबर्दस्त कुप्रभाव है! सत्यस्वरूप को छिपा कर यह दुष्ट मोह असत्यरूप को ही समक्ष प्रस्तुत करता है। हॉ, मुझे याद आ गया, मै तो इन प्राणनाथ की जन्म-जन्मान्तर से सेविका हूॅ। स्वामी की इच्छा ही मेरी इच्छा रही है। पूर्वजन्मो मे भी मै स्वामी की इच्छा के अधीन थी और फिर सेवक का धर्म भी यही है कि स्वामी की इच्छा मे ही अपनी इच्छा को मिला देना। सेवक को स्वामी की इच्छा का सम्मान करना चाहिए। इसी से सेवक की प्रतिष्ठा बढती है। स्वामी के अभिप्राय के अनुसार चलाना ही सेवक का सत्कर्त्तव्य है। मेरे स्वामी जब अखण्ड ब्रह्मचर्यव्रत और वीतरागभाव धारण कर चुके है, तब मुझे भी इनसे विरूद्ध नही जाना चाहिए। मुझे सच्चे माने मे इन्हे वररूप मे स्वीकार करना हो तो इनके भौतिक शरीर को नहीं, अपितु इनके वीतरागभाव-शुद्धात्मभाव का वरण करना चाहिए। आत्मा के साथ आत्मा का ऐक्य ही वास्तव मे लग्न है, विवाह है, पाणिग्रहण है और यही अब मेरे लिए सर्वोत्तम कार्य है। जब मैने अपने आपको इनकी सेविका रूप मे निश्चित कर लिया है, तब स्वामी द्वारा स्वीकृत वीतरागता का स्वीकार करना ही मेरे लिए इष्ट कर्त्तव्य है। इसके सिवाय अब मेरे लिए अन्य कोई मार्ग ही नही है।

ससारसागर से पार उतारने वाले है। मुझे भी इन्ही गुणो को धारण करना चाहिए। अथवा ज्ञानदशा से प्रभु धारणकर्ता है, भक्तिदशा से पोषणकर्त्ता है तथा वैराग्यदशा से तारणकर्त्ता है।

जैसे मोतियों का हार हृदय पर धारण करने पर आनन्द और शोभा देता है, वैसे ही राजीमती ने नेमिनाथ भर्त्ता (पति) को तीन योगो से हृदय मे आदरपूर्वक धारण कर लिया। उसने हृदय मे निश्चय कर लिया कि स्वामी के हाथ से ही दीक्षा प्राप्त करने से मेरा योगावाचक योग सफल हुआ, स्वामी की आज्ञानुसार दीक्षा (साधुता) का यथार्थ पालन करने से मेरा क्रियावचकयोग सफल हुआ और स्वामी से पहले ही मोक्ष मे जाना संभव होने से मेरा फलावंचक योग भी सफल होगा। अथवा प्रभु नेमिनाथ नवरसरूपी मुक्ताहार के समान हैं। भगवान के सान्निध्य से ही नौ रसो का अपूर्व सगम मिलता है, नौ रस ये है– शृंगार, वीर, करुण, रौद्र, हास्य, भयानक, वीभत्स, अद्भुत और शान्त। विरक्त एवं वीतराग के लिए ये नौ रस शान्तरस में परिणत हो जाते है।

तात्पर्य यह है कि राजीमती ने सर्वविरत साधुधर्म का अगीकार करके वीतराग परमात्मा नेमिनाथ को सागोपागरूप से सर्वतोभावेन हृदय में धारण कर लिया।

आत्मार्थी एव मुमुक्षु की आत्मा के लिए भी बाह्यचित्तवृत्ति का त्याग करके अन्तर्मुखी बन कर परमात्मा वीतराग के पथ का अनुसरण करना और वीतरागता प्राप्त करना अभीष्ट है, यही मार्ग उपादेय है।

अब श्रीआनन्दघनजी इस स्तुति का उपसहारी करते हुए कहते हैं–

[1] करुणारूपी प्रभु भज्यो रे, गण्यो न काज-अकाज, मन.।
कृपा करी मुझ दीजिए रे, आनन्दघन-पद-राज; मन.॥17॥

अर्थ–राजीमती प्रभु से अन्तिम प्रार्थना करते हुए कहती है- 'करुणारूप (दयामय) प्रभु श्रीनेमिनाथ की मैंने भक्ति=आराधना (ध्यानपूर्वक) की है। मैंने ऐसा करने में कार्य (कर्त्तव्य) अकार्य-(अकर्त्तव्य) का विचार नहीं किया। अतः दया करके मुझे आप आनन्द के समूह प्रभु का राज्य (मुक्तिधाम) दीजिए।

_भाष्य_–राजीमती (शुद्ध आत्मा) की प्रभु से अन्तिम प्रार्थना

महासती राजीमती शुद्धभाव में आ कर अन्तरात्मा के बोध के कारण

1 किसी-किसी प्रति मे करुणारूपी के बदले कारणरूपी शब्द है, वहाँ अर्थ होता है, मैंने सफल निमित्तकारणरूप परमात्मा का सेवन किया है।

परमात्मा श्रीनेमिनाथ से प्रार्थना करती हुई कहती है–"मेरे आत्मज्ञान के प्रबोधक परमात्मन्! मैने अब आपको पूर्णरूप से परख लिया है। आप करुणा के सागर है, क्योकि आपने लोकव्यवहार और लोगों की जरा भी परवाह नही की और अन्तःकरण से मूक पशुओ पर दया करके तत्काल संसारमात्र का त्याग कर दिया; इसी घटना को ले कर आप मेरे प्रबल निमित्त कारण बने, मेरे उपादान को शुद्ध बनाने मे, उसे जगाने मे आप ही प्रबल कारण बने है। मुझे-शुद्ध-आत्मस्वरूप को प्राप्त कराने मे आप निमित्तरूप बने। जब सत्यस्वरूप का दाता वास्तविक निमित्त बन जाता है, तब उसकी हृदय से भक्ति–सेवा करनी चाहिए। इसलिए मै कार्य-अकर्म या सफलता-निष्फलता का विचार किए बिना ही पूरी शक्ति लगा कर आपको प्रबलनिमित्तरूप मान कर आपकी सेवा करने मे जुट गई हूॅ। आपके चरणो की सेवा कर रही हूॅ। अत हे करुणासागर ! अब आप मुझे सच्चिदानन्दघनरूप मोक्षपद का साम्राज्य दीजिए।

ध्याता राजीमती अपने उपादान को शुद्ध और सर्वोच्च पदारूढ करने के लिए प्रबलनिमित्तरूप परमात्मा (नेमिनाथ प्रभु) को ध्येय मान कर एकाग्रतापूर्वक उन्हीं के ध्यान मे तल्लीन हो गई। एकाग्र ध्यान के परिणामस्वरूप उसने प्रभु से पहले मोक्षगमन किया।

इसी तरह मुमुक्षु ध्याता भी ध्येयनिष्ट बने

महात्मा आनन्दघनजी कहते है कि जिस तरह सती राजमती ने मोहभाव से एकदम पलटा खा कर वीतरागपरमात्मा के मार्ग का अनुसरण किया, काम भावना से देखने वाली राजीमती आत्मदृष्टि मे स्थिर होकर भव्यातिभव्य आत्मा के रूप मे अमर हो गई। भगवान् नेमिनाथ का एक निष्ठापूर्वक ध्यान करते-करते वह ध्येयरूप=आत्मरूप तदाकार बन गई। जैसे राजीमती में एक स्वामिनिष्ठा और वाग्दता का स्वत्व था और उसी के फलस्वरूप वह नेमिनाथ प्रभु से 54 दिन पहले मोक्षपद को प्राप्त कर चुकी । इसी तरह मै (मुमुक्षु साधक) भी दयानिधि नेमिनाथ प्रभु का एकनिष्ठा या एकस्वामिनिष्ठा से ध्यान करता हूॅ, उनके मार्ग का अनुसरण करता हूॅ और राजीमती की तरह कार्य-अकार्य की परवाह किये बिना मै भी उनका सेवन करता हूॅ। इसलिए मुझे और सब साधको को भी राजीमती की तरह आनन्द के समूहरूप मोक्षपद का राज्य प्रदान करें।

सारांश–इस समग्र स्तुति मे राजीमती के जीवन मे परमात्मप्रीति के तीन मोड आते है, पहले मोड मे वह सासारिक मोहदशा से प्ररित हो कर घर पर पधारने और रथ को वापिस मोडने के लिए विभिन्न वक्रोक्तियो, युक्तियो, प्रयुक्तियो, हेतुओ, व्यंग्यो आदि का प्रयोग करती हैं, वैरागी नेमिनाथ को अपनी ओर खीचने के लिए। परन्तु उसमें सफलता नहीं मिलती है तो वह सीधे उनकी वीतरागता और ब्रह्मचर्य पर आक्षेप करती है, लेकिन नेमिनाथ की अपने ध्येय मे अटलदशा (आत्मनिष्ठा) देख कर वह हताश हो कर आत्ममन्थन करती है, जिसके फलस्वरूप उसके मोह का पर्दा दूर हो जाता है, वह नेमिनाथ प्रभु के वीतरागता एवं साधुता के मार्ग का अनुसरण करती है और एकनिष्ठ ध्यान से ध्येयाकार हो जाती है। अन्त मे ध्याता के लिए राजीमती की तरह एक स्वामित्वनिष्ठा से ध्येय का ध्यान करना आवश्यक बताया है, जिसका सकेत श्रीआनन्दघनजी ने अन्तिम गाथा में किया है। इस सम्पूर्ण स्तुति का उद्देश्य और सार है–सच्ची एकनिष्ठा, ध्येय के प्रति ध्याता की एकाग्रता।

***

23. श्रीपार्श्वनाथ जिन-स्तवन–

आत्मा के सर्वोच्च गुणों की आराधना

(तर्ज–राग सारंग रसियानी देशी)

ध्रुवपदरामी हो स्वामी माहरा, नि:कामी गुणराय, सुज्ञानी।
निजगुणकामी हो पामी तुं धणी, ध्रुव आरामी हो थाय।।
सुज्ञानी।।1।।

_अर्थ_–हे पार्श्वनाथ भगवन्! आप हमारे स्वामी हैं। आप ध्रुव (अचल) पद (आत्मपद या मोक्षस्थान) में सतत रमण करने वाले हैं। आप निष्काम (कामना या काम से रहित) हैं, गुणों, (शुद्ध आत्मा के दर्शन, ज्ञान, वीर्य=शक्ति और सुख आदि अनन्त गुणों) से विराजित-सुशोभित हैं। या गुणों के राजा हैं। आप निज (आत्मा के) गुणों=ज्ञानादि गुणों के ही इच्छुक हैं या ज्ञानादि गुणों से कमनीय हैं। अथवा मैं निजगुणकामी आप जैसे को स्वामी (पति=अन्तर्यामी) बनाने वाले या आपको पा कर सुज्ञानी=भव्यजीव आपके समान ध्रुवपद (अचल स्थान) पाते हैं अथवा अचल पद में आरामी=(आराम करते) हैं अथवा आत्मा के अनन्त गुणों में रमण करने वाले बनते हैं।

_भाष्य_–सर्वोच्च आत्मिक गुणों के पुंज : परमात्मा

इस स्तुति मे श्रीआनन्दघनजी आत्मा के सर्वोत्तम गुणो को परमात्मा मे बता कर परमात्मा के उपासक को आत्मा के सर्वोच्च गुणो की आराधना के लिए प्रेरित कर रहे है। परमात्मा का नाम पार्श्वनाथ है। पार्श्वमणि, एक प्रकार का स्पर्शमणि होता है। जिसके साथ लोहे का स्पर्श होते ही वह सोना बन जाता है। इसी प्रकार शुद्ध और सर्वोच्च आत्मगुणो का परमात्मा से स्पर्श होते ही वह व्यक्ति भी परमात्मा बन जाता है। आत्मगुण शुद्ध होने चाहिए, अन्यथा अगर वे पूर्ण विकसित न हो, उन गुणो मे कुछ दोषों का पुट हो तो मलिनता के कारण परमात्मारूपी पारस मे उन मलिनतायुक्त आत्मगुणो का स्पर्श होने पर भी वह व्यक्ति शुद्ध स्वर्णसम परमात्मा नही बन सकेगा। इन्ही सब कारणकलापो को लेकर वीतरागपरमात्मा बनने के लिए शुद्ध आत्मगुणो का अपने मे विकास करके प्रभु पार्श्वनाथरूपी पारसमणि के साथ स्पर्श कराना होगा।

परमात्मा किन-किन सर्वोच्च आत्मगुणो से ओत-प्रोत है? इसे क्रमश बताते है। सर्वप्रथम उनके लिए कहा गया है–**ध्रुवपदरामी**–यानी वीतराग पार्श्वपरमात्मा ध्रुवपद यानी निश्चल आत्मपद अथा शैलेशीकरणरूप आत्मा की सर्वथा निश्चलस्थिति प्राप्त होने के बाद मोक्ष पद मे आप सतत् रमण करने वाले हैं। **स्वामी माहरा**–आप मेरे स्वामी है। जब कोई प्रभु को अपना स्वामी बनाता है, तब स्वाभाविक ही वह सेवक बन गया। सेवक को अपने सेव्य (स्वामी) की सेवा मे तैनात रहना चाहिए। इससे काव्यरचयिता ने अपनी नम्रता भी आत्मगुणो की सेवा मे सतत् जागृत रहने की बात से सूचित कर दी है। जो आत्मगुणो को प्रगट करना चाहते है, वे आपको अपना स्वामी बना कर मोक्षरूप शाश्वतस्थान मे आराम (शान्ति) पाने वाले बन जाते है। आप नि कामी है। आपको किसी वस्तु या प्राणी से किसी प्रकार की कामना नही है। फिर भी आपका सम्पर्क भव्यजीवो एवं आत्मार्थियो को अपने समान बना देता है। आप ज्ञानादि अचिन्त्य अनेक गुणो के राजा है। गुणों का राजा वही हो सकता है, जो उन गुणो पर अपना आधिपत्य रचाता हो। आपका आधिपत्य ज्ञानादिगुणो पर है। इसलिए कहा गया–'**गुणराय।**'

परमात्मा की आराधना : गुणों की आराधना से

प्रश्न होता है, उपर्युक्त पक्तियो मे परमात्मा के सर्वोच्च गुणो का वर्णन किया गया, उससे क्या लाभ? कोरा गुणगान करने मे अपना समय और शक्ति क्यो लगाई जाय? इसी के उत्तर में श्रीआनन्दघनजी ने कहा है–'**निजगुणकामी हो, पामी तुं धणी, ध्रुव-आरामी हो थाय, सुज्ञानि।**' अर्थात् जो साधक अपने गुणो का विकास करने के इच्छुक है। वे आप जैसे गुणो के सर्वोच्च शिखर को पाकर या आप सरीखे गुणरूपी पारसमणि (धनी) का स्पर्श पा कर शाश्वतरूप से आत्मा में रमण करने वाले या शाश्वतशान्ति के उपभोक्ता बन जाते हैं। निष्कर्ष यह है कि पार्श्वनाथस्वामी जैसे सर्वोच्च गुणसम्पन्न वीतराग को तो अपने गुणगान या अपनी प्रशंसा से कोई मतलब नही है, वे तो परमसमभावी हैं, परन्तु जो साधक आदर्श गुणी बनना चाहता है, उसके लिए सर्वोच्च गुणो का आदर्श (Model) सामने होना चाहिए। ताकि आदर्श को देख कर स्वयं भी अपने जीवन को आत्मगुणों से सजा सके, अथवा आप जैसे गुणरूपी [illegible] धनी का स्पर्श करके या आपका ध्यान, जप, गुणगान आ[illegible] जीवन को गुणरूपी स्वर्ण से जटित कर सके। अगर साधक

क्रमशः स्मरण करता है, उन गुणो को प्राप्त करने का उपाय, उन गुणो की प्राप्ति के मार्ग में आने वाले विघ्न, उन गुणो की स्थिरता का मापदण्ड आदि पर सतत् तलस्पर्शी चिंतन करता है और तदनुसार अपने जीवन को ढालता है तो नि सन्देह एक दिन वह भी आत्मगुणों के सर्वोच्च शिखर पर पहुँच जाता है। साधक को परमात्मा मे निहित सर्वोच्च गुणो पर इस प्रकार चिन्तन-मनन-निदिध्यासन, ध्यान, जप, गुणगान आदि करने से जब वे सर्वोच्च हस्तगत हो जाते है तो उसके बार-बार संसार मे जन्म-मरण का दु:ख, साथ ही गुणों के अधूरे विकास के कारण राग, द्वेष, काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि प्रबल दुर्गुणो का सामना करने मे हार खानी पडती थी, हर बार उनका गुलाम बनना पडता था, अपनी दुर्बलताओ के कारण उन दुर्गुणो का शिकार बन जाता था, किन्तु उन सर्वोच्च गुणों पर आधिपत्य प्राप्त हो जाने पर ये सब दु ख, द्वन्द्व-व्यथाएँ, बाधाएँ और पीडाएँ काफूर हो जाती है, साधक परमात्मा को प्राप्त कर लेता है, गुणों मे परमात्मा के समान बन जाता है तो परमात्मा के साथ वह निकटता स्थापित कर लेता है, जो उनका स्थान है, वही शाश्वतशान्ति का धाम उसे प्राप्त हो जाता है। इसीलिए योगीश्री के अन्तर से स्वर फूट पडा–'**निजगुणकामी हो, पामी तुं धणी, ध्रुव-आरामी हो थाय, सुज्ञानी।**' वह ध्रुव-आरामी बन जाता है, सदा के लिए जन्म, जरा, मृत्यु, व्याधि, शोक, शारीरिक-मानसिक सताप आदि सभी झझटो से वह बच जाता है, सदा के लिए आराम पा जाता है। अपनी आत्मा मे ही रमण का अनन्त ध्रुव आनन्द उसे मिल जाता है। यह कितना बडा लाभ है, वीतराग पार्श्वनाथ के गुणानुवाद से सर्वोच्च गुणो की उपलब्धि का! श्री आनन्दघनजी ने इसी उद्देश्य से पार्श्वनाथ-जिनस्तुति में इन सूत्रो को ग्रथित किया है।

अगली गाथाओ मे परमात्मा मे सबसे मुख्य गुण–जिसे गुणशिरोमणि या गुण पारसमणि कहा जा सकता है, जिसके स्पर्श से सर्वगुणसम्पन्नता प्राप्त हो सकती है, उस ज्ञानगुण के विषय मे कहते है–

सर्वव्यापी कहे सर्वजाणगपणे, परपरिणमनस्वरूप, सुज्ञानी!
पररूपे करी तत्त्वपणुं नहीं, स्वसत्ताचिद्रूप, सुज्ञानी!
ध्रु.॥2॥

अर्थ–**हे स्वामी! आपको (परमात्मा के दूसरे दर्शन या धर्म वालों की ईश्वरीय मान्यता की तरह) लोग सर्वव्यापी (सर्वपदार्थों में सर्वत्र व्यापक) कहें तो समस्त**

चराचर के ज्ञाता के रूप में आप सर्वव्यापी हैं, लेकिन सर्वपदार्थों में ध्याप्त मानें तो आप परपरिणमन रूप हो जायेंगे। अगर आप (शुद्ध चेतन) परपदार्थरूप बन जायेंगे तो आपका वस्तुतत्त्वरूप (चेतनत्व) नहीं रहेगा। अतः तत्वतः आप सर्वव्यापी नहीं हैं क्योंकि आपकी सत्ता चित्तस्वरूप है।

***भाष्य*–परमात्मा की सर्वव्यापकता क्या, किस गुण से और कैसे?**

पूर्वगाथा मे प्रभु के सर्वोच्च गुण और उनकी आराधना का परम लाभ बताया गया था, अब इस गाथा मे पारसमणिरूप ज्ञानगुण और उसके कारण, उनकी सर्वव्यापकता के सम्बन्ध में गम्भीर चर्चा की गई है। सर्वप्रथम हम ज्ञानगुण के महत्त्व के सम्बन्ध मे समझ ले। दूसरे द्रव्यो से आत्मा को अलग करना हो तो ज्ञानगुण को ही लेना पडेगा, ज्ञान ही एक ऐसा गुण है, जो आत्मा को अन्य द्रव्यों से पृथक् करता है। ज्ञान-गुण प्रत्येक ज्ञेयपदार्थ के साथ जुड कर प्रत्येक श्रेय को जानता है, ज्ञात हुए को दूसरो को ज्ञात करा कर उन्हे भी सर्वज्ञाता बना डालता है। अगर आत्मा मे ज्ञानगुण न होता तो जगत् मे कौन-कौन से द्रव्य है ? कौन-कौन से तत्त्व है? कौन-से पदार्थ है? उनका क्या-क्या स्वरूप है? परभाव क्या है? आत्मा मे कितनी शक्तियॉ है? कौन-कौन से गुण है? उनके विकास मे साधक बाधक कौन-से तत्त्व है? हमारी आत्मिक शक्तियो को कौन-कौन से पदार्थ कैसे-कैसे रोकते है? उस रुकावट को कैसे दूर किया जा सकता है? इन सबका ज्ञान-यथार्थ बोध कैसे होता? पदार्थो का यथावस्थित स्वरूप ज्ञान के बिना कैसे जाना जाता ? इसलिए ज्ञान को आत्मा का सर्वोपरि गुण माना जाता है। परमात्मा से ज्ञानगुण सर्वोच्चरूप से विकसित होता है, समस्त ज्ञेयपदार्थ उनके ज्ञान में झलकते है, प्रतिबिम्बित होते हैं। परमात्मा (शुद्धआत्मा) के इसी ज्ञानगुण को लेकर एक चर्चा प्रस्तुत की गई है– **'सर्वव्यापी कहे'।**

प्रभो! आपको लोग सर्वव्यापी कहते हैं, जैसे कई धर्मो और दर्शनो वाले लोग ईश्वर को सर्वव्यापी=सर्वपदार्थ मे व्याप्त कहते हैं, निश्चयनय की दृष्टि से आत्मा भी सर्वव्यापक है। यहॉ यह सवाल खडा होता है कि परमात्मा को सर्वव्यापी अन्यदर्शनी लोगो की मान्यता की तरह ही माना जायगा, या और किसी रूप में? जहॉ तक जैनदर्शन का सवाल है, श्रीआनन्दघनजी ने वस्तु स्वरूप पर गहराई से सोच कर यहॉ उत्तर दिया है–**'सर्वव्यापी कहे सर्वजाण-पणे'** अर्थात् परमात्मा को सर्वव्यापी कहा जाय तो कथंचित् सत्य माना जा

सकता है। परमात्मा (शुद्धआत्मा) का ज्ञान सकल चराचरपदार्थ और गुणपर्याय को जानता है, इस सर्वज्ञानता की अपेक्षा परमात्मा या आत्मा सर्वव्यापक विभु है। क्योकि जब ज्ञान सबको जानेगा सो, सब ज्ञेयो का स्पर्श या प्रतिबिम्ब उस पर पडेगा ही। सबको जो जानता है, वह सर्वव्यापी है। परन्तु यदि सर्वव्यापक का अर्थ यह किया जाय कि परमात्मा सर्वत्र सब पदार्थो मे व्याप्त होते है, तब तो परमात्मा या आत्मा परद्रव्य में परिणमनरूप या रमणकर्त्ता बन जाएगा, जो उसके स्वभाव के विरुद्ध है। इसलिए परमात्मा या आत्मा सर्वपदार्थव्यापी नही हो सकता।

एक प्रश्न और खडा होता है-सर्वज्ञानता के कारण जब परमात्मा सर्वव्यापक विभु है, तब वे ज्ञानगुण से जिसे-जिसे जानेंगे, उस-उस ज्ञेय के रूप मे ज्ञान और आत्मा परिणित हो जायेगे, उस पदार्थ को वे (शुद्ध आत्मा) पूर्णतया जान सकेगे। जरा भी जानना शेष रह जाएगा तो उनकी सर्वज्ञानता मे कमी रह जायेगी। क्योकि वह पदार्थ, सम्पूर्ण रूप से उनके ज्ञान मे प्रतिबिम्बित हो जाता है, अथवा ज्ञान उस रूप मे (तदाकार) सम्पूर्ण बन जाता है, तभी वे उसे पूरी तरह से जान सकते है। कोई भी गुण-स्वभाव अपने आप मे पूर्ण होता है, अपूर्ण तो सम्भव ही नहीं है। रुपया अपने आप मे पूर्ण है, पैसा अपने रूप मे पूर्ण है। अतः शुद्ध (परमात्मा) की सर्वज्ञानता समस्त ज्ञेयो में तद्रुप परिणमन होने पर ही पूर्णता के शिखर पर पहुँची कही जाएगी। इसीलिए कहा गया- **'परपरिणमनस्वरूप'** इसका समाधान यह है कि यह सच है कि 'आत्मा कथचित् परिणामी है', परन्तु यह अनन्त ज्ञानमय होते हुए भी परपरिणति से अबाधित है। आत्मा का आत्मत्व जिस तत्त्व के रूप मे है, वह परपरिणतिरूप में नहीं दिखता। अगर परमात्मा के ज्ञान को पूरी तौर से ज्ञेयाकार होना माना जायगा तो फिर ज्ञानगुण का आश्रयभूत आत्मा-द्रव्य भी ज्ञेयरूप बन जाएगा। ऐसा होने पर सर्वज्ञ आत्मा अन्य-सर्वपदार्थरूप हो जायगा और परमात्मा इस तरह का सर्वव्यापक (विभु) माना जाए तो उसे परपदार्थ के रूप मे परिणत होना पडेगा। इस प्रकार परत्व प्राप्त हो जाने पर उस आत्मपदार्थ का अपना जो स्वद्रव्य-क्षेत्र काल-भावरूप स्वरूप है, वह रह न सकेगा, क्योकि परद्रव्य-क्षेत्रकाल-भावरूपता उसमे आ जाय तब तो स्वतत्वता या स्वस्वरूपता उसमे रहती ही नहीं। जगत् मे प्रत्येक पदार्थ स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की अपेक्षा से स्वस्वरूप में है और परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की अपेक्षा से परपदार्थ रूप है।

प्रत्येक पदार्थ अपने-अपने द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव मे परिणत होता रहता है और पररूप (परत्व) से पर के द्रव्यादि मे रहित होता है, यही उसकी सत्ता है। यही उसका स्वरूप है, उसी रूप मे वह यथार्थ पदार्थ है।

निष्कर्ष यह है कि आत्मा का स्वभाव परद्रव्य मे रमण करने का नही है, तथैव दूसरे पदार्थ भी आत्मा (परमात्मा) के स्वरूप मे नहीं होते। अतः शुद्ध आत्मा (परमात्मा) को सर्वव्यापक के नाम पर यदि परपदार्थरूप मे बनना मान लिया जाय तो वह परपदार्थ जैसा बन कर उसी मे रमण करने लगेगा। फिर आत्मा (परमात्मा) का अपना स्वातत्र्य कहाॅ रहा? फिर आत्मा को स्वतत्र, स्वात्मसुखभोक्ता कैसे कहा जा सकेगा? जब वह पररूप (दूसरे पदार्थ के रूप) मे बन जाता है, तो उसका अपनापन (स्वत्व या आत्मत्व) नही रहता। इसीलिए कहा है– **'पररूपे करी तत्वपणुं नहीं'**। अर्थात् किसी एक आत्मद्रव्य का सचेतन दूसरे आत्माओ के रूप मे या अचेतनद्रव्य पुद्‌गलादि के रूप मे परिणमन होने पर अपना आत्मत्व नही रहता। आत्मा के पररूप बन जाने पर उसका आत्मत्व (स्वस्व-रूपत्व) नही रहता। तथा परपदार्थ के नाश के साथ ही उसका भी नाश मानना पडेगा। आत्मा की सत्ता=स्वस्वरूप मे अस्तित्व चिद्‌रूप-ज्ञान (चेतना) रूप है। उसके पररूप होने पर वह अचेतनामय अज्ञानमय बन जाएगा। फिर यह नही कहा जा सकेगा–''आत्मा का स्वरूप चिद्‌रूप= चेतनारूप है। यही बात इस गाथा मे कही गई है–**'स्वसत्ताचिद्‌रूप'**। अगर आत्मा पर मे परिणत होने लगे तो वह अभव्य और अस्थिरस्वभावी हो जायगा। इसलिए द्रव्यार्थिक नय से आत्मा सर्वव्यापी है, परन्तु पर्यायार्थिक नय से वह सर्वव्यापी नही है। परमात्मा की परपदार्थ मे परिणमन करने के अर्थ मे सर्वव्यापी नही अपितु सर्वज्ञानत्व के अर्थ मे सर्वव्यापी समझना चाहिए, क्योकि आत्मा की सत्ता–स्वरूपास्तित्व समस्त पदार्थो को जानने की है, तद्रुपपरिणमन करने की नही, क्योकि उसका स्वभाव ज्ञानमय है।

अगली 4 गाथाओ मे क्रमशः द्रव्य से, क्षेत्र से, काल से और भाव से आत्मा का परत्व बताया गया है–

ज्ञेय अनेके हो ज्ञान अनेकता, जलभाजन रवि जेम; सुज्ञानी!
द्रव्य एकत्वपणे, गुण-एकता, निजपद रमतां खेम; सुज्ञानी!

ध्रु.॥3॥

_अर्थ_-ज्ञेय अनेक होने पर ज्ञान भी अनेकत्व को प्राप्त करता है। जैसे जल से भरे अनेक बर्तनों में एक सूर्य होते हुए भी अनेक सूर्य दिखाई देते हैं। सूर्य की तरह आत्मद्रव्य एक होते हुए भी गुणों का भी एकत्व होता है। मुक्त (सिद्ध) परमात्मा तो अपने अनेकगुणात्मक पदस्थान में आनन्दपूर्वक रमण करते हैं।

_भाष्य_-द्रव्य से आत्मा का ज्ञानगुण एवं ज्ञेय

इस गाथा मे परमात्मा (शुद्ध आत्मा) के मुख्य गुण-ज्ञान के सम्बन्ध मे द्रव्य से विचारणा की गई है कि जानने की चीजें (ज्ञेय) अनेक होने पर ज्ञान भी अनेक हो जाते है। इसे दृष्टान्त द्वारा समझाते है–जैसे सूर्य एक ही होता है, परन्तु पानी से लबालब भरे हुए अनेक बर्तनो मे प्रत्येक मे उस सूर्य का प्रतिबिम्ब पडने से पृथक्-पृथक् अनेक सूर्य दिखाई देते है, उसी प्रकार ज्ञान होते हुए भी अनेक ज्ञेयो मे पृथक्-पृथक् ज्ञेयाकार मे परिणत हो जाने पर (वे ज्ञेय) जैसे अनेक है, वैसे ज्ञान भी अनेक हो जाता है।

वास्तव मे यह बात पर्याय दृष्टि से यथार्थ है कि ज्ञेय अनेक है तो ज्ञान भी अनेक है, यानी अलग-अलग आविर्भाव की दृष्टि से उन ज्ञेयो का ज्ञान (जानकारी) भी अनेक प्रकार का होता है। प्रत्येक वस्तु अपनी विशेषता के अनुसार पर्याय की अपेक्षा से अलग-अलग प्रकार की मालूम होती है। प्रत्येक वस्तु मे उसकी अपनी विशेषता तो होती ही है। पर्यायान्तरगत व्यक्तित्व भी प्रत्येक वस्तु मे जरूर होता है। इसलिए पर्यायदृष्टि से ज्ञान अनन्त कहा गया है। जैसे वस्तुएँ अनन्त है तो उनके पर्याय भी अनन्त है। वे पर्याय अलग-अलग नजर भी आते है।

दूसरी ओर आत्मद्रव्य एक है, इसलिए उसका अपना ज्ञानगुण भी एक ही होना चाहिए। द्रव्य गुण का घर=आश्रयस्थान है। इस दृष्टि से गुण को अपने घर मे ही रमण करने मे क्षेमकुशल है, पर–घर जाने से क्षेमकुशलता नहीं रहती। ज्ञान अनेक होने से एक आत्मा के भी अनेक हो जाने की आपत्ति आती है। अतः एकद्रव्यरूप अपने घर मे एक ज्ञान की ही स्वरूपरमणता मानी जाय, तभी क्षेमकुशलता रह सकती है और उसका अपना स्वरूप भी पूरा सुरक्षित रह सकता है। अन्यथा एक आत्मा अनेकरूप हो जाने से वह अपने एकत्वरूप-स्वरूप मे क्षेमकुशल नहीं रह सकती। फिर बहुत से ज्ञेय तो परपदार्थ है, उनके साथ ज्ञानगुण द्वारा आत्मा जब पराये घर रमण करने जायगा तो ज्ञेयो की तरह ज्ञान और आत्मा को भी अनेकत्व प्राप्त करना पडेगा, जो उनके लिए मार है,

अपमान है, स्वरूपच्युति है।

प्रश्न होता है–ज्ञान का स्वरूप एकत्व ही है, तब द्रव्य का ज्ञानत्व उसमे कैसे घटित होगा, क्योकि वह सब तक पहुँच न सकेगा? इसलिए अनन्तज्ञेय से अनन्तज्ञानरूप ज्ञानमय एक आत्मा अनन्त आत्मस्वरूप हो जाता है। गुण सहभावी होता है, पर्याय क्रमभावी होता है। सहभावी गुण (धर्म) की अपेक्षा से तीर्थकर या सिद्ध अपने-अपने आत्मिक गुणो मे निजपद में आनन्दपूर्वक रमण करते है। इस प्रकार यहाँ द्रव्य का स्थायित्व और पर्याय मे परिवर्तन बताया।

परक्षेत्रगत ज्ञेयने जाणवे, परक्षेत्रे थयुंज्ञान, सुज्ञानी!
अस्तिपणुं निजक्षेत्रे तुमे कह्यो निर्मलता गुण मान, सुज्ञानी!
ध्रुव.।।4।।

***अर्थ*–पर (अन्य) के क्षेत्र में रहे हुए जाने योग्य (ज्ञेय) पदार्थ को जानने से ज्ञान परक्षेत्री हुआ। आपने ही कहा था–ज्ञान का निजक्षेत्र में ही अस्तित्व है, यानी ज्ञान तो स्वक्षेत्र में रहने वाले आत्मा को ही होता है। निर्मलता का अभिमान यानी शुद्धस्वस्वरूप की स्वतंत्रता या स्वस्वरूप की पूर्णता का अभिमान स्वक्षेत्र में ही हो सकता है।**

***भाष्य*–क्षेत्र से ज्ञानगुण एवं ज्ञेय पर विचार**

इस गाथा मे ज्ञान के दो प्रकार किये गए है–स्वक्षेत्रीय और परक्षेत्रीय। अपनी (ज्ञान की) अवगाहना से अन्य क्षेत्र मे रहे हुए जीव या अजीव द्रव्य का ज्ञान हो, उसे परक्षेत्रीय ज्ञान कहा जाता है। ज्ञेयपदार्थ अपनी अवगाहना मे न हो तो उसे परक्षेत्रीय ज्ञान कहते है। परन्तु गुण और गुणी का अभेद है, इस कारण ज्ञान तो अपने अनन्त आत्मप्रदेश मे रहा हुआ है। यहाँ शंका उठाई गई है कि दूसरे क्षेत्र मे रहे हुए ज्ञेयो को (ज्ञेयरूप परक्षेत्र को) जानने से ज्ञान भी परक्षेत्र मे हुआ कहना चाहिए। ज्ञान दूसरे के क्षेत्र मे हो उसके लिए आपने कहा था–अपने क्षेत्र मे ही अस्तित्व है। परक्षेत्र मे स्वत्व नही है, अपितु परत्व है। क्योकि अनन्त परक्षेत्रगत ज्ञेय रूपज्ञान, अनन्त हो जाने से एक आत्मा भी अनन्तज्ञानरूप होने से आत्मा स्वयं अनन्तरूप बन जाती है। ऐसी हालत में आत्मा अपना एकक्षेत्ररूप एकत्व कैसे रख सकती है? इसके उत्तर में श्रीआनन्दघनजी कहते हैं–'**निर्मलता अभिमान**' गुण और गुणी के अभेद के कारण आत्मा का निर्मल ज्ञानगुण अपने अनन्त आत्मप्रदेश मे रहा हुआ है।

अपने क्षेत्र मे ही ज्ञान का अस्तित्व बताया गया है। ज्ञान का स्वभाव निर्मलता है, इस कारण शीशे के समान निर्मल ज्ञानदर्पण मे ज्ञेयपदार्थ दिखाई देता है, पर उसमे ज्ञान के क्षेत्र मे, ज्ञेय जाता नही और न ज्ञान ज्ञेय मे आता है। इसमे गुण-गुणी मे अभेद होने से सहभावी ज्ञायकधर्म एक ही ओर साथ रहता है, वह ध्रुव है, निर्मल है। ज्ञान की निर्मलता के कारण ज्ञेयपदार्थ ज्ञान के पास आता नही, तथापि वह परक्षेत्रीय ज्ञान भी निजक्षेत्रीय-सा स्पष्ट हो जाता है।

ज्ञेय विनाशे हो, ज्ञान विनश्वरू, कालप्रमाणे थाय। सु.।
स्वकाले करी स्वसत्ता सदा, ते परीते न जाय, सुज्ञानी।।

ध्रुव.।।5।।

***अर्थ*-ज्ञेय पदार्थ नष्ट होने से ज्ञान भी नष्ट हो जाता है; क्योंकि काल के अनुसार ऐसा (किसी न किसी समय नाश) होता ही है। स्वकाल (अपने आत्मा के अनंतपर्यायी काल) को लेकर आत्मा की सता=स्वत्व कभी परानुयायी नहीं होती। आत्मा का स्वकाल अपनी सत्ता को लेकर होता है।**

***भाष्य*-काल से आत्मा का ज्ञान एवं ज्ञेय**

आत्मा का परपरिणमनरूप मे सर्वव्यापित्व मानने पर दूसरे दोष भी आते है, उनमे से कालगत दोष भी है। अतः ज्ञेय का नाश होने पर ज्ञान का भी नाश होता है, यानी ज्ञान नाशवान हुआ। समय-समय पर परिवर्तनशील काल की तरह ज्ञेयपदार्थ भी परिवर्तित होते रहते है, उनके भी उत्पत्तिविनाश होते रहते है और इस कारण ज्ञान नाशवान सिद्ध होता है। ऐसा होगा तो प्रारम्भ मे परमात्मा को हमने **'ध्रुवपदरामी'** कहा था, वह घटिल नही होगा, क्योकि गुण-गुणी का अभेद है। ऐसी विचित्र परिणाम आए, तब तो जानने वाले ज्ञाता–आत्मा का भी नाश होने की सम्भावना है। ज्ञानी ज्ञान का नाश होने से उसका ज्ञाता आत्मा का भी नाश हो जायगा। इस प्रकार आत्मा भी क्षणिक सिद्ध होगा। परन्तु ऐसा होता नही।

इसका समाधान करते हुए गाथा के उत्तरार्ध मे कहा है– **'स्वकाले करी स्वसत्ता सदा, ते परीते न जाय'** अर्थात्–पदार्थ की स्वसत्ता अपने काल की अपेक्षा से सदा-सर्वदा होती है। यानी वह स्वकाल की सत्ता दूसरे काल के रूप मे नहीं जाती, स्वय भी दूसरे रूप मे नहीं जाती। यदि पर का काल स्व का काल बन जाय तो फिर स्व और पर मे कोई भेद ही नही रहेगा। इसलिए अपनी सत्ता अपने-अपने काल की अपेक्षा से है। यदि ऐसा नहीं माना जाएगा, तो घटादि

अनित्य ज्ञेयपदार्थो का नाश होते ही ज्ञान भी नष्ट हो जायेगा। इस तरह ज्ञान और ज्ञान का आश्रयभूत आत्मा भी नाशवान सिद्ध होता है। इसलिए यह माना गया है कि स्वकाल मे आत्मा का अनादि-अनन्तत्व होने से स्वसत्ता से चैतन्य ज्ञानगुण का रूपान्तर होता है। वास्तव मे ज्ञेय का सर्वथा नाश नही होता है, केवल पर्याय-परिवर्तन होता है, उस समय उसका ज्ञान भी बदल जाता है, सर्वथा नष्ट नही होता। मतलब यह है–ज्ञेयपदार्थ के पूर्वपर्याय का नाश हो कर वह अपरपर्याय धारण करता है, तब पूर्वपर्याय का ज्ञान भी परपर्यायरूप बन जाता है। इस दृष्टि से आत्मा का और आत्मा के ज्ञानगुण का नाश नहीं होता। काल की अपेक्षा से ज्ञेय की अतीत और अनागतपर्याय पलट जाती है, तब अतीतपर्याय वर्तमान पर्याय को धारण करती है। इन सर्वपर्यायो का भासनधर्म ज्ञान मे है। सिर्फ यह भासनधर्म दूसरे रूप मे परिणत होता है। इससे ऐसा आभास होता है कि ज्ञान मे विनाशी धर्म है। यद्यपि वह स्वकाल की अपेक्षा से अपने उत्पाद-व्ययरूप परिणमन को देखते हुए ज्ञान उत्पादव्ययरूप है तथापि उसका धर्म (ध्रुवत्व) स्वसत्ता है, वह कदापि परसत्तारूप नहीं होता। इस तरह सिद्ध हुआ कि जीवद्रव्य स्वकाल से स्वसत्ता मे सदा अखण्ड पदार्थ है। स्वकाल ही स्वरूप है, परकाल परस्वरूप है। इसलिए स्वस्वरूपी पदार्थ पररूप बन नही सकता।

परभावे करी परता पामतां, स्वसत्ता थिर ठाण; सु.।
आत्मचतुष्कमयी परमां नहिं, तो किम सहुनो रे जाण ।।सु.।।

ध्रुव.।।6।।

अर्थ–परपदार्थो का ज्ञान करने वाला आत्मा अपने सिवाय (पर) पदार्थो के भावों (पर्यायों) की अपेक्षा से परतत्व (परपदार्थ) को प्राप्त होने से स्व-आत्मा अपनी सत्ता (अस्तित्व) में कैसे स्थिर रह सकता है? आत्मचतुष्क (अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनंतचारित्र और अनंतवीर्य, ये आत्मा के चार गुण) पर में= परपदार्थ में नहीं होते, तो यह (पर में मिला हुआ) किस प्रकार सकल पदार्थों का ज्ञाता (सर्वज्ञ) हो सकेगा?

भाष्य–**भाव से आत्मा का परत्व : ज्ञान-ज्ञेय की अपेक्षा मे**

पूर्वगाथाओ मे द्रव्य, क्षेत्र और काल की अपेक्षा से आत्मा के ज्ञान और ज्ञेय का विचार किया गया था; अब इस गाथा मे भाव से ज्ञान-ज्ञेय का विचार किया गया है। प्रतिवादी शंका प्रस्तुत करते हैं कि आत्मा जब पर पदार्थों का

ज्ञान करता है, यानी वह अपने से भिन्न परमाणु, आकाश आदि का ज्ञान करता है तो उन परपदार्थों के भावों-पर्यायों का ज्ञान भी वह करता ही है, तब ज्ञान पर्यायभावमय हो जाता है, ऐसा होने से वह परत्व को प्राप्त हो जाय, यह स्वाभाविक है। इसी का समाधान करते हुए कहा है-**'स्वसत्ता थिर ठाण'** अर्थात् परवस्तु ज्ञेयादि को जानने से परवस्तु को प्राप्त करने पर भी आत्मा की अपनी जानने की सत्ता स्वस्थान मे ही स्थिर समझनी चाहिए। यहाँ ईश्वर (आत्मा) को सर्वव्यापी मानने वाले वादी फिर शंका उठाते है कि क्या आत्मा परपदार्थत्व (परस्वरूप) को प्राप्त होता है? उत्तर मे कहते है-नही, आत्मा के अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव दूसरे पदार्थ मे संभव नहीं हो सकते और न दूसरे आत्मा मे संभव हो सकते हैं। इसलिए आत्मा परपदार्थ को प्राप्त नहीं होता। परन्तु आत्मा का जो निर्मल ज्ञान है, वह ज्ञेय के आकार मे परिणमन हो जाता है। किन्तु ज्ञान ज्ञेयाकार परिणत (ऐसा परभाव प्राप्त) होने पर भी आत्मा दर्पण की तरह अपनी आत्मसत्ता में स्थिर रहता है।

यहाँ फिर यह शका होती है-यदि आत्मा परपदार्थ तक परिणमन नही पाता, स्वयं अपनी आत्मा में ही स्थिर रहता है और अन्य पदार्थो मे आत्मा के गुणचतुष्टय नही है, तब आत्मा अन्य सब पदार्थो का ज्ञाता (सर्वज्ञ) कैसे हो सकता है? इसी प्रकार की शका **'वीसवीसी'** ग्रन्थ मे उठाई गई है कि[1] जीव यदि सर्वव्यापक नहीं है तो उसका जो धर्म-ज्ञान है, वह आत्मा से बाहर कैसे हो सकता है? और धर्मास्तिकायादि से रहित अलोक मे वह (ज्ञान और ज्ञानात्मा) कैसे जा सकता है? मतलब यह है कि किसी भी एक सर्वज्ञ आत्मा का ज्ञान लोकगत अनन्तपदार्थ, अनन्तपर्यायमय अनन्त-अलोकाकाशगत को भी जानता है, तो किसी एक नियत स्थल मे स्थित एक ही आत्मा का ज्ञानगुण उस आत्मा के बाहर तथा लोक के बाहर (जहाँ धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय नहीं है।) अलोकाकाश में कैसे जा सकता है? कैसे गति कर सकता है?

पूर्वोक्त शका का समाधान अगली गाथा मे श्रीआनन्दघनजी करते हैं-

अगुरुलघु निजगुणने देखतां, द्रव्य सकल देखंत ।सु.।
साधारणगुणनी साधर्म्यता, दर्पणजलदृष्टान्त; सु।।
ध्रु.।।7।।

---

1. जीवो य ण सव्वगओ तो तद्धमो कहं भवइ बाही ?
कहं वाऽलोए धम्माइविरहिए गच्छइ अणंते ?।।18।।

अर्थ–आत्मा के अगुरुलघु (षड्गुणहानिवृद्धिरूप) गुण को देखते हुए वह समस्त द्रव्यों (पदार्थों) को देखता है। इस अगुरुलघु नामक साधारण (एक समान) गुण की द्रव्य-पदार्थमात्रमां साधर्म्यता=समानधर्मित्व है, इस कारण एक पदार्थ दूसरे पदार्थ में मिल नहीं जाता, जिस तरह दर्पण या जल में सामने जलती हुई अग्नि की ज्वाला का प्रतिबिम्ब हूबहू पड़ता है, लेकिन दर्पण और जल में वह ज्वाला, घुस नहीं सकती, न ज्वाला में ये दोनों घुस सकते हैं। दर्पण, जल तथा ज्वाला तीनों में से कोई अपना धर्म (स्वभाव) नहीं छोड़ता। न ज्वाला से दर्पण व जल गर्म होता है और न जल से आग ठंडी होती है। इस दर्पण-जल के दृष्टान्त से एक दूसरे के पदार्थत्व में एक दूसरे पदार्थ परिणत नहीं होते ।

भाष्य–एक द्रव्य का दूसरे द्रव्य में न मिलने का कारण : अगुरुलघुगुण

पूर्वगाथा में जो शंका उठाई गई थी, उसका समाधान इस गाथा में दिया गया है कि अगुरुलघु नाम का एक गुण ऐसा है, जिसके कारण आत्मा हवा से उड जाए, ऐसा हलका भी नही होता और न ही वह पहाड जैसा भारी होता है। जैसे शीशे मे वस्तु घुसती नही, फिर भी हूबहू दिखाई देती है, अथवा जल मे वस्तु प्रविष्ट होती नही, फिर भी उसका पूरा-पूरा प्रतिबिम्ब पडता है, इसी प्रकार अगुरुलघुपन के कारण आत्मा ज्ञेयवस्तु मे प्रविष्ट हुए बिना समस्त वस्तुओ को हूबहू देख लेता है। अगुरुलघुनामकर्म के उदय से आत्मा वस्तु मे प्रवेश नही करता, तथापि उसमे उसका प्रतिबिम्ब पडता है, इसलिए परवस्तु का नाश होने पर भी आत्मा के ज्ञानगुण का नाश नहीं होता। जिस प्रकार दर्पण मे और पानी मे प्रतिबिम्ब या छाया को झेलने की योग्यता (शक्ति) रूप समानता है, उसी प्रकार षड्गुणहानि-वृद्धिरूप अपने अगुरुलघुपर्याय गुण को जैसे आत्मा अपने सम्पूर्ण ज्ञान से जान सकता है, वैसे ही यह सामान्य गुण प्रत्येक द्रव्य मे एक सरीखा होने से आत्मा अपने से अतिरिक्त अन्य सब पदार्थों को जान-देख सकता है।

आत्मा की सर्वज्ञता के बारे में विशेष स्पष्टीकरण

उपर्युक्त उत्तर बहुत ही संक्षिप्त है। इसलिए यहाँ हम ब्योरेवार इस बात को बताने का प्रयत्न कर रहे हैं कि एक आत्मा का ज्ञान दूसरे सर्वपदार्थों को कैसे जान सकता है? (1) आत्मा अपने सर्व-द्रव्य-क्षेत्र-काल भावों को अपने सम्पूर्ण ज्ञान से जान देख सकता है। इसमें कोई शंका नहीं है, क्योंकि स्वयं तो स्वयं को जानता ही है (आत्मा का अस्तित्व अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल

और भाव के आधार पर ही है।) (2) परन्तु आत्मा मे जैसे अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, और भाव है, वैसे ही दूसरे पदार्थो के द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव नही है, यह भी मानना पडेगा। अर्थात् किसी एक प्रस्तुत आत्मा के सिवाय जगत् में जितने जड-चेतन अन्य पदार्थ है, उनके जो द्रव्यादि चारों है, उन सबका नास्तित्व (अभाव) भी आत्मा में विद्यमान है। तभी वह आत्मा दूसरे पदार्थो से अलग होता है। (3) अगर ऐसा न हो तो वह आत्मा और दूसरे पदार्थ एकाकार हो जाय, सारा जगत् एकरूप ही प्रतीत हो, कोई भी पदार्थ अलग-अलग प्रतिभासित ही न हो। किन्तु पदार्थ अलग-अलग होते है। उसका कारण है–प्रत्येक पदार्थ अपने-अपने द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव के अस्तित्व के कारण उस-उस द्रव्यादिरूप है, साथ ही दूसरे पदार्थो के द्रव्यादि चारो उसमे नही है, उन सबका नास्तित्व उसमे है। इसलिए प्रत्येक पदार्थ के पृथक्-पृथक् होने की प्रतीति हो जाती है। (4) जैसे स्वद्रव्य मे पर के द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव नही है, वैसे ही स्वद्रव्य के अपने एक प्रकार के द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव मे दूसरे प्रकार के द्रव्यादिचारो नही है, उनका उसमे अभाव होता है। उदाहरणार्थ–एक आत्मा नारकभाव मे था, तब उसमे जो द्रव्यादि चारो उस समय वर्तमान रूप मे थे, वे उस आत्मा के मानवभव मे आज वर्तमानरूप मे नही है, अपितु भूतकालीन पर्यायरूप है। वर्तमानरूप मे उन पर्यायो का अभाव है। उसी प्रकार वर्तमान पर्याय उस समय इस आत्मा मे भविष्य के पर्यायरूप मे थे, पर वर्तमानरूप मे नही थे। अर्थात् एक ही पदार्थ के द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावो मे भी परस्पर स्वद्रव्यादि का अस्तित्व और परद्रव्यादि का नास्तित्व होता है। (5) किसी ज्ञानादि एक गुण के स्वपर्याय दूसरे सुखादिगुणों की अपेक्षा से परपर्याय है। तथा एक-एक गुण के अनन्त-अनन्त पर्याय होते है, इस दृष्टि से एक ही आत्मा में एक-एक गुण के प्रत्येक पर्याय मे स्वपर्यायो का अस्तित्व और पर-पर्यायों का नास्तित्व होता है। (6) यो अस्तित्व और नास्तित्व इन दोनो ही पर्यायो का अस्तित्व प्रत्येक पदार्थ मे होता है। (7) इसलिए जो आत्मा अपने पर्यायो का अस्तित्व जानता है, उसी प्रकार वह अपने मे रहे हुए परपर्यायो के नास्तित्व के अस्तित्व को भी जानता है। अर्थात् वह यह भी जानता है कि अपने मे कौन-कौन से पदार्थ और उनके पर्याय नहीं है। उन सभी पदार्थो को और उनके पर्यायो को उस आत्मा को जानने पडते है। यो जानने पर ही वह अपने को पूर्णतया जान सकता है। अन्यथा, वह अपने को भी पूरी तौर से नही

जान सकता। इसीलिए आचारांगसूत्र में कहा है–'**जे एगं जाणइ, से सव्वं जाणइ, जे सव्वं जाणइ से एगं जाणइ।**' इस प्रकार स्व और परपर्यायो भावों की षड्गुण तथा भाग की हानि और वृद्धि जैसी अपने में ही है, वैसी ही दूसरे द्रव्यों मे है। इस तरह की सदृशता के कारण जो अपने को पूर्णतया जानता है, वह समस्त द्रव्य को भलीभाति जान सकता है। इसीलिए कहा है–'**सकल द्रव्य देखंत**', केवलज्ञान की सम्पूर्ण ज्ञान करने की शक्ति इतनी अधिक होती है कि उसमे तीनो ही काल के सर्वपदार्थो का एक समय मे सम्पूर्ण ज्ञान प्रत्यक्ष हो सकता है। ऐसा न हो तो विश्वस्थिति ही अव्यवस्थित हो जाय। सामान्य मनुष्य के ज्ञान की अपेक्षा एक विद्वान् का ज्ञान कितना गुना अधिक होता है? वह सम्भव है, तो सर्वज्ञ का ज्ञान उससे कई गुना अधिक हो, इसमे सन्देह ही क्या? विश्व के व्यापक तत्त्वज्ञो को इसमे कोई सन्देह ही नही होता।

श्री पारस जिन पारसरससमो, पण इहां पारस नाहिं, सुज्ञानी।
पूरण रसियो हो निजगुणपरसमां[1], 'आनन्दघन' मुझ मांहि 'सु.'।।
ध्रु.।।7।।

अर्थ–**श्री (केवलज्ञानरूपी लक्ष्मी) सहित पारसजिन (रागद्वेपविजेता पार्श्वनाथ-परमात्मा) पारसमणि के रस के समान हैं, परन्तु यहाँ मेरे पारस रस नहीं है। सम्पूर्ण (रसपूर्ण) रसिक अपने गुणों के प्रतिसमय स्पर्श से आनन्द के घन-समान पारसमणि से भी बढ़कर 'आत्मा' मुझ में है।**

***भाष्य*–पार्श्वनाथ के समान पारसमणि क्या और कैसे?**

पारसमणि मे यह गुण होता है कि उसके साथ लोह का स्पर्श होते ही वह लोहा सोना बन जाता है। इसी प्रकार श्री पार्श्वनाथ प्रभु भी उसके समान पारस होने से वे भी अपने सम्पर्क मे आने वाले अन्य जीवो को अपने जैसा बना देते है। फिर भी पारसनाथ प्रभु पारसमणि नही हैं, क्योकि पारसमणि तो जड पत्थर है अथवा वह पारसरस मेरे मे नही है। मेरे मे अभी तक पा (पाव) रस= चौथाई रस भी नही है, तब मैं कैसे ध्रुवपद मे रमण करने वाले पार्श्वनाथ परमात्मा की बराबरी कर सकता हूँ। क्योकि पार्श्वनाथ परमात्मा वीतराग बन हैं, अपने आत्मस्वरूप मे उनका प्रतिक्षण स्पर्श होने से अथवा अपने गुणों के

1 कहीं-कहीं 'परसमां' के बदले 'परसनो' शब्द है, जिसका अर्थ है, अपने गुणों में प्रसन्न।

सम्पूर्ण प्रसन्न होने से वे अपने गुणो मे सम्पूर्ण रूप मे रसपूर्ण बने है, आनन्दघनरूप है, उसी प्रकार का आनन्दघन=आनन्दसमूहमय, पूर्ण रसिक आत्मा अपने निजगुणो के स्पर्श (गुणो से प्रसन्न) होने से मेरे अन्दर भी विराजमान है। उस आत्मा को केवल प्रगट करने की जरूरत है और वह प्रगट हो सकता है–शुद्ध आत्मगुणरूपी पारसमणि के रस का प्रतिक्षण संस्पर्श होने से।

श्री आनन्दघनजी इस स्तुति का उपसहार करते है–प्रभो! मै (अन्तरात्मा=मुमुक्षु) आत्म–(पारस) रस का सदैव स्पर्श करके आप (परमात्मा) के साय एकरूप होना चाहता हूँ। जो जड पारसमणि है, वह निजगुण–प्रसन्न, पूर्णरसिक एव आनन्दघन नहीं है, फिर भी अपने स्पर्श से दूसरे से परिर्वतन कर सकता है, तो पूर्णरसिक, स्वगुणप्रसन्न, आनन्दघन श्रीपार्श्वनाथ परमात्मा अपने स्पर्श से दूसरे का क्या नहीं कर सकते? मै आपकी स्तुति, भक्ति, सेवा, या स्मरण इसलिए करता हूँ कि आप मे जैसा आनन्दसमूह है, वैसा ही मेरे मे है, जिस आत्मगुण के सतत् स्पर्श से आपने पूर्ण परमात्मरूप आनन्द (परमानन्द) घन प्राप्त किया है, आप पूर्ण ज्ञानचेतनामय है, मै अल्पज्ञानचेतनामय (लोहवत्) हूँ, आपके स्पर्श जैसा ही मेरा आत्मस्पर्श हो तो मेरे अन्दर रहे हुए आनन्दसमूह को प्रगट करके मै भी आपके सरीखा ही बनूँ। बस, यही मेरी तमन्ना है। मुझ मे तिरोभूत रस आत्मगुणस्पर्श से पूर्ण आविर्भूत हो, यही भावना है।

सारांश–इस स्तुति मे श्री आनन्दघनजी ने सर्वोच्च आत्मिक गुणो के पुंज एव आत्मा के ज्ञानगुण की पूर्णता को प्राप्त श्रीपार्श्वनाथ परमात्मा के गुणो के माध्यम से आत्मा के सर्वोच्च गुणो की आराधना कैसे हो सकती है? परमात्मा (शुद्ध आत्मा) किस गुण से सर्वव्यापक द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की अपेक्षा से कहा जा सकता है, वह अन्यदर्शनीय मत की तरह सर्वद्रव्यव्यापी क्यों नही है, इसकी विशद् चर्चा की है। फिर शुद्ध आत्मा (परमात्मा) की सर्वज्ञता अकाट्य युक्ति द्वारा सिद्ध की है। अन्त मे, पार्श्वनाथ प्रभु की पारसमणि के पूर्णरस से तुलना करके आनन्दघनजी ने अपनी आत्मा मे भी प्रतिक्षण आत्मगुणस्पर्श से वैसी शक्ति वाले पारस की कल्पना की है और पार्श्वनाथ के समान पारस बनने की कामना की है।

***

24. श्रीमहावीर-जिन स्तुति-

परमात्मा से पूर्णवीरता की प्रार्थना

(तर्ज–धनाश्री)

वीरजिनेश्वर चरणे लागूं, वीरपणुं ते मागुं रे।
मिथ्यामोह-तिमिर-भय-भाग्युं, जीत नगारूं वाग्युं रे ।।
वीर.1।।

अर्थ–इस अवसर्पिणी काल के चौबीसवें तीर्थकर श्रमण भगवान् महावीर स्वामी (परमात्मा) के चरण (सामायिक आदि चारित्र) का स्पर्श करके नमस्कार करता हूँ अथवा अपना अन्तःकरण चारित्र में लगाता हूँ और उनके द्वारा वताई हुई या उनके जैसी वीरता माँगता हूँ, जिस वीरत्व के प्रभाव से प्रभु का मिथ्यात्व-मोहनीय एवं अज्ञानरूपी अन्धकार से उत्पन्न होने वाला एवं आत्मा को विह्वल वनाने वाला भय भाग गया था और केवलज्ञान प्राप्त करके कृतकृत्य होने से विजय का डंका (नगारा) बज उठा था।

भाष्य–वीरता की प्रार्थना : किससे, क्यों और कैसी?

पूर्वस्तुति मे द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से परत्व का त्याग करके परमात्मा से आत्मा के सर्वोच्च गुण-शुद्धज्ञान का पारसरत्न प्राप्त करने की उत्कण्ठा प्रकट की थी। परन्तु आत्मा के अनुजीवी स्वगुणो या स्वशक्तियो को प्राप्त करने के लिए जब तक आत्मा में वीरता प्रकट न हो जाय अथवा आत्मा आत्मशक्ति या आत्मवीर्य से परिपूर्ण न हो जाय, तब तक स्वगुण या स्वशक्ति का प्रकटीकरण नही हो सकता। अतएव इस स्तुति मे श्रीआनन्दघनजी ने वीतराग परमात्मा से वीरता की याचना की है।

इस सन्दर्भ मे सर्वप्रथम सवाल यह होता है कि आम आदमी वीरता की माँग किसी बहादुर से या किसी साहसी पुरुष से करता है, अथवा जो शस्त्र-अस्त्र चलाने मे निपुण हो अथवा युद्ध करने मे फुर्तीला बाँका वीर हो, उनसे वीरता सिखाने की प्रार्थना करता है; परन्तु यहाँ जिनसे योगीश्री वीरता की याचना या प्रार्थना कर रहे हैं, वे तो वीतराग हैं, उनके न तो कोई शत्रु है, न

उन्हें शस्त्र-अस्त्र से किसी से लडना है, न वे किसी प्रकार का युद्धकौशल दिखाते है और न ही ये बाते (शस्त्रास्त्र-संचालन आदि) किसी को सिखाते है, उनका मार्ग ही इन सबको छोडने और छुडाने का है, वे तो हथियारो को छुडा कर निहत्था बनाते है, हिसाजनक युद्ध, शास्त्रास्त्रसंचालन, शत्रुता, मारकाट करने मे बहादुरी आदि सबका स्वयं त्याग कर बैठे है और दूसरो से त्याग कराते है, तब फिर ऐसे महात्यागियो और जगत् से सर्वथा उदासीन, निरपेक्ष, वीतराग से वीरता की माग करना क्या उचित है, क्या युक्तिसगत है? इसके उत्तर के लिए हमे वीरता की यथार्थ परिभाषा और इनके वास्तविक अधिकार को समझना होगा। क्योकि वीरता की याचना उसी से करना न्यायोचित है, जो सच्चे मायने में वीर हो, जिसने अपने जीवन मे पूर्णवीरता प्राप्त की हो, जो युद्धवीर, दानवीर और धर्मवीर से भी ऊपर उठ कर अध्यात्मवीर बन कर आत्मा पर लगे हुए राग-द्वेष-मोह आदि रिपुओ या कर्मशत्रुओ के साथ वीरतापूर्वक जूझ कर पूर्ण केवलदर्शन एव अनन्तवीर्य प्राप्त कर चुके हो, जो वीरता के मार्ग से गया है, पूर्णवीरत्व की मजिल पर पहुच चुका हो, उसी से ही वीरता की याचना करना उचित है। इस दृष्टि से देखा जाय तो भगवान् महावीर स्वयं आदि से लेकर अन्त तक वीरता के आग्नेयपथ से गुजरे हैं, उन्हे वीरता प्राप्त करने के कारण, साधन, वीरता के मार्ग मे आने वाली विघ्न-बाधाओ, उपसर्गो और परिषहो का परिपक्व अनुभव है, इसलिए उनसे इस प्रकार की वीरता की प्रार्थना करना कोई अनुचित नही है और वास्तव मे देखा जाय तो ऐसे अध्यात्मवीरो से ही वीरता की तालीम ली जा सकती है।

सम्पत्ति, सन्तान, घर, स्त्री, वैभव, हथियार, यश, मुकद्दमे मे जीत आदि मे से किसी चीज की याचना क्यो नहीं की? इसका उत्तर यह है कि दीर्घदर्शी संयमी और आत्मार्थी व्यक्ति इन शरीर से सम्बन्धित वस्तुओ की माग नही करता, वह यह सोचता है कि पैसा, स्त्रीपुत्र, घर आदि चीजें तो इसी जन्म मे काम आती है, फिर वीतरागप्रभु से तो वही चीज मागी जाती है, जो प्रकारान्तर से प्राप्त न हो सकती हो अथवा जिस महानुभाव से जो चीज मागना उचित न हो, उसे उनसे मांगना भी व्यर्थ है। इसी दृष्टि से श्रीआनन्दघनजी ने इस गाथा मे सूचित किया है–'**वीरपणुंते मागुं रे।**' वीर प्रभो! आप महावीर है, आपने जिस तरीके से महावीरत्व प्राप्त किया है, वही महावीरत्व मै आपसे चाहता हूँ। मै भौतिक वीरता या बाह्य शूरवीरता नही चाहता, जो एक जन्म तक ही सीमित हो, या जिससे आत्मिक शत्रुओ के सामने दुम दबा कर भाग जाऊँ, बल्कि ऐसी शूरवीरता चाहता हूँ, जो जन्म-जन्मान्तर से मुझे धोखे मे डालने वाले, मेरे दिमाग मे भ्रान्ति पैदा करने वाले और मेरी अनन्तशक्ति को राग, द्वेष, मोह, काम, क्रोध आदि दुर्गुणो मे लगा कर छिन्न–भिन्न करने वाले है, उनसे निपट सकू उनसे जूझ सकू और उन्हें खदेड सकूं। मै आपसे वैसी वीरता इसलिए चाहता हूँ कि अगर मुझमे वह आध्यात्मिक वीरता, विविध आत्मशक्ति-सम्पन्नता या वीर्याचारपरायणता होगी तो मै आत्म-विकास के लिए जो कुछ करना चाहता हूँ, स्वरूपरमणता मे अखण्ड टिके रहने के लिए जिस प्रकार का पुरुषार्थ करना चाहता हूँ, तथा सम्यग्दर्शन ज्ञान-चारित्र की भरसक साधना करके एक दिन अनन्त-ज्ञान, अनन्त-दर्शन अनन्त-अव्याबाधसुख और अनन्तवीर्य प्राप्त करना चाहता हूँ, वह कर सकूंगा। इसीलिए मै आपसे और किसी भी सासारिक वस्तु की याचना न करके सिर्फ आध्यात्मिकवीरता की याचना करता हूँ, इस वीरता के प्राप्त करने से क्या होगा? इस शंका के समाधानार्थ स्वय श्रीआनन्दघनजी कहते हैं–'**मिथ्यामोह-मोह-तिमिर-भय भाग्युं, जीत नगारूं वाग्युं रे।**' इसका भावार्थ यह है कि प्रभो! महावीर! जिस प्रकार आपके द्वारा महावीरता प्राप्त होते ही मिथ्यात्व, मोहनीयकर्म, अज्ञानान्धकार आदि आपकी आत्मा के प्रबल शत्रुओ का भय नष्ट हो गया अथवा मिथ्यात्व, मोहनीयकर्म, अज्ञानान्धकार और भय ये चारो प्रबल शत्रु भाग गए, आपने [illegible] को चरितार्थ कर लिया और जब ये शत्रु रणक्षेत्र छोड कर भाग खडे [illegible] वीरता के परिणामस्वरूप आपकी जीत का नगाडा बज उठा, लोग

आपको रागद्वेषविजेता कह उठे, सर्वत्र आपकी विजयदुन्दुभि बज उठी, लोग जय-जयकार करने लगे; उसी प्रकार मै भी आपके पावन चरणकमलो मे नमस्कार करके उसी आत्मिक वीर्य से परिपूर्ण वीरता की याचना करता हूँ। समस्त कर्मो और उनसे उत्पन्न हुए कषायो आदि समस्त विभागो का नाश होता है, तब आत्मा पूर्णरूप से खिल उठता है और आत्मा का वीर्य भी सम्पूर्णत: खिल उठता है। इस प्रकार की सर्वोच्च विजय होने से जीत का नगाडा बज उठता है। सचमुच एक वीरता की याचना करने से उसके अन्तर्गत उपर्युक्त आत्मिक शत्रुओ का भयनिवारण, कर्मशत्रुओं पर विजय का डंका, अरिहन्तपद, साहस, मनोबल, धर्म, गाम्भीर्य आदि समस्त अनिवार्य वस्तुएँ आ जाती है। जैसे एक अंधे ने देव से वरदान माँगा था कि मेरी पौत्रवधू को मै सातवी मजिल पर सोने के घडे मे छाछ बिलोते देखूँ, इस वरदान की याचना मे दीर्घ आयुष्य, अंधत्वनिवारण, सात मजिला मकान, सोना, पुत्र, पौत्र, पौत्रवधू, गाय आदि बहुत-सी वस्तुएँ आ गई, वैसे ही योगीश्री ने महावीर प्रभु से वीरता माग कर उपर्युक्त सब अध्यात्मयोग्य वस्तुएँ मांग ली है।

वीरत्व से यहाँ तात्पर्य है-आत्मवीर्य से। नामवीरत्व, स्थापनावीरत्व, द्रव्यवीरत्व, को छोड कर यहाँ भगवान् से भाववीरत्व को प्राप्त करने का लक्ष्य है।

अगली गाथाओ में उसी आत्मवीर्य (आध्यात्मिक वीरता) के प्राप्त करने का क्रम बताते है-

छउमत्थ वीरज (वीर्य) लेश्या-संगे, अभिसंधिज मति अंगेरे।
सूक्ष्मस्थूल-क्रिया ने रंगे, योगी थयो उमंगे रे।।
वीर.।।2।।

अर्थ-**छद्मस्थ (मन्दकषाययुक्त) वीर्य (पण्डितवीर्य) के साथ शुभलेश्या (उत्तम परिणामवाली धर्म-शुक्ललेश्या) के संग (संगति) से अभिसन्धिज (आत्मा का शुद्ध स्वरूप प्रकट करने की अभिलाषा) स्वयंबुद्धता=स्वयंप्रज्ञारूप मति से स्वयंबोध के अंग-प्रभाव से सूक्ष्म (आत्मा में रमण करने की सूक्ष्म) क्रिया, तथा स्थूल (आत्मा की पूर्ण तथा शुद्ध स्वरूप को प्रकट करने के हेतुरूप चारित्र, अहिंसा, पंचमहाव्रतादि या ज्ञानादि पंचाचार-पालन की अवश्य आचरणीय) क्रिया के रंग (अभिलाषा) से परम उत्साह (उमंग) पूर्वक योगी (द्रव्य-भाव से साधु) बना है।**

भाष्य–छद्‌मस्थवीर्य : सूक्ष्मस्थूलक्रिया का उत्साह

इस गाथा मे वीर्य के क्रमिक विकास का लक्षण बताया गया है। सर्वप्रथम वीर्य क्या है? उसका क्रमशः विकास कैसे होता है? इस बात को भलीभांति समझ लेना चाहिए। यद्यपि पिछली गाथा में आत्मिक-वीरता की व्याख्या की गई थी। परन्तु आत्मिक वीरता मे भी वीर्य मुख्य वस्तु है। उसके बिना वीर और वीरता संभव नहीं होती, क्योंकि वीर्यवान् हो, वही वीर कहलाता है और जो वीर्य से परिपूर्ण हो, वह वीरता कहलाती है।

1 रस, 2 रक्त, 3 मास, 4 मेद (चर्बी), 5 हड्डी, 6. मगज और 7 वीर्य से सप्त धातु है। ओजस् को कोई–कोई धातु कहते है, वह भी वीर्य के परिपाक के रूप मे है इन सात धातुओ मे से वीर्य अन्तिम धातु है। आहार पचने लगता है, तब उसमे से रसभाग और मलभाग अलग-अलग हो जाते है। मलभाग मलद्वार द्वारा बाहर फैक दिया जाता है, किन्तु रसभाग में रस से सर्वप्रथम रक्त बनता है, फिर उसमे से मास, चर्बी और हड्डियां बनती है, अमुक हड्डियो मे मगज (दिमाग) भर जाता है, उसमे से वीर्य बन कर वीर्याशय में चला जाता है। फिर वह शरीर मे फैल जाता है, उससे शरीर मे एक प्रकार की चमक-तेजस्विता या लावण्य, स्फूर्ति, सौन्दर्य और उत्साह आदि प्रतीत होने लगते है, इसे ही 'ओजस' कहते है। निरोगी (स्वस्थ) मानव शरीर मे ओजस् चमकता है। सामान्य जनता की समझ ऐसी है कि उपर्युक्त 7 धातुओ मे से सातवी धातु, जो वीर्य है, उसी के कारण वीरता, पराक्रम और शौर्य प्रकट होता है, परन्तु यथार्थ वस्तुस्थिति ऐसी नही है। सचाई यह है कि शरीर का सब प्रकार का सचालक आत्मा शरीर मे व्याप्त रहता है, उसका एक गुण वीर्य है। इस वीर्यगुण के कारण ही शरीर मे धातुओ का क्रमिक निर्माण ऐसा होता है कि शरीर मे वह सातवे धातु के रूप मे प्रतीत होता है। शरीरस्थ वीर्य पुद्‌गलवर्गणा से बना हुआ होता है। परन्तु उसके निर्माण मे आत्मा का वीर्यगुण जितना प्रकट होता है, उतना ही, उतने बल वाला ही पौद्‌गलिक वीर्य प्रकट हो सकता है। यही कारण है कि शरीर छोटा होते हुए भी हाथी की अपेक्षा सिंह में वीर्य (शक्तिशालिता) अधिक होता है। वीर्य (शक्ति, बल, स्थाम, पराक्रम, शौर्य, उत्साह आदिरूप) मूल में आत्मा की वस्तु है; यह बात जैनदर्शन बहुत ही स्पष्टतापूर्वक समझाता है। जैनदर्शन का कथन है कि छोटे-बडे कोई भी जन्तु, कीट, पशु, पक्षी, मानव या देव वगैरह मन, वचन और शरीर से जो कुछ भी सूक्ष्म या स्थूल

बूझ कर इरादतन कायादि योग से होने वाली आत्मा की सूक्ष्म स्थूल प्रवृत्तियो के आनन्द (रग) मे आ कर उत्साहपूर्वक आत्मा योगी (मन-वचन-काया के योगो वाला) हो जाता है, वह[1] अभिसधिज योग कहलाता है और खास प्रकार के प्रयत्न=आत्मा मे होने वाले सहज स्फुरण से शरीर मे जो प्रवृत्ति सहजरूप से चलती है। रक्त वगैरह धातुओ मे अनेक प्रकार की प्रवृत्तियो (कम्पन, स्फुरण-एक मे से दूसरे में होने वाला रूपान्तरण चलता रहता है) से आत्मा मे होने वाला स्फुरण-'**अनभिसन्धिजयोग**' कहलाता है।

इन दोनो को सरलता से समझते है-हम नीद लेते है, उस समय भी शरीर के प्रत्येक धातु मे कुछ-न-कुछ प्रवृत्ति चलती रहती है, उस समय आत्मप्रदेशो मे भी कर्मो के कारण खौलते हुए पानी के बर्तन मे जैसे पानी उछलता रहता है, वैसे सतत् प्रवृत्ति चालू रहती है, उसे अनभिसधियोग कहते हैं तथा जब हम चलते है या हाथ से कुछ उठाते है, तब कुछ अलग ही किस्म की ताकत लगानी पडती है, उस समय शरीर तथा आत्मा मे मन-वचन-काया मे प्रयत्नपूर्वक जो प्रवृत्ति चलती है, उस समय मन-वचन-काया मे जो योग उत्पन्न होता है, उसका नाम अभिसंधिज योग है।

निष्कर्ष यह हुआ कि पण्डितवीर्य (ज्ञानपूर्वक आत्मभावोल्लास) होता है, तभी अभिसंधिज (प्रयत्नपूर्वक कर्म ग्रहण करने योग्य) मति (स्वयप्रज्ञता या स्वयबुद्धता-शुद्धमति) प्राप्त होती है और उस शुभमति के सग से संसार के कारण-कार्य का त्याग होता है, और साधु बनने के बाद भी 5 महाव्रतादि की स्थूलक्रिया और निज आत्मा को निज आत्मा मे स्थिर करने का—आत्मरमण करने की सूक्ष्मक्रिया का रंग (भाव) उत्पन्न होता है।

यह सब देख कर श्रीवीरप्रभु को स्थूल और सूक्ष्म क्रिया करने का ऐसा मौका मिल गया कि संसार से विरक्ति हो गई और अत्यन्त उत्साह से वे ससार-त्यागी योगी हो गए। यानी छद्मस्थवीर्य और लेश्या के कारण कर्म ग्रहण

1 वीरियऽन्तराय-देसक्खएण सव्वक्खएण वा लद्धी।
अभिसधिजमियरं वा तत्तावीरियं सलेसस्स।।3।। —कर्मप्रकृति

वीर्यान्तराय कर्म के देश से या सर्व से क्षय होने से प्राणियो को जो लब्धि उत्पन्न होती है, उसके कारण छद्मस्थ-लेश्यावाले सर्वजीवो को जो वीर्य होता है, वह अभिसंधिज (या अनभिसंधिज) वीर्य कहलाता है, (बाकी के केवलज्ञानी या सिद्ध भगवान् का वीर्य क्षायिक [illegible] [illegible] है।)

हलचल, स्पन्दन या प्रवृत्ति करते हैं, उन सबसे आत्मा का वीर्य ही काम आता है। उस वीर्य के बिना जड मन-वचन-काय कुछ भी नही कर सकते।

आत्मा मे वीर्यशक्ति के दो भाग है। केवलज्ञानी प्रभु की ज्ञानशक्ति से भी उसके दो भाग न हो सके, ऐसा एक भाग ले। उसका नाम वीर्य का एक **अविभाग** कहलाता है। ऐसे अनन्त वीर्य-अविभाग प्रत्येक आत्मा मे होते है परन्तु प्रत्येक आत्मा के सारे के सारे वीर्याश-विभाग खुले नही होते। अपितु न्यूनाधिक अंशो मे खुले रहते है। बाकी के कर्म से ढके हुए (आवृत्त) रहते है। कम से कम खुली वीर्यशक्ति वाले जीवों से लेकर ठेठ सारी की सारी पूर्णवीर्यशक्ति खुली हो, वहाँ तक के भी जीव (आत्मा) मिल सकते है। यहाँ न्यूनाधिक वीर्य शक्तियो की एक तालिका दी गई है। किस जीव मे कितने हद तक का आत्मिक वीर्य खुला होता है, इसका भी अल्पत्व-बहुत्व बताया गया है। आत्मा मे जो स्फुरणा हुआ करती है, वह कर्म के सम्बन्ध के कारण होती है। जब तक आत्मा का वीर्य स्थिर नही होता, तब तक प्रकम्पित रहता है। ज्यों-ज्यो कर्म कम होते जाते हैं, त्यो-त्यो वीर्य मे स्थिरता आती जाती है। अन्त मे, शैलेशीकरण के समय आत्मा मेरुपर्वत (शैलेश) की तरह स्थिर हो जाता है। मेरु का तो दृष्टान्त है, परन्तु मेरु की अपेक्षा भी आत्मा अधिक दृढ, स्थिर निष्कम्प बन जाता है। तथा तुरन्त एक ही समय मे मोक्षस्थान मे पहुँच जाता है।[1] योगीश्री ने संक्षेप मे मुद्दो सहित वीर्य के सम्बन्ध मे बहुत-सी बाते समझा दी है।

वीर्य के दो प्रकार है—छद्मस्थवीर्य और मुक्तवीर्य। जब तक केवल-ज्ञान प्राप्त नही होता, तब तक जीव छद्मस्थ कहलाता है। छद्मस्थ से यहाँ तात्पर्य है—अज्ञान मे फॅसा हुआ जीव। उसका वीर्य कर्मो के कारण ढका रहता है, पूरा पूरा खुला नहीं होता। लेश्या का अर्थ है—आत्मिक अध्यवसाय= कृष्णादिद्रव्यो के सहयोग से आत्मा मे उत्पन्न हुए अलग-अलग भाव-मनोव्यापार। मदकषाय हो, तभी शुभलेश्या-धर्मलेश्या आती है और शुभलेश्या के साथ (लेश्या से सग) सम्बन्ध हो, वहाँ पण्डितवीर्य ज्ञानपूर्वक आत्मभावोल्लास हो, तब तक अभिसन्धिज योग कहलाता है। लेश्यायुक्त छद्मस्थ जीव की समझ—

1 जैनशास्त्रो मे तथा कम्मपयडी, कर्मग्रन्थ वगैरह ग्रन्थो मे इसका विस्तृत वर्णन है। उसका गहराई से अध्ययन करने से जैनदर्शनसम्मत आत्मिक वीर्य का स्वरूप समझा जा सकता है।

बूझ कर इरादतन कायादि योग से होने वाली आत्मा की सूक्ष्म स्थूल प्रवृत्तियो के आनन्द (रग) में आ कर उत्साहपूर्वक आत्मा योगी (मन-वचन-काया के योगो वाला) हो जाता है, वह[1] अभिसधिज योग कहलाता है और खास प्रकार के प्रयत्न=आत्मा मे होने वाले सहज स्फुरण से शरीर मे जो प्रवृत्ति सहजरूप से चलती है। रक्त वगैरह धातुओ मे अनेक प्रकार की प्रवृत्तियो (कम्पन, स्फुरण-एक मे से दूसरे मे होने वाला रूपान्तरण चलता रहता है) से आत्मा मे होने वाला स्फुरण-**'अनभिसन्धिजयोग'** कहलाता है।

इन दोनो को सरलता से समझते है-हम नींद लेते है, उस समय भी शरीर के प्रत्येक धातु मे कुछ-न-कुछ प्रवृत्ति चलती रहती है, उस समय आत्मप्रदेशो मे भी कर्मो के कारण खौलते हुए पानी के बर्तन मे जैसे पानी उछलता रहता है, वैसे सतत् प्रवृत्ति चालू रहती है, उसे अनभिसधियोग कहते हैं तथा जब हम चलते है या हाथ से कुछ उठाते है, तब कुछ अलग ही किस्म की ताकत लगानी पडती है, उस समय शरीर तथा आत्मा मे मन-वचन-काया मे प्रयत्नपूर्वक जो प्रवृत्ति चलती है, उस समय मन-वचन-काया मे जो योग उत्पन्न होता है, उसका नाम अभिसधिज योग है।

निष्कर्ष यह हुआ कि पण्डितवीर्य (ज्ञानपूर्वक आत्मभावोल्लास) होता है, तभी अभिसधिज (प्रयत्नपूर्वक कर्म ग्रहण करने योग्य) मति (स्वयंप्रज्ञता या स्वयबुद्धता-शुद्धमति) प्राप्त होती है और उस शुभमति के सग से ससार के कारण-कार्य का त्याग होता है, और साधु बनने के बाद भी 5 महाव्रतादि की स्थूलक्रिया और निज आत्मा को निज आत्मा मे स्थिर करने का—आत्मरमण करने की सूक्ष्मक्रिया का रंग (भाव) उत्पन्न होता है।

यह सब देख कर श्रीवीरप्रभु को स्थूल और सूक्ष्म क्रिया करने का ऐसा मौका मिल गया कि ससार से विरक्ति हो गई और अत्यन्त उत्साह से वे ससार-त्यागी योगी हो गए। यानी छद्मस्थवीर्य और लेश्या के कारण कर्म ग्रहण

1 वीरियऽन्तराय-देसक्खएण सव्वक्खएण वा लद्धी।
अभिसधिजमियरं वा तत्तावीरियं सलेसस्स॥3॥ —कर्मप्रकृति

वीर्यान्तराय कर्म के देश से या सर्व से क्षय होने से प्राणियो को जो लब्धि उत्पन्न होती है उसके कारण छद्मस्थ-लेश्यावाले सर्वजीवो को जो वीर्य होता है, वह अभिसधिज (या अनभिसधिज) वीर्य कहलाता है, (बाकी के केवलज्ञानी या सिद्ध भगवान् का वीर्य क्षायिकवीर्य कहलाता है।)

होता है, यह सब देख कर वीरपरमात्मा अतीव उमग से योगी हो गए।

असंख्यप्रदेशे वीर्य असंखो योग असंखित कंखे रे।
पुद्गलगण तेणे लेशुं विशेषे[1] यथाशक्ति मति लेखेरे।।

वीर.3।।

***अर्थ*–आत्मा के असंख्य प्रदेशों में से प्रत्येक प्रदेश में क्षयोपशमिक असंख्य-असंख्य आत्मवीर्य के अविभाग=अंश होते हैं और उनको लेकर आत्मा उनके समूहरूप असंख्य मन-वचन-काया के योगों=योगस्थानों को चाहता है, समर्थ, बनता है और उससे पुद्गलों के समूह से (कारण से) उसकी मदद (योग) से ग्रहण अथवा पुद्गलसमूह तथा लेश्या अनेक प्रकार की होने के कारण विशेषरूप से लेश्याओं के परिणामबल से बुद्धि प्राप्त हो जाती है, ऐसा जान लेना चाहिए।**

***भाष्य*–आत्मा में वीर्य का स्थान**

प्रत्येक आत्मा के असंख्य आत्मप्रदेश होते है। उनमे से प्रत्येक प्रदेश में असख्य वीर्य के अविभाग अश होते है। वह वीर्य प्रायः क्षायोपशमिक वीर्य होता है।

श्रीआनन्दघनजी इस विचार पर एकदम ठिठक गए, उन्होंने आत्मा की वीरता पर मनन-चिन्तन किया तो उन्हे याद आया कि अपनी आत्मा मे कितनी वीर्यशक्ति है, वह कहाँ-कहाँ है? मैने प्रभु से वीरता माँगी, यह उचित तो नही लगता। जब अपने पास असख्य आत्मप्रदेश है और प्रत्येक आत्मप्रदेश मे असख्य अविभाग वीर्याश (आत्मबल) होते है। यह बल (वीर्याश) जब बहिर्मुखी बन कर कपन करता है, तब मनोयोग के लायक मनोवर्गणा के पुद्गलो का ग्रहण करता और उनसे मनोयोग बनता है। इसी प्रकार वचनयोग के लायक भाषावर्गणा के पुद्गलो को ग्रहण करने से वाणीयोग बनता है और इसी तरह कायायोग के लायक कायावर्गणा के पुद्गलो का ग्रहण करने से कायायोग बनता है। इन योगो के सामर्थ्य से लेश्या का परिणाम बनता है और लेश्या की परिणाम-शक्ति से बुद्धि प्राप्त होती है। यहाँ आत्मवीर्य की मुख्यता है। आत्मा इन सब शक्तियो तथा मुख्यतः वीर्यशक्ति का पावरहाउस है। अतः जो वीरता मैने भगवान् से माँगी थी, वह तो मेरे अपने अन्दर है। इसके बाद उन्हे यह

1 किसी–किसी प्रति मे **'लेशु विशेषे'** के बदले **'ले सुविशेषे'** है, अर्थ होता है–'पुद्गल समूह उसकी मदद से लेता है– ग्रहण करता है।'

खयाल आया कि शरीर मेरा अपना ही पुद्‌गलसमूह है, जो लेश्याविशेष के द्वारा आत्मिक अध्यवसाय के योग से अपनी बुद्धि के अनुसार उसे ग्रहण करता है। मनुष्य गति में तो आत्मिक अध्यवसायरूप लेश्या का जोर है, योगो का भी जोर है, अतः शुभ उत्तम लेश्या के माध्यम से अगर छद्‌मस्थवीर्य भी अपने में बढाए तो बहुत है। फिर यह दृढ आत्मविश्वास भी हो गया कि जिस वीरता की मॉग तूं भगवान से कर रहा है, वह तो अपने मे भरा है, सिर्फ उसे क्रमशः प्रगट करने की जरूरत है। प्रभु से उस वीरता को मॉगने की जरूरत नही थी। वह तो चाहे जिस गति से जीव जाए, अपने अन्दर ही पडी है। जो वस्तु अपने अन्दर पडी है, उसे बाहर से मॉगने की जरूरत नहीं है। वीर-प्रभु ने भी किसी दूसरे से नहीं मागी, स्वय पर आत्मविश्वास रख कर वे अपने बलबूते पर टिके रहे, मुसीबतों का सामना किया, इसलिए वीरता के मार्ग मे आने वाले विघ्नों का जाल तोड सके।

अगली गाथा में वीर्य (वीरता) के स्थायित्व की बात श्रीआनन्दघनजी कहते हैं–

उत्कृष्टे वीरज[1] ने वेसे, योगक्रिया नवि पेसे रे।
योगतणी ध्रुवताने लेशे, आतमशक्ति न खेसे रे।।
वीर.।।4।।

अर्थ–उत्कृष्ट (सर्वोच्च) वीर्य (आत्मशक्ति) के वश=प्रभाव से या आधार से अथवा आत्मा वीर्य के उत्कृष्ट निवेश (विकास) होने पर, मन-वचन-काया के योगों की क्रिया अथवा पुद्‌गलों को समय-समय पर ग्रहण करने वाली योगों की चपलतावश शुभाशुभ अध्यवसायजनित क्रिया (आत्मा में) प्रविष्ट नहीं होती। इस प्रकार योगों की निश्चलता (स्थिरता) के कारण (लेश्यारूप पुद्‌गल नष्ट हो जाने से) आत्मशक्ति (आत्मा की अनन्तशक्ति) जरा भी डिग नहीं सकती अथवा डिगा नहीं सकती।

भाष्य–**वीर्य की उत्कृष्टता : योगों की स्थिरता**

इन गाथा मे श्रीआनन्दघनजी ने अपने मे आत्मवीर्य (वीरता) प्रगट करने और क्रमशः सर्वोच्च सीमा तक विकसित करने की बात आत्मविश्वास के साथ अभिव्यक्त की है। वे कहते हैं–आत्मा के प्रत्येक प्रदेश मे अनन्तवीर्य (आत्म-शक्ति) है। जब आत्मा अपने उत्कृष्ट आत्मवीर्य को सर्वोच्चसीमा तक

[1] [illegible] 'वीरज ने वेसे' की जगह 'वीर्यनिवेशे' भी पाठ है।

(प्रयोग करके) विकसित कर लेता है, यानी जब आत्मा मे उत्कृष्ट वीर्य (वीरत्व) खिल उठता है, तब मन-वचन-काया के योगों की प्रवृत्ति उसमे प्रविष्ट नही हो सकती, अर्थात् उच्च गुणस्थानक प्राप्त हो जाता है, तब तीनो योग मन्द पड जाते है और अन्त मे स्थिर हो जाते है, आत्मा मे वीर्य (वीरता-शक्ति) बहुत बढता जाता है, विकसित होता जाता है, अनावृत्त होकर सर्वोच्चसीमा तक पहुॅच जाता है। इस प्रकार योगो की स्थिरता हो जाने पर कर्म पुद्गलो को ग्रहण करने के रूप मे तमाम क्रिया बद हो जाती है, लेश्या भी नष्ट हो जाती है। उत्कृष्ट आत्म-वीर्य से आत्मा, अयोगी, अक्रिय और अलेशी बन जाती है। आत्मवीर्य स्वतंत्र बन जाता है। तात्पर्य यह है कि उत्कष्ट वीर्य पर योग अपना कुछ भी प्रभाव नहीं डाल सकते। योगो की स्थिरता के साथ आत्मा भी उत्कृष्ट रूप मे स्थिर होता जाता है। ऐसी दशा मे त्रियोगो के पुद्गल आत्मा पर कुछ भी असर नहीं कर सकते। पुद्गलो का ग्रहण करना भी बद हो जाता है और योगत्रय छूट जाते है, तब आत्मा भी उनसे कोई प्रवृत्ति करा नही सकता। अर्थात् उनकी मदद से नये कर्म या अन्य कर्मवर्गणाऍ लेश्या ले या लिवा नहीं सकते। पुद्गल और आत्मा दोनों अलग-अलग द्रव्य के रूप मे अलग-अलग और स्वतन्त्र हो जाते है। दोनो का कोई सम्बन्ध नहीं रहता, दोनो एक-दूसरे का कुछ भी भला या बुरा नही कर सकते। योगो की ध्रुवता (स्थिरता या निरोध) का लक्षण यह है कि वह जब पराकाष्ठा पर होता है, तब मन चाहे जो काम करे, वचन चाहे तो बोले, काया भी यथेच्छ काम करे, किसी प्रकार का कर्मबन्धन नहीं कराते, न होता है, सर्वक्रियाऍ रूक जाती है। जैसे आठ रूचक प्रदेशो को कर्म लगते नही, वैसे ही आत्मा जब उत्कृष्ट वीर्य प्रस्फुटित करता है, उस समय उक्त त्रियोग किसी प्रकार का कर्मबन्ध नहीं करते। यह उत्कृष्ट वीर्य का ही परिणाम है कि आत्मा जब उत्कृष्ट वीर्य-स्फोट करता है, तब किसी प्रकार का कर्मबन्धन नही होता। आत्मशक्ति जरा भी घटती नही। निष्कर्ष यह है कि पूर्णवीरता की प्राप्ति के लिए आत्मा को उत्कृष्ट वीर्य प्रस्फुटित करना चाहिए, ताकि योगो की स्थिरता हो जाय और आत्मा कर्मबन्धन से रहित हो कर अपने मे आत्मवीर्य को स्वतन्त्र और स्वाभाविक होने से अनन्त आत्मसुख का उपभोग कर सके। श्रीआनन्दघनजी उपर्युक्त विवरण द्वारा वीतरागप्रभु से अपनी हार्दिक प्रार्थना ध्वनित कर देते है कि ''प्रभो! ऐसा उत्कृष्ट वीरत्व (आत्मवीर्य) मुझ में प्रगट हो, मैं अपने उत्कृष्ट वीर्य का उपयोग कर सकू ऐसी

स्फुरणा या प्रेरणा अथवा अन्तःशक्ति दीजिए।"

कामवीर्य-वशे जेम भोगी, तेम आतम थयो भोगी रे।
शूरपणे आतम उपयोगी, थाय तेह अयोगी रे।।
वीर.5।।

अर्थ-जिस प्रकार इन्द्रिय-विषयासक्त कामभोग करने वाला भोगी कामवीर्य=कामभोग स्पर्शेन्द्रियसुखभोग में उपयोगी शारीरिक वीर्य (शुक्रनाम के धातु से प्राप्त शारीरिक शक्ति) के वश हो जाता है, आत्मा मैथुनसुख भोगने में उत्कटता से तत्पर हो जाता है। उसी प्रकार आत्मा (अपना आत्मगुण) भी उतनी ही वीरता के साथ (आत्मा की अनन्तशक्तिपूर्वक) आत्मा के ज्ञाताद्रष्टारूप गुण अथवा उपयोग में जुट कर पूरे आत्मबल के साथ अपने शुद्ध स्वभाव का भोगी बन जाता है; वही आत्मा मन-वचन-काया के योगों से रहित (अयोगी), शुद्ध आत्मस्वरूपी होता है।

भाष्य-कामवीर्य की तरह आत्मवीर्य का, जबर्दस्त प्रयोगी ही अयोगी होता है

जिस प्रकार मोहनीय कर्म के उदय से बालवीर्य वाले इन्द्रियासक्त विषय-सुखलोलुप कामी स्त्री-पुरुषों को कामोत्तेजना होती है। जैसे खाने-पीने के शौकीन स्वादलोलुप चटोरे लोग पथ्यकुपथ्य का विचार किये बिना चाहे जैसी चटपटी, गरिष्ठ, मसालेदार, तामसी या मिष्टान्न पर हाथ साफ करने को टूट पडते हैं, वैसे ही काम (मैथुन) जन्य सुख मे क्षुब्ध लोग किसी प्रकार का आघा-पीछा विचार किये बिना कामभोग में उपयोगी शारीरिक वीर्य (बालवीर्य) के कारण कामभोगो (मैथुन) के सेवन मे शीघ्र प्रवृत्त हो जाते हैं। वास्तव में कामवीर्य एक प्रकार का शारीरिक वीर्य है और उसका उपयोग बालवीर्य की तरह होता है। बालवीर्य से कामभोगो की उत्तेजना होती है, जबकि पुष्टवीर्यशक्ति उत्तेजना वाली नही होती, अपितु बल, वीर्य और मेघाशक्ति को बढाती है।

कहने का तात्पर्य यह है कि जैसे बालवीर्य वाला कामभोग की तीव्रता के कारण अपने कामवीर्य के प्रभाव से इन्द्रियविषयासक्तिवश कामभोगों में जोर-शोर से प्रवृत्त होता है, वैसे ही पण्डितवीर्य (आत्मवीर्य=आत्मशक्ति) के प्रभाव से आत्मा जब शुद्धात्मभाव या आत्मगुण अथवा आत्मा के उपयोग में पूर्णवीरता रख कर प्रवृत्त होता है; यानी त्रियोगरूप वीर्य के कारण अथवा उनमें [illegible]-आत्मवीर्य के कारण जो वीरतापूर्वक अतीव तीव्रता से आत्मस्वभाव

में आत्मा के उपयोग मे प्रवृत्त हो जाता है, वह आत्मगुण का या आत्मा का भोगी बनता है और आत्मगुण को भोगने से यानी आत्मा मे रमण करने से आत्मा में वीरता आती है, आत्मवीरत्व के गुण से आत्मा के गुणो (ज्ञान-दर्शन या ज्ञातृत्व-द्रष्टृत्व) का उपयोगी हो जाता है और आत्मगुण मे सतत वीरतापूर्वक (तीव्रतापूर्वक) उपयोग से आत्मा अयोगी (मन-वचन-काया के योग=व्यापार से रहित) हो जाता है। निष्कर्ष यह है कि आतमा अगर शूरवीरता रख कर अपने (आत्मा के) मूलगुणो में ही उपयोगवान् बने तो वह अयोगी बन सकता है।

विरोधाभास का स्पष्टीकरण

इस गाथा में कुछ शब्द विरोधाभास पैदा करने वाले है, उनका स्पष्टीकरण कर देना आवश्यक है। आत्मा उपयोगी (ज्ञान-दर्शन-चारित्र मे उपयोगवान्) हो, वह योगी तो हो सकता है, मगर अ–योगी कैसे? इस विरोध का समाधान यह है कि यहॉ अ-योगी का अर्थ अध्यात्मयोग से रहित नही, अपितु मन-वचन-काया के योग से रहित है। दूसरा प्रश्न है–अयोगी होने से पहले योगी था, वह भोगी कैसे हो सकता है? इस विरोधाभास का समाधान यह है कि यहॉ योगी अध्यात्म-योगसम्पन्न के अर्थ मे नहीं, अपितु मन-वचन-काया की प्रवृत्ति से युक्त होने के कारण है। इस प्रकार का योगी होने से कर्म बाध कर सांसारिक भाव प्राप्त करने से आत्मा को अपने किए हुए समस्त कर्म भोगने पडते है। इस कारण उसे भोक्ता-भोगी कहते है, अथवा यहॉ आत्मभाव में रमण करने वाला होने से साधक को आत्मयोगी कहा गया है।

क्या सब वीर्य एक समान नहीं हैं?

पहले भी हम कह आए है कि शरीरज धातुनिष्पन्न वीर्य और आत्मवीर्य दोनों मे रात–दिन का अन्तर है। फिर भी कई लोगो की शका यह है कि मशीनो आदि में या कोई वस्तुओ मे बहुत शक्ति होती है, उसे क्या कहेगे? यह स्पष्ट है कि यह आत्मा का वीर्य तो है नहीं? पौद्गलिक वीर्य है। अमुक-अमुक वस्तुओं के सयोग से अमुक प्रकार की शक्ति यन्त्र आदि मे पैदा हो जाती है, पर यह सब सयोगज है और परप्रेरित है। वे पदार्थ चेतन की तरह स्वतः उस वीर्य को प्रगट नहीं कर सकते। दूसरा कोई चेतन उनको परस्पर जोडता है, या संयोग करता है, तब जा कर उनमे विद्युत् आदि की शक्ति पैदा होती है। दूसरी शंका यह है कि शरीरान्त हो जाने के बाद एक गति से दूसरी गति मे, एक योनि से दूसरी योनि मे जीव को कौन ले जाता है, क्योकि शरीर और शरीर से

सम्बन्धित शक्ति तो शरीर के खत्म होते ही खत्म हो जाती है। आत्मा की शक्ति निखालिस तो है नही, तब कौन-सी शक्ति है? वह आत्मा की ही विकृत शक्ति है।

इसका समाधान करने के लिए हम वीर्य के तीन प्रकार अंकित कर रहे हैं, ताकि इन सब शंकाओं का यथार्थ समाधान हो जाय।

1 **शारीरिकवीर्य**–मैथुनसुख (वैषयिकसुख) भोगने में जो उपयोगी है, और जो सप्तम-धातु (शुक्र) रूप माना जाता है, जिसके कारण प्राणी कामवासना से उत्तेजित हो कर मैथुनसुख भोगता है, भोगी बनता है।

2. **सांसारिक वीर्य**–मन-वचन-काया के योगो के मारफत भोगा जाने वाला आत्मा का बल, जिसके कारण कर्म बंध जाने से आत्मा को सांसारिक अवस्था भोगनी पडती है, अनादिकाल से–मोक्षगमन न हो, वहाँ तक देव, नारक, मनुष्य और तिर्यच, स्त्री, पुरुष और नपुसक वगैरह का रूप प्राप्त करना पडता है और विविधरूप से ससार-परिभ्रमण करना पडता है। संसार भोगना पडता है, इस दृष्टि से आत्मा भोगी बनता है।

3 **शैलेशीवीर्य या क्षायिकवीर्य**–जो रत्नत्रयी की आराधना से, योगों की चपलता कम होने से, वीर्यान्तरायकर्म के सर्वथा क्षय होने से, मेरुपर्वत या सारे विश्व को हिला देने सरीखे क्षायिकभाव से अक्षर आत्मिक वीर्य-प्रगट होता है, जिसके कारण आत्मा शैलेश=मेरुपर्वत जैसा स्थिर और सुदृढ हो जाता है, मन-वचन-काया के योगो से रहित अयोगी एवं स्थिर हो कर वीर्यवान बन जाता है।

इन तीनो मे से पहला वीर्य कामभोगी बनाता है, दूसरा संसार का भोगी बनाता है और तीसरा आत्मा को अयोगी बना कर मुक्त और सदा स्थिर अनन्त वीर्यवान बनाता है।

> 'वीरपणुं ते आतम-ठाणे, जाण्युं तुमची वाणे रे।
> ध्यान-विन्नाणे, शक्ति प्रमाणे, निजध्रुवपद पहिचाणे रे।।'

वीर. 6।।

अर्थ–वीरत्व, जिसे मैं आपसे मांगता था, उसका स्थान (निवास) तो मेरी आत्मा में ही है, यह हकीकत मैंने आपकी वाणी से ही जानी है। इसका आधार तो मेरे (आत्मा के) ध्यान, विज्ञान अथवा ध्यान के शास्त्रीय ज्ञान और शक्ति की अभिव्यक्ति (योगोत्थान) पर निर्भर है और इसी प्रकार आत्मा अपने वीर्य की स्थिरता, ध्रुवता, वीर्यबल, आत्मशक्ति अथवा अपने ध्रुवपद (मोक्षस्थान) को

पहचान लेता है।

_भाष्य_–वीरता का मूलस्थान : अपनी आत्मा ही

पूर्वगाथा में श्रीआनन्दघनजी ने बताया कि 'वीरतापूर्वक आत्मा स्व-स्व-भाव या आत्मगुण मे उपयोगी बनी रहे तो एक दिन आयोगी बन जाता है, इस पर से शंका हुई कि वह **'वीरता'** है कहाँ? क्या वह किसी दूसरे के पास है? अथवा वह इन बाह्य भौतिक पदार्थो मे है? इसी के समाधानार्थ यह गाथा प्रस्तुत की गई है–**'वीरपणुं ते आतम ठाणे'** अर्थात् वह वीरता, जिसकी याचना मै वीरप्रभु से कर रहा था, वह मेरी आत्मा में ही है। वीरत्व के प्रेरक (प्रयोजक) वीर्य का यथार्थ मूल स्थान, मूलभूत अधिष्ठान या आधार (Power House) तो आत्मा ही है।

प्रश्न होता है कि यह बात कैसे और किससे जानी कि आत्मा ही वीरता का उद्‌गमस्थान है, मूलस्त्रोत है या अधिष्ठान है? इसके उत्तर मे वे कहते है–**'जाण्युं तुमवी वाणे रे।'** यह बात मैने आप (वीतराग परमात्मा) के सिवाय अन्य किसी से नहीं जानी। आपकी रागद्वेषरहित निःस्वार्थ निष्पक्ष वाणी (आगमोक्त वचनो तथा गुरु–उपदेश) से जानी है। भावार्थ यह है कि दूसरे दर्शन या धर्म सम्प्रदाय के प्रवर्तको मे से किसी न कहा–"वीरता की प्राप्ति मेरे देने से ही हो सकती है या ईश्वर की कृपा होगी, तभी वह देगा।" परन्तु आपकी वाणी से यह बात स्पष्ट हो गई कि वीरत्व कोई मागने की या किसी को देने-लेने की चीज नहीं है, वह तो अपने ही अन्दर है, उसका अधिष्ठान तो आत्मा ही है। इस पर से मुझे यह भी निश्चित हो गया कि वीर्य शरीर की नहीं, आत्मा ही है। इस पर से मुझे यह भी निश्चित हो गया कि वीर्य शरीर की नही, आत्मा की वस्तु है और आत्मा मे वीर्य की स्थिरता भी आप ही ने जगत् को नवीन ढग से समझाई है।

वीरत्व की स्थिरता की पहिचान

इसी सन्दर्भ मे एक और प्रश्न उठता है कि वीरत्व की स्थिरता की पहिचान क्या है, किसी आत्मा मे वीरत्व कैसे स्थिर हो सकता है? यह भी कै जाना जा सकता है कि किसी आत्मा मे कित [illegible] र हुआ है? इस उत्तर मे इस गाथा का उत्तरार्द्ध है–**'ध्यान** [illegible] **प्रमाणे, ध्रुवपद पहिचाणे रे।'** अर्थात् शास्त्रीय धर्म-[illegible] ज्ञ का [illegible] र अपनी शक्ति के अनुसार आत्मा ज्यो [illegible] ो बढता

त्यो-त्यो अपनी आत्मा मे वीर्य की कितनी स्थिरता, कितना सामर्थ्य, कितनी ध्रुवता प्राप्त हुई है, यह अपने ध्यान के ज्ञान से जीव पहिचान सकता है, क्योकि वीर्य की स्थिरता और ध्यान ये दोनो लगभग एकार्थक शब्द हैं। वास्तव मे ध्यान आत्मवीर्य की स्थिरता-एकाग्रता का नाम ही है। ध्यान केवल शरीर या मन की एकाग्रता ही नहीं, मुख्यतया आत्मा की स्थिरता है। शरीर, मन और पवन (श्वासोच्छ्वास) की स्थिरता को उपचार से ध्यान कहा जाता है, पर वास्तव मे ऐसा है नही। इसीलिए कहा गया है कि ध्यान (एकाग्रता) और विज्ञान से अपनी आत्मा मे निहित वीरत्व या वीर्य की स्थिरता को व्यक्ति पहचान सकता है। ध्यान और विज्ञान की शक्ति पर से ही आत्मस्थिरता=आत्मशक्ति के सामर्थ्य को जाना-परखा जा सकता है।

कई टीकाकार 'ध्रुवपद' का अर्थ 'आत्मा का निश्चल स्थान' करते है, ऐसा अर्थ स्वीकार करने पर संगति इस प्रकार होगी–धर्मध्यान-शुक्लध्यान से, विज्ञान=विशिष्ट श्रुतज्ञानपूर्वक विवेक से एवं शक्तिप्रमाण यानी सम्यग्दर्शन पूर्वक चारित्रबल के अनुपात में अपनी आत्मा के ध्रुवपद (स्थिरपद) को व्यक्ति पहचान सकता है।

अन्तिम गाथा मे अपनी शक्ति (वीरता) को प्रगट करने का उल्लेख श्री आनन्दघनजी करते हैं–

आलम्बन साधन जे त्यागे, परपरिणति ने भागे रे।
अक्षय दर्शन ज्ञान वैरागे 'आनन्दघन' प्रभु जागे रे।।

वीर.7।।

अर्थ–धर्मध्यानादि आलम्बनो, मन-वचन-काया के त्रियोगरूप साधनों या धर्मोपकरणादि साधनों का पूर्णवीरता प्राप्त करने वाले जो महात्मा त्याग कर देते हैं, आत्मा से भिन्न-अनात्म=पौद्गलिक भावों पर परिणति, अथवा पररूप= पौद्गलिक भाव में परिणति जब भंग=नष्ट हो जाती है, अथवा साध्य प्राप्त नहीं कर लेता, तब तक साधक अनेक अवलम्बनों (सामायिक=प्रतिक्रमणादि तपजपादि) तथा अनेक साधनों (साधुवेश, धर्मोपकरण, भिक्षाचर्यादि एवं) परभावों में परिणति को अपनाता है, मगर ये सब आत्मबाह्य, परभाव, परावलम्बन, परसाधन, पर परिणति आदि आखिरकार परवस्तु हैं, त्याज्य हैं, अतः इन्हें जो साधक छोड़ देता है, दूर कर देता है, वह अक्षय (अविनाशी); दर्शन (केवलदर्शन), ज्ञान (केवलज्ञान), वैराग्य (क्षपक यथाख्यातचारित्र) होने पर [illegible] में आनन्दघन

रूप प्रभु (परम समर्थ) बन कर जागृत रहता है, शैलेशी अवस्थारूप चारित्रमय रूप से सदा जागृत रहता है। उसकी ज्ञानज्योति जगमागती रहती है।

***भाष्य*–पूर्णवीरता की प्राप्ति के लिए परवस्तु का त्याग अनिवार्य**

साधक को जब तक साध्य प्राप्त नही हो जाता, तब तक वह अनेक आलम्बनों और साधनो को अपनाता है, अनेक परभावो और परपरिणतियो को भी अंगीकार करता है, कई सहायको से सहायता लेता है, परन्तु ये सब चीजे, या आत्मा से अतिरिक्त जो भी साधन, आलम्बन या परिणति आदि है, वे सब मनुष्य मे परावलम्बिता बढाने वाले है, जितना-जितना दूसरो का सहारा, सहयोग, सहायता या साधन मनुष्य लेता है, उतना ही उतना वह अधिकाधिक दुर्बल होता जाता है, ज्ञान के मामले में देखो, चाहे दर्शन के मामले मे अथवा चारित्र के मामले मे देखो, सर्वत्र पराश्रितता, साधक के जीवन को मन-वचन-काया से दुर्बल मन और बल से पराधीन, परमुखापेक्षी और परभाग्योपजीवी बना देता है। वीरता, शौर्य, पराक्रम, साहस, धैर्य और आत्मशक्ति को बढाने वाले के मार्ग मे तो ये सब बहुत ही अधिक बाधक वस्तुए है। फिर तो मनुष्य ज्यो-ज्यो धन, सम्पत्ति, वस्त्र, उपकरण, भोजन, पेय, अथवा अन्य जो भी मनोज्ञ, इष्ट और मनोहर पदार्थ देखता है, त्यो-त्यो उसके मन मे उसके पाने की लालसा जागती है, वह नही मिल जाता है, तब तक बेचैनी रहती है, मिल जाने पर कोई छीन लेता है या चुरा लेता है तो कष्ट होता है, वियोग होने पर दु ख होता है, इस प्रकार बहुत ही समय, शक्ति, दिमाग, आदि इसमे (पर वस्तुओ के पीछे) खर्च होता है। इसीलिए जिनेन्द्र भगवान् दूसरे की सहायता, सेवा और सहयोग की आकाक्षा या अपेक्षा नही रखते, वे अपने ही बलबूते पर साधना के आग्नेयपथ पर चलते है, जो भी कठिनाइयाँ आती है, उनसे जूझते हुए चलते है। सघर्ष मे उनमे शक्ति प्रगट होती है। इसीलिए कहा है–[1]

'जिनेन्द्र अपने आत्मवीर्य (आत्मबल) के आधार पर ही परम (वीतराग) पद को प्राप्त करते है। भगवान् महावीर ने भी बताया है कि 'संभोग (साधर्मी साधु के साथ सहयोग व्यवहार) के प्रत्याख्यान से आत्मा आलम्बनों की अपेक्षा खत्म कर देता है, निरावलम्बी साधक के योग आत्मस्थित हो जाते है, वह स्वलाभ में सन्तुष्ट रहता है, दूसरे से लाभ को पाने की अपेक्षा नहीं रखता, न

1. **''स्ववीर्येणैव गच्छन्ति जिनेन्द्राः परम पदम्।''**

ताकता है, न लालसा रखता है, न किसी से याचना करता है, न अभिलाषा रखता है। ऐसा करने पर वह सुखशय्या को प्राप्त करके निश्चिन्तता से विचरण करता है।''[1]

इसी प्रकार भगवान् महावीर ने कहा है–[2] 'उपधि (धर्मोपकरण) के प्रत्याख्यान (त्याग) कर देने से जीव अपरिग्रहभाव प्राप्त करता है। निरुपधिक और निष्कांक्ष हो कर वह उपधि के बिना मन में क्लेश (बेचैनी) नही पाता।' 'सहायक का [3] त्याग (प्रत्याख्यान) कर देने पर जीव एकीभाव को प्राप्त करता है, एकीभावभूत जीव एकत्व का चिन्तन करता हुआ अल्पभाषी, थोडी झझटो वाला, अल्पकलह, अल्पकषाय, अल्पअहकारी, संयमबहुल, सवरबहुल एव समाहित हो जाता है।' इसी तरह आहार, कषाय, योग, शरीर, अशन आदि के प्रत्याख्यान (त्याग) के सम्बन्ध में भी भगवान् महावीर का बहुत ही सुन्दर मार्गदर्शन है। इन सबके प्रकाश में जब हम श्रीआनन्दघनजी द्वारा निर्दिष्ट आलम्बन, साधन, परपरिणति आदि आत्मा से भिन्न परवस्तु के त्याग पर विचार करते हैं तो बात सोलहो आने सही मालूम होती है।

वास्तव मे साधक जितने ही अधिक साधनो, आलम्बनो, सहायको, धर्मोपकरणो या आहारादि परवस्तुओं या परभावो को अधिक अपनाता है उतनी ही अधिक परिग्रहवृत्ति बढती है, राग-द्वेष, अहकार, लोभ, इच्छाएँ आदि बढती जाती है और मनुष्य अशान्त, बेचैन, सक्लिष्ट, अस्वस्थ और असतुष्ट रहता है। उसकी भौतिक और आत्मिक दोनो प्रकार की वीर्य शक्ति का हास

1 'संभोगपच्चक्खाणेण भंते! जीवे कि जणयइ? सभोगपचक्खाणेण जीवे आलंबणाइं खवेइ। निरालंबणस्स य आययट्ठिया जोगा भवति। सएणं लाभेण सतुस्सइ, परलाभ नो आसादेइ, नो तक्केइ, नो पीहेइ, नो पत्थेइ, नौ अभिलसइ। परलाभ अणस्सायमाणे, अतक्केमाणे, अपीहेमाणे, अपत्थेमाणे, अणभिलसमाणे, दुच्च सुहसेज्ज उवसपज्जित्ताण विहरइ॥

—उत्तराध्ययन सूत्र अ. 29, सू. 33

हो जाता है, जो उसके तन, मन और आत्मा पर परिलक्षित हो जाता है। इसलिए पूर्ण आत्मवीरता के अभिलाषी साधक को परभावों एवं परवस्तुओ मे जितना नाता तोड़ सके, तोडना चाहिए, तभी उसमे वीरता जागृत और स्थिर होगी।

सारांश—भगवान् महावीर परमात्मा की इस स्तुति मे वीरप्रभु से आध्यात्मिक वीरता की मांग की गई है, परन्तु आगे चल कर श्रीआनन्दघनजी ने वीर्य की आत्म-प्रदेशों मे व्यापकता, वीर्य की स्थिरता, वीरतापूर्वक आत्मोपयोग का फल, वीरता का मूल अधिष्ठान, वीरता की अभिव्यक्ति मे विघ्नकारक आलम्बनादि का त्याग आदि की सांगोपांग और अभिनव विचारधारा जैनदर्शन के परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत की है। मतलब यह है कि शारीरिक वीर्य की अपेक्षा आत्मिक वीर्य का महत्त्व कई गुना अधिक है। संसार मे दूसरे दर्शन जहॉ सप्तधातुओ मे से अन्तिम धातु वीर्य को ही सर्वस्व मानते है, वहॉ वीतराग दर्शन आत्मिक वीर्य को महत्त्व देता है, शारीरिक बल, उत्साह, साहस आदि सबका आधार आत्मवीर्य है। यद्यपि शरीर, मन, बुद्धि, वीर्य (शुक्र) आदि जरूर मदद करते है, लेकिन इन सबका प्रेरणास्रोत केन्द्र तो आत्मा ही है। बहुत-से लोग शरीर से दुर्बल होते हुए भी बडे–बडे साहसपूर्ण काम कर बैठते है, जबकि शरीर से सशक्त हृष्ट-पुष्ट लोग साहस के काम करने से डरते है, हिम्मत हार जाते हैं, इसमे मूल कारण आत्मवीरता की कमी है, इसी चीज की परमात्मा से श्रीआनन्दघनजी ने याचना की है।

***